प्रकाशक
राय बहादुर विश्वेश्वरलाल
मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट
१५, इंडिया एक्सचेंज प्लेस
कलकत्ता-१

१९७१

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी-१



रायबहादुर स्व० सेठ विश्वेश्वरलाल हलवासिया
(१८७०-१९२५ ई०)

परिचय

आधुनिक हरियाणा प्रान्त के हिसार जिले मे एक छोटा शहर भिवाणी है। भिवाणी के निकट स्थित हालुवास ग्राम में स्मृतिशेष विश्वेश्वरलाल हलवासिया का जन्म सन् १८७० ई० में हुआ था। विश्वेश्वरलाल जी के पितामह यमुनादास जी के पांच पुत्र थे जिनमे सबमे बडे सेठ जानकीदास थे। अपने समय के अपने प्रदेश के प्रतिष्ठित व्यक्तियो में उनकी गणना थी। यमुनादास जी श्री वैष्णव संप्रदाय में निष्ठा रखते थे। वृदावन में श्रीरग मदिर के निर्माता श्रीरगदेशिक स्वामी से उनका परिचय था। भिवाणी के श्रीरग मदिर से उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। वहाँ के प्रत्येक उत्सव में वे उत्साहपूर्वक सम्मिलित होते थे। भिवाणी के तत्कालीन संस्कृत विद्वान् वासुदेवाचार्य से उनकी मैत्री थी। भिवाणी पहुँचनेवाले अतिथि अभ्यागतो का आप आतिथ्य सत्कार करते थे। सेठ जानकी दास जी को भी दया, उदारता, भगवद्भक्ति आदि अनेक गुण पैतृक सपत्ति के रूप में अपने पिता यमुनादास जी से प्राप्त हुए थे।

जानकीदास जी हैदराबाद (दक्षिण) में हीरादि बहुमूल्य पदार्थो का व्यवसाय करते थे। वही चालीस वर्ष की अवस्था में अचानक आपका स्वर्गवास हो गया। उस समय विश्वेश्वरलालजी की अवस्था चौदह वर्ष थी तथा उनके छोटे भाई मोतीलाल जी की अवस्था केवल छ महीने की थी। अपनी विधवा माता तथा छोटे भाई का उत्तरदायित्व विश्वेश्वरलाल जी पर आ पडा। इसके अतिरिक्त उनके पिता पर दस हजार रुपया ऋण भी था जो उन्हें चुकाना था। भिवाणी में आय के ऐसे साधन नही थे जिससे वे इस उत्तरदायित्व का निर्वाह कर पाते। अपनी माता जी से परामर्श करके सन् १८८६ ई० में वे कलकत्ता पहुँचे। कलकत्ता मे भिवाणी के अन्य व्यवसायी भी थे, उन्ही के सहयोग से विश्वेश्वरलाल जी ने जूट का कार-बार आरभ किया। अपूर्व निष्ठा, असाधारण व्यापार-कुशलता और प्रशसनीय अध्य-वसाय के परिणामस्वरूप आपको व्यापार में अद्भुत सफलता मिली। कलकत्ता के मारवाडी समाज में आप प्रतिष्ठित हो गये। वश-परपरा से प्राप्त वैष्णव भक्ति के सस्कार, मानवमात्र के प्रति सहज सहानुभूति, दानशीलता, समाज-कल्याण के कार्यो में रुचि, समसामयिक सामाजिक, राजनीतिक सदर्भो के प्रति जागरूकता इत्यादि गुणो के कारण उनकी सब ओर प्रशसा हुई। तत्कालीन सरकार ने भी उन्हे रायबहादुर आदि अनेक सम्मानो से विभूषित किया।

धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक कार्यो में वे विशेष रुचि लेते थे। 'कलकत्ता समाचार' आपके द्वारा ही प्रारंभ किया गया था। सखाराम गणेश देउस्कर द्वारा लिखित 'देश की बात 'पुस्तक का हिन्दी अनुवाद आपको समर्पित किया गया था। देवनारायण द्विवेदी ने इस कृति का अनुवाद किया था। पीछे सरकार ने इस पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

कलकत्ता मे सन् १९१६ ई० में उन्होंने अखिल भारतीय 'श्री वैष्णव सम्मेलन' का आयोजन कराया था, तीन दिन व्यापी सम्मेलन में उस समय के श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध

आचार्यों तथा विद्वानो ने भाग लिया था। सम्मेलन की कार्यवाही का पूरा विवरण 'कलकत्ता समाचार' में प्रकाशित हुआ था। सम्मेलन मे चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा भी सम्मिलित हुए थे। चतुर्वेदी ने 'भाष्यकार श्री रामानुजाचार्य' नामक सुन्दर ग्रथ लिखा था, जिसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व रायवहादुर विश्वेश्वरलाल जी ने लिया था। उस कृति की भूमिका में चतुर्वेदी जी ने हलवासिया जी के विपय में विस्तार से लिखा है। उन्होने अपनी कृति के सवध में लिखा है, "यदि हम इसे छपवा कर विकवाने के पक्षपाती होते, तो ऐसे अनेक पुस्तक प्रकाशक हैं, हाथोहाथ इसका सर्वाधिकार क्रय करके मनमाने मूल्य पर इसे वेचते। पर यह हमको अभीष्ट न था। वहुत दिनो तक हम एक ऐसे उदारचेता श्री वैष्णव सज्जन की खोज में रहे, जो इस पुस्तक को अपने धन से प्रकाशित कर विना मूल्य वितरण करे। अन्त मे दयामय भगवान् के अनुग्रह से भाष्यकार स्वामी ने भिवानी के रहने वाले तथा कलकत्ता प्रवासी रायवहादुर वावू विश्वेश्वरलाल जी हलवासिया को इस शुभ कार्य को करने की प्रेरणा की। उक्त रायवहादुर साहव ने इस पुस्तक के प्रकाशन का सारा व्यय-भार अपने ऊपर लिया है और विना मूल्य वितरण करने का संकल्प किया है।" इसी परिचय में आगे कहा गया है, "आप कलकत्ते की प्रायः सभी मारवाडी-सस्थाओ के पोपक है। आप ही के हाथ से 'कलकत्ता-समाचार' का प्रथम अक निकाला गया था और कलकत्ते के हिन्दू-क्लव को भी आपने ही खोला था। कलकत्ते के मारवाडी-समाज की प्रधान सभा मारवाडी-एगोसिएशन के आप ही प्रेसिडेंट हैं। आप हावडे के आनरेरी मजिस्ट्रेट भी हैं। आप हाल ही में कलकत्ते में श्री भागीरथी जी के तटपर अच्छी लागत से एक सुन्दर श्राद्धघाट वनवा रहे हैं। इसके वन जाने पर सर्वसाधारण को वहुत सुभीता हो जायगा।

"कहना न होगा कि रायवहादुर साहव भी श्री वैष्णव सम्प्रदाय में पूरी निष्ठा रखते हैं।······आप वडे ही शान्त-प्रकृत-सम्पन्न मिलनसार और मधुभापी हैं। आपका चरित्र वल उच्च और विचार गम्भीर हैं। व्यवसाय-सम्वन्वी जटिल विषयो पर आपकी सम्मति वडे महत्त्व की समझी जाती है।" (चतुर्वेदी जी ने यह भूमिका सवत् १९७२ में दारागज, प्रयाग में लिखी थी।)

विश्वेश्वरलाल जी का अपने छोटे भाई मोतीलाल पर वडा स्नेह था। उनका पालन-पोपण उन्होंने ही किया था। मोतीलाल का जन्म सन् १८८६ ई० में हुआ था। सन् १९२५ ई० मे अस्वस्थ वडे भाई को देखने के लिए मोतीलाल जी भिवानी से कलकत्ता आए और स्वयं वीमार पड गए। चिकित्सा की गई परन्तु कोई लाभ नही हुआ, कलकत्ता में ही उनका स्वर्गवास हो गया। भ्रातृवियोग के आघात को वे सहन न कर सके। दोनो भाइयो में से किसी को सतान प्राप्त नही हुई। विश्वेश्वरलालजी ने अपने ही परिवार के एक वालक श्री श्यामसुन्दर को गोद लिया और मोतीलाल जी के यहाँ श्री पुरुषोत्तमदास जी को गोद लिया गया।

विश्वेश्वरलाल जी ने स्वस्थ होते ही प्राय अपनी सपूर्ण सपत्ति की वसीयत तैयार कराई। यह वसीयतनामा कलकत्ता में उन्होंने लिखा था, भिवानी में उनकी मृत्यु हुई। वही वह खोला गया। वसीयतनामे के कुछ अश उद्धृत करने योग्य हैं, इन अशो से उनके उज्ज्वल

जीवन-चरित्र का परिचय मिलता है, वे अपनी सारी सपत्ति का जनकल्याण के लिए न्यास (ट्रस्ट) वना गए।

"मैं विश्वेश्वरलाल हलुवासिया वेटा लाला जानकीदास हलुवासिया का पोता लाला जमुनादास जी हलुवासिया का, अग्रवाल, उमर ५५ (पचपन) साल अनुमान, रहनेवाला भिवानी जिला हिसार का हूँ। हाल मुकाम रहना नम्वर ४७ मुक्ताराम वावू स्ट्रीट कलकत्ता है।

"मेरे पिता लाला जानकीदास जी का वैकुण्ठवास वैशाख वदी ३, सवत् १९४४ मे हो गया था उस वक्त मेरे छोटे भाई मोतीलाल हलुवासिया की उम्र लगभग ६ महीने की थी।

"मेरे पिता प्रपिता व वृद्ध प्रपिता की सम्पत्ति में सिर्फ १ दुकान वाजार मे एक हवेली और एक नोहरा था जिसमे मेरा दसवाँ हिस्सा यानि सव सम्पत्ति मे आवा हिस्सा पूज्यवर लाला सिवदयाल जी हलुवासिया का और आधे मे पिता जी एव चार भाई थे इसलिए सव सम्पत्ति का दसवाँ हिस्सा (१।१०) मेरा था, जिसकी कीमत अनुमान १५००) पद्रह सौ रुपये की होगी। नगद वगैरह कुछ भी न था, वल्कि १००००) दस हजार रुपया अन्दाज देने थे इसलिए कोई सम्पत्ति मेरे पिता प्रपिता और वृद्ध प्रपिता की न समझनी चाहिए।

"मेरे पिता जी के स्वर्गवास होने पर मैं कलकत्ते आया और वोरो की दलाली करनी शुरू की इससे जो रुपये मेरे पिता जी के कर्ज थे मैंने दे दिये और धीरे-धीरे यह सव सम्पत्ति अपने परिश्रम से पैदा की इसलिए मैं तथा मेरा छोटा भाई मोतीलाल इस सम्पत्ति के मालिक हैं यानी आधा मेरा और आधा मेरे छोटे भाई मोतीलाल का।

"परन्तु दुर्भाग्यवश मेरे छोटे भाई मोतीलाल का वैकुण्ठदास चैत वदी ३, स० १९८१ में हो गया और उसी वक्त से यानी ४-५ महीने से मेरी तवियत अच्छी नही रहती है इसलिए मेरे मरने के वाद कोई झगडा पैदा न हो इस वास्ते यह वसीयतनामा करता हूँ।

"ऊपर लिखे सिवाय वाकी सव स्टेट (मालियत) नगद व मकानात वगैरह मैं धर्मार्थ करता हूँ उससे रोगियो के दवा अनाथालय स्कूल मदिर का खर्च इत्यादि इत्यादि शुभकर्म में लगाये जावे। यह सव काम जायदाद की आमदनी व व्याज इत्यादि से की जावे और असल जायदाद वेची न जावे और असल रुपया भी न खर्च किया जावे सिर्फ आमदनी व्याज भाडे इत्यादि की हो उसी से खर्च किया जावे और मैं यह भी चाहता हूँ कि जहाँ तक हो यह रुपया ज्यादा भिवानी मे और विद्या सम्वन्धी कार्यो मे खर्च किया जावे और इन सव धर्मार्थ कामो पर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलुवासिया का नाम हो।"

रायवहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट ने पिछले पैंतालीस वर्षों में भारत के प्राय हर प्रान्त में अनेक सस्थाओ की सहायता की है। सत्तर लाख रुपये से अधिक धन ट्रस्ट अभी तक दान कर चुका है। विश्वभारती से ट्रस्ट का सपर्क अनेक वर्षों से रहा है। हलवासिया ट्रस्ट के, वरिष्ठ ट्रस्टी श्री भागीरथ कानोडिया तथा स्व० मोतीलाल जी हलवासिया के सुपुत्र श्री पुरुषोत्तमदास जी हलवासिया का विश्वभारती से पुराना एव घनिष्ठ सबन्ध है। विश्वभारती के केन्द्रीय विश्वविद्यालय में परिवर्तित होने के पूर्व श्री कानोडिया जी वर्षों

तक उसकी ससद के सदस्य रहे हैं। ट्रस्ट को सुदृढ बनाने मे उन्होने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। विश्वभारती में हिन्दी-भवन की स्थापना ट्रस्ट की ही सहायता से सन् १९३६ मे हुई। सन् १९४५ से १९४८ ई० तक हिन्दी-भवन का पूरा खर्च ट्रस्ट ने वहन किया। इधर हाल में हिन्दी-भवन के पुस्तकालय भवन का विस्तार, विश्वभारती पत्रिका का पुनर्प्रकाशन, हलवासिया शोध ग्रन्थ-माला के प्रकाशन की योजना ट्रस्ट द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता से ही कार्यान्वित हो सकी है। विश्वभारती के कार्यों में श्री कानोडिया जी तथा श्री पुरुषोत्तमदास जी हलवासिया सक्रिय रुचि लेते हैं। अत जब विश्वेश्वरलाल जी हलवासिया की जन्मशत-वार्षिकी के अवसर पर स्मृति-ग्रथ निकालने का प्रस्ताव किया गया तो विश्वभारती के उपाचार्य ने मुझे उसका सपादन भार लेने के लिए सहर्ष अनुमति दी। उदारचरित सज्जनो के प्रति श्रद्धा निवेदन करना हमारी सस्कृति का महत्त्वपूर्ण अग है। मुझे प्रसन्नता है कि इस कार्य द्वारा कीर्तिशेष विश्वेश्वरलाल जी हलवासिया के प्रति श्रद्धा निवेदन करने का मुझे अवसर मिला।

ग्रथ के लिए जितने लेख हम चाहते थे उतने प्राप्त न हो सके, विद्वानो से लेख लिखवा लेना वहुत कठिन कार्य है। जिन विद्वानो ने अपने लेख भेजे है उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ। हिन्दी-भवन के भित्ति चित्रो के चित्र तैयार करने मे कलाभवन के श्री डेविड तथा आवरण पृष्ठ पर शीर्षक लिखने के लिए हिन्दी विभाग के रिसर्च फेलो श्री रणजीतकुमार साहा तथा नाना प्रकार से सहायता करने के लिए डॉ० देवनाथ चतुर्वेदी, डॉ० द्विजराम यादव एव प्रूफ सशोधन के लिए डॉ० (कुमारी) ऊर्मिला शर्मा का मैं आभारी हूँ।

हिन्दी भवन,
शान्तिनिकेतन।

राम सिंह तोमर



स्व० सेठ मोतीलाल हलवासिया

(१८८६–१९२५ ई०)

विषय-सूची

अर्थ- धर्म-सम्बन्ध खण्ड

कला और संस्कृति खण्ड

चित्र सूची—

कविता की ओर

डॉ० रामकुमार वर्मा, एम ए, पी-एच डी

कविता आत्मा की आदि प्रेरणा है। आत्मा की गूढ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही 'कविता' है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है, उस समय कवि अपने मे सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण मे 'मैं' और 'सब' मे विपर्यय होता है। 'मैं' चिरन्तन भावनाओ में 'सब' का रूप धारण करता है और 'सब' भावना के किसी विशेष दृष्टि-विन्दु मे 'मैं' में आकर सकुचित हो जाता है। तब व्यक्तिगत भावनाएँ विश्व की समस्त गति मे अबाधरूप से प्रवाहित होने लगती हैं और समस्त सृष्टि का सगीत एक कण मे स्पन्दित होने लगता है। जिस दैवी क्षण में कवि अपने को इस असीम प्रकृति मे विलीन कर देता है, उस क्षण मे सृष्टि के समस्त रहस्य उसकी वाणी में फूट पडते है। वह अपनी भावनाओ के भीतर किसी प्रजापति को देखता है, जो क्षण-क्षण में सृष्टि का निर्माण और विनाश करता है। रूप और ध्वनियाँ साकार और निराकार होती हैं और दृश्य और अदृश्य उसे अपने सगीत से ओत-प्रोत कर देते है। समस्त जगत् हृदय में गतिशीलता भर कर तिरोहित हो जाता है, उसी गतिशीलता का नाम 'कविता' है।

यह कविता की व्याख्या है, परिभाषा नही। परिभाषा के लिए हमें काव्य से श्रेष्ठतर सौन्दर्य-कोटि की कल्पना करनी पडेगी और उस कोटि के अन्तर्गत काव्य के समकक्ष अन्य रूपो से काव्य की विशेषता स्पष्ट करनी होगी। कठिनाई यह है कि काव्य के ऊपर कोई ऐसी सौन्दर्य-कोटि है ही नही। काव्य ही अपने व्यापक रूप मे अनेक सौन्दर्य-कोटियाँ निर्धारित करता है और जब काव्य अपने उदात्त रूप मे ब्रह्मानन्द के समकक्ष होता है तब जिस प्रकार ब्रह्म की परिभाषा देना कठिन है, उसी प्रकार काव्य की परिभाषा भी देना कठिन होता है। केनोपनिषद् के द्वितीय खण्ड में ब्रह्म-ज्ञान की अनिर्वचनीयता का उल्लेख है

नाह मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।
यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स।
अविज्ञात विजानता विज्ञातमविजानताम्॥

(केनोपनिषद्—द्वितीय खंड, श्लोक २, ३)

(न तो मैं यह मानता हूँ कि मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि मैं उसे नही जानता, अतः मैं उसे जानता भी हूँ और नही भी जानता। जो उसे 'न तो नही जानता और न जानता ही हूँ' इस भाँति जानता है, वही जानता है)

इसी भाँति जिसको ब्रह्म ज्ञात नही है, उसी को ज्ञात है, और जिसको ज्ञात है, वह उसे अज्ञात है, क्योकि वह जानने वालो को बिना जाना हुआ है और न जानने वालो को जाना हुआ है। इस प्रकार कविता भी पूर्ण रूप से जानी जा सकती है, इसमें सन्देह है। इसीलिए कविता की व्याख्या तो हो सकती है, उसकी परिभाषा देना एक अनधिकार चेष्टा है।

साहित्य के अन्य रूपो की अपेक्षा कविता की अभिव्यक्ति सभवत सर्वप्रथम हुई। यह साहित्य-कानन की प्रथम कलिका है, जिसकी सुरभि उत्तरोत्तर अधिक आह्लादमयी होती गई। उसी सुरभि के आकर्षण में साहित्य के अन्य रूपो को मुकुलित होने की भूमिका प्राप्त हुई होगी। कविता के इतिहास में प्रथम कविता महर्षि वाल्मीकि के कण्ठ से क्रौंच-वध के विषाद से नेत्र की अश्रु-धारा के साथ निकली कही जाती है, किन्तु कविता की सृष्टि उस समय आरभ हो गई होगी जब उल्लास या करुणा, आकर्षण और आत्म-समर्पण की भावना ने हृदय में ऐसी विह्वलता भर दी होगी, जिसे हृदय अपनी भाव-सीमा मे सम्हाल न सका होगा और काव्य का अमृत भाषा में छलक पडा होगा।

महाकवि तुलसी ने कविता के आविर्भाव के सम्बन्ध मे रामचरितमानस मे कुछ सुन्दर पक्तियाँ लिखी हैं—

हृदय-सिन्धु, मति सीप समाना,
स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जो बरसइ बर-बारि बिचारू,
होइ कवित मुक्तामनि चारू।

हृदय के सिन्धु में मति सीप के समान है, काव्य की प्रतिभा या सरस्वती स्वाति नक्षत्र के समान है। इस अवसर पर यदि सुन्दर विचारो का जल बरस जाय तो भावना की सीपी में कविता का मोती निर्मित हो जाय। सीप मे मोती का निर्माण एक अवसर-विशेष की बात है। यदि सौभाग्य से ऐसा अवसर आ जाय, तभी 'कविता' की सृष्टि हो सकती है। श्रेष्ठ कविता भी संयोग से ही बनती है, और वह भी प्रतिभा के आलोक से सभव होता है।

कविता जीवन का निर्बाध और अकृत्रिम सौन्दर्य-बोध है, उसके द्वारा मानव ऐसे अनवरत और अविरल आनन्द का अनुभव करता है जो समय की गति से धूमिल नही होता। इसमें पूर्व-चिन्तन की अपेक्षा नही है। जिस प्रकार हास्य और रुदन की प्रक्रिया किसी नियम पर आधारित नही है, हँसी की कली प्रस्फुटित होने के पूर्व यह नही सोचती कि उसे किस प्रकार से प्रस्फुटित होना है, जिस प्रकार रुदन के मोती किसी निश्चित सख्या में नही झरते, उसी प्रकार कविता प्रयास-पूर्वक निर्मित नही होती। वह आनन्द की धारा में पुष्प की भाँति लहरो की गोद में विकसित होती है।

प्राचीन आचार्यो में भरत, दण्डी, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्द्धन, भोज, मम्मट, वाग्भट्ट, जयदेव, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के रूप को परखने की चेष्टा विविध दृष्टि-कोणो से की है। आचार्य भरत ने रस को, दण्डी ने सक्षिप्त वाक्य को, रुद्रट ने शब्द और उसमें निहित अर्थ के युग्म को, वामन ने ललित पद-रीति को, आनन्दवर्द्धन ने ध्वनिमयी अर्थ-निष्पत्ति को, भोज ने निर्दोष अलकारमय अर्थ को, मम्मट ने शब्द और अर्थ की सयो-

जना को, वाग्भट्ट ने दोषरहित शब्द को, जयदेव ने रसमयी शब्द-योजना को, विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को और पण्डितराज जगन्नाथ ने रस से पूर्ण अर्थ-वर्णन को काव्य माना। काव्य की इस नाना दृष्टिमयी विवेचना मे तीन तत्त्व निहित ज्ञात होते है —

१. रस की अनिर्वचनीय अलौकिक भाव-भूमि।
२ शब्द और अर्थ का ललित युग्म।
३ चमत्कार उत्पन्न करने वाली व्यञ्जना।

यह कहा जा सकता है कि अनुभूति के स्तर पर शब्द और अर्थ का तादात्म्य उपस्थित होने पर ही रस की निष्पत्ति होती है। जिस अनुपात मे यह तादात्म्य होगा, उसी अनुपात में रस-जनित आनन्द की सृष्टि होगी, कठिनाई केवल तादात्म्य उपस्थित करने में है। यह स्पष्ट है कि अनुभूति-जगत् इतना विस्तृत है कि उसकी अभिव्यक्ति कभी शब्द द्वारा हो सकेगी, इसमें सन्देह है। मन की गति जितनी शीघ्रता से अर्थ के विराट् विश्व मे प्रवेश करती है, उतनी शीघ्रता से भाषा अपना स्थूल उपादान प्रस्तुत नही कर सकती। इस समस्या का अनुभव करते हुए मैंने एक स्थान पर लिखा था

प्रेम की इस अग्नि से,
क्यो धूम-सी उठती निराशा ?
क्यो हृदय की भावना को,
मिल सकी अब तक न भाषा!

अतर्जगत् अपनी सम्पूर्ण परिधि शब्दो द्वारा व्यक्त नही कर सकता। भावनाएँ अपनी गहराई मे अथाह है और शब्द किनारे पर बैठे हुए पथिक है जो केवल लहरें गिनना जानते है। जिस साधक में अपने शब्दो को अर्थ में डुवाने की जितनी अधिक सहज क्षमता होगी उतनी ही गहरी रसानुभूति काव्य के माध्यम से हो सकेगी।



हिन्दी के एकभाषीय कोश

श्री हरदेव बाहरी

हिन्दी में कोशो का आरम्भ १३वी शताब्दी से माना जा सकता है जब कि प्राय अमर-कोश, मेदिनी कोश, आदि के आधार पर समानार्थी और अनेकार्थी कोश लिखे जाने लगे। हिन्दी कोशो के आदि काल में इसी प्रकार के कोश उपलब्ध होते हैं। सही अर्थ मे इन्हे हिन्दी भापा के शब्द कोश, कहना उचित नही होगा, क्योकि इनमें न तो तत्कालीन साहित्यिक शब्द-भडार सगृहीत है और न तो जन-प्रचलित शब्दावली। प्राय कोशकार कवि भी थे और उनका उद्देश्य अपने कार्य के लिए एक व्यावहारिक शब्दावली का सकलन करना था। उन्हें संस्कृत की अधिक चिन्ता थी, हिन्दी की कम। हिन्दी शब्दो की सख्या 'प्रकाश नाममाला' और 'नाम प्रकाश' में भरपूर है। 'उमराव कोश' मे इनकी सख्या सबसे अधिक है। आवश्यकतानुसार इनमे अरबी-फारसी शब्द भी मिल जाते हैं। डिंगल कोशो में विशेप रूप से बहुत से स्थानीय शब्द है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इन शब्दावलियो की अपनी सीमा है। इस तरह के ४०-४५ समानार्थी कोश, १५-२० अनेकार्थी कोश, ४-५ एकाक्षरी कोश और ६-७ डिंगल के कोश प्राप्त है। सबसे छोटे कोश में २८ और सबसे बडे में २८०० शब्द हैं।

छापेखाने के अभाव में तत्कालीन ज्ञान मौखिक परम्परा द्वारा आगे बढता था। संदर्भ ग्रथो की बात नही उठी थी। शब्द भडार को कठस्थ कर लेना होता था। इसलिए लगभग सब कोश पद्य-बद्ध है। उदाहरणार्थ, हरी विलास की 'नाममाला' में चौपाइयाँ है, मियाँ नूर की 'प्रकाशनाम माला' में दोहे, बद्रीदास की 'मान मजरी' में सोरठे, सखिजन की 'भारती नाम माला' मे दोहो के अतिरिक्त कवित्त और 'उमराव कोश' तथा 'नाम प्रकाश' में अनेकानेक छद प्रयुक्त हुए हैं। प्राय कोशो में केवल सज्ञापद है। केवल एक-दो धातु कोश प्राप्त हैं। बडे कोशो मे एकाव वर्ग विशेपणो पर है। किन्तु काव्य मे नाम (सज्ञा) की ही अधिक लीला होती थी। छद के बंधनो के कारण अनेक शब्द विकृत रूप में आ गए हैं। शब्दो का क्रम हमारी लिपि माला के अनुसार नही है। प्राय शब्दो को वर्गो या अधिकारो के अन्तर्गत रखा गया है। इन वर्गो के शीर्पक स्पष्ट है, जैसे देवतानाथ, समुद्रनाथ, स्त्रीवर्ग, दरबारी नाम, स्वर्ग-वर्ग, पाताल वर्ग, शैल वर्ग इत्यादि।

अनेकार्थी कोश साधारण है, किन्तु कुछ एक में ज्ञान-कोशोपयुक्त सामग्री सगृहीत हैं। एकाक्षरी कोशो का हिन्दी की दृष्टि से क्या महत्त्व है, यह ठीक तरह मेरी समझ में नही आया। कुछ कोश ऐसे हैं, जिनकी विशिष्ट उपलब्धियाँ उल्लेखनीय है। चदन राम ने अर्थो को आदि वर्ग के अनुसार एक साथ रखा है, जैसे 'सारंग' के अर्थ है—

पावक पकज पीक पट, धन धनु घन घट क्षीर
कनक कठिन कुच कीर कटि, नव नग नव निसि नीर। इत्यादि

आचार्य भिखारी दास ने 'नाम प्रकाश' में अनेकार्थी शब्दो को 'अन्तिम' अक्षर के अनु-

सार क्रमवद्ध किया। जैसे 'क' मे समाप्त होनेवाले, 'च' मे समाप्त होने वाले, अथवा 'श' आदि मे होने वाले शब्द। धातु कोशो मे भी, विशेपतया 'भापा धातु माला' मे क्रिया-पदो को अतिम वर्ण के अनुसार सचित किया गया है, जैसे—

कह गह दुह रह गुह लहु मोह सोह अवगाह।
रोह मोह अवरोह ढह सह चह निवह सराह॥

इस तरह के अत्यानुप्रास पर आधारित शब्दकोश की तो आज भी आवश्यकता है। कवियो के लिए भी और भापा-विज्ञानियो के लिए भी।

ऊपर के विवरण का अर्थ यह है कि हमारे प्राचीन कोशकार शब्दो को वर्णानुक्रम के अनुसार रखने की पद्धति जानते अवश्य थे, किन्तु इसकी उपादेयता समानार्थी और एकार्थी कोशो की तुलना मे क्या समझते थे। वर्णक्रमानुसार कोश सपादन की कला का आरम्भ भारत में यूरोपियन विद्वानो से हुआ। प्राय इन लोगो ने हिन्दुस्तानी-अग्रेजी या अग्रेजी-हिन्दुस्तानी कोश तैयार किए, जिनमें सब तरह के शब्द सगृहीत थे—सज्ञापद, क्रियापद, विशेपण, क्रिया-विशेपण आदि। इन्ही के अनुकरण मे भारतीयो ने भी कोश निर्माण के क्षेत्र मे कार्य किया। १९वी शती के अतिम और २०वी शती के प्रथम चरण मे लगभग २० हिन्दी शब्द कोश प्रकाशित हुए। प्राय यह कोश छात्रोपयोगी थे। शैल्पिक दृष्टि से किसी की कोई विशेप महत्ता नही है। वर्णक्रमानुसार शब्दो का सयोजन, प्रत्येक शब्द का व्याकरण, उसके अर्थ और यत्र-तत्र परिभापा अथवा व्याख्या—यह सब कुछ है और सब कोशो मे एक-सा है। शब्द संख्या किसी में कम है तो किसी में अधिक। इनमें 'मगल कोश', 'कैसर कोश', श्रीधर भापा कोश और 'हिन्दी शब्दार्थ पारिजात' प्रसिद्ध रहे हैं।

हिन्दी-शब्द-सागर के प्रकाशन (१९१५–१९२७ ई०) से हिन्दी-कोश-कला में एक नये युग का आरम्भ माना जाता है। इतना बडा आयोजन, इतने प्रसिद्ध साहित्यकारो और विद्वानो—श्यामसुन्दरदास, बालकृष्ण भट्ट, रामचन्द्र शुक्ल, भगवान दीन, रामचन्द्र वर्मा, अमर सिंह और जगमोहन वर्मा के सक्रिय सपादकत्व में (तब इस तरह के सपादक मडल नही होते थे किन्तु पढे न लिखे नाम आलम खाँ), इतनी स्वच्छता और इतनी मौलिकता के साथ हिन्दी जगत् में आज तक सपन्न नही हुआ। उन दिनो इस कोश का सर्वत्र स्वागत हुआ। युग के विचार से यह कोश सबसे बडा, प्रामाणिक और उपयोगी माना जाता था। इसके २०–२५ वर्ष बाद तक जितने कोश बने, सबका आधार यही था। बालकोश, सक्षिप्त कोश, छोटे-मझोले और बृहत् कोश सबमे 'एकोऽह बहुस्याम्।' यह सचमुच एक सागर था, शब्दो, अर्थों, मुहावरो, लोकोक्तियाँ और उद्धरणो का। इस कोश के सचयन, सपादन, मुद्रण और प्रकाशन में २० वर्ष लगे और कुल मिलाकर एक लाख रुपया व्यय हुआ। अब इसका सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण प्रकाश में आने लगा है। १५-१६ वर्ष से काम चल रहा है और इसके दस खडो में से ७ प्रकाशित हो चुके हैं। इसके सपादन में १ लाख ६५ हजार रुपया व्यय हो चुका है। मुद्रण के लिए अलग से सहायता मिली है। (इस पर भी प्रत्येक खड का मूल्य बहुत ही अधिक रखा गया है।) इनकी परिधि की चर्चा थोडी देर में की जाएगी।

हिन्दी में एक-भाषीय कोशो की कमी नही है। अधिकतर कोश विद्यार्थियो के लिए

प्राय लोग शब्द के अर्थ जानने के लिए कोश देखा करते है। रामचन्द्र वर्मा ने पहली वार प्रामाणिक हिन्दी कोश में सगतियुक्त सयोजन और वैज्ञानिक विकास की ओर ध्यान दिया। किन्तु उन्होने सभी अर्थों का क्रम आवृत्तियो के अनुसार नही रखा। अन्य कोशो में तो कोई वैज्ञानिकता नही पाई जाती। सस्कृत के कोशो से अधा धुध शब्द और अर्थ उठा लेने का दुष्परिणाम हमें भोगना पड रहा है। हिन्दी शब्द सागर में 'गो' शब्द के आगे स्त्रीलिंग में १६ और पुल्लिग में १८ अर्थ गिनाए गए हैं—स्त्रीलिंग (१) गाय (२) रश्मि (३) वृपराशि (४) ऋपभ (५) औपधि (६) (७) सरस्वती (८) दृष्टि (९) विजली (१०) पृथ्वी (११) दिशा (१२) माता (१३) गोमूर्त्ति (१४) वकरी, भैंस, (१५) भेड (१६) एकवीथी। पुल्लिग—(१) वैल (२) नदी (३) घोडा (४) सूर्य (५) चन्द्रमा (६) वाग (७) गवइया (८) प्रशसक (९) आकाश (१०) स्वर्ग (११) जल (१२) वज्र (१३) शब्द (१४) नौकाश्रक (१५) शरीर के रोग (१६) पशु (१७) हीरा (१८) गोभेद। हिन्दी का वडे से वडा विद्वान भी मानेगा कि हिन्दी भापा में यह सव अर्थ नही चलते। क्या हम विजली के लिए यह कह सकते है कि 'गो जला दो', या वकरी के लिए कह सकते हैं कि 'गो जा रही है', या माता के लिए कि 'यह मेरी प्यारी गो है, या घोडे के लिए कि 'टाँगे में गो जुता है' ? ३४ अर्थों में एक अर्थ भी तो हिन्दी में नही चलता। गाय के लिए भी चाहे गऊ कह दे, पर उसे कोई गो नही कहता। हाँ, समासो में यह अर्थ मिल जाता है जैसे गोदान, गोशाला, गोधूलि, गोपाल, गोपुच्छ, गोमूत्र, गोमुख, गोमेद, गोरस आदि। और 'इन्द्रिय' अर्थ गोचर और गोपाल में पाया जा सकता है। वस। शेप ३२ अर्थों से हिन्दी के विद्यार्थी का कतई कोई सवध नही है।

'पप' की परिभापा शब्दसागर में यो दी है—"वह नल जिसके द्वारा पानी ऊपर खीचा या चढाया जाता है अथवा एक ओर से दूसरी ओर भेजा जाता है।" पहली वात तो यह है कि वह केवल नल नहीं है, दूसरी वात यह है कि केवल पानी ही क्यो, तेल, गैस, हवा आदि भी सम्मिलित करने चाहिए थे।

वहुत से पुराने शब्दो में भी अर्थ का विकास होता रहता है, किंतु हमारे वडे से वडे कोश ने भी इस वात की चिंता नही की। अ, आ से ही कुछ एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

अतिरिक्त = फालतू
अधिक्रम = अधिकारियो का क्रमिक पद-क्रम
अधिवक्ता = एडवोकेट
अनुचिंतन = मनन
अभिलेख = रिकार्ड
अभ्यार्थी = उम्मीदवार
आकाशवाणी = आल इण्डिया रेडियो
आख्यापन = एलान
आरक्षी = पुलिस
आशसन = गुणकथन

ऊपर के सब शब्द तो इस कोश में है, किन्तु ये अर्थ नही हैं, दूसरे पुराने अर्थ अवश्य है।

शब्दो की निरुक्ति हमारे कोशो का सबसे कमजोर पहलू है। उच्चारण और बलाघात दोनो की आवश्यकता का अनुभव किसी कोशकार को नही हुआ। व्याकरणिक निर्देशों के सम्बन्ध में भी थोडा और सोचने की गुजाइश है। क्या सं० पु० और अ० क्रिया मात्र देने से काम चल जाता है? हमें शायद यह भी दिखाना चाहिये कि यह सज्ञा भाववाचक है या समूहवाचक है या जातिवाचक। इस सज्ञा के पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग रूप क्या बनते हैं—भैस-भैसा, मौसी-मौसा, धोबी-धोबिन, नौकर-नौकरानी आदि क्योंकि प्राय कोशो में व्युत्पन्न स्त्रीलिंग शब्दो को छोड दिया जाता है। इसी प्रकार क्रिया की विस्तृत जानकारी देने की आवश्यकता है।

ऊपर हमने अपनी अधिकाश चर्चा को 'हिन्दी शब्दसागर' तक सीमित रखा है। कोश तो और भी है और उनमे रामशकर शुक्ल रसाल का 'भाषा शब्दकोश' (पृष्ठ सख्या १९०८), कालिका प्रसाद आदि का 'वृहद् हिन्दी कोश' (पृष्ठ सख्या १८००), और रामचन्द्र वर्मा का 'मानक हिन्दी कोश' (पृष्ठ सख्या लगभग ३१००) प्रसिद्ध है। वैज्ञानिकता की दृष्टि से वे और भी पिछडे हुए हैं। हमने 'सागर' (अनुमानित पृष्ठ सख्या ५५००) को इसीलिए चुना है कि उसमे ये सब नदियाँ समा गई है। यह फिर कहना पड रहा है कि हिन्दी में कोशो से कोश बनते है—सस्कृत का शब्द कोश भर लिया गया है, उर्दू का भी, और अब तो ब्रजभाषा, राजस्थानी और अवधी के कोश भी प्रकाशित हो गए है। इन्हें भी भरा जा रहा है, और दावा किया जा रहा है कि हिन्दी की शब्द-सपदा एक लाख, अब सवा लाख, अब डेढ लाख और दो लाख हो गई है। अब सुनने में आया है कि भारत सरकार वेब्स्टर के आधार पर एक हिन्दी कोश तैयार करने की योजना बना रही है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वेब्स्टर से हिन्दी का शब्द-भण्डार पूरा हो जायगा? अथवा, क्या वेब्स्टर हिन्दी शब्दो के अर्थ निश्चित करने अथवा उनका क्रम निर्धारित करने में सहायक हो सकेगा? वेब्स्टर में दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—एक तो पदो की वैज्ञानिक परिभाषा और दूसरी पर्याय और विलोम शब्दो का सयोजन तथा विभेदीकरण। किन्तु यह कोश आधुनिक कोश-विधान की दृष्टि से आधुनिक नही कहा जा सकता। हमें रूसी, जर्मन, और फ्रेंच के प्रामाणिक कोशो के अतिरिक्त अंग्रेजी के यूनिवर्सल, एडवान्स्ड लर्नर्स, और दूसरे कोशो की पद्धतियो को भी जानना-समझना होगा। आज पाश्चात्य देशो मे कोश-कला अत्यन्त समुन्नत और प्रगतिशील है। आज का कोश अपनी भाषा की पूरी सरचनात्मक, व्याकरणिक तथा व्यावहारिक जानकारी देने की चेष्टा करता है। खेद है कि हिन्दी में किसी कोशकार का सपर्क पश्चिम की आधुनिकतम विधियो से नही है। हिन्दी मे कोशो की कमी नहीं है। हिन्दी को घोर आवश्यकता है प्रशिक्षित, अध्यवसायी, एव जागरूक कोशकारो की।



तैयार किए गए हैं, किन्तु किस स्तर के विद्यार्थियो के लिए—यह कोई भी सपादक नही वता सकता। अग्रेजी में प्राथमिक, माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक, स्नातक एव स्नातकोत्तर कक्षाओ के विद्यार्थियो की शब्दावली पर खोज हो चुकी है और उसी के अनुसार कोशो का सपादन होता है। हिन्दी में ऐसा कुछ भी नही है। हिन्दी में प्रचलित भापा का कोई शब्द कोश नही है। स्कूलो, कालेजो में राजस्थानी, अवधी और व्रज भापा की कविताएँ पढाई जाती है, इसलए बीसलदेव रासो से लेकर रामचरित मानस तक और पद्मावत से लेकर कामायनी तक के शब्दो का समावेश होना ही चाहिए। ऐसा नही है कि हिन्दी वोलियो के सव शब्द इनमें मिल ही जायँ। हिन्दी में अभी तक कोशो से कोश वनते चले आ रहे हैं, पुस्तको और पत्र-पत्रिकाओ से नही। मेरे पास १०० शब्द प्रेमचद से और १५० शब्द प्रसाद से सगृहीत पडे हैं जो हिन्दी के वडे से वडे कोश में नही मिलते। 'हिन्दी शब्द सागर' (नवीन सस्करण) मे 'आत्म' के अतर्गत आत्म-कथा, आत्मघात, आत्मचिंतन, आत्मचरित, आत्मज्ञानी, आत्मनिवेदन, आत्मविश्वास, आदि एक सौ के लगभग शब्द है, किंतु आत्मग्लानि, आत्मदर्शी, आत्मनिग्रह, आत्मनिर्णय, आत्मनिर्भर, आत्मप्रवचन, आत्मवलिदान, आत्मशक्ति, आत्मशिक्षा, आत्मशुद्धि, आत्मसरक्षण, आत्मस्तुति, आत्माभिव्यक्ति आदि वहुत सारे शब्द हैं ही नही। सैकडो शब्द प्रतिवर्प हमारी भापा में प्रविष्ट हो रहे हैं—अभी-अभी घेराव, आयाराम-गयाराम, नक्सलवादी, दलवदलू, नसवदी, भाई भतीजावाद, प्रसोपा, ससोपा, सिंडीकेट और इसके मुकावले में इडीकेट आदि शब्द चले है। है कोई ऐसी सस्था जो इस सम्पत्ति को वचाकर रखती जा रही है!

कोश का सकलन कोई मामूली काम नही है। अमेरिका की प्रसिद्ध वेब्सटर डिक्शनरी का चौथा सस्करण १९३४ में प्रकाशित हुआ था। इसके लिए २५ सपादक, ९ सहायक सपादक और २०७ विशिष्ट सपादक लगाए गए थे। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ७० वर्प में तैयार हुई थी और इसकी समाप्ति तक सपादको की तीन पीढियाँ समाप्त हो गयी थी, चौथी ने उसकी अतिम जिल्द देखी। इन दोनो कोशो का सशोधन परिवर्द्धन होता ही रहता है। स्थायी सपादक पीढी दर पीढी काम करते ही जाते हैं। प्रतिदिन नयी पुस्तके और पत्र पत्रिकाएँ चली आ रही हैं और सकलन कर्त्ता उनको पढकर सैकडो नए शब्दो और वीसियो नये अर्थों के कार्ड वनाते जाते है। इस तरह वे अपने कोश को शब्द-सम्पत्ति की दृष्टि से अद्यतन और आधुनिकतम वनाए रखने की चेष्टा करते रहते हैं।

हिन्दी शब्द सागर (नवीन सस्करण) आधुनिकता की दृष्टि से कितना पिछडा हुआ है इसका सही मूल्याकन इस वात से किया जा सकता है कि इसमें सैकडो-हजारो ऐसे शब्द नही मिलते जो आज के हिन्दी जगत् में प्रचलित हैं—अकपूचो, अणघात, अत कालीन, अतर्लोचन, अतर्विवेक, अतरविवाह, अशभागिता, अकादमी, अकाल प्रौढ (वालक), अकुशलता, अकेलापन, अखडता, अखवारवाला, अखाडवाजी, अगुप्त, अग्रता, अचलता, अज्ञात भाव, अज्ञानाधकार, अणुव्रत, अणुशक्ति, अणुशास्त्र, अतिप्राकृतिक, अतिव्याप्त, अत्यावश्यक, अधिक्रम अधिनद्ध, अधिनायकत्व, अधिभार, अधियाचित, अधिशास्त्री, अनतिम, अन्नवर्ती, अनिद्रा-रोग, अनिश्चयात्मक, अनुक्रमाक, अनुचिंतन, अनुज्ञात्मक, अनुवध-पत्र, अनुभवसापेक्ष्य, अनुभवाश्रित, अनुभवातीत, अनुमस्तिष्क, अनुरक्षण, अनुशास्त्रि, अनौपचारिक, अपकर्पी, अपकेन्द्री, अपमिश्रण, अपराधजीवी, अपराधिता, अपसामान्य, अप्रचलन, अभिकथन, अभिकेन्द्री, अभिगृहीत,

अभियता, अभियाचना, अभिरक्षक, अयात्रिक, अभिलेखागार, अजिशुण्णता, अर्थलिप्सा, अर्द्धोन्मीलित, असहमति, अहकेन्द्रित, अहमन्यता, आदोलनकारी, आँवी-पानी, आँसू-गैस, आकण्ठ, आकाशमार्ग, आकृतिमूलक, आक्षरिक, आख्यापत्र, आख्यायिककार, आग्रहपूर्ण, आग्रहपूर्वक, आचारसहिता, आचारशास्त्र, आचार-व्यवहार, आज्ञानुवर्ती, आतककारी, आतिशवाजी, आदरसूचक, आदाना, आदिगुरू, आदियुग, आदेशानुसार, आद्यक्षर, आवारवाक्य, आवारभूत, आधारशिला, आवोआध, आनददायक, आनंदपुर, आनदमग्न, आपत्तिजनक, आपातिक, अप्रवास, आफसेट, आय-कर, आरामतलवी, आरामपसन्द, आरोग्यलाभ, आरोग्यशास्त्र, आर्टिस्ट, आलोच्य, आवटन, आवक्ष (मूर्ति), आवविक, आवेगपूर्ण, आवेशमय, आशान्वित, आशावादवान, आगावादी, आशुलिपि, आश्चर्यचकित, आहार-नाल, आहारशास्त्र आदि-आदि वहुत से शव्द जिनका इस निवध लेखक के लिए सग्रह करके दे देना लगभग असभव ही हैं। इस कोग , मेंआधुनिकता' शव्द भी नही है, 'प्राचीनता' है 'आचार्यत्व' नही है, 'नायकत्व' भी नही है, 'दुष्टत्व' तो है।

कोश की भूमिका के वाद एक सूचना दी गयी है कि लगभग ३५० गथो से (जिनकी सूची सकेतिका के अतर्गत दी गयी है) शव्दो का सग्रह किया गया है। इनमें ९५% ग्रथ साहित्यिक है और उनमें लगभग ६०% खडी वोली के नही हैं। साहित्येतर पुस्तको से शव्दो का सकलन नही किया गया है। आज हमारे ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र वहुत वडा है। हिन्दी केवल ललित साहित्य की भाषा नही है। कोश के सपादक (सपादक मंडल के लोग नही) यदि भाषा विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, भूगोल, भूगर्भशास्त्र, रसायन, चिकित्सा, भौतिकी, काष्ठविद्या, आलेखन, वास्तुकला, सगीत, चित्रकला, जहाज़रानी, वायुयान विद्या, यान्त्रिकी, प्राविधिक विज्ञान आदि पर एक एक पुस्तक भी देख लेते तो उनके शव्द भडार मे हिन्दी का कुछ प्रतिनिधित्व हो जाता। कम से कम एक दिशा का निर्देश तो अवश्य होता। जव हमारे वडे से वडे कोश की यह हालत है तो और कोशो की यहाँ त्रुटियाँ दिखाने की आवश्यकता नही है। 'आवुनिकता' के अभाव का एक और दृष्टान्त 'डालर' के अर्थ मे देखिए—लिखा है "अमेरिका का एक सिक्का—ये १०० सेंट या टके का होता है, रुपयो में इसका मूल्य विनिमय दर के आवार पर सदा वदलता रहता है। कभी एक डालर ३ रुपए दो आने के वरावर था। सम्प्रति उसकी भारतीय रुपयो मे कीमत लगभग ४ ८७ न० पैसे।" वह खड जिसमें यह शव्द है सन् १९६८ ई० में प्रकाशित हुआ है और १९६५ मे डालर ७ ५० के वरावर है।

प्राय लोग शव्दो की शुद्ध वर्तनी जानने के लिए कोश देखते हैं। हम हिन्दी के इस वडे कोश के केवल चार पृष्ठो मे कुछ उदाहरण दे रहे हैं—

पृ० १७८५—'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' के स्थान पर छपा है तत्त्वमिस श्वेतकेतो

पृ० १७७०—तल्व, पोधा, हृस्वाग छपे हैं।

पृ० १७७१—सतति के स्थान पर सवति और चार वार जीवन सन्ति मे 'त्' (त हलन्त) छपा है।

पृ० १७७४—मूर्च्छा के स्थान पर 'मूर्छा'

प्राय लोग शब्द के अर्थ जानने के लिए कोश देखा करते हैं। रामचन्द्र वर्मा ने पहली वार प्रामाणिक हिन्दी कोश में सगतियुक्त सयोजन और वैज्ञानिक विकास की ओर ध्यान दिया। किन्तु उन्होंने सभी अर्थों का क्रम आवृत्तियो के अनुसार नही रखा। अन्य कोशो मे तो कोई वैज्ञानिकता नही पाई जाती। सस्कृत के कोशो से अधा धुध शब्द और अर्थ उठा लेने का दुष्परिणाम हमे भोगना पड रहा है। हिन्दी शब्द सागर में 'गो' शब्द के आगे स्त्रीलिंग में १६ और पुल्लिग में १८ अर्थ गिनाए गए है—स्त्रीलिंग (१) गाय (२) रश्मि (३) वृपराशि (४) ऋपभ (५) औपधि (६) (७) सरस्वती (८) दृष्टि (९) विजली (१०) पृथ्वी (११) दिशा (१२) माता (१३) गोमूर्त्ति (१४) वकरी, भैंस, (१५) भेड (१६) एकवीथी। पुल्लिग—(१) वैल (२) नदी (३) घोडा (४) सूर्य (५) चन्द्रमा (६) वाग (७) गवइया (८) प्रशसक (९) आकाश (१०) स्वर्ग (११) जल (१२) वज्र (१३) शब्द (१४) नौकाअक (१५) शरीर के रोग (१६) पशु (१७) हीरा (१८) गोमेद। हिन्दी का वडे मे वडा विद्वान भी मानेगा कि हिन्दी भापा मे यह सब अर्थ नही चलते। क्या हम विजली के लिए यह कह सकते है कि 'गो जला दो', या वकरी के लिए कह सकते है कि 'गो जा रही है', या माता के लिए कि 'यह मेरी प्यारी गो है, या घोडे के लिए कि 'टाँगे में गो जुता है' ? ३४ अर्थों मे एक अर्थ भी तो हिन्दी मे नही चलता। गाय के लिए भी चाहे गऊ कह दे, पर उसे कोई गो नही कहता। हाँ, समासो मे यह अर्थ मिल जाता है जैसे गोदान, गोशाला, गोधूलि, गोपाल, गोपुच्छ, गोमूत्र, गोमुख, गोमेद, गोरस आदि। और 'इन्द्रिय' अर्थ गोचर और गोपाल में पाया जा सकता है। वस। शेप ३२ अर्थों से हिन्दी के विद्यार्थी का कतई कोई सबध नही है।

'पप' की परिभापा शब्दसागर मे यो दी है—"वह नल जिसके द्वारा पानी ऊपर खीचा या चढाया जाता है अथवा एक ओर से दूसरी ओर भेजा जाता है।" पहली वात तो यह है कि वह केवल नल नही है, दूसरी वात यह है कि केवल पानी ही क्यो, तेल, गैस, हवा आदि भी सम्मिलित करने चाहिए थे।

वहुत मे पुराने शब्दो में भी अर्थ का विकास होता रहता है, किंतु हमारे वडे से वडे कोश ने भी इस वात की चिंता नही की। अ, आ से ही कुछ एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

अतिरिक्त = फालतू
अधिक्रम = अधिकारियो का क्रमिक पद-क्रम
अधिवक्ता = एडवोकेट
अनुचिंतन = मनन
अभिलेख = रिकार्ड
अभ्यार्थी = उम्मीदवार
आकाशवाणी = आल इण्डिया रेडियो
आख्यापन = एलान
आरक्षी = पुलिस
आशसन = गुणकथन

ऊपर के सब शब्द तो इस कोश में हैं, किन्तु ये अर्थ नही हैं, दूसरे पुराने अर्थ अवश्य हैं।

शब्दो की निरुक्ति हमारे कोशो का सबसे कमजोर पहलू है। उच्चारण और बलाघात दोनो की आवश्यकता का अनुभव किसी कोशकार को नही हुआ। व्याकरणिक निर्देशो के सम्बन्ध में भी थोडा और सोचने की गुजाइश है। क्या स० पु० और अ० क्रिया मात्र देने से काम चल जाता है ? हमें शायद यह भी दिखाना चाहिये कि यह संज्ञा भाववाचक है या समूहवाचक है या जातिवाचक। इस सज्ञा के पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग रूप क्या बनते हैं—भैस-भैसा, मौसी-मौसा, धोबी-धोबिन, नौकर-नौकरानी आदि क्योकि प्राय कोशो मे व्युत्पन्न स्त्रीलिंग शब्दो को छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार क्रिया की विस्तृत जानकारी देने की आवश्यकता है।

ऊपर हमने अपनी अधिकाश चर्चा को 'हिन्दी शब्दसागर' तक सीमित रखा है। कोश तो और भी हैं और उनमे रामशकर शुक्ल रसाल का 'भाषा शब्दकोश' (पृष्ठ सख्या १९०८), कालिका प्रसाद आदि का 'बृहद् हिन्दी कोश' (पृष्ठ सख्या १८००), और रामचन्द्र वर्मा का 'मानक हिन्दी कोश' (पृष्ठ सख्या लगभग ३१००) प्रसिद्ध हैं। वैज्ञानिकता की दृष्टि से वे और भी पिछडे हुए हैं। हमने 'सागर' (अनुमानित पृष्ठ सख्या ५५००) को इसीलिए चुना है कि उसमें ये सब नदियाँ समा गई हैं। यह फिर कहना पड रहा है कि हिन्दी मे कोशो से कोश बनते हैं—सस्कृत का शब्द कोश भर लिया गया है, उर्दू का भी, और अब तो ब्रजभाषा, राजस्थानी और अवधी के कोश भी प्रकाशित हो गए हैं। इन्हे भी भरा जा रहा है, और दावा किया जा रहा है कि हिन्दी की शब्द-सपदा एक लाख, अब सवा लाख, अब डेढ लाख और दो लाख हो गई है। अब सुनने मे आया है कि भारत सरकार वेब्स्टर के आधार पर एक हिन्दी कोश तैयार करने की योजना बना रही है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वेब्स्टर से हिन्दी का शब्द-भण्डार पूरा हो जायगा ? अथवा, क्या वेब्स्टर हिन्दी शब्दो के अर्थ निश्चित करने अथवा उनका क्रम निर्धारित करने में सहायक हो सकेगा ? वेब्स्टर में दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—एक तो पदो की वैज्ञानिक परिभाषा और दूसरी पर्याय और विलोम शब्दो का सयोजन तथा विभेदीकरण। किन्तु यह कोश आधुनिक कोश-विधान की दृष्टि से आधुनिक नही कहा जा सकता। हमें रूसी, जर्मन, और फ्रेंच के प्रामाणिक कोशो के अतिरिक्त अंग्रेजी के यूनिवर्सल, एडवान्स्ड लर्नर्स, और दूसरे कोशो की पद्धतियो को भी जानना-समझना होगा। आज पाश्चात्य देशो मे कोश-कला अत्यन्त समुन्नत और प्रगतिशील है। आज का कोश अपनी भाषा की पूरी सरचनात्मक, व्याकरणिक तथा व्यावहारिक जानकारी देने की चेष्टा करता है। खेद है कि हिन्दी में किसी कोशकार का सपर्क पश्चिम की आधुनिकतम विधियो से नही है। हिन्दी मे कोशो की कमी नही है। हिन्दी को घोर आवश्यकता है प्रशिक्षित, अध्यवसायी, एव जागरूक कोशकारो की।



उपन्यास क्या है ?

गोपाल राय

किसी भी साहित्यिक विधा की परिभाषा देना अथवा उसका स्वरूप निर्धारण करना एक मुश्किल काम होता है[1], वैसी साहित्य विधा को परिभाषित करना और भी कठिन है जो तेजी से विकास कर रही हो। उपन्यास अन्य काव्यविधाओ की तुलना मे आधुनिक है और उसका विकास अभी रुका नही है। इसलिए आज उसकी जो परिभाषा दी जाती है, वह कल पुरानी पड जाती है। इस कठिनाई के बावजूद उपन्यास की परिभाषा करना और उसका स्वरूप निर्धारण करना अनिवार्य हो जाता है, क्योकि इसके बिना औपन्यासिक कृतियो का सही मूल्याकन करना सभव नही होता।

यद्यपि उपन्यास की परिभाषा करना कठिन है, पर उसके उन तत्त्वो की तलाश की जा सकती है जो हर अच्छे उपन्यास में महत्तम समापवर्त्तक के रूप मे विद्यमान रहते हैं। हो सकता है कि कोई उपन्यास इन तत्त्वो का अतिक्रमण भी कर जाए पर सामान्य रूप से अन्य विधाओ से उपन्यास की अलग पहचान के लिए इन तत्त्वो का निर्धारण उपयोगी हो सकता है।

उपन्यास कथा का वशज

प्रथमत उपन्यास को हम कथा का वशज या विकास कह सकते हैं। यह निर्विवाद और सार्वभौम तथ्य है कि उपन्यास कथा से ही विकसित हुआ है। कथा का मनुष्य से सबध आदिम और मौलिक है। नृशास्त्रवेत्ताओ के अनुसार पुरापाषाण युग का आदि मानव कथा सुनने-सुनाने का आदी था। आदि मानव अपने अवकाश के क्षणो को किस्सा-कहानी कह-सुनकर बिताता रहा होगा, यह अनुमान बिलकुल स्वाभाविक है। आज भी बच्चे और अशिक्षित व्यक्ति किस्सा-कहानियो से अपना मनोरजन करते ही है। यहाँ तनिक रुककर कथा की परिभाषा कर लेना आवश्यक है। **समयानुक्रम मे बँधी घटनाओ का वर्णन ही कथा है।** अच्छी कथा की एक ही विशेषता है। वह यह कि उसमें उत्सुकता और कौतूहल उत्पन्न करने की क्षमता हो। जिस कथा में यह क्षमता जितनी अधिक होगी उसे उतनी श्रेष्ठ कथा मानेंगे। देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता' कथा का श्रेष्ठ उदाहरण है।

बहुत दिनो तक कथा बालको और अशिक्षित व्यक्तियो के मनोरजन का साधन बनी रही। बाद में इससे एक और काम लिया जाने लगा। वह उपदेश का भी माध्यम बनी। कथा के माध्यम से उपदेश देना सरल कार्य है और सस्कृत में पचतत्र तथा हितोपदेश जैसी कथाएँ इसी उद्देश्य से रची गयी। दूसरी तरफ काव्यो में भी कथा को ग्रहण किया गया।

---

१ फोर्स्टर्स ई० एम०, दि आस्पेक्ट्स आफ नावेल, पृष्ठ

सस्कृत में कथाओ के आधार पर गद्य-काव्यो की भी रचनाएँ हुई पर कथा को वास्तविक गौरव उपन्यास के उद्भव के वाद ही मिला । उसके पहले तक कथा अल्प बुद्धि वाले व्यक्तियो की ही चीज मानी जाती थी और काव्यग्रथो में, यहाँ तक कि गद्यकाव्यो में भी, कथा का स्थान वहुत गौण हुआ करता था । उपन्यास में आकर पहली वार कथा ने अपना वास्तविक उत्तराधिकारी प्राप्त किया । जैसा स्पष्ट है, कथा के दो ही कार्य थे हल्के धरातल का मनोरजन और उपदेश । उपन्यास कथा का वशज होकर भी मनोरजन और उपदेश से ऊपर की वस्तु है । वह जीवन को उसकी व्यापकता, जटिलता और गहराई मे अभिव्यक्त करने वाला सर्वाधिक प्रतिनिधि काव्य-रूप है । उपन्यास ने अपने पूर्वज, कथा, से अलग होने के लिए विद्रोह किया है । उपन्यास से कथा का तत्त्व दिनोदिन कम होता गया है, और इस दिशा में निरतर प्रयोग भी हो रहे है । पर इसके वावजूद उपन्यास कथा को विलकुल छोड देने में समर्थ नही हुआ है । ई० एम० फोर्स्टर्स के अनुसार उपन्यास अपने पूर्वज के इस रोग से न तो मुक्त हो सका है और न हो सकेगा । कथा उपन्यास की रीढ है, चाहे वह कितनी ही पतली क्यो न हो । उसके विना उपन्यास की रचना सभव नही है । उसे कम किया जा सकता है सूक्ष्म वनाया जा सकता है, समयानुक्रम में हेर फेर, उलट-पुलट की जा सकती है, लेकिन उससे सर्वथा मुक्ति नही पाई जा सकती । इस प्रकार कथा को उपन्यास के आधार या रीढ के रूप मे स्वीकार करना ही होगा । यह उपन्यास का सवसे दुर्वल पर अनिवार्य अग है ।

कथा के मौखिक और लिखित रूप

कथा कई रूपो मे उपलब्ध होती है । कथा का आदिम रूप मौखिक है । आज भी मौखिक रूप में कथा अशिक्षितो और वच्चो का मनोरजन करती है । मुद्रण के आविष्कार के पूर्व कथा अधिकतर मौखिक रूप में ही प्रचलित थी । मौखिक कथा उपन्यास नही वन सकती । उपन्यास वनने के लिए उसको लिखित रूप ग्रहण करना अनिवार्य है । उपन्यास श्रव्य नही हो सकता । ससार की सभी भाषाओ मे मुद्रण यन्त्र के प्रचलन तथा पाठक वर्ग के निर्माण के वाद ही उपन्यास का उद्भव सभव हुआ है । यह उपन्यास की विशिष्ट माँग है । कथा जव तक श्रव्य रूप में रहती है वह उपन्यास वनने में असमर्थ होती है । इसका कारण यह है कि उपन्यास केवल कथा नही है । वह एक विशिष्ट कलाकार की जीवन-दृष्टि की उपज है । उपन्यास जीवन को उसकी व्यापकता और जटिलता मे चित्रित करने का प्रयास करता है और यह लिखित रूप में ही सम्भव है । कथा सार्वजनिक होती है इसलिए कोई भी उसका श्रावयिता वन सकता है । उपन्यास किसी विशिष्ट कलाकार की सृष्टि होता है और उसका एक स्थित निश्चित रूप होता है जो लिखित रूप में ही सम्भव है । उपन्यास का लिखित होना इसलिए भी अनिवार्य है कि जीवन की जो जटिलता, संघर्ष और व्यापकता उपन्यास मे अभिव्यक्ति पाती है, उसे सुनकर स्मरण नही रखा जा सकता । उपन्यासकार की विशेष दृष्टि जीवन-मूल्यो की अभिव्यक्ति पर होती है, जवकि किस्सागो समयानुक्रम में नियोजित ऐसी घटनाओ पर वल देता है जो श्रोताओ का कौतूहल वनाए रख सके । समयानुक्रम में नियोजित घटनाओ को याद रखना सरल है पर जीवन-मूल्यो की अभिव्यक्ति जिन जटिल रूपो मे होती है उन्हें एक वार सम्पन्न कर लेने के वाद पुन स्मरण-शक्ति के वल पर ज्यो का त्यो उपस्थित नही किया जा सकता । चाहे वस्तु शिल्प की जटिलता की दृष्टि से देखें चाहे मनोवैज्ञानिक निदान

की दृष्टि से उपन्यास श्रव्य नही हो सकता। यह पाठ्य होकर ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार पाठक-वर्ग के साथ उपन्यास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हिन्दी क्षेत्र में जब तक श्रोता-मडली वनी रही तब तक कथाओ का बोल-वाला रहा, पर जब शिक्षा और मुद्रण यन्त्र के प्रसार से श्रोता पाठक में परिणत होने लगे तो कथाओ में भी जैसे अनिवार्य रूप मे औपन्यासिक तत्त्वो के दर्शन होने लगे।

पद्य कथा और गद्य कथा

उपन्यास के लिए कथा का केवल लिखित होना ही नही गद्य में लिखित होना भी जरूरी है। कथा पद्य में भी होती हैं, पर पद्य में लिखित कथा उपन्यास रूप में विकसित नही हो सकती। गद्य उपन्यास का अनिवार्य माध्यम है। इसका कारण यह है कि उपन्यास का सम्वन्ध यथार्थ की अभिव्यक्ति से है। पद्य गद्य की तुलना में अधिक कृत्रिम होता है। गद्य हमारी अभिव्यक्ति का सहज माध्यम है। इसी कारण वह यथार्थ के अधिक निकट मालूम पडता है। गद्य प्राय सामान्य वातचीत का प्रभाव पैदा करता है। इस कारण वह उपन्यास का माध्यम वन सकने में समर्थ होता है।

उपन्यास की लम्बाई

इस प्रसग में एक प्रश्न यह भी उठता है कि कितनी लम्बी कथा को उपन्यास की सज्ञा दी जाए। कथा बडी भी हो सकती है, छोटी भी। 'बडा' और 'छोटा' सापेक्ष पद हैं और इनकी कोई निश्चित सीमा तय नही की जा सकती। यही कारण है कि उपन्यास के आकार का निर्धारण करने में किसी को सफलता नही मिल सकी है और न भविष्य में मिलने की कोई सम्भावना है। उपन्यास का आकार सौ सवा सौ पृष्ठो से लेकर हजार डेढ हजार पृष्ठो तक का हो सकता है। अत उपन्यास कला के पडितो ने केवल इतना कह कर सन्तोष कर लिया है कि उपन्यास का आकार "पर्याप्त लम्बा" होना चाहिए। सुविधा के लिए हम उपन्यास और कहानी के बीच उपन्यासिका (novelette) को रखकर उपन्यास के आकार का थोडा वहुत निर्णय कर सकते हैं। हम मान ले सकते है कि कहानी का आकार छोटा, उपन्यास का पर्याप्त लम्बा और उपन्यासिका का दोनो के बीच का होता है। कभी-कभी कहानी खीचकर उपन्यासिका के क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है और कभी उपन्यास सिमटकर उपन्यासिका की सीमा में चला आता है, पर प्राय इन्हें पहचानने में, यद्यपि थोडे मनमानेपन के साथ, हम कोई भूल नही करते। अत आकार के सम्बन्ध में इसी निष्कर्ष पर सन्तोष करना पडता है कि उपन्यास पर्याप्त लम्बा होता है।

कल्पनाप्रसूत किन्तु यथार्थ ससार का निर्माण

उपन्यास के सम्वन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण वात यह है कि उसमें एक काल्पनिक, पर यथार्थ ससार का निर्माण होता है। उपन्यास मे चित्रित पात्र और उनके कार्यकलाप कल्पना-प्रसूत होते हैं। इसी दृष्टि से उपन्यास इतिहास, जीवनी और आत्मकथा से भिन्न होता है। इतिहास और जीवनी में वर्णित पात्र और उनके कार्यकलाप तथ्य होते हैं, जबकि उपन्यासकार काल्पनिक व्यक्तियो के काल्पनिक कार्यो का वर्णन करता है। इतिहासकार जो कुछ भी लिखता है, उसके लिए उसे साक्ष्य प्रस्तुत करना पड़ता है। उपन्यासकार के साथ ऐसी कोई सीमा नही

है। कभी-कभी उपन्यासो के काल्पनिक पात्र इतने वास्तविक प्रतीत होते है कि पाठक भ्रम में पड जाता है। कथरीन लीवर (Cathrine Lever) ने इस प्रसग में एक बडा ही मनोरजक उदाहरण प्रस्तुत किया है। क्रिस्टोफर मार्ली के 'किट्टी फ्वायल' नामक उपन्याम को पढते हुए एक पाठक को भ्रम हो गया कि वह वास्तविक घटना का वर्णन पढ रहा है। उसने फिलाडेलफिया के पत्र सम्पादक को लिखा कि वह जीवन भर ग्रिस्कॉम स्ट्रीट में रहता आया है, पर फ्वायल नामधारी किसी परिवार को वह नही जानता। किन्तु, उपन्यास का विवेकशील पाठक जानता है कि उपन्याम के पात्र वास्तविक ससार में नही जीते। वे केवल पुस्तक के पृष्ठो में या लेखक और पाठक की कल्पना मे जीते है। अत इतिहास, जीवनी, आत्मकथा, मनोवैज्ञानिक रोगो के इतिहास तथा डायरी से उपन्यास की भिन्नता स्पष्ट है। उपन्यास और तथ्य मे कभी-कभी इस कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि आरम्भ से ही उपन्यासकार अपने पाठको को अपने द्वारा निर्मित ससार की यथार्थता का अधिकाधिक वोध कराने के लिए इस प्रकार की शैली अपनाते रहे है मानो वे किसा तथ्य का वर्णन कर रहे हो। पर विवेकशील पाठक वाहरी रूप से भ्रम में नही पडता। वह जानता है कि 'शेखर एक जीवनी' का शेखर और 'वाणभट्ट का आत्मकथा' का वाणभट्ट काल्पनिक पात्र हैं, वास्तविक नही।

पर जैसा ऊपर कहा गया है उपन्यास का ससार कल्पना-प्रसूत होने पर भी यथार्त होता है। कुछ लोग यथार्थ और कल्पना-प्रसूत मे कोई फर्क नही कर पाते। इसलिए उनकी दृष्टि में जो कुछ भी कल्पना प्रसूत है वह अयथार्थ होता है। किन्तु यह सीमित और सकुचित दृष्टि का परिणाम है। वास्तव मे जो कुछ भी विश्वसनीय और सम्भव होता है वह वास्तविक ससार में अविकृत होने पर भी यथार्थ कहलाने का अधिकारी है। उपन्यासकार के पात्र, उनकी परिस्थितियाँ और कार्य-कलाप अवश्य ही काल्पनिक होते है, पर उनमे कोई भी ऐसी बात नही होती जो सभावना से परे हो। पात्रो की परिस्थितियाँ, उनके आस पास के वातावरण एव उनके कार्यकलाप ही नही, उनके नाम, निवास-स्थान तथा वेशभूपा तक ससार के अन्य व्यक्तियो की तरह होते है। उपन्यास में कुछ भी ऐसा नही होता जो विश्वसनीय न कहा जा सके। कोई कथा उपन्यास की सज्ञा तव तक नही पा सकती जवतक उसमे चित्रित जीवन विश्वसनीय और सभव न हो। इमी आवार पर हम रूमानी कथाओ और उपदेशाख्यानो को उपन्यास की सज्ञा नही देते। रूमानी कथाएँ अपने श्रोताओ को जिस संसार में ले जाती है, वह शौर्य और उत्तेजक साहसाभियानो, वीर पुरुपो और समोहक स्त्रियो, दुर्जन जादूगरो और सज्जन महात्माओ और सवसे ऊपर एक आदर्शाकृत प्रेम का संसार होता है। इन ससार के पर्वत, नदियाँ, जमीन, मनुष्य तथा उसके नियम हमारे ससार से सर्वथा भिन्न होते है। वहाँ के पर्वतो मे तिलिस्म भरे रहते है, जमीन सोने और चाँदी की होती है, नदियाँ नालो मे भरी होती है, नायिकाएँ सोने से मढी होती है तथा पशु-पक्षी मनुष्य की भापा वोलते है। इन कथाओ के नायक-नायिका केवल प्रेम की दुनियाँ में विचरण करने वाले आलकारिक भापा में विरह-निवेदन करने वाले तथा जीवन की दैनिक समस्याओ से मुक्त स्वच्छन्द प्राणी होते है। ये रोमास के दो कार्य करते थे—एक गुदगुदाहट दूसरा मनोरजन तथा एक विशेष प्रकार के जीवन दर्शन का सुस्वादु रूप में नपेपण। अधिकाश प्राचीन रूमानी कथाएँ श्रोताओ की चेतना को हितकर रूप में उद्दीप्त नही करती। इन कथाओ का उद्देश्य जीवन के अनुभय

की दृष्टि से उपन्यास श्रव्य नही हो सकता। यह पाठ्य होकर ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार पाठक-वर्ग के साथ उपन्यास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हिन्दी क्षेत्र में जब तक श्रोता-मडली बनी रही तब तक कथाओ का बोल-बाला रहा, पर जब शिक्षा और मुद्रण यन्त्र के प्रसार से श्रोता पाठक में परिणत होने लगे तो कथाओं में भी जैसे अनिवार्य रूप में औपन्यासिक तत्त्वो के दर्शन होने लगे।

पद्य कथा और गद्य कथा

उपन्यास के लिए कथा का केवल लिखित होना ही नही गद्य में लिखित होना भी जरूरी है। कथा पद्य में भी होती है, पर पद्य में लिखित कथा उपन्यास रूप में विकसित नही हो सकती। गद्य उपन्यास का अनिवार्य माध्यम है। इसका कारण यह है कि उपन्यास का सम्बन्ध यथार्थ की अभिव्यक्ति से है। पद्य गद्य की तुलना में अधिक कृत्रिम होता है। गद्य हमारी अभिव्यक्ति का सहज माध्यम है। इसी कारण वह यथार्थ के अधिक निकट मालूम पडता है। गद्य प्राय सामान्य बातचीत का प्रभाव पैदा करता है। इस कारण वह उपन्यास का माध्यम बन सकने में समर्थ होता है।

उपन्यास की लम्बाई

इस प्रसग में एक प्रश्न यह भी उठता है कि कितनी लम्बी कथा को उपन्यास की संज्ञा दी जाए। कथा बडी भी हो सकती है, छोटी भी। 'बडा' और 'छोटा' सापेक्ष पद हैं और इनकी कोई निश्चित सीमा तय नही की जा सकती। यही कारण है कि उपन्यास के आकार का निर्धारण करने मे किसी को सफलता नही मिल सकी है और न भविष्य में मिलने की कोई सम्भावना है। उपन्यास का आकार सौ सवा सौ पृष्ठो से लेकर हजार डेढ हजार पृष्ठो तक का हो सकता है। अत उपन्यास कला के पडितो ने केवल इतना कह कर सन्तोप कर लिया है कि उपन्यास का आकार "पर्याप्त लम्बा" होना चाहिए। सुविधा के लिए हम उपन्यास और कहानी के बीच उपन्यासिका (noveletto) को रखकर उपन्यास के आकार का थोडा बहुत निर्णय कर सकते हैं। हम मान ले सकते है कि कहानी का आकार छोटा, उपन्यास का पर्याप्त लम्बा और उपन्यासिका का दोनो के बीच का होता है। कभी-कभी कहानी खीचकर उपन्यासिका के क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है और कभी उपन्यास सिमटकर उपन्यासिका की सीमा में चला आता है, पर प्राय इन्हें पहचानने में, यद्यपि थोडे मनमानेपन के साथ, हम कोई भूल नही करते। अत आकार के सम्बन्ध में इसी निष्कर्प पर सन्तोप करना पडता है कि उपन्यास पर्याप्त लम्बा होता है।

कल्पनाप्रसूत किन्तु यथार्थ ससार का निर्माण

उपन्यास के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें एक काल्पनिक, पर यथार्थ ससार का निर्माण होता है। उपन्यास मे चित्रित पात्र और उनके कार्यकलाप कल्पना-प्रसूत होते है। इसी दृष्टि से उपन्यास इतिहास, जीवनी और आत्मकथा से भिन्न होता है। इतिहास और जीवनी में वर्णित पात्र और उनके कार्यकलाप तथ्य होते हैं, जबकि उपन्यासकार काल्पनिक व्यक्तियो के काल्पनिक कार्यों का वर्णन करता है। इतिहासकार जो कुछ भी लिखता है, उसके लिए उसे साक्ष्य प्रस्तुत करना पड़ता है। उपन्यासकार के साथ ऐसी कोई सीमा नही

तो हमें उसमे पाँच प्रमुख बातें दिखाई पडती है—जन्म, मृत्यु, भोजन, शयन और प्रेम। जन्म और मृत्यु जीवन के दो छोर है पर उपन्यास मे इनका चित्रण बहुत गौण रूप मे ही होता है। इसी प्रकार भोजन और शयन हमारे जीवन के महत्त्वपूर्ण अग है, पर उपन्यास मे इनकी स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण नही होती। रहा प्रेम जिसका चित्रण उपन्यास में बहुत व्यापक रूप में होता है। प्रेम शब्द का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ मे किया जा रहा है। सभी मानव सम्बन्धो मे मूल मे यह प्रेम विद्यमान होता है। उपन्यास मानव सम्बन्धो के चित्रण का प्रयास करता है। इस प्रकार स्थूल रूप से देखने पर उपन्यास वास्तविक जीवन का पूरा प्रतिनिधित्व करता नही दीखता। वह जीवन के पञ्चम अश का ही प्रतिनिधित्व करता है। फिर उपन्यास को जीवन का पूर्ण प्रतिनिधि कैसे माना जाए ? पर यह आपत्ति स्थूल रूप से देखने पर ही महत्त्वपूर्ण मालूम पडती है। जन्म और मृत्यु जीवन के दो छोर होने पर भी हमारे लिए उतना महत्त्व नही रखते। हमे अपने जन्म की कोई स्मृति नही रहती और मृत्यु के बाद जीवन व्यर्थ हो जाता है। यही कारण है कि हम अपने जीवन में जन्म और मृत्यु की बहुत परवाह नही करते। शयन की स्थिति भी निष्क्रियता की स्थिति होती है, और भोजन न हो तो भोजन की समस्या उपन्यास मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती है। मनुष्य के सारे कार्यकलाप प्रेम से स्पन्दित होते है और इसलिए उसके अन्तर्गत सार रूप मे सारा जीवन आ जाता है। इस लिए यह कहना कि उपन्यास मानव जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व नही करता, स्थूल दृष्टि का परिचायक है सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उपन्यास ही वह काव्य-रूप मालूम पडता है जो जीवन का सही प्रतिनिधित्व करता है।

पर इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि औपन्यासिक यथार्थ की पहचान इस बात से नही होती कि उपन्यास में किस प्रकार के जीवन का चित्रण किया गया है, वरन् उसकी पहचान इस रूप मे होती है कि जीवन किस रूप में चित्रित किया गया है। उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत अनुभव द्वारा उपलब्ध सत्य—जो सदा अनन्य और इसलिए नवीन होता है—का चित्रण है। इस सत्य को उपन्यासकार इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह कार्य-कारण की शृंखला में बँधा हुआ हो। उपन्यास की घटनाएँ वास्तविक ससार की घटनाओ की तरह किसी खास व्यक्ति, किसी खास समय और किसी खास स्थान से सम्बद्ध होती है। प्राचीन कथाओ मे इस 'खासियत' पर जोर नही दिया जाता था। उन कथाओ के पात्र सामान्यत मानव प्रतिरूप हुआ करते है, जो साहित्यिक रूढियो से नियोजित पृष्ठभूमि में कार्यशील दिखायी पडते हैं। उदाहरण के लिए पुरानी प्रेम कहानियो के नायको की कोई अपनी व्यक्तिगत विशेषता नही होती। वे प्रतिरूप अथवा टाइप मात्र होते हैं। इसके विपरीत उपन्यासकार उपन्यासो के पात्रो का व्यक्तिकरण करता है। वह उन्हे विशिष्ट नाम ही नही देता वरन् विशिष्ट व्यक्तित्व से भी सम्पन्न कर देता है। उपन्यास ने पहली बार व्यक्तिवाचक नामो की सार्थकता स्थापित की। उपन्यासकार अपने पात्रो का नामकरण इस रूप में करता है कि वे विशेष व्यक्ति जान पडे। इसके साथ-साथ उपन्यासकार सरल, स्पष्ट और सटीक भाषा में पात्रो के अग विन्यास तथा वेश-भूषा का ऐसा विश्वसनीय वर्णन करता है, जिससे कि वह विशिष्ट व्यक्ति के रूप मे अपनी छाप हमारे मन पर छोड सके।

मनुष्य के कार्य-कलाप किसी विशेष समय और विशेष स्थान में ही सम्पन्न होते है।

का सार उपस्थित करना नही, वरन् उत्तेजना के लिए उत्तेजक उत्पन्न करना होता था। वे वैसे व्यक्तियो की अतृप्ति और उचाटपन पर जाती हैं, जिन्हे करने के लिए कोई काम नही होता या वे जो कुछ करते है उसमें उन्हें अत्यल्प सतोप होता है।

यथाथ सम्वन्धी इसी वैशिष्ट्य के कारण उपन्यास उपदेशाख्यानो (मोरल फेवल्स) से भिन्न हो जाता है। उपदेशाख्यान भी लिखित गद्यकथा है जो कल्पना प्रसूत तो होती ही है पर जिसमें कोई ससार नही होता। उपदेशाख्यान में उपदेश की प्रधानता होती है। उसके पात्र कुछ विशेप गुणो को उदाहृत करते है। उनका कोई अस्तित्व नही होता, केवल 'अर्थ' होता है। उनके कार्य-कलाप किसी विचार की पुष्टि मात्र करते हैं। उनमें कोई नैतिक दर्शन प्रधान होता है और पात्र तथा कथानक लेखक के दृष्टिकोण के सामने गौण होते है। उदाहरणार्थ पचतन्त्र के पात्रो का अपना कोई अस्तित्व नही है, यद्यपि के लेखक के उद्देश्य की पूर्ति करने मे पर्याप्त सक्षम है। उपदेशाख्यान का लेखक लिखना आरम्भ करने के पूर्व उसके केन्द्रीय विचार का निर्धारण कर चुका रहता हैं। उपदेशाख्यान जीवन सम्वन्धी किसी विचार या नैतिक सत्य को उदाहृत या व्याख्यात करता है। वह विचार या दृष्टिकोण एक सूक्ति के रूप में भी हो सकता है या काफी स्पष्ट जीवन-दृष्टि के रूप में। जैसे अग्रेजी उपन्यास (गुलिवर्क्स ट्रेवेल) में मुख्य वात है व्याख्या और दृष्टान्तीकरण। इस प्रकार उपदेशाख्यान का लक्ष्य किसी नैतिक सत्य को उदाहृत करना होता है जवकि उपन्यास एक ठोस ससार को हमारे सामने रखता है। उपदेशाख्यान की सीमा यह होती है कि इसमे जीवन का अति सरलीकरण या मिथ्या दर्शन होता है। इसमें 'जीवन' नही होता, केवल विचार या नैतिक सत्य का उदाहरणीकरण होता है, जवकि उपन्यास के पृष्ठो में जीवन उफनाता रहता है। उपन्यासकार जीवन के यथार्थ अनुभव को पात्रो के माध्यम से पाठको तक पहुँचाने का प्रयास करता है। उपन्यास-लेखक नैतिक सत्य के चित्रण में नही, जीवन के चित्रण मे रुचि रखता है। उसकी दृष्टि इस वात पर रहती है कि पुरुप या स्त्रियाँ क्या करती है। वह निर्णय और मूल्याकन में उतना समय नही लगाता, जितना मानव प्राणियो और उनके कार्यो का रुचि और उत्साह के साथ आलेखन करने में।

इस प्रकार उपन्यास यथार्थवादी गद्य कथा है—उपदेशाख्यानो और रूमानी कथाओं से सर्वथा भिन्न। इस दृष्टि के 'कादम्वरी' और 'दशकुमार चरित' जैसे गद्य काव्य,—'वैताल पचीसी' 'सिंहासन वत्तीसी' 'चहार दर वेग' और 'किस्सा तोता मैना' जैसी लोक प्रचलित कहानियाँ, 'रानी केतकी की कहानी' जैसे प्रेमाख्यान, तिलस्मी तथा जासूमी कथाएँ उपन्यास नही कहला सकती। यद्यपि इन्हें भी सामान्य रूप में 'उपन्यास' की सज्ञा मिल जाती हैं, पर यहाँ 'उपन्यास' शव्द प्रयोग वहुत शिथिल रूप से होता है उपन्यास एक कला रूप है और अपने यथार्थवादी वैशिष्ट्य के कारण वह कथा के इन रूपो से भिन्न होता है।

औपन्यासिक यथार्थ

अव हम विवेचन के उस विन्दु पर पहुँच गए हैं, जहाँ उपन्यास में चित्रित 'जीवन' अथवा यथार्थ की व्याख्या अपेक्षित है। हम कहते है कि उपन्यास जीवन का प्रतिनिधित्व करता है, पर जव हम इनके अर्थ पर विचार करने लगते हैं तो हमें काफी उलझन का सामना करना पडता है। 'जीवन' का आखिर मतलव क्या है ? यदि हम किसी व्यक्ति के जीवन को देखें

रूमानी कथाओ के अपने-अपने सूत्र या रूढियाँ होती है। इन कथाओ में जिस ससार का विवरण होता है वह ऊपर-ऊपर से इतना भर विश्वसनीय होता है कि हम उसे पढना बन्द न करें, पर वह उतना विश्वसनीय नही होता कि हमारे मन में उसके यथार्थ होने का भ्रम उत्पन्न हो। इस प्रकार उपन्याम की नवीनता व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टि की नवीनता और उपन्यासकार के व्यक्तित्व के अनोखेपन मे निहित है। नोवेल के हिन्दी पर्याय 'उपन्यास' मे इस नवीनता को व्यजित करने वाला कोई अर्थ निहित नही है। हिन्दी उपन्यास के आरम्भिक काल मे कुछ लेखको ने नोवेल के लिए 'नवन्यास' शब्द को चलाना चाहा था पर वह नही चल सका। किन्तु उपन्यास शब्द से भले ही यह अर्थ व्यञ्जित न होता हो, पर उपन्यास को परिभाषा करते समय हम इस विशेपता को भूल नही सकते।

इस विवेचन के आधार पर हम उपन्यास की एक सक्षिप्त और यथा सम्भव दोपरहित परिभाषा का निर्माण कर सकते है। हम कह सकते है कि उपन्यास पर्याप्त आकार वाली वह लिखित गद्य कथा है जो पाठक को एक काल्पनिक, किन्तु यथार्थ ससार में ले जाती है जो लेखक के व्यक्तिगत अनुभव और उसकी अन्तर्दृष्टि से युक्त होने के कारण नवीन होती है। यह परिभाषा सम्भव है, किसी उपन्यास विशेप के लिए पर्याप्त न हो, पर इससे 'उपन्यास' को पहचानने मे सुविधा होगी, यह विना सकोच के कहा जा सकता है। उपन्यास के क्षेत्र में प्रयोग होते रहे हैं और भविष्य मे भी होते रहेंगे, अत उपन्यास की कोई भी परिभाषा पूर्ण और निर्विवाद नही हो सकती। फिर भी उपन्यास को समझने के लिए कोई 'प्रस्थान-विन्दु' चाहिए और यह परिभाषा वह वना सकती है।



सच पूछे तो हम किसी कार्यरत मनुष्य को दिक् और काल के आयाम से अलग करके पहचान नही सकते। उपन्यासकार पात्रो के कार्य-कलापो के समय और स्थान का ब्योरेवार वर्णन करके पाठको के मन में यह प्रतीति उत्पन्न करता है कि उसकी कथा एक विशेप काल और स्थान में घटित हो रही है। उपन्यासो मे वर्ष, माह, सप्ताह, दिन यहाँ तक कि समय तक का उल्लेख देखा जाता है। अगरेजी के १८ वी शताब्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार रिचर्डसन ने एक घटना का वर्णन इस रूप मे किया है—"सात सितम्बर वृहस्पतिवार को छ बजकर चालीस मिनट पर क्लैरिसा का देहान्त हुआ।" इस प्रकार की समय-योजना से उपन्यास मे वर्णित कार्य-कलाप सहज ही विश्वसनीय वन जाते है। दिक् और काल मे अन्योन्याश्रय है। उपन्यासकार समय की तरह स्थान के वैशिष्ट्य पर भी वल देता है। वह उस स्थान का, जहाँ कोई कार्य सम्पन्न होता है, ब्योरेवार वर्णन प्रस्तुत करता है। उपन्यासो मे स्थानो, गाँवो और नगरो के नाम ही नही, उनके विवरण भी वास्तविक होते है। उपन्यासकार घटनाओ के भूगोल के प्रति पूरा सावधान रहता है। अगरेज उपन्यासकार फिल्डिङ्ग का टॉम जॉन्स जिन मार्गों से होकर लन्दन जाता है, उनके विलकुल वास्तविक नाम और ब्योरे उपन्यास मे दिये गये है। अमृत लाल नागर के उपन्यासो में लखनऊ की सडको, गलियो तथा अन्य जगहो के नाम और उनके ब्योरे विलकुल वास्तविक रूप में आये है। प्राय सभी उपन्यासकार अपने कल्पनाप्रसूत ससार को वास्तविक बनाने के लिए इस पद्धति का सहारा लेते है।

इस प्रकार किसी विशिष्ट स्थान और समय में व्यक्तियो के यथार्थ अनुभव और कार्य कलाप का विश्वसनीय लेखा-जोखा प्रस्तुत करना उपन्यास का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपन्यासकार ऐसी गद्यशैली का सहारा लेता है, जो पूर्ण प्रामाणिकता का भ्रम उत्पन्न करने मे समर्थ होती है। पुरानी कथाओ में आलंकारिक भाषा, जिसे पाश्चात्य दार्शनिक लॉक भापा का दुरुपयोग कहते है प्रयुक्त होती है, जवकि उपन्यासो मे इसका सावधानी के साथ त्याग किया जाता है। प्राचीन कथाओ की गद्य शैली का प्रमुख उद्देश्य शब्दो के द्वारा किसी वस्तु को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना नही, वरन् बाह्य सौन्दर्य उत्पन्न करना होता था जो अलकारो के रूप में वर्णनो पर आरोपित कर दिया जाता था। उपन्यास की भापा वाह्य सौंदर्य, आलकारिकता या सजावट से सर्वथा रहित पात्रों के कार्य कलापो को ठीक उसी रूप में व्यक्त करने वाली होती है, जिस रूप में वे घटित होते हैं।

'नया' पन उपन्यास की पहली माँग

उपन्यास का स्वरूप तव तक स्पप्ट नही किया जा सकता जव तक हम उसके अगरेजी पर्याय 'नोवेल' के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को ध्यान में न रखे। 'नोवेल' का शाब्दिक अर्थ है 'नया' अत उपन्यास होने के लिए रचनाकार द्वारा निर्मित ससार का 'नया' होना अनिवार्य है। यदि उपन्यास का उद्भव यथार्थ के प्रत्यक्ष दर्शन से होता है तो वह अनिवार्यत 'नया' होगा ही। उपन्यासकार अपने आस-पास की दुनिया को, अपने चार ओरो फैले यथार्थ को, नवीन रूप में ही देखता है। उसका 'विजन' उसकी दृष्टि विलकुल मौलिक अथवा नवीन होती है। इसके विना कलात्मक उपन्यास या वास्तविक उपन्याम की रचना सम्भव नही है। वास्तविक उपन्यास किसी सूत्र या परिपाटी का अनुकरण मात्र नही होता। जासूसी कहानियाँ तथा

तो हमें उसमें पाँच प्रमुख बातें दिखाई पडती हैं—जन्म, मृत्यु, भोजन, शयन और प्रेम। जन्म और मृत्यु जीवन के दो छोर है पर उपन्यास मे इनका चित्रण बहुत गौण रूप मे ही होता है। इसी प्रकार भोजन और शयन हमारे जीवन के महत्त्वपूर्ण अग है, पर उपन्यास मे इनकी स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण नही होती। रहा प्रेम जिसका चित्रण उपन्यास में बहुत व्यापक रूप में होता है। प्रेम शब्द का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ मे किया जा रहा है। सभी मानव सम्बन्धो मे मूल में यह प्रेम विद्यमान होता है। उपन्यास मानव सम्बन्धो के चित्रण का प्रयास करता है। इस प्रकार स्थूल रूप से देखने पर उपन्यास वास्तविक जीवन का पूरा प्रतिनिधित्व करता नही दीखता। वह जीवन के पञ्चम अश का ही प्रतिनिधित्व करता है। फिर उपन्यास को जीवन का पूर्ण प्रतिनिधि कैसे माना जाए ? पर यह आपत्ति स्थूल रूप से देखने पर ही महत्त्वपूर्ण मालूम पडती है। जन्म और मृत्यु जीवन के दो छोर होने पर भी हमारे लिए उतना महत्त्व नही रखते। हमे अपने जन्म की कोई स्मृति नही रहती और मृत्यु के बाद जीवन व्यर्थ हो जाता है। यही कारण है कि हम अपने जीवन में जन्म और मृत्यु की बहुत परवाह नही करते। शयन की स्थिति भी निष्क्रियता की स्थिति होती है, और भोजन न हो तो भोजन की समस्या उपन्यास मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती है। मनुष्य के सारे कार्यकलाप प्रेम से स्पन्दित होते है और इसलिए उसके अन्तर्गत सार रूप मे सारा जीवन आ जाता है। इस लिए यह कहना कि उपन्यास मानव जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व नही करता, स्थूल दृष्टि का परिचायक है सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उपन्यास ही वह काव्य-रूप मालूम पडता है जो जीवन का सही प्रतिनिधित्व करता है।

पर इसमे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि औपन्यासिक यथार्थ की पहचान इस बात से नही होती कि उपन्यास में किस प्रकार के जीवन का चित्रण किया गया है, वरन् उसकी पहचान इस रूप मे होती है कि जीवन किस रूप में चित्रित किया गया है। उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत अनुभव द्वारा उपलब्ध सत्य—जो सदा अनन्य और इसलिए नवीन होता है—का चित्रण है। इस सत्य को उपन्यासकार इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह कार्य-कारण की शृखला में बँधा हुआ हो। उपन्यास की घटनाएँ वास्तविक ससार की घटनाओं की तरह किसी खास व्यक्ति, किसी खास समय और किसी खास स्थान से सम्बद्ध होती है। प्राचीन कथाओ मे इस 'खासियत' पर जोर नही दिया जाता था। उन कथाओ के पात्र सामान्यत मानव प्रतिरूप हुआ करते है, जो साहित्यिक रूढियो से नियोजित पृष्ठभूमि में कार्यशील दिखायी पडते है। उदाहरण के लिए पुरानी प्रेम कहानियो के नायको की कोई अपनी व्यक्तिगत विशेषता नही होती। वे प्रतिरूप अथवा टाइप मात्र होते है। इसके विपरीत उपन्यासकार उपन्यासो के पात्रो का व्यक्तिकरण करता है। वह उन्हें विशिष्ट नाम ही नही देता वरन् विशिष्ट व्यक्तित्व से भी सम्पन्न कर देता है। उपन्यास ने पहली बार व्यक्तिवाचक नामो की सार्थकता स्थापित की। उपन्यासकार अपने पात्रो का नामकरण इस रूप मे करता है कि वे विशेष व्यक्ति जान पडे। इसके साथ-साथ उपन्यासकार सरल, स्पष्ट और सटीक भाषा में पात्रो के अग-विन्यास तथा वेश-भूषा का ऐसा विश्वसनीय वर्णन करता है, जिससे कि वह विशिष्ट व्यक्ति के रूप मे अपनी छाप हमारे मन पर छोड सके।

मनुष्य के कार्य-कलाप किसी विशेष समय और विशेष स्थान में ही सम्पन्न होते है।

सच पूछे तो हम किसी कार्यरत मनुष्य को दिक् और काल के आयाम से अलग करके पहचान नही सकते। उपन्यासकार पात्रो के कार्य-कलापो के समय और स्थान का ब्योरेवार वर्णन करके पाठको के मन में यह प्रतीति उत्पन्न करता है कि उसकी कथा एक विशेष काल और स्थान में घटित हो रही है। उपन्यासो में वर्ष, माह, सप्ताह, दिन यहाँ तक कि समय तक का उल्लेख देखा जाता है। अगरेजी के १८ वी शताब्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार रिचर्डसन ने एक घटना का वर्णन इस रूप में किया है—"सात सितम्बर बृहस्पतिवार को छ बजकर चालीस मिनट पर क्लैरिसा का देहान्त हुआ।" इस प्रकार की समय-योजना से उपन्यास मे वर्णित कार्य-कलाप सहज ही विश्वसनीय बन जाते है। दिक् और काल में अन्योन्याश्रय है। उपन्यासकार समय की तरह स्थान के वैशिष्ट्य पर भी बल देता है। वह उस स्थान का, जहाँ कोई कार्य सम्पन्न होता है, ब्योरेवार वर्णन प्रस्तुत करता है। उपन्यासो मे स्थानो, गाँवो और नगरो के नाम ही नही, उनके विवरण भी वास्तविक होते है। उपन्यासकार घटनाओ के भूगोल के प्रति पूरा सावधान रहता है। अगरेज उपन्यासकार फिल्डिङ्ग का टॉम जॉन्स जिन मार्गों से होकर लन्दन जाता है, उनके बिलकुल वास्तविक नाम और ब्योरे उपन्यास मे दिये गये है। अमृत लाल नागर के उपन्यासो में लखनऊ की सडकों, गलियो तथा अन्य जगहो के नाम और उनके ब्योरे बिलकुल वास्तविक रूप में आये है। प्राय सभी उपन्यासकार अपने कल्पनाप्रसूत ससार को वास्तविक बनाने के लिए इस पद्धति का सहारा लेते है।

इस प्रकार किसी विशिष्ट स्थान और समय मे व्यक्तियो के यथार्थ अनुभव और कार्य कलाप का विश्वसनीय लेखा-जोखा प्रस्तुत करना उपन्यास का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपन्यासकार ऐसी गद्यशैली का सहारा लेता है, जो पूर्ण प्रामाणिकता का भ्रम उत्पन्न करने में समर्थ होती है। पुरानी कथाओ में आलकारिक भाषा, जिसे पाश्चात्य दार्शनिक लॉक भाषा का दुरुपयोग कहते है प्रयुक्त होती है, जबकि उपन्यासो में इसका सावधानी के साथ त्याग किया जाता है। प्राचीन कथाओ की गद्य शैली का प्रमुख उद्देश्य शब्दो के द्वारा किसी वस्तु को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना नही, वरन् बाह्य सौन्दर्य उत्पन्न करना होता था जो अलकारो के रूप में वर्णनो पर आरोपित कर दिया जाता था। उपन्यास की भाषा बाह्य सौंदर्य, आलकारिकता या सजावट से सर्वथा रहित पात्रो के कार्य कलापो को ठीक उसी रूप में व्यक्त करने वाली होती है, जिस रूप में वे घटित होते है।

'नया' पन उपन्यास की पहली माँग

उपन्यास का स्वरूप तब तक स्पष्ट नही किया जा सकता जब तक हम उसके अगरेजी पर्याय 'नोवेल' के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को ध्यान में न रखे। 'नोवेल' का शाब्दिक अर्थ है 'नया' अत उपन्याम होने के लिए रचनाकार द्वारा निर्मित ससार का 'नया' होना अनिवार्य है। यदि उपन्यास का उद्भव यथार्थ के प्रत्यक्ष दर्शन से होता है तो वह अनिवार्यत 'नया' होगा ही। उपन्यासकार अपने आस-पास की दुनिया को, अपने चार ओरो फैले यथार्थ को, नवीन रूप में ही देखता है। उसका 'विजन' उसकी दृष्टि बिलकुल मौलिक अथवा नवीन होती है। इसके बिना कलात्मक उपन्यास या वास्तविक उपन्यास की रचना सम्भव नही है। वास्तविक उपन्यास किसी सूत्र या परिपाटी का अनुकरण मात्र नही होता। जासूसी कहानियाँ तथा

रूमानी कथाओ के अपने-अपने सूत्र या रूढियाँ होती हैं। इन कथाओ में जिस ससार का विवरण होता है वह ऊपर-ऊपर से इतना भर विश्वसनीय होता है कि हम उसे पढना वन्द न करे, पर वह उतना विश्वसनीय नही होता कि हमारे मन मे उसके यथार्थ होने का भ्रम उत्पन्न हो। इस प्रकार उपन्यास की नवीनता व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टि की नवीनता और उपन्यासकार के व्यक्तित्व के अनोखेपन में निहित है। नोवेल के हिन्दी पर्याय 'उपन्यास' में इस नवीनता को व्यंजित करने वाला कोई अर्थ निहित नही है। हिन्दी उपन्यास के आरम्भिक काल मे कुछ लेखको ने नोवेल के लिए 'नवन्यास' शब्द को चलाना चाहा था पर वह नही चल सका। किन्तु उपन्यास शब्द से भले ही यह अर्थ व्यञ्जित न होता हो, पर उपन्यास को परिभाषा करते समय हम इस विशेषता को भूल नही सकते।

इस विवेचन के आधार पर हम उपन्यास की एक सक्षिप्त और यथा सम्भव दोपरहित परिभाषा का निर्माण कर सकते है। हम कह सकते है कि उपन्यास पर्याप्त आकार वाली वह लिखित गद्य कथा है जो पाठक को एक काल्पनिक, किन्तु यथार्थ ससार मे ले जाती है जो लेखक के व्यक्तिगत अनुभव और उसकी अन्तर्दृष्टि से युक्त होने के कारण नवीन होती है। यह परिभाषा सम्भव है, किसी उपन्यास विशेष के लिए पर्याप्त न हो, पर इससे 'उपन्यास' को पहचानने में सुविधा होगी, यह विना सकोच के कहा जा सकता है। उपन्यास के क्षेत्र में प्रयोग होते रहे हैं और भविष्य मे भी होते रहेंगे, अत उपन्यास की कोई भी परिभाषा पूर्ण और निर्विवाद नही हो सकती। फिर भी उपन्यास को समझने के लिए कोई 'प्रस्थान-विन्दु' चाहिए और यह परिभाषा वह वना सकती है।



समकालीन जीवन प्रक्रिया और अज्ञेय का कृतित्व

रामस्वरूप चतुर्वेदी

विवेचन को शुरू करते समय यह जरूरी होगा कि हम आधुनिक मानव परिवेश की प्रकृति और रचना से उसके सम्बन्ध को समझें। यह मानना होगा कि मनुष्य सारे मूल्यो का स्रोत और उपादान है, और वह स्वय उनके विघटन का कारण भी है। ईश्वरवादियो को भी यह उपपत्ति मानने में कोई बाधा नही होनी चाहिये, क्योकि मनुष्य ईश्वर की आकृति में ढला है या कि उसने ही ईश्वर को अपनी आकृति में ढाला है। बहरहाल, तत्वत सबद्ध दोनो स्थितियो में कोई बडा भेद नही है। पर सहस्रो वर्षों में निर्मित और विकसित मानवीय मूल्य अब सर्वत विघटित होते जा रहे हैं, यह हमारी वर्तमान सभ्यता की चिन्ता का केन्द्रीय विषय है। यो तो सक्रमण और मूल्यहीनता की स्थिति मानवीय इतिहास मे अनेक बार आयी है—सक्रमण का रोना लगभग हर युग का साहित्यकार रोया है—पर यह मानना होगा कि अब तक के सक्रमण अपनी प्रकृति में सशोधन और सुधारपरक अधिक थे। इधर प्राय द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद से तो मूल्य सबंधी मौलिक आधार ही जैसे उखड गए हैं।

द्वितीय महायुद्ध को इस प्रसग में तिथि जैसा मानने का कारण है। यह सर्वस्वीकृत है कि मूल्य विघटन की इस स्थिति को लाने में विज्ञान और प्रविधि का सबसे अधिक हाथ है। एक बार यह मान लेने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय महायुद्ध के समय सबद्ध राष्ट्रो ने जैसे भीषण दबाव में जीवन-यापन किया, उसी में यह सभव था कि प्रतिद्वन्द्विता और आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित हो कर के विज्ञान और प्रविधि का इतनी तेजी से विकास कर सके। अणुबम के विकास का जो इतिहास अब हमारे सामने है, उस से स्पष्ट है कि यदि द्वितीय महायुद्ध न होता तो अणुबम और अणु-विद्या का विकास कई दशको के बाद होता, शायद न भी होता, और यदि होता भी तो कुछ भिन्न रूप में होता। इस तरह अणुशक्ति के आविष्कार से लेकर अतरिक्ष-यात्रा का आयोजन तक युद्धकालीन मन स्थिति के दबाव में अधिक हुआ है। युद्धकालीन जीवन की क्षिप्रता और गति शातिकालीन जीवन की तुलना मे कही अधिक होगी, और उस युद्ध काल के उखडे हुए मूल्य—परिवार, धर्म, परपरागत नैतिकता आदि के मौलिक सदर्भो मे—फिर नही जम सके। क्यो कि महायुद्ध तो समाप्त हो गया, पर उसके स्थान पर आसानी से न समाप्त होने वाला शनि-युद्ध आरम्भ हो गया। अमरीका, रूस, इगलैण्ड, फ्रास और एशिया के अपेक्षाकृत विकसित देश भी अन्दर-अन्दर युद्ध के लिए अपने को तैयारी की हालत मे रखते रहे हैं। इस प्रकार युद्ध की मनोवृत्ति का दबाव कम नही हुआ है, बढा ही है। और इस मनोवृत्ति का प्रभाव-क्षेत्र फैलता जाता है। फलत चाहे-अनचाहे भारी उद्योग और प्रविधि की लपटे भी फैलती जाती है। सकटकालीन स्थिति अब हमारी सामान्य स्थिति हो गयी है।

प्रविधि के विकास का एक सीधा परिणाम यह हुआ है कि गति बढी है, और ससार की सीमाएँ सकुचित हुई है। इससे मनुष्य एक दूसरे के अधिकाधिक संपर्क में आया है। और यह मनुष्य का तेजी से बढता हुआ सपर्क मूल्य-हीनता की स्थिति का एक प्रधान कारण है। एक सीमा के बाद मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे बडा खतरा हो जाता है। अधिकाधिक बार सपर्क होते रहने से मनुष्य की अनुभूति शक्ति का क्षरण होता है। लोहे को लोहा ही काट देता है। और अनुभूति के क्षरण का अर्थ है मानवीय सौहार्द मे उत्तरोत्तर कमी तथा एक तरह की कठोरता का विकास, जिसका साक्ष्य हमारा समकालीन जीवन और साहित्य दोनो ही प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य का मनुष्य से सपर्क बढते हुए रूप मे तनाव, द्वन्द्व या सघर्ष की मन स्थिति को जन्म देता है, जो कि बौद्धिक चेतना-केन्द्रो के परस्पर सपर्क का स्वाभाविक परिणाम है, खासतौर से आधुनिक परिग्रही समाज में। अब से कोई बीस वर्ष पहले तक भारत का औसत मनुष्य अपने समूचे जीवनकाल मे सौ दो सौ व्यक्तियो से मिल पाता था। पर सचार (रेल, मोटर, जहाज) और अप्रत्यक्ष (डाक-तार-टेलीफोन, समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा आदि) साधनो की सहायता से अब उसके परिचय और भावनात्मक ससक्ति का क्षेत्र कई सौ प्रतिशत बढ गया है। उन्नत देशो मे तो इस परिचय और ससक्ति का विस्तार और भी तेजी से बढा है। चेतना-केन्द्रो का यह तीव्र गति से बढता हुआ सपर्क मानवीय अनुभूति पर बहुत बडा दबाव हो रहा है, जिससे अनुभूति का क्षरण होता है, और स्नायविक रोगो की बढोतरी। कुल मिला कर 'अनुभूति' के क्षेत्र में 'सनसनी' का प्रवेश तेजी से बढता जा रहा है।

दूसरी ओर, बढती हुई गति ने सारे मानवीय सबधो और प्रतिमानो को अस्थिर कर दिया है। परिवार, धर्म, प्रेम और सामाजिक आचरण की अन्य मर्यादाएँ अनिश्चित है। यह इसलिए भी है कि जहाँ मनुष्य-मनुष्य से टकरा रहा है वहाँ अनेक राष्ट्र और जातियाँ, उनकी जीवन-पद्धतियाँ और सस्कृतियाँ परस्पर टकरा रही हैं। इन प्रभावों, सघातो को उनकी बढती हुई सख्या में आत्मसात् करना, समरस बनाना एक सीमा के बाद सभव नही लगता। फलत ससार के विभिन्न क्षेत्रो के बीच परस्पर के सपर्क मे जितनी समता विकसित होती है, उससे कही अधिक सघर्ष और वैमनस्य बढता है। ऐसी स्थिति मे अनुभूति का क्षरण मानव जीवन के आतरिक अर्थ को विकसित नही होने देता। उसका परिणाम है अनर्थक, मूल्यहीन, अर्थहीन जीवन की स्थिति।

समकालीन साहित्य का नवीनतम अश (भूखी-विद्रोही पीढी, अन्ययाबद्ध और अनर्थकता के आदोलन, कथा-साहित्य मे अनेक नामो के अंतर्गत "सेक्स" का बढता हुआ यापन-भाव आदि) जहाँ तक इन स्थितियो का अकन करता है, वह एक माने में सही और प्रामाणिक है। उसका मूल विद्रोह परपरागत जीवन की अर्थहीनता को ले कर है, जो समझ में आता है। इस सदर्भ मे किया गया अनेक सामाजिक स्थितियो का निनान उघरा चित्रण उपलक्षण मात्र है। पर उस समूचे बिखराव में सार्थकता खोजना ही तो मनुष्य का लक्षण और दायित्व है। यह ठीक है कि जीवन मे परपरागत ढंग से प्रतिष्ठित अर्थ आज बेमानी, कृत्रिम और उबाहट लाने वाला लग सकता है पर तब उचित होगा कि पुराने अर्थ को निरस्त करके हम नये अर्थ का सृजन करें, क्यो कि जीवन में अर्थ को नकार कर तो हम मानवीय जीवन के वैशिष्ट्य को ही नकारते हैं, और मनुष्य को सामान्य पशु के धरातल पर उतार देते है।

इस दृष्टि से समकालीन साहित्य के लिए सबसे वडी चुनौती अर्थहीन लगने वाले मानव जीवन में नये अर्थ-संदर्भों के निर्माण की है। ये अर्थ-सदर्भ सर्वथा नये हो, परपरागत मान्यताओ से विल्कुल अलग हो, इसमें एतराज नही हो सकता। पर जीवन के लिए—या कि समस्त सृजन के लिए ही—अर्थ-सदर्भ हो, यह मौलिक अनिवार्यता है। सृजन का उद्देश्य ही अर्थ का निर्माण है, उससे छुटकारा नही। इस प्रकार अर्थहीनता मानवीय नियति नही है, वरन् अर्थ का सृजन मानवीय नियति है। जैविक घरातल का सृजन तो प्राणि-मात्र में समान है। इस जैविक सृष्टि के अन्तर्गत सवेदनात्मक अर्थ का सृजन और सचरण मानवीय जीवन की विशिष्टता, इसलिए चरम-मूल्य और दायित्व हैं। साहित्य इस सार्थकता की खोज का प्रमुख माध्यम रहा है, और अब भी है, क्योंकि धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान की तुलना में उसकी प्रकृति और उसकी भाषा अधिक सपृक्त, अधिक मानवीय और इसीलिए अधिक सर्जनात्मक है। साहित्य इस स्तर पर अर्थ से साक्षात्कार का माध्यम नही, वरन् अर्थ से साक्षात्कार की प्रक्रिया है। अपने संश्लिष्ट रचना-सगठन के माध्यम से, अपने मासिक अर्थों की टकराहट और उससे उत्पन्न वैविध्य और विस्तार से जीवन में सार्थकता की अनुभूति निष्पन्न कराते चलना ही साहित्य का मुख्य दायित्व और उपलब्धि है। अपने इस दायित्व को छोडकर साहित्य साहित्य नही रह जाता, भले वह सामाजिक या राजनैतिक आदोलन हो जाये याकि दिलचस्प किस्सा गोई वन जाये या सप्रेक्षण की शक्ति घोषित रूप मे विरहित रूपाकार मात्र रह जाये। भूखी पीढी, नयी कहानी या अकविता के लिए ये बहुत वडे खतरे हैं, जिन्हें ठीक-ठीक समझने की कोशिश अभी प्राय नही हुई है।

आधुनिक सभ्यता का गठन अधिकाधिक यत्र को केन्द्र में रखकर हो रहा है। यत्र में आवृत्ति और प्रसार की क्षमता है, सप्रेषण की नही। इसलिए यत्र की सहायता से अधिकाधिक मनुष्य एक दूसरे के सपर्क में तो आ रहे हैं, पर उनमें सप्रेपण और सप्रेषण से उत्पन्न आपसी समझदारी का अभाव होता जा रहा है। यत्र से गति बढी है, पर प्राय अनुभावन शक्ति की कीमत पर। इस प्रसग में तर्क किया जा सकता है कि मानवता के इतिहास में अभी तक गति तो उत्तरोत्तर वढती ही रही है और उसके साथ क्रमश समायोजन भी किया जाता रहा है। और तव फिर कोई कारण नही कि यह समायोजन भविष्य में भी सभव न हो।

इस तर्क में निश्चय ही शक्ति है। वस्तुत यह समूची स्थिति ही आधुनिक साहित्य की भाव-भूमि है, जिसे विना समझे हम हिंदी के आधुनिक कृतित्व का सार्थक आस्वादन और सही मूल्याकन नही कर सकते। इस सदर्भ में जो मुख्य विचारणीय वात है, वह यह कि मनुष्य की गति और उसकी अनुभावन क्षमता के वीच, इतनी शताब्दियो के समायोजन के वाद, अव उल्टे अनुपात की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी है। गति ज्यो-ज्यो वढती जाती है—और वह उत्तरोत्तर तेजी से वढती ही जाती है—त्यो-त्यो मनुष्य की अनुभावन-क्षमता क्षीणतर होती जाती है, क्योकि उसकी स्मरण-शक्ति की ही तरह अनुभावन शक्ति की भी अन्तत एक सीमा है। पर दूसरी ओर मनुष्य वरावर एक दूसरे के सपर्क में अधिकाधिक आते जायँगे, फलत उनकी अनुभूति पर दवाव वढता जायेगा, जिससे कि एक सीमा के वाद वह भोथरी होने लगेगी। इस दृष्टि से वन्य सभ्यता से कृषि सभ्यता और फिर औद्योगिक जीवन के आरम्भ तक मानवीय विकास की गति जो रही, वह औद्योगिक सभ्यता के अपने विकास को देखते हुए

कुछ भी नही है। अब तो गति का होना ही गति के बढने का कारण हो गया है। परंपरित शब्दावली का सहारा लेते हुए कहा जा सकता है कि भौतिक विकास ज्यामितिक गति से बढ रहा है और अनुभावन क्षमता बमुश्किल अकगणितीय गति से बढ पा रही है। अत इन दोनो प्रकार की गतियो के बीच किसी प्रकार समायोजन की सभावना नही दिखाई पडती। इस वैषम्य को देखते हुए, हमारी वर्तमान प्रविधि-प्रधान सस्कृति की समस्या है—यत्र मे मानवीय सस्पर्श लाना और यह देखना कि मशीन के सस्पर्श से मनुष्य भी यत्र न हो जाये, व्यक्तित्व और अनुभूति से विहीन न हो जाये। इस खतरे की ओर पश्चिम के अल्डस हक्सले जैसे वैज्ञानिक लेखको ने तीव्र सकेत किया है। आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ मनीषी गांधी अपने समूचे जीवन में, और साहित्यकार जयशकर प्रसाद ने अपनी उत्कृष्ट रचना 'कामायनी' मे मानवीय सभ्यता के इस वर्तमान खतरे की ओर बडी क्षमता के साथ ध्यान आकृष्ट किया है।

भारत उद्योगीकरण के क्षेत्र में पिछडा हुआ है, और इस स्थिति की वजह से हमें इस बात की छूट और सुविधा है कि हम उन गलतियो से बच सकते है, जो यूरोप ने अपने विकास के दौरान की हैं। धार्मिक सस्कृति का कभी हमने विकास किया था, और अब वैज्ञानिक संस्कृति के परिष्कार का दायित्व हमारे ऊपर है। यह हमारे वश मे है, और करणीय है। पर इसके लिए हमे इतिहास के दबाव को समझना होगा, और उसके प्रति सही प्रतिक्रिया करनी होगी। हमें इस रूप में विकास करना है जिससे मनुष्य की अनुभूति और उसके व्यक्तित्व का क्षरण न हो। उसके लिए खतरे कई तरह के है। पहला खतरा यन्त्र या प्रविधि-सभ्यता का है, जिसकी चर्चा हमने अभी की है और जिसका एक मूर्त्त डरावना रूप अल्डस हक्सले की प्रसिद्ध कथा कृति 'दि ब्रेवन्यू वर्ल्ड' में अकित हुआ है। एक दूसरा खतरा राजनैतिक स्तर पर सर्व-सत्तावादी पद्धति का है, जिसका चित्रण अपेक्षाकृत अधिक मनोरजक ढग से जॉर्ज ऑरवैल ने 'एनीमल फार्म' मे किया है। इस व्यग-कथा मे एक ऐसे समाज का अकन है, जिसमे सब लोग बराबर हैं, पर सबकी तुलना में कुछ लोग अधिक बराबर है। 'अधिक बराबरी' का यह मुहावरा अपने में जितना अर्थवान है, उतना ही तीखा भी। इन्ही से सम्बद्ध कुछ खतरे और हैं, जैसे महानगरीय जीवन के, या कि प्रविधि सभ्यता मे अन्तर्निहित गति के और सबसे बडी बात यह है कि मनुष्य को मनुष्य के खतरे से बचाना है। इस सबका उपाय एक ही है—मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र के बीच उचित अनुपात विकसित करना। मनुष्य का मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र से सही अनुपात में सम्बन्ध हो, यही काम्य है। मनुष्य न तो यन्त्र मे क्षरित हो और न मनुष्य से ही। नये समाज और ससार की यही केन्द्रीय समस्या है। इसे सुलझाने मे साहित्य का गुणात्मक योग होना चाहिये।

आधुनिक साहित्य मे व्यक्तित्व और उसकी सर्जनात्मकता की सबसे गहरी और सार्थक चिन्तना अज्ञेय के कृतित्व मे मिलती है। समकालीन जीवन के जिन खतरो की ओर अभी उल्लेख किया गया है, उनसे उबरने के लिए मनुष्य के सर्जनात्मक व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए विकसित करना ही, पुरानी शब्दावली में, आधुनिक जीवन का सबसे बडा पुरुषार्थ है। सर्जनात्मक व्यक्तित्व मूलत स्वाधीन होगा, और स्वाधीन होकर ही दायित्व का अनुभव किया जा सकता है। इसीलिए महायुद्ध में फासिस्टो के विरुद्ध न्याय के पक्ष का समर्थन करने मे दायित्व स्वीकार के लिए गांधीजी ने भारतीय स्वाधीनता को पहली शर्त माना था। अज्ञेय ने

अपने कृतित्व में बुनियादी तौर पर मानव व्यक्तित्व की इस स्वाधीनता, सर्जनात्मकता और दायित्व को सूक्ष्म और प्रभावी रूप में अंकित किया है। उनके काव्य, कथा-साहित्य, यात्रा-वृत्त, समीक्षा मे यही मौलिक दृष्टि सर्वत्र परिव्याप्त है। यन्त्र मे आवृत्ति और प्रसार की क्षमता है, पर इसीलिए सर्जन की शक्ति नही है। सर्जन व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य मे ही सभव है—

यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैंने जिया,
सब तुम्हें दिया।

'अनुभव अद्वितीय' सम्भव हो पाता है, क्योकि अज्ञेय के अनुसार "ईश्वर ने मानव के रूप में अपनी प्रतिमा का निर्माण किया है। कुशल शिल्पी होने के नाते उसने प्रत्येक प्रतिमा भिन्न और अद्वितोय बनायी, भिन्न होने क कारण प्रतिमाएँ परस्पर प्रेम न कर सकी।" और प्रेम तथा वेदना में ही दैविक सृष्टि तथा कलात्मक सर्जन की प्रक्रिया गतिशील होती है। अज्ञेय की पंक्तियाँ है—

एक क्षण-भर और
लम्बे सर्जना के क्षण कभी भी हो नही सकते।
बूँद स्वाती की भले हो
बेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मल त्वरा से
वज्र जिसमें फोडता चट्टान को।
भले ही फिर व्यथा के तप में
बरस पर बरस बीतें
एक मुक्ता रूप को पकते।

इस तरह अनुभव की अद्वितीयता, व्यक्तित्व (कोरा व्यक्तित्व नही) का वैशिष्ट्य और सर्जनात्मक क्षमता—मानवीय अस्तित्व और उसकी सार्थकता के ये मूल उपादान है। मृत्यु के आधुनिक अस्तित्ववादी आतक और तज्जन्य अनर्थकता से सर्जनशील होकर ही उबरा जा सकता है।

अज्ञेय के कृतित्व में यह आधारभूत अपने विचित्र पक्षो सन्दर्भों में अंकित हुई है। और विडम्बना यह है कि मृत्यु के अस्तित्ववादी आतक के समक्ष भारतीय जीवन प्रियता की मूल वस्तु को प्रतिपादित करने के बावजूद अज्ञेय को समकालीन समीक्षा में "अस्तित्ववादी" घोषित किया जाता है। यह सही है कि अस्तित्ववाद से अज्ञेय ने कुछ बौद्धिक उत्तेजना पायी हो, पर अपने समूचे उत्तरकालीन कृतित्व मे लेखक का यत्न यही रहा है कि भारतीय परि-स्थितियो मे अस्तित्ववाद से कोई बडी और अधिक सगत दृष्टि विकसित की जाये, 'आँगन के पार द्वार' संकलन की कविताएँ, 'अपने अपने अजनबी' शीर्षक उपन्यास तथा 'एक बूँद सहसा उछली' शीर्षक यात्रावृत्त—१९६०–६१ में प्रकाशित इन तीनो कृतियो में माध्यमगत भिन्नता के बावजूद जीवन-प्रियता की मूल वस्तु अभिव्यक्त हुई है। और तीनों ही रचनाओ मे आस्था-आस्तिकता का एक सर्वथा नया स्तर आया है। यहाँ ईश्वर का भी साक्षात्कार सर्जन के रूप में होता है। 'अपने अपने अजनबी' मे सेल्मा की मृत्यु होने पर योके सोचती है—"ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नही है—उसे भी सृष्टि करनी ही है क्योकि उन्माद से बचने के लिए सृजन आदि

कार्य हैं—"यह महत्त्वपूर्ण उपपत्ति समूची रचना के केन्द्र में है। अज्ञेय के इस चिन्तन में जीवन-प्रियता के भारतीय आधार को ईसाई आस्था—विशेषत इटली के 'पियर क्व वीर' मठ की प्रेरणा—और जापान की ज़ेन पद्धति ने भी किसी सीमा तक समृद्ध किया है। और वाह्य प्रभावो को रचनात्मक भाव से आत्मसात् करने के लिए तो लेखक बराबर प्रस्तुत रहा है। "अरी ओ करुणा प्रभामय" की भूमिका मे उसने कहा है—"प्रस्तुत सग्रह मे अनुवादो को छोडकर अन्य अनेक कविताओ मे भी पूर्व के (और पश्चिम के भी क्यो नही ?) प्रभाव मिलेंगे, लेखक सभी का स्वीकारी है बन्द घर में प्रकाश पूर्व या पश्चिम या किसी भी निश्चित दिशा से आता है—पर खुले आकाश मे वह सभी ओर से समाया रहता है, इसी में उसका आकाशत्व है।"

ऐसे समृद्ध व्यक्तित्व से अज्ञेय ने पश्चिमी मृत्यु के आतक को भारतीय जीवन-प्रियता और आस्था के सहारे अतिक्रमित करना चाहा है। इससे उनके कृतित्व का महत्त्वाकाक्षी रूप ही प्रमाणित होता है, जिसने भारतीय रचना-परम्परा को निश्चित रूप से समृद्ध किया है। सृजन के इस रहस्य की आत्मदान के रूप मे व्याख्या रचनाकार ने 'आंगन के पार द्वार' में सकलित लम्बी कविता 'असाध्य की वीणा' मे की है, जो अपनी गठन में निराला की 'राम की शक्ति पूजा' से तुलनीय है। दोनो ही कविताओ में शक्ति और सृजन को अन्तर और वाह्य की टकराहट मे देखने का यत्न किया गया है। "शक्ति-पूजा" के अन्त मे है—

"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।"

और "असाध्य वीणा" को साधने वाला केशकम्बली अन्त मे कहता है—

"श्रेय नही कुछ मेरा
मैं तो डूब गया था स्वय शून्य मे—
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ सौंप दिया था
सुना आपने जो वह मेरा नही,
न वीणा का था
वह तो सब कुछ की तथता थी—"

"अपनी" और "सब कुछ की तथता" का यह अद्वैत निराला और अज्ञेय को गहरे संवेदनात्मक स्तर पर जोडता है। आत्मदान के माध्यम से "शक्तिपूजा के राम शक्ति-साधन करते हैं, और आत्मदान के ही माध्यम मे ही "असाध्य वीणा" का कलावत वीणा को साधता है। यही शक्ति और सृजन के रहस्य का साक्षात्कार है।

अज्ञेय ने मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या मे भाषा को अनिवार्य तत्त्व माना है। भाषा उनके लिए माध्यम नहीं, अनुभव ही है। सर्जनात्मकता की समस्या से सतत जूझने वाले रचनाकार के लिए यह उचित है कि वह भाषिक सर्जन की क्षमता को गहरे ढग से समझे। अज्ञेय की अधिकाश प्रसिद्ध कविताओ मे भाषा और अनुभव के अद्वैत को व्यवस्थित करने का यत्न हुआ है। "कलगी बाजरे की", "शब्द और सत्य", "जितना तुम्हारा सच है" आदि कविताओ

'ज्ञानरतन' : एक विस्मृत निर्गुण प्रेमाख्यान

भगवती प्रसाद सिंह

भारतीय प्रेमाख्यानो पर इधर जो शोध कार्य हिन्दी में हुए है, उनमें कही भी 'ज्ञान-रतन' नामक किसी ग्रन्थ का उल्लेख नही मिलता। प्राचीन हस्तलेखो के विविध सस्थाओ द्वारा प्रकाशित खोज विवरणो में भी इसकी चर्चा नही है। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति मुझे वलरामपुर के प्रसिद्ध साहित्य सेवी स्वर्गीय श्री सरकार वख्श सेवक के सग्रह में प्राप्त हुई थी और अव वह इन पक्तियो के लेखक के पास सुरक्षित है।

'ज्ञानरतन' के रचयिता साहेव नवलदास सतनामी सम्प्रदाय की कोटवा गद्दी के सस्थापक जगजीवनदास के शिष्य थे। ग्रन्थारभ में अपना परिचय देते हुए वे स्वय लिखते है—

सतगुरु साँचे राम, सत दिनकर तम भ्रम हरन
हृदय करिय विश्राम, जगजीवन जग तारनो।
तुम्ह सन्तन्ह सिरताज, गुन निरगुन सव कहँ कृपा।
वडे गरीव नेवाज, दास नेवल विनती करै॥[1]

वे जगजीवन प्रभु सवही के। दीनदयाल भावते जी के॥
वन्ह सन सरत जवत कर कामा। वन्ह मोहिं दीन्ह अमर सतनामा॥[2]

नवलदास ने अपने दस गुरु भ्राताओ की चर्चा की है, जिनमें जगजीवन साहव के दो पुत्रो—गिरिवरदास ओर अगमदास के साथ ही आठ शिष्यो—दूलनदास, जलालीसाहव, देवीदास, गोसाइंदास, खेमदास, सिवदास, अहलाददास और भवानीदास का उल्लेख है। इनकी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति की चर्चा करते हुए नवलदास ने इन्हे सम्प्रदाय का प्रमुख स्तम्भ और असख्य पथभ्रात शरणागतो का उद्धारक वताया है।[3]

---

१ ज्ञानरतन, पत्र २

२ वही, पत्र ४

३ जगजीवन कर जस जग वाजा। जिन्ह अस अगम इन्दु उपराजा॥
गिरिवर सुवन अगम जिन्ह जाए। जगमग जात इन्द्र जनु आए॥
नाम जलाली साहेव साँचे। जिन्हकी सरन जाय सो वाँचे॥
अवर सात दीपक वन्ह करे। छवि जगमगत गगन जनु तारे॥
दीपक प्रथम जगत जगमगाए। जगमग दूलन दास कहाए॥
दूसर देविदास उजियारे। जिन्ह वहु भन्हें कहँ पार उतारे॥
तीसर दीप गोसाई दासा। जस जगमग जस रतन प्रकासा॥
दीपक चौथ जगमगाई नारा। पेमदास अति अगम अपारा।
पचम दीपक जग सिवदासा। जिन्ह चलि कीन्ह पछिम दिसि वासा॥
दीपक जन अहलाद अपारा। जगत विदित जस मानिक वारा॥
ससम दीपक अगम सुहेला। दास भवानी थल वहरेला॥
—वही, पत्र २, ३, ४

संत नवलदास इस प्रकार अपने गुरु तथा गुरु भ्राताओं का उल्लेख करते हुए भी संतपरंपरानुसार अपने भौतिक जीवन विषयक तथ्यों के सम्बन्ध में मौन रहे हैं। किन्तु सतनामीसाहित्य से यह पता लगता है कि जग जीवन साहब के पंथ प्रचारक शिष्यों द्वारा स्थापित १४ गद्दियों में से ये एक गद्दी के प्रवर्तक थे। इससे उक्त सम्प्रदाय के विशिष्ट संतों में इनकी गणना की जाती है। बोधे दास कृत 'भक्तिविनोद' में ये उमापुर नामक गाँव के निवासी कहे गये हैं।[1] यह बाराबंकी जिले में स्थित है। आरंभिक जीवन में इन्होंने गोमती तटस्थ रेंछ नाम के किसी गाँव में रह कर अजपाजप की साधना की किन्तु किसी कारण वश स्थानीय लोगों की प्रतिकूलता से खिन्न होकर ये सुलतान जिले के धनेसा नाम के गाँव में एक बाग में जाकर रहने लगे।[2] कालान्तर में उसे भी छोड़ कर ये अपनी जन्मभूमि उमापुर को चले आये फिर जीवन का शेष अंश वहीं बिताया।

नवल दास का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था[3] और ये आजीवन गृहस्थ रहे। इनकी मात्र संतान एक पुत्री थी जिसको अम्बर दास नाम के एक भरद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण से व्याह कर ये निश्चिन्त हो गये थे। इसी रक्त सम्बन्ध के कारण आज तक उमापुर में स्थापित गद्दी के अधिकारी इनकी पुत्री के वंशज ही होते हैं।

ये जिस प्रकार उच्चकोटि के साधक थे उसी भाँति काव्य-मर्मज्ञ और शास्त्रतत्त्ववेत्ता भी। सतनामी संप्रदाय के संत ईश्वरदास ने इनकी प्रशस्ति में लिखा है—

समरथ नवल प्रवीण सकल विधा के रासी।
पंडित कविता बड़े नाम के दिढ अभ्यासी॥[4]

अब तक इनकी लिखी आठ रचनायें प्रकाश में आई हैं—सुख सागर, ज्ञान सरोवर, भागवत दसमस्कंध भाषा, शब्दसागर, कहरानामा, रामगीता, स्तुति वजरगजी, और ज्ञानरतन इनमें से सुखसागर का रचना काल सं० १८१८ है और ज्ञानरतन का सं० १८३८। अतः यही इनका कविताकाल निश्चित किया जा सकता है। इनका देहावसान उमापुर में ही सं० १८५० में हुआ।

'ज्ञानरतन' की मूल प्रति का पता नहीं चलता। प्रस्तुत प्रति हरिहरपुर ग्राम (सम-

---

१ दास नेवल उमापुर केरे

भक्तिविनोद, त्रयोदश अध्याय

२ करि अजपा जपु काल बितावा।
रेंछ गोमती निकट सुठावा॥
कछु उपहास जानि टरि आवा।
जहँ धन ऐस धनेसा गावा।
तासु दक्खिन तट विमल सुहावन।
पीपर बाग तड़ाग सो पावन॥

सुखसागर, पृ० २

३ ग्राम उमापुर विप्र कुल जन्म प्रानि तहँवा भरेउ। भक्तमाल (ईश्वर दास) पृ० २८

४ वही पृ० २८

की मूल वस्तु सर्जन और भाषा का अन्तर-सम्बन्ध ही है। अज्ञेय ने एक जगह लिखा भी है, "मैं उन व्यक्तियो में से हूँ—और ऐसे व्यक्तियो की सख्या शायद दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है—जो भाषा का सम्मान करते हैं और अच्छी भाषा को अपने-आप मे एक सिद्धि मानते है" (आत्मनेपद, पृ० २४०)। यहाँ "अच्छी भापा" का अर्थ अलकृत या चमकदार भापा नही है, वरन् "अच्छी भापा" की अच्छाई यही है कि वह भाषा और अनुभव के अद्वैत को स्थापित करे। अज्ञेय की काव्यभाषा उनकी इसी मान्यता का समर्थन करनी है। भापा को अनेक भगिमाओ को निखारते-निखारते उन्होने भाषा का सवसे प्रभावी रूप "मौन" के स्तर पर अनुभव किया है। इस "मौन" से शैथिल्य नही, तनाव व्यजित होता है, ऐसा तनाव जो कलाकृति का आधार है—

तू काव्य
सदा वेष्टित यथार्थ
चिर तनित,
भारहीन, गुरु
अव्यय।
तू छलता है
पर हर छल में
तू और विशद अभ्रात,
अनूठा होता जाता है।

यहाँ काव्य द्वारा छला जाना सम्भव हो पाता है, क्योकि वह 'चिर-तनित' है और रचना का यह तनाव आर्थिक-द्वन्द्व की विकासमान अर्थ-प्रक्रिया से वनता है। इसीलिए कवि के अनुसार मौन भी अभिव्यजना है

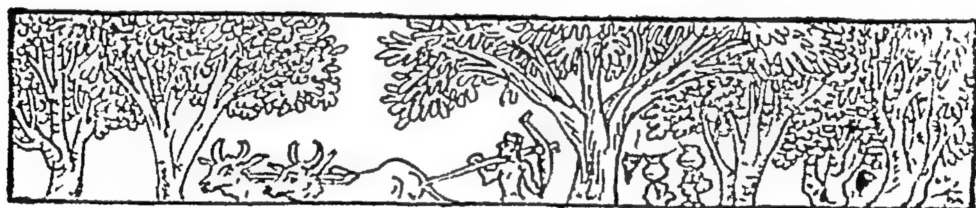
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो।

अज्ञेय के सन्दर्भ मे यह "मौन" मित कथन है, कहने और कहने के बीच अनकहना है तथा और गहरे स्तर पर आत्मदान का भाव है, जहाँ बोलना मानो आक्रमण है, मौन ही अपने को दे देना है। समकालीन समीक्षा की यह एक और विडम्बना है कि आत्मदान के लिए प्रतिश्रुत कवि अज्ञेय को अभी तक "व्यक्तिवादी" कहा जाता रहा है। समीक्षा के इस रूप में "व्यक्ति" और "व्यक्तित्व" के वीच भी विवेक नही किया गया। पर अज्ञेय के कृतित्व का वैशिष्ट्य व्यक्तित्व और भापा के गहरे आयामो को अभिव्यक्ति देने में रहा है, कविता और कथा-साहित्य दोनो में ही।

इस प्रसग में अज्ञेय और नयी कविता के पारस्परिक सम्वन्ध को समझना जरूरी है। यह स्मरणीय है कि वर्तमान अर्थ में "नयी कविता" नामकरण अज्ञेय का किया हुआ है (आकाशवाणी से प्रसारित एक फीचर में—"नये पत्ते"–१९५३ में प्रकाशित)। और नये लेखको की विशिष्ट गोष्ठी "परिमल" से भी अज्ञेय का निकट सम्वन्ध रहा है। सच तो यह है कि अज्ञेय और "परिमल" के निकट सम्वन्वो में कभी-कभी तनाव भी आया है। यह जरूर है कि लेखक के मन में इस तनाव का अनुभव व्यक्तिगत अथवा व्यावहारिक स्तर पर न होकर

रचनात्मक स्तर पर ही अधिक लगता है। इस प्रसग मे नये कवि को सम्बोधित एक कविता "नये कवि के प्रति" उल्लेखनीय है, जो पहले 'कल्पना' में छपी और फिर बाद मे 'अरीओ करुणा प्रभामय' में सकलित हुई। वस्तु के धरातल पर इस कविता मे नये कवि के प्रति व्यग, विद्रूप और आक्रोश की अभिव्यक्ति हुई हैं। इसे, और इस प्रकार की दो-एक अन्य कविताओ को लेकर नये लेखकों में एक विक्षोभ और उत्तेजना का वातावरण फैला, पर अज्ञेय इस विवाद मे नही पडे, और वह असुखद प्रसग समाप्त हो गया।

नयी कविता के सक्रमण और विकास को अज्ञेय ने सम्भव बनाया, और उसे सहयोग दिया। पर बाद मे उसकी चुनौती भी उन्होंने महसूस की, और उनकी सर्जनात्मक क्षमता को प्रेरणा और उत्तेजना मिली है। अज्ञेय की उत्तर कालीन रचनाओं में सस्कृत और अग्रेजी से प्रेरित भाषा के आभिजात्य से जो विमुखता है, उसके पीछे किसी हद तक रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और लक्ष्मीकान्त वर्मा जैसे नये कवियो का नैतिक समर्थन समझा जा सकता है। नयी कविता की चुनौती से अज्ञेय को बल मिला, यह उनके व्यक्तित्व की प्रखर गतिशीलता और गहरी सर्जनात्मकता का ही प्रमाण है।



'ज्ञानरतन' : एक विस्मृत निर्गुण प्रेमाख्यान

भगवती प्रसाद सिंह

भारतीय प्रेमाख्यानो पर इधर जो शोध कार्य हिन्दी मे हुए है, उनमे कही भी 'ज्ञानरतन' नामक किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन हस्तलेखो के विविध सस्थाओ द्वारा प्रकाशित खोज विवरणों में भी इसकी चर्चा नही है। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति मुझे बलरामपुर के प्रसिद्ध साहित्य सेवी स्वर्गीय श्री सरकार बख्श सेवक के सग्रह में प्राप्त हुई थी और अब वह इन पक्तियों के लेखक के पास सुरक्षित है।

'ज्ञानरतन' के रचयिता साहेब नवलदास सतनामी सम्प्रदाय की कोटवा गद्दी के सस्थापक जगजीवनदास के शिष्य थे। ग्रन्थारभ में अपना परिचय देते हुए वे स्वय लिखते हैं—

सतगुरु साँचे राम, सत दिनकर तम भ्रम हरन
हृदय करिय विश्राम, जगजीवन जग तारनो।
तुम्ह सन्तन्ह सिरताज, गुन निरगुन सब कहँ कृपा।
बडे गरीब नेवाज, दास नेवल विनती करै॥[1]
वे जगजीवन प्रभु सबही के। दीनदयाल भावते जी के॥
बन्ह सन सरत जवत कर कामा। बन्ह मोहिं दीन्ह अमर सतनामा॥[2]

नवलदास ने अपने दस गुरु भ्राताओ की चर्चा की है, जिनमें जगजीवन साहब के दो पुत्रों—गिरिवरदास और अगमदास के साथ ही आठ शिष्यो—दूलनदास, जलालीसाहब, देवीदास, गोसाईंदास, खेमदास, सिवदास, अहलाददास और भवानीदास का उल्लेख है। इनकी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति की चर्चा करते हुए नवलदास ने इन्हे सम्प्रदाय का प्रमुख स्तम्भ और असख्य पथभ्रात शरणागतो का उद्धारक बताया है।[3]

---

१ ज्ञानरतन, पत्र २

२ वही, पत्र ४

३ जगजीवन कर जस जग बाजा। जिन्ह अस अगम इन्दु उपराजा॥
गिरिवर सुवन अगम जिन्ह जाए। जगमग जात इन्द्र जनु आए॥
नाम जलाली साहेब साँचे। जिन्हको सरन जाय सो बाँचे॥
अवर सात दीपक बन्ह करे। छवि जगमगत गगन जनु तारे॥
दीपक प्रथम जगत जगमगाए। जगमग दूलन दास कहाए॥
दूसर देविदास उजियारे। जिन्ह बहु भन्हँ कहँ पार उतारे॥
तीसर दीप गोसाईं दासा। जस जगमग जस रतन प्रकासा॥
दीपक चौथ जगमगाई नारा। पेमदास अति अगम अपारा।
पचम दीपक जग सिवदासा। जिन्ह चलि कीन्ह पछिम दिसि वासा॥
दीपक जन अहलाद अपारा। जगत विदित जस मानिक वारा॥
सप्तम दीपक अगम सुहेला। दास भवानी थल बहरेला॥
—वही, पत्र २, ३, ४

सत नवलदास इस प्रकार अपने गुरु तथा गुरु भ्राताओ का उल्लेख करते हुए भी सतपरपरानुसार अपने भौतिक जीवन विपयक तथ्यो के सम्बन्ध मे मौन रहे हैं। किन्तु सतनामीसाहित्य से यह पता लगता है कि जग जीवन साहब के पथ प्रचारक शिष्यो द्वारा स्थापित १४ गद्दियो मे से ये एक गद्दी के प्रवर्तक थे। इससे उक्त सम्प्रदाय के विशिष्ट सतो में इनकी गणना की जाती है। बोधे दास कृत 'भक्ति विनोद' में ये उमापुर नामक गाँव के निवासी कहे गये हैं।[1] यह बाराबकी जिले में स्थित है। आरभिक जीवन मे इन्होने गोमती तटस्थ रेछ नाम के किसी गाँव में रह कर अजपाजप की साधना की किन्तु किसी कारण वश स्थानीय लोगो की प्रतिकूलता से खिन्न होकर ये सुलतान जिले के घनेसा नाम के गाँव में एक बाग में जाकर रहने लगे।[2] कालान्तर मे उसे भी छोड कर ये अपनी जन्मभूमि उमापुर को चले आये फिर जीवन का शेप अश वही बिताया।

नवल दास का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था[3] और ये आजीवन गृहस्थ रहे। इनकी मात्र सतान एक पुत्री थी जिसको अम्बर दास नाम के एक भरद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण से व्याह कर ये निश्चिन्त हो गये थे। इसी रक्त सम्बन्ध के कारण आज तक उमापुर में स्थापित गद्दी के अधिकारी इनकी पुत्री के वशज ही होते हैं।

ये जिस प्रकार उच्चकोटि के साधक थे उसी भाँति काव्य-मर्मज्ञ और शास्त्रतत्ववेत्ता भी। सतनामी सप्रदाय के सत ईश्वरदास ने इनकी प्रशस्ति में लिखा है—

सप्रथ नवल प्रवीण सकल विद्या के रासी।
पडित कविता बडे नाम के दिढ अभ्यासी॥[4]

अब तक इनकी लिखी आठ रचनाये प्रकाश में आई हैं—सुख सागर, ज्ञान सरोवर, भागवत दसमस्कध भाषा, शब्दसागर, कहरानामा, रामगीता, स्तुति बजरगजी, और ज्ञानरतन इनमें से सुखसागर का रचना काल स० १८१८ है और ज्ञानरतन का स० १८३८। अत यही इनका कविताकाल निश्चित किया जा सकता है। इनका देहावसान उमापुर मे ही स० १८५० में हुआ।

'ज्ञानरतन' की मूल प्रति का पता नही चलता। प्रस्तुत प्रति हरिहरपुर गाम (सभ-

---

१ दास नेवल उमापुर केरे

भक्तिविनोद, त्रयोदश अध्याय

२. करि अजपा जपु काल बितावा।
रेछ गोमती निकट सुठावा॥
कछु उपहास जानि टरि आवा।
जहँ धन ऐन घनेसा गावा।
तासु दखिन वट विमल सुहावन।
पीपर बाग तडाग सो पावन॥

सुखसागर, पृ० ७

३ ग्राम उमापुर विप्र कुल जन्म प्रानि तहवा धरेउ। भावगान (ईश्वर दास) पृ० २८

४. वही पृ० २८

वत बहरायच जिले में स्थित) के निवासी हनुमान कायस्थ के द्वारा की गई उसकी प्रतिलिपि है। यह प्रतिलिपि ग्रथ की रचना के ९३ वर्ष पश्चात् लिखी गई थी। अत मे दी गई पुष्पिका मे यह ज्ञान होता है कि प्रतिलिपिकार भी 'सत्यनाम' मे निष्ठा रखने वाला सतनामी सप्रदाय का अनुयायी था—

"।। इति श्री माधौ रतन ज्ञान साहेव नवलदास कृती समाप्त सुभमस्तु ।।
जादृस पुस्तक दृष्ट्वा तादृस लिखित मया।
जदि सुद्ध असुद्ध वा मम दोपो न दीयताम् ।।
माघमासे कृष्णमक्षे सप्तम्या गुरुवासरे स १९३१ लिखित ।।
दासानुदास हनुमान कायस्थ वसत हरिहर पुर' ।।
सत सुमति कवि नृप द्विज सवसे अरज हमारि।
आपन किंकर जानि के, वाँचन वरन सुधारि ।।
।। श्री सत्यनामाय रामाय नम. । राम राम राम राम राम राम राम राम राम राम ।।"

'रतन ज्ञान' निर्गुण पथी प्रेमाख्यान है। इसकी रचना का उद्देश्य न्यायदेशिक पद्धति पर साधकों को ध्यानयोग द्वारा परमज्योति के दर्शन की योग्यता प्राप्त कराना है। इसी प्रणाली में अतस्थ सतनाम अथवा 'रतन' की प्राप्ति हो सकती है—सतनामियो का ऐसा विश्वास है। अत प्रत्यक्ष रूप से अनुरक्तिमूलक दिखायी पडते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से यह विरक्ति परक रचना है और इस प्रकार रचयिता के मत से केवल सतो के लिये ही उपादेय है। लौकिक वुद्धि वाले इसके आध्यात्मिक महत्त्व को न समझ सकने के कारण कथा की यथार्थता पर विश्वास नही करेंगे, अत वे इसके लाभ से वचित रहेंगे। नवलदास ने इतना लिखते हुए भी यथासभव कथा को रोचक वनाने का प्रयत्न किया है, जिससे भक्ति के साथ पाठकों के हृदय में लोक जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न हो—

रतनज्ञान तम कलुप नसावन। सुनत श्रवन मन रुचि उपजावन।
भगत लगनि जगतहि रुचि वाढै। सतमत समुझि रतन मथि काढै ।।
करियत सुरति गगन चढि जाही। रमित रहत सत चरनन्ह माँही ।।
जगमग झिलमिल किरिन उजेरी। जोत अमित अति सत प्रभु केरी ।।
ध्यान अगम दरसन जेहि भावे। सो यह रतन ज्ञान मन लावै ।।
यह सत-मत सतन्ह हित भापा। जग सब सुनत प्रतीति न रापा ।। पत्र—९

साधनात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण प्रबन्ध के वीच में स्थान स्थान पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे साप्रदायिक सिद्धातो का प्रतिपादन तथा रहस्यात्मक सकेतो की विस्तृत योजना नवलदास ने की है। जहाँ तक दार्शनिक तत्त्वो का सम्बन्ध है, अद्वैतवाद और तसव्वुफ के साथ ही हठयोग पर भी कवि की अगाध निष्ठा प्रतीत होती है। इस दृष्टि से यह प्राचीन प्रेमाख्यान परम्परा के ही आदर्श पर निर्मित हुआ है। भेद केवल इतना है कि जगजीवन साहव के परवर्ती कतिपय निर्गुण मार्गी साधकों की मान्यतानुसार इसमे सगुण एव साकार ब्रह्म तथा उसके उपासकों के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की गई है और इस प्रकार अवतारवाद को अन्य प्रेमाख्यानो की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। मगलाचरण में गणेशस्तुति दशावतार-वर्णन, शकर द्वारा पार्वती को सतनाम उपदेश, विभीपण, हनुमान, काकभुशुन्डि, अर्जुन,

उद्धव, भरद्वाज, सुदामा, सवरी, कूवरी, लोमश, रामानन्द, कवीर, पीपा, रैदास, सेन, मीरा, तुलसी, आदि भक्तो की वन्दना कवि की सगुण रूपमे निष्ठा व्यक्त करती है। परवर्ती निर्गुण भक्ति काव्य मे यह सगुणपरक प्रवृत्ति अविच्छिन्न रुप से प्रवाहित होती रही है। इसका मुख्य कारण तुलसी और सूर द्वारा जनमानस मे प्रतिष्ठित राम और कृष्ण के प्रति अविच्छिन्न श्रद्धा थी जिससे उत्तरमध्यकाल में समग्र भक्ति क्षेत्र आप्लावित हो गया था।

रतन ज्ञान की कथा

रतनज्ञान मध्यकालीन प्रेमगाथाओ के सर्वाधिक प्रिय विपय माधवानल कामकन्दला के वृत्त पर आधारित है। सक्षेप में कथा इस प्रकार है —

काशी नगर मे माधवानल नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह जितना रूपवान् था उतना ही गुणवान् भी। आध्यात्मिक एव लौकिक शास्त्रो मे उसकी अद्भुत गति थी। वीणा वजाने की अलौकिक कला से वह श्रोताओ को आत्म-विभोर कर देता था। नित्य वीणा वजाता वह काशी कोट मे जाकर दिव्य ज्योति के दर्शन करता था। उसके पहुँचते ही कोट के द्वार स्वय खुल जाते थे। उसके इन दिव्य गुणो को देखकर शिवगण ईर्ष्या करने लगे। उनके उत्पात से माधव का ज्ञान-ध्यान छूट गया। इस विपम स्थिति मे उसने सत्गुरु का स्मरण किया। तत्काल आकाशवाणी हुई 'सात कोस ऊँचे पर पुष्पावती नगर है वहाँ चले जाओ।' सत्गुरु की कृपा से माधव की ज्ञानदृष्टि निर्मल हो गई। हाथ मे पुस्तक, माथे पर तिलक, शिर पर मुकुट धारण कर उसने पुष्पावती नगर के लिये प्रस्थान किया।

पुष्पावती नगर राजा गोपीचन्द की राजधानी थी। उनका धौराहर सतखडा था। उसमें दस द्वार थे। राजा का आवास सातवें खड मे था। दसवाँ द्वार सदैव वद रहता था। सारा राजप्रासाद मणि दीपो से ज्योतित रहता था। माधव का प्रवेश नवे द्वार तक हो सका। प्रयत्न करने पर भी दसवाँ द्वार पार करके दिव्य ज्योति का दर्शन करने की स्वीकृति उसे नही मिली। उसने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये घोर तप किया। खानपान त्याग कर सात दिनो तक निरतर ध्यान करने के कारण तपश्चर्या के प्रभाव से माधव का अन्त करण पवित्र हो गया और तव दशम द्वार खुल गया। ज्योति के दर्शन करते ही वह मूर्च्छित हो गया। सचेत होने पर गोपीचन्द ने उसे अपने कोट मे ही स्थान दे दिया। माधव कभी-कभी कोट मे उतर कर पुष्पावती नगर में आया करता था। उसकी वीणा सुनकर मनुष्यो की कौन कहे पशु पक्षी तक मुग्ध हो जाते थे। स्त्रियो पर तो उसने मोहिनी सी डाल दी। वे नाना प्रकार के शृगार कर हाव-भाव दिखाती हुई उसे आकृष्ट करने का प्रयत्न करने लगी। माधव इन प्रलो-भन से अपने को विरत न रख सका। गोपीचन्द के दरवार में भी उसकी उपस्थिति कम होने लगी और वह अधिकाश समय पुष्पावती की कामिनियो के मध्य व्यतीत करने लगा। इधर स्त्रियाँ भी माधव के प्रेम मे इस प्रकार तन्मय हो गई कि अपने गृहकार्य से उदासीन होने लगी जव पतियो ने उन्हे ताडना दी तव भी उनकी मानसिक स्थिति में कोई परिवर्तन न आया। एक दिन एक स्त्री ने माधव के प्रेम मे आत्म विस्मृत हो पति के भोजन को थाल में न डालकर पृथ्वी पर गिरा दिया। इस घटना को सामाजिक भ्रष्टाचार का द्योतक मानकर प्रमुख नागरिकों ने माधव के आचरण के विरुद्ध गोपीचन्द से फरियाद की। गोपीचन्द [illegible]

यातना पूर्ण पशु जीवन व्यतीत कर रही हूँ। इतना कह कर वह फूट फूट कर रोने लगी। राजा ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा "मैं उज्जैन का राजा विक्रमादित्य हूँ। आज तुम्हे इसके पजे से मुक्त करके अपने माथ ले चलूँगा। राजा ने उसे तत्काल पहले सरोवर में स्नान कराया जिससे वह अत्यन्त सुन्दरी रमणी वन गई। फिर उसे साथ लेकर अपने नगर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते मे एक नगर पडा जहाँ अपनी मृत पत्नी के वियोग में एक ब्राह्मण चिता में आग लगाकर भस्म होने जा रहा था। राजा को उसकी दशा देखकर दया आयी उसने उसे ढाढस बँधाते हुए अपने साथ की राजकुमारी व्याह दी। वैताल के द्वारा विक्रमादित्य की यह यशोगाथा सुनकर माधवानल ने उज्जैन को प्रस्थान किया।

उज्जैन पहुँच कर माधवानल ने विक्रमादित्य से भेंट करने का वहुत प्रयत्न किया परन्तु सफल न हो सका। निराश होकर उसने नगर के उत्तर मे डेरा डाला और प्रिया के विरह मे प्राणोत्सर्ग करने को सोचा। वैताल ने पुन उपस्थित होकर उसे सात्वना दी और विक्रम के दर्शनार्थ शिवमदिर के निकट ठहरने को कहा। माधवानल शिवमदिर में गया। उस मदिर में विक्रमादित्य नित्य ही देवाराधन के निमित्त आया करते थे। मदिर मे जाकर माधव ने सतगुरु की विधिवत् पूजा की। राजा जब दर्शनार्थ आया तव उसके साथ इतनी भीड थी कि माधव उससे मिलकर कुछ कह ही न सका। अत मे निराश होकर उसने एक पत्र लिख कर मदिर के किवाडो में लटका दिया। दूसरे दिन प्रात जब विक्रमादित्य शिवमदिर में आये तव उन्हें वह पत्र प्राप्त हुआ। पूजा के पश्चात् पत्र पढते ही वे उद्विग्न हो उठे। नगर में शोर हो गया कि राजा पर किसी ने जादू कर दिया है। उपचार के लिये वैद्य और तान्त्रिक बुलाये गये किन्तु उनका श्रम व्यर्थ गया। थोडी देर बाद राजा ने स्वय आखे खोली और मन्त्रियो से कहा कि उज्जैन में कोई महाविरही आ गया है उसी की विरह-ज्वाला मुझे भस्म कर रही है। मेरी व्याधि का एकमात्र उपचार उसका पुण्य-दर्शन है। मन्त्रियो ने उसी समय उस विरही को खोजने के लिए दूती और दूत दौडाये। अत में शिवमदिर के पास एक योगी मिला जो कामकदला की रट लगा रहा था। उसकी दशा देखकर सहज ही अनुमान लग गया कि यही वह योगी है जिसकी विरह ज्वाला से राजा व्यथित हो गया है। मन्त्रियो द्वारा भेजी गई स्त्रिया उसका हाथ पकडकर विक्रम के पास ले गई। राजा ने जब माधव को देखा तो उसे योगी भेप में राजकुमार होने भ्रम हुआ। शास्त्र चर्चा में माधव की निपुणता से राजा बहुत प्रभावित हुआ और उससे उसका अभीष्ट वताने को कहा। तव माधव ने कामकदला को शीघ्र प्राप्त कराने को कहा। विक्रम ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए कहा 'हमारे रनिवास में में वहुत सी सुन्दरियाँ है, उनमे से जिसे चाहो चुन लो कामकदला की प्राप्ति के लिये कामसेन से युद्ध करना पडेगा जिसमे हजारो सैनिक मरेंगे।' राजा की आज्ञा पर महल की सुन्दरियो ने माधव को विविध हावभाव दिखाकर आकृष्ट रचना चाहा पर माधव उनकी ओर रचमात्र भी भी आकृष्ट नही हुआ। इससे वे सभी रुष्ट होकर चली गई।

इधर कामकदला माधव से वियुक्त होते ही भीपण विरह-ज्वर से पीडित हो मृत्यु शैया पर पड गई। उसने उस समय अपने प्राण केवल माधव के पुनर्नर्शन की आशा में नही त्यागे। इधर माधव के हृदय में कामकदला के प्रति अगाध प्रेम देखकर विक्रमादित्य ने उससे पूछा 'यदि तुम कहो तो मैं जाकर यह पता लगाऊँ कि क्या कामकदला भी तुम्हें उतना ही

प्रेम करती है जितना तुम उसे चाहते हो ? यह जान लेने के पश्चात् उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करूँगा।

विक्रम ने वैद्य का वेष धारण कर कामकदला की परीक्षा के लिये प्रस्थान किया। घूमते घूमते वह कामसेन की नगरी में जा पहुचा। कामकदला ने वैद्य जानकर पुत्री की प्राण रक्षा के लिये विक्रम से प्रार्थना की। उसके घर आने पर कामकदला के व्याधिग्रस्त होने के कारण को जान कर राजा ने कहा कि जिसके प्रेम मे तुम्हारी पुत्री-प्राण दे रही है, वह तो कब का मर गया। यह सुनते ही कामकदला के प्राण पखेरु उड गये। उसके माता-पिता विक्षिप्त होकर आर्तनाद करने लगे। यह सुनकर विक्रम ने उनसे कहा, 'तीन दिन तक अपनी पुत्री के शव की रक्षा करो। मेरे घर पर सजीवनी बूटी है। उसे मैं भूल आया हूँ। चौथे दिन लाकर कामकदला को जीवित कर दूँगा।' नारी-वध के पाप मे व्यथित राजा विक्रम उज्जैन लौट आये। इधर माधवानल बडी ही उत्सुकता से राजा की प्रतीक्षा कर रहा था। जब उसे कामकदला की मृत्यु का समाचार मिला तो तत्क्षण ही उसने भी प्राण त्याग दिये। नारी और ब्राह्मण की हत्या से दुखी राजा विक्रम चिता बनाकर प्राण त्याग करने को उद्यत हुए। सारे देश मे यह समाचार बिजली की भाँति फैल गया। ऐसा धर्मात्मा राजा का इस प्रकार दुखद अत होते देख स्वर्ग मे खलबली मच गयी। देवताओं ने राजा का प्राण बचाने को बेताल को भेजा। बेताल ने उज्जैन आकर राजा को यह आश्वासन दिया कि मैं अमृत लाकर माधव और कामकन्दला को जीवित कर दूँगा। पाताल जाकर वह गेडुला भर अमृत ले आया। राजा ने उसे माधवानल के मुह पर छिडका। वह तत्काल सचेत हो गया और कामकदला का नाम रटने लगा। राजा ने उसे यह कहकर धीरज बधाया कि वह इसी अमृत से कामकदला को जीवित कर देगा। वह जीवित होते ही 'माधव' 'माधव' की रट लगाने लगी। राजा ने उसे यह कहकर ढाढस बँधाया कि यदि कामसेन सीधे नही मानेगा तो युद्ध करके तुम्हें अपने साथ माधव के पास ले चलूँगा। उज्जैन आकर राजा ने सेना सगठित की और कामसेन पर चढाई की। उसने कामसेन की राजधानी से चार कोस की दूरी पर डेरा डाल कर उनके पास बिना युद्ध किये कामकदला को दे देने का प्रस्ताव भेजा किन्तु कामसेन के मत्रियो ने अपनी मर्यादा रक्षा के लिए किसी भी शर्त पर बिना युद्ध किए कामकदला को देने का प्रस्ताव स्वीकार नही किया। इस पर युद्ध का डका बज गया। कामसेन और विक्रमादित्य अपनी सेनाये लेकर भिड गये। घमसान युद्ध हुआ जिसमें कामसेन पराजित हुआ। विक्रम ने माधव एव कदला को मिलाकर उनकी विरह व्यथा दूर की। फिर उनके लिए एक भव्य रग महल का निर्माण कराया। माधव राजा को वेद-पुराण की कथा सुनाते और योग-शिक्षा देते हुए दिन व्यतीत करने लगा।

अन्तर्कथाएँ

'ज्ञानरतन' में मूलकथा माधवानल कामकदला की ही है किन्तु प्रमुख अन्तर्कथाएँ तीन हैं जो दो वर्गों मे बाटी जा सकती हैं—प्रथम प्रकार की अन्तर्कथायें कथात्मक विकास मे तीव्रता लाने के लिए हैं, जैसे काठ के घोड़े और योगी के वश मे बदरी रूप में परिवर्तित राजकुमारी की अन्तर्कथा। दूसरे प्रकार की अन्तर्कथाये उपदेशात्मक हैं। माधव और कामकदला

की अवहेलना न कर सके। उन्हें विवश होकर माधव को तत्काल नगर छोड देने की आज्ञा देनी पडी। राजा ने माधव को पुष्पावती से सात कोस पर स्थित कामावती नगर को जाने की सलाह दी। इस आपत्तिकाल मे माधव ने सतगुरु का ध्यान किया, जिससे उसकी विषय लिप्सा जाती रही और उसने कामावती को प्रस्थान किया।

कामावती का राजा कामसेन था। उसके दरबार में कामकदला नाम की वेश्या थी। उस राजनर्तकी का सौन्दर्य और नृत्यकला का ज्ञान लोक-विश्रुत था। माधव जिस समय राज द्वार पर पहुँचा महल के भीतर उसका नृत्य ही रहा था। प्रतिहार ने उसे राजाज्ञा के बिना भीतर जाने से रोक दिया। माधव द्वार पर ही बैठ गया। थोडी देर प्रतीक्षा करने के बाद उसने प्रतिहार से कहा—'जाकर महाराज से कहो कि द्वार पर एक ब्राह्मण आया है। वह आप की सारी सभा को मूर्ख कह रहा है क्योकि बीस समाजियो में से एक मृदगी के दाहिने हाथ में चार ही अँगुलियाँ है। इससे ताल भग हो रहा है। राजा और दरबारी सगीत कला में कोरे है। वे इसे जान ही नही सकते। इन शब्दो को सुन कर कामसेन ने समाजियो की परीक्षा की। माधव का अनुमान सच निकला। उसने माधव को तत्काल भीतर बुला लिया और उसके सगीत ज्ञान पर मुग्ध होकर दो करोड टका दक्षिणा दो। इसके अतिरिक्त उसे बहुत से बहुमूल्य वस्त्रालकार भी भेट किये। राजा के अनुरोध से माधवानल ने वीणा बजाई। उसके मधुर आलाप से राग मूर्तिमान होते प्रतीत हुए। कामकदला उसी ताल पर नृत्य करने लगी। इसी समय एक भ्रमर उडता हुआ आया और कामकदला के कुच पर बैठ गया। कोमलागी राजनर्तकी उसके दशन से व्याकुल हो गई किन्तु तालभग होने के भय से उस पीडा को सहती रही। जब वेदना असहनीय हो गयी तो उसने शरीर में पवन तत्त्व को केन्द्रित कर उसे स्तनद्वार से तीव्र वेग के साथ प्रवाहित किया जिससे भौंरा उड गया। इस सारी क्रिया को उपस्थित सभासदो में केवल माधवानल देख रहा था। वह कामकदला की अद्भुत नृत्यकला पर रीझ गया और कामसेन के द्वारा प्राप्त समस्त द्रव्य, वस्तु एव आभूषण सरे-दरबार उसे पुरस्कार में दे दिये। कामसेन को माधवानल के चरित्र पर सदेह हो गया। माधवानल ने इस बात को लेकर उनसे वाद-विवाद किया। राजा ने इस पर क्रुद्ध होकर तत्काल माधवानल को देश से निकल जाने का आदेश दिया।

राजाज्ञा को शिरोधार्य करके माधवानल ने कामावती छोडकर देशान्तर के लिये प्रस्थान किया। सध्या हो गयी थी अत उसने नगर के बाहर एक पेड के नीचे डेरा डाला। वहाँ बैठा मन ही मन अपनी कर्म गति की वक्रता पर खेद प्रकट कर ही रहा था कि पहर रात बीतने पर सहसा अकेली कामकदला आयी। वह उसकी उपस्थिति से पुलकित हो उठा। उसके आगमन से वह निर्जन अधकार युक्त स्थान दिव्य आभा से आलोकित हो उठा। कामकदला बहुत अनुनय विनय के पश्चात् माधवानल को अपने घर ले गई। रात्रि पर्यन्त दोनो में प्रेम वार्ता होती रही। प्रात होने पर माधवानल ने चलने की बात कही। कामकदला ने साथ जाने की इच्छा प्रकट की। माधव उसे पुन दर्शन का आश्वासन देकर चला गया। कामकदला प्रियतम से वियुक्त होते ही भीषण विरह ज्वाला से जलने लगी। माता-पिता और सखियो के अनेक प्रकार से समझाने पर भी उसकी विरह व्यथा कम न हुई। विक्षिप्त सी होकर जिधर माधवानल गया था उसी ओर वह भी चल पडी। चलते-चलते जगल के भीतर उसे एक कोट दिखाई दिया उसके

ऊँचे शिखर पर चढकर उसने बहुत दूर तक देखा किन्तु माधव का कही पता न लगा। निराश होकर वह नीचे उतर आई और प्राणत्याग करने के विचार से गढ के भीतर ही स्थित जलाशय मे कूद पडी। तालाब के भीतर जाने पर उसे ऐसा अनुभव हुआ जैसे वह दिव्यलोक में आ गई हो। जलाशय मे डूबे अभी कुछ ही क्षण हुए होगे कि उसकी सखियो के साथ माता-पिता खोजते हुए आ गये और तालाब से निकालने पर पुत्री को जीवित देखकर वडे हर्षित हुए। घर आने पर कामकदला ने कही भी आना-जाना वन्द कर दिया। यह माधवानल के वियोग मे तिल तिल करके शरीर को सुखाती हुई अन्तिम घडी की प्रतीक्षा करने लगी।

उधर माधवानल भी प्रियतमा से वियुक्त होकर सुध-बुध खो बैठा। कामकदला के वियोग मे वह योगी बन गया और विक्षिप्त की भाँति उसे ढूँढते हुए वन-पर्वतो मे विचरने लगा। एक दिन जब वह कामकदला की स्मृति मे आँसू वहाते हुए थककर सो गया तो उसे स्वप्न में ऐसा आभास हुआ जैसे कोई निकट ही हसता हुआ कह रहा हो कि 'अभी तुम्हारी साधना कच्ची है, इसीलिये अभीप्सित नही मिल सका है। उसकी प्राप्ति प्राणो की बाजी लगाने वाले को ही होती है। यह शब्द सुनते ही माधव की आँखे खुल गई। उसने प्रतिज्ञा की कि प्रियतमा को प्राप्त करने के लिये अपने प्राण विसर्जित कर दूँगा। इसी बीच वहाँ वैताल आ गया उसने माधव को सलाह दी कि अपनी कार्य-सिद्धि के लिये उज्जैन नरेश विक्रमादित्य से मिलो।

विक्रमादित्य दानशीलता एव परोपकार के लिये विख्यात थे। उन्होने एक-बाजार लगवाया था उसमें जो वस्तुएँ विकने से वच जाती थी वे सभी राजकोष से खरीद ली जाती थी। एक दिन कोई कारीगर काठ का एक विचित्र घोडा वनाकर लाया। उसकी विशेषता यह थी कि वह सवार की इच्छानुसार चलता था किन्तु लौटाने पर उसके खण्ड खण्ड हो जाते थे। एक दिन उस घोडे पर राजा सैर करने निकले। वडे वेग से चलते हुए वह घोडा बहुत दूर निकल गया। राजा ने उसे लौटाना चाहा कि वह खण्ड खण्ड होकर गिर पडा। वहाँ एक विशाल वन था। उस समय सध्या हो रही थी। राजा निराश होकर कही ठहरने का स्थान खोजने लगा। एक स्थान पर घनी छाया वाले वृक्ष के नीचे उसने देखा कि एक पलग बिछा हुआ है। उसके निकट दो सरोवर है। रात्रि में जगली पशुओ के भय से राजा उसी वृक्ष पर चढ गया। उसने देखा कि उस पर वदरी बैठी हुई है। वह विक्रम को देखते ही रोने लगी। उसी समय वहाँ एक योगी आया और उसी पलग पर बैठ गया। उसने वदरी को बुलाया। जब वदरी नीचे आ गयी तब उसने उसे एक तालाब मे नहलाया। स्नान करते ही उस वदरी ने अति रूपवती युवती का रूप प्राप्त कर लिया। रात्रि भर योगी ने उसके साथ भोग विलास किया। प्रात होते ही उसे निकटस्थ दूसरे तालाब में नहला कर पुन वदरी बना दिया और उसी वृक्ष पर बैठा कर कही चला गया। विक्रम रात भर यह चरित्र देखता रहा। उसे वदरी की दयनीय दशा पर बडी चिन्ता हुई। पूछने पर वदरी ने राजा को अपना रहस्यमय वृत्तांत रो रो कर सुनाया। उसने कहा कि मैं सुन्दरी नाम की राजकुमारी हूँ। यह योगी मेरे पिता का गुरु था और महल मे बराबर आया करता था। मेरे सौन्दर्य पर मुग्ध होकर इसने जादू के बल से मेरा हरण किया और मुझे लेकर आकाश में उड गया। मेरा ब्याह उज्जैन नरेश के साथ निश्चित हो चुका था किन्तु कर्म के फेर से आज वदरी के रूप में इस निर्जन वन में

यातना पूर्ण पशु जीवन व्यतीत कर रही हूँ। इतना कह कर वह फूट फूट कर रोने लगी। राजा ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा "मैं उज्जैन का राजा विक्रमादित्य हूँ। आज तुम्हें इसके पजे से मुक्त करके अपने साथ ले चलूंगा। राजा ने उसे तत्काल पहले सरोवर में स्नान कराया जिससे वह अत्यन्त सुन्दरी रमणी बन गई। फिर उसे साथ लेकर अपने नगर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में एक नगर पडा जहाँ अपनी मृत पत्नी के वियोग मे एक ब्राह्मण चिता में आग लगाकर भस्म होने जा रहा था। राजा को उसकी दशा देखकर दया आयी उसने उसे ढाढस बँधाते हुए अपने साथ की राजकुमारी व्याह दी। वैताल के द्वारा विक्रमादित्य की यह यशोगाथा सुनकर माधवानल ने उज्जैन को प्रस्थान किया।

उज्जैन पहुँच कर माधवानल ने विक्रमादित्य से भेंट करने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु सफल न हो सका। निराश होकर उसने नगर के उत्तर में डेरा डाला और प्रिया के विरह में प्राणोत्सर्ग करने को सोचा। वैताल ने पुन उपस्थित होकर उसे सात्वना दी और विक्रम के दर्शनार्थ शिवमदिर के निकट ठहरने को कहा। माधवानल शिवमदिर मे गया। उस मदिर मे विक्रमादित्य नित्य ही देवाराधन के निमित्त आया करते थे। मदिर मे जाकर माधव ने सतगुरु की विधिवत् पूजा की। राजा जब दर्शनार्थ आया तब उसके साथ इतनी भीड थी कि माधव उससे मिलकर कुछ कह ही न सका। अत में निराश होकर उसने एक पत्र लिख कर मदिर के किवाडो में लटका दिया। दूसरे दिन प्रात जब विक्रमादित्य शिवमदिर में आये तब उन्हें वह पत्र प्राप्त हुआ। पूजा के पश्चात् पत्र पढते ही वे उद्विग्न हो उठे। नगर में शोर हो गया कि राजा पर किसी ने जादू कर दिया है। उपचार के लिये वैद्य और तान्त्रिक बुलाये गये किन्तु उनका श्रम व्यर्थ गया। थोडी देर बाद राजा ने स्वय आखे खोली और मत्रियो से कहा कि उज्जैन में कोई महाविरही आ गया है उसी की विरह-ज्वाला मुझे भस्म कर रही है। मेरी व्याधि का एकमात्र उपचार उसका पुण्य-दर्शन है। मत्रियो ने उसी समय उस विरही को खोजने के लिए दूती और दूत दौडाये। अत में शिवमदिर के पास एक योगी मिला जो कामकदला की रट लगा रहा था। उसकी दशा देखकर सहज ही अनुमान लग गया कि यही वह योगी है जिसकी विरह ज्वाला से राजा व्यथित हो गया है। मत्रियो द्वारा भेजी गई स्त्रिया उसका हाथ पकडकर विक्रम के पास ले गई। राजा ने जब माधव को देखा तो उसे योगी भेष मे राजकुमार होने भ्रम हुआ। शास्त्र चर्चा में माधव की निपुणता से राजा बहुत प्रभावित हुआ और उससे उसका अभीष्ट बताने को कहा। तब माधव ने कामकदला को शीघ्र प्राप्त कराने को कहा। विक्रम ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए कहा 'हमारे रनिवास में में बहुत सी सुन्दरियाँ है, उनमे से जिसे चाहो चुन लो कामकदला की प्राप्ति के लिये कामसेन से युद्ध करना पडेगा जिसमे हजारो सैनिक मरेगे।' राजा की आज्ञा पर महल की सुन्दरियो ने माधव को विविध हावभाव दिखाकर आकृष्ट रचना चाहा पर माधव उनकी ओर रचमात्र भी भी आकृष्ट नही हुआ। इससे वे सभी रुष्ट होकर चली गई।

इधर कामकदला माधव से वियुक्त होते ही भीषण विरह-ज्वर से पीडित हो मृत्यु शैया पर पड गई। उसने उस समय अपने प्राण केवल माधव के पुनर्दर्शन की आशा मे नही त्यागे। इधर माधव के हृदय मे कामकदला के प्रति अगाध प्रेम देखकर विक्रमादित्य ने उससे पूछा 'यदि तुम कहो तो मैं जाकर यह पता लगाऊँ कि क्या कामकदला भी तुम्हें उतना ही

प्रेम करती है जितना तुम उसे चाहते हो ? यह जान लेने के पश्चात् उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करूँगा।

विक्रम ने वैद्य का वेष धारण कर कामकदला की परीक्षा के लिये प्रस्थान किया। घूमते घूमते वह काममेन की नगरी मे जा पहुँचा। कामकदला ने वैद्य जानकर पुत्री की प्राण रक्षा के लिये विक्रम से प्रार्थना की। उसके घर आने पर कामकदला के व्याधिग्रस्त होने के कारण को जान कर राजा ने कहा कि जिसके प्रेम मे तुम्हारी पुत्री-प्राण दे रही है, वह तो कब का मर गया। यह सुनते ही कामकदला के प्राण पखेरू उड गये। उसके माता-पिता विक्षिप्त होकर आर्तनाद करने लगे। यह सुनकर विक्रम ने उनसे कहा, 'तीन दिन तक अपनी पुत्री के शव की रक्षा करो। मेरे घर पर सजीवनी बूटी है। उसे मैं भूल आया हू। चौथे दिन लाकर कामकदला को जीवित कर दूँगा।' नारी-वध के पाप मे व्यथित राजा विक्रम उज्जैन लौट आये। इधर माधवानल बडी ही उत्सुकता से राजा की प्रतीक्षा कर रहा था। जब उसे कामकदला की मृत्यु का समाचार मिला तो तत्क्षण ही उसने भी प्राण त्याग दिये। नारी और ब्राह्मण की हत्या से दुखी राजा विक्रम चिता बनाकर प्राण त्याग करने को उद्यत हुए। सारे देश मे यह समाचार बिजली की भाँति फैल गया। ऐसा धर्मात्मा राजा का इस प्रकार दुखद अत होते देख स्वर्ग मे खलबली मच गयी। देवताओ ने राजा का प्राण बचाने को बेताल को भेजा। बेताल ने उज्जैन आकर राजा को यह आश्वासन दिया कि मैं अमृत लाकर माधव और कामकन्दला को जीवित कर दूँगा। पाताल जाकर वह गेडुला भर अमृत ले आया। राजा ने उसे माधवानल के मुँह पर छिडका। वह तत्काल सचेत हो गया और कामकदला का नाम रटने लगा। राजा ने उसे यह कहकर धीरज बधाया कि वह इसी अमृत से कामकदला को जीवित कर देगा। वह जीवित होते ही 'माधव' 'माधव' की रट लगाने लगी। राजा ने उसे यह कहकर ढाढस बँधाया कि यदि कामसेन सीधे नही मानेगा तो युद्ध करके तुम्हे अपने साथ माधव के पास ले चलूँगा। उज्जैन आकर राजा ने सेना सगठित की और कामसेन पर चढाई की। उसने कामसेन की राजधानी से चार कोस की दूरी पर डेरा डाल कर उनके पास बिना युद्ध किये कामकदला को दे देने का प्रस्ताव भेजा किन्तु कामसेन के मत्रियो ने अपनी मर्यादा रक्षा के लिए किसी भी शर्त पर बिना युद्ध किए कामकदला को देने का प्रस्ताव स्वीकार नही किया। इस पर युद्ध का डका बज गया। कामसेन और विक्रमादित्य अपनी सेनाये लेकर भिड गये। घमसान युद्ध हुआ जिसमें कामसेन पराजित हुआ। विक्रम ने माधव एव कदला को मिलाकर उनकी विरह व्यथा दूर की। फिर उनके लिए एक भव्य रग महल का निर्माण कराया। माधव राजा को वेद-पुराण की कथा सुनाते और योग-शिक्षा देते हुए दिन व्यतीत करने लगा।

अन्तकथाएँ

'ज्ञानरतन' मे मूलकथा माधवानल कामकदला की ही है किन्तु प्रमुख अन्तर्कथाएं तीन हैं जो दो वर्गों मे बांटी जा सकती हैं—प्रथम प्रकार की अन्तर्कथाये कथानक विकास मे तीव्रता लाने के लिए हैं, जैसे काठ के घोड़े और योगी के मन मे बदरी रूप में परिवर्तित नाग-कुमारी की अन्तर्कथा। दूसरे प्रकार की अन्तर्कथाये उपदेशात्मक हैं। माधव और कामकदला

के मिलन के साथ-साथ अधिकारिक कथा समाप्त हो जाती है किन्तु विक्रम के अनुरोध पर माधव विभिन्न कथाएँ सुनाता है, जिनमें प्रमुख हैं —१ राजकुमार कमलनयन की कथा, २. जडभरत चरित और ३ प्रीतम कुँवर की कथा। इन कथाओ के माध्यम से नवलदास ने सतनामी सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के निरूपण का सफल प्रयास किया है। इन अतर्कथाओ से 'ज्ञानरतन' का कलेवर ड्योढा हो गया है। एक स्थान पर नवल दास ने 'वेतालपचीसी' का उल्लेख किया है और प्रीतम कुँअर की कथा को वैतालपचीसी का दूसरा चरित कहा है। इस प्रकार अपने वर्तमान रूप में ज्ञानरतन पूर्ण है किन्तु लगता है कि अपने समय में उपलब्ध 'वेतालपचीसी' की विभिन्न कथाओ में से कुछ प्रमुख को साप्रदायिक उपदेश का आधार बनाने का उद्देश्य नवलदास का अवश्य रहा होगा। ज्ञानरतन में दी गयी उक्त तीनो अन्तर्कथाये इस प्रकार है —

(१) कुमुदावती और कमल नयन की कथा :—

काशी मे वानराय नाम के एक राजा थे। उनकी रानी का नाम कुसुमावती था। उनके सुरथ नाम का एक पुत्र और कुमुदावती नाम की एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी। जब वह व्याहने योग्य हुई तो पिता, माता, भाई और मंत्री उसके लिए वर ढूँढने लिये प्रयत्नशील हुये। चारो ने एक दूसरे से विना परामर्श किये, अपनी अपनी रुचि के अनुसार चार पृथक् स्थानो पर उसका विवाह ठीक करके तिलक चढा दिया और विवाह की तिथि निश्चित कर दी। सयोगवश चारो द्वारा निश्चित तिथि एक ही निकली। फलत एक ही दिन काशिराज की पुत्री को व्याहने के लिये चार पृथक्-पृथक् स्थानो से चार वारातें आ गयी। जनवास में पहुचने पर जब उन चारो को पता चला कि कन्या एक ही है तब उन लोगों ने निर्णय किया कि हम लोग परस्पर युद्ध करेगे जो सर्वविजयी होगा वही कुमुदावती से व्याह कर सकेगा। इस भयंकर परिस्थिति को टालने के लिये कुमुदावती ने अपनी ओर से एक ब्राह्मण को भेजकर उन चारो वरोको आपस में लडनेसे यह कहकर रोक दिया कि मैं स्वयम् इसका कल प्रात निर्णय करूँगी। प्रात काल उसने एक चिता वनवाई। चारो वर वहाँ वुलवाये गये। उनमें से एक राजकुमार जिसका नाम कमलनयन था, आगे आया और उसने कुमुदावती के साथ गाँठ जोड-कर चिता मे भस्म हो जाने की इच्छा व्यक्त की। पिता ने चिता मे अग्नि प्रज्वलित की और वे दोनो सवके देखते-देखते भस्मसात् हो गये। शेष तीनो में से एक वियोगी हो गया। दूसरा उसी स्थान पर भस्म एकत्र करके योग साधना करने लगा। तीसरा वाजा वजाते हुए वारात लेकर घर लौट गया। जो वर वियोगी हो गया वह वैरागी वेश धारण कर कुमुदावती को ढूढते-ढूढते झारखण्ड गया किंतु वहाँ उसके प्राप्त न होने पर कामरूप जा पहुँचा। उसकी भेंट लोनाचमारिन से हुई जो तन्त्र-मन्त्र, टोना, पुरश्चरण आदि विविध विद्याओ मे अत्यन्त दक्ष थी। सारा कामाख्या-प्रदेश उससे आतकित रहता था। उसने अष्टाग-योग साधना से शिव को भी अपने वश में कर रखा था। चार मुद्राये, १८ विद्या, भैरव तन्त्र, उडीस तन्त्र, कौतुक चिन्तामणि, वीसा मन्त्र, रसायनादि उसे सिद्ध थे। राजकुमार को लोनाचमारिन ने अपने घर पर रख सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलंकृत कर अपना चेला वना लिया। वह अपने हाथ से भोजन वनाकर उसे खिलाती थी। एक दिन वहुत जाडा पडा। घर मे लकडी न थी, लोना अँगेठी में एक जिन्दा वालक को डालकर तापने लगी। राजकुमार इस भीषण दृश्य को देखकर भयभीत

हो गया। उसने लोना से कहा 'तुमने बालक को जिन्दा जलाकर बडा पाप किया है। अब मुझसे प्रीति न करो। लोना बोली 'मैं उसे मन्त्र के बल से भस्म से पुन जिन्दा निकाल कर तुम्हें दिखा दूँगी।' यह कहते हुए उसने सचमुच ही बालक को राख से जीवित निकालकर सामने खडा कर दिया। राजकुमार ने यह विद्या जानने के उद्देश्य से लोना की बडी सेवा की। लोना ने प्रसन्न होकर एक दिन मन्त्र बता दिया। इसके कुछ दिन बाद राजकुमार उसके यहाँ से भाग खडा हुआ। कामरूप से वह सीधे काशी आया और कुमुदावती के चितास्थल पर गया। उसने वहा पहुँच कर देखा कि उसका प्रतिद्वन्द्वी वर उसी स्थान पर भस्म लगाये हुए पूर्ववत् तपश्चर्यारत है। इसने उसे अलग बैठाकर चिता मे से एक मुट्ठी राख उठाकर मन्त्र पढा। मन्त्र पढते ही उससे राजकुमारी कुमुदावती और कमल नयन निकल आये। इस आश्चर्य जनक घटना का समाचार पाकर नगर के लोगो की वहाँ भीड लग गयी। कुमुदावती के माता-पिता को जब यह सवाद मिला तो वे भी चिता भूमि पर आये। उनके साथ कुमुदावती घर पर आ गई। तीनो वरो में उसको व्याहने के लिए फिर झगडा होने लगा। समाचार पाकर चौथा वर भी बारात लेकर आ धमका। न्याय के लिए आसपास के लोगो की पचायत बुलाई गई। पचो ने निर्णय किया कि घर लौटने वाले वर के साथ कुमुदावती व्याह दी जाय। इसे शेष तीनो वरो ने अस्वीकार कर दिया। तब कुमुदावती ने स्वयं निर्णय किया। वह बोली 'जब हम दोनो चिता मे भस्म होने के बाद सत्यलोक मे पहुँचे तो वहाँ साहेब ने हम दोनो को प्रणय-सूत्र मे बाँध दिया था। अत अब कमलनयन ही मेरा पति होगा। माधवानल ने यह प्रेम कथा महाराज विक्रमादित्य को सुनाई।

(२) जड़भरत चरित्र :—

माधवानल ने जडभरत का चरित सुनाते सुए महाराज विक्रमादित्य से कहा, 'मैं जिन भरत की कथा सुना रहा हूँ, वे अयोध्या नरेश दशरथ के पुत्र भरत और जिनके नाम पर इस देश का भारतवर्ष पडा, उन भरत से भिन्न एक तीसरे भरत है। ये भी बडे धर्मात्मा और शास्त्रो में आस्था रखनेवाले महापुरुष थे। राज्य करते हुए भी उनकी वृत्ति उपराम रहती थी। एक दिन तीव्र विराग जागृत होने पर इन्होने राजपाट त्याग कर तपोव्रत धारण कर लिया। वनमें जाकर सतनाम का जप करते हुए कालयापन करने लगे। एक दिन इनके आश्रम के पास ही सिंह ने एक हिरन युग्म पर आक्रमण कर दिया, हिरन तो छलाग मारकर भाग गया किन्तु गर्भिणी होने के कारण हिरनी भाग न सकी वह भयातुर हो भागने का प्रयत्न ही कर रही थी कि उसके उदर से दो बच्चे पृथ्वी पर गिर पडे। भरत ने उनमें से एक मृग शिशु उठा लिया और बडे प्रेम से उसका पालन-पोषण करने लगे। उसके स्नेह में वे इतने तन्मय हो गये कि भजन का स्मरण जाता रहा। दिन भर उसे चराते-खिलाते और रात मे उसे अपने पास रख-कर दुलार करते। जब वह मृगशावक हृष्ट पुष्ट हो गया तो वन में अपने सजातियो के साथ जाकर चरने लगा। वह फिर लौटा ही नही। भरत उसके वियोग में व्याकुल हो गये—'मृग-मृग' पुकारते वे पागल जैसे जगल मे घूमने लगे। अन्न-पानी छोड दिया। आसपास के लोगो ने उनकी यह स्थिति देखकर बहुत समझाया बुझाया किन्तु उनका विभ्रम दूर न हुआ ही गया। इसी दुख में उनका शरीर छूट गया। उनकी आत्मा जमलोक को गई। वहाँ मुनियो ने उनसे

प्रश्न किया 'तुमने राजकाज ईश्वर के भजन के लिए छोटा था किन्तु वन में जाकर उसे भूलकर मृग का भजन करने लगे। तुम्हें धिक्कार है। 'इतना कहकर उन लोगो ने निश्चय किया कि इनको मृग का ही शरीर दिया जाय। इनके फलस्वरूप भरत का दूसरा जन्म मृग रूप में कलिंजर देश मे हुआ। उसने अपनी जीवन की अवधि पूरी होने पर नर्मदा नदी मे प्रवेश करके प्राण त्याग किया। इसके बाद उनका जन्म अयोध्या के निकटवर्ती प्रदेश मे एक ब्राह्मण के घर में हुआ। अबकी बार उन्हें अपने पूर्व जन्म की स्मृति आ गई। अत बाल्यवस्था मे ही भजन में लीन रहने लगे। पाँच वर्ष की आयु तक बोले ही नही इसलिए कुटुम्बियो ने उन्हें गूगा मान लिया। उनकी अतर्दशा का किसी को पता ही न चला। बारह वर्ष तक वे भीतर ही भीतर सतनाम रटते रहे। जहाँ बैठते थे सिर झुकाये दिन भर बैठे रह जाते। उठाने से भी नही उठते थे। सध्या समय घर के लोग हाथ पकड़कर घर लाते और अपने हाथ मे भोजन खिलाते थे। फिर जहाँ बैठा देते वही रात बैठे बैठे बिता देते। इस प्रकार बीस वर्ष बीत गये। भरत को यह पता न लगा कि कब दिन हुआ और कब रात बीत गयी। घर के लोग किसान थे। वे प्रात खेत पर जाते समय उन्हे साथ ले जाकर मेड पर बैठा देते थे और सध्या होने पर खेती बारी समाप्त करके उन्हे साथ घर ले आते थे। एक दिन सयोगवश वे लोग गूँगे को खेत मे घर लाना भूल गये। वह बेचारा सिर झुकाये खेत में बैठा रह गया। आधीरात में उधर से आठ चोर निकले। उन्होंने कभी देवी को मेंढे की बलि देने की मनौती की थी। पगले को खेत मे बैठे देखकर बोले 'इसके देखते-देखते खेत को सूअर चरे जा रहे हैं। यह गूँगे की तरह बैठा है उन्हे भगाता नही। अत पशुवत् ही है। इसी की बलि क्यो न दे दी जाय। सुनते हैं मनुष्य बलि से देवी बहुत प्रसन्न होती है।' इतना कहकर वे उस ब्राह्मण को लेकर देवी मण्टप पर गये। बलि के निमित्त उसको मण्डप मे ले जाते ही शब्द हुआ 'तुम लोग कहाँ से विष्णु भक्त उस को पकड लाये। इसके बलि देने मे हमारा धर्म नष्ट हो जायगा। यह सर्वथा अवध्य हैं।' इतने मे ही सतुष्ट न रह कर देवी ने बलि के लिए उद्यत चोर के हाथ से तलवार छीन लिया और उसी से उन आठो के सिर काट डाले। फिर आकाशवाणी हुई 'हे ब्राह्मण! तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। अपने घर जाओ। यदा कदा दर्शन करते रहना।' किन्तु वह ब्राह्मण वहाँ से हटा नही। उसी मण्डप में बैठकर सत्पुरुष का ध्यान करने लगा।

इधर प्रात होने पर ब्राह्मण के घर बालक की खोज होने लगी। चारो ओर शोर हो गया कि पगला बालक रात भर खेत में ही पडा रह गया। उसकी माता रोती हुई दौडी, पिता भी ढूँढने निकले। सब खेत के पास आये किन्तु वहाँ उसका पता न था। सारे गाँव में कुहराम मच गया—माता और पिता घने वन में उसे ढूँढने निकले—माता छाती पीट पीट कर कहने लगी। 'मेरे बच्चे को सिह खा गया। सब लोग निराश हो कर पछताते हुए घर लौट आये। फिर गांव वाले ढूँढने निकले। उनमे से एक व्यक्ति देवी के मडप पर पहुँचा वहाँ उसने गूँगे को आसन लगा कर बैठे देखा। वह उसका हाथ पकड कर कर ले आया। माता उसे पा कर गदगद् हो गयी। उसने अपने हाथो से उसे भोजन कराया। घर वाले प्रात फिर उसका हाथ पकड़ कर, खेत पर ले गये। वह वहाँ बैठा हुआ त्रिकुटी ज्योति दर्शन करता हुआ मग्न हो गया।

उसी समय उधर से राजा रहूगण इन्द्रलोक को जाते हुए आ निकले। वे सुखपाल पर

बैठे थे, जिसे कहार कंधे पर रखे चल रहे थे। राजा भगवत्-स्मरण में मग्न थे। पालकी ढोने वाले कहारो में एक अत्यन्त निर्बल था—जिससे उसके अन्य साथियो पर अधिक बोझ पड जाता था। उसी समय उन्हे यह गूँगा ब्राह्मण सामने बैठा दिखायी दिया। उन कहारो ने उसे खीच कर पालकी ढोने में लगा लिया। निर्बल कहार के स्थान पर इस अदला बदली में पालकी का बाँस हिलने लगा। राजा रहूगण का ध्यान टूट गया। उन्होने दुर्बल कहार से पूछा 'तुम्हारा शरीर इतना क्षीण क्यो है ?' कहार बोलने को ही था कि नवागत ब्राह्मण बोल उठा, 'जिनके वश मे हो कर मन अहर्निश दौडता फिरता है वे पाँच, पचीस तीन और दस—तो कभी दुर्बल नही होते—शरीर के क्षीण होने से क्या हुआ ?' यह गूढ़ वाणी सुन कर राजा ने पालकी रोक दी और उस ब्राह्मण निकट जा कर हाथ जोड कर चरण वंदन करते हुए बोला 'महर्षि आप कौन हैं ? आपके दर्शन से मेरा जीवन कृतार्थ हो गया।' ब्राह्मण ने अपना नाम जड भरत बताया। राजा ने कहा 'भगवन् ! मैं अध्यात्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन्द्र के पास जा रहा था। 'जडभरत ने उत्तर दिया' निर्गुण, सगुण तथा सत्य पुरुष ज्ञान के गूढ तत्त्व, सतमत, वेदमत, योगमत, आदि जिस विषय में चाहो पूछ सकते हो।' राजा ने चरण स्पर्श करते हुए जडभरत से भक्तितत्व की व्याख्या करने की प्रार्थना की। जडभरत बोले 'मनुष्य का परम पुरुषार्थ आत्मज्ञान प्राप्त करने मे है, इसकी अभिव्यक्ति सत्संगति और अन्तर्मुखी साधना से होती है। त्रिकुटी तीर्थ मे स्नान किये बिना सारी साधना व्यर्थ है।' इस प्रकार जडभरत ने ज्ञानतत्व की सम्यक् व्याख्या कर रहूगण को सतनाम का उपदेश दिया और ग्यान-घ्यान की सभी विधियो में उन्हे निष्णात कर दिया। राजा ने उसी समय से जडभरत को गुरु मान लिया। इस घटना के पश्चात् तत्ववेत्ता गुरु के रूप में जडभरत लोकविश्रुत हो गये।

(३) प्रीतम कुँवर की कथा—

पश्चिम दिशा मे सेहुडा नाम का एक नगर था। वहाँ क्षत्रियो का राज्य था। राजा का नाम साधु कुँवर था। वह बडा ही धर्मात्मा था। मधु मालती उसकी रानी थी। समय पा कर उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जन्म लग्न विचारने के लिये पंडित बुलाये गये। उन सब ने कहा 'और सब तो ठीक है किन्तु बारह वर्ष तक ही यह ससार में रहेगा।' इस समाचार से राजभवन मे मगल के अवसर पर चारो ओर शोक सा छा गया। पुरजनो और मन्त्रियो ने चिन्तामग्न राजा को समझाते हुए कहा 'ब्रह्मा की रेखा को कौन मेट सकता है। कुँवर चिर-जीवी होंगे।' धीरे-धीरे चिन्ता दूर हुई और नगर मे चारो ओर राजकुमार के जन्म के उप-लक्ष्य मे उत्सव होने लगे। इस प्रकार पाँच वर्ष बीत गये। नवजात शिशु का नाम प्रीतम कुँवर रखा गया। राजा ने गुरु को बुला कर कुमार का विद्यारंभ-संस्कार कराया। कुछ ही दिनो मे कुशाग्र बुद्धि कुमार सभी विद्याओं मे पारंगत हो गया। किशोरावस्था प्राप्त होने पर उसके विवाह की बातें चलने लगी। एक दिन देवकुमार आये। वे प्रीतम कुँवर को देख कर मुग्ध हो गये। उन लोगो ने राजा से उसकी चर्चा चलाई। राजा ने कहा 'जब तक बारह वर्ष पार करने के बाद दो-तीन साल और नहीं बीत जाते तब तक मैं इसका विवाह नहीं करूँगा। कारण कि इसकी जन्म पत्री मे बारह वर्ष का ही जीवन लिखा है।' कुमार को इसका पता लगा तो उसने छिप कर अपनी जन्मपत्री से आसन्न मृत्यु की तिथि तथा समय एक कागज पर उतार लिया। उसने सोचा सारा ससार नश्वर है, जीवन क्षणभंगुर है। मुझे शीघ्र ही शरीर के

सम्बन्धियों से नाता तोड लेना चाहिये, आखिर एक दिन तो ये छूटेंगे ही। यह विचार कर वह आधी रात को एक तीव्रगामी घोडे पर चढ कर विश्वस्त सेवको के साथ, सेहुँडा से निकल पडा। वीस कोस पार करने पर सवेरा हुआ। प्रात रानी ने कुँवर को जव घर में न देखा तो चारो ओर ढूँढने के लिये धावन दौडाए गये—किन्तु सभी ओर भेजे गये अन्वेषक खाली हाथ लौट आये। माता मधुमालती पुत्र वियोग में विलाप कर के आँसू वहाते-वहाते मूर्च्छित हो गई।

प्रीतम कुँवर ने काशी का रास्ता पकडा। रास्ते में जो उसे देखता मत्रमुग्ध हो जाता। चलते-चलते वह सेवको सहित काशी के पास पहुँच गया धूप अधिक होने के कारण वह एक वाटिका में विश्राम करने लगा। उसी समय वहाँ किसी राजा की एक वारात आई। वह चँदउर को जा रही थी। वे लोग भी घनी छाया देख कर उसी वाग में उतर पडे। उस वारात मे और साज सामान तो राजसी थे किन्तु वर कुरूप तथा कुवडा था। इससे वराती स्वय भयभीत थे कि लडकी वाले इसे देख कर न मालूम वारात वालो की क्या दशा करेंगे। उस वारात के पाँच सात सरदार प्रीतम कुँवर के पास आये और इनका परिचय प्राप्त किया। प्रीतम कुँवर ने और सभी वातो के साथ यह भी वता दिया कि मेरा अल्पायु योग है। मैं १२ वर्ष तक ही जीवित रहूँगा, इसलिये भक्ति प्राप्त करने की इच्छा से काशी जा रहा हूँ। इसके पश्चात् प्रीतम कुँवर ने सरदारो से उनका परिचय पूछा। सरदार वोले 'चँदउर के राजा चद्रसेन ने अपनी पुत्री का विवाह करने के लिये हमारे यहाँ लगन भेजा था, हम लोगो ने एक दूसरा सुन्दर वर दिखा कर उसे स्वीकार कर लिया। किन्तु अव इस कुवरे वर को ले कर व्याहने व्याहने जा रहे हैं। हमारी प्रतिष्ठा और जीवन तुम्हारे हाथ में है। हम जो दूल्हे का साज सामान लाये है, उसे तुम पहन लो। केवल एक रात हमारे लिये कष्ट सह लो। विवाह कर लेने के वाद प्रात काशी चले जाना।' प्रीतम कुँवर इस पर राजी न हुआ। तव उन लोगो ने वलपूर्वक उसे दूल्हा वना कर गाजे वाजे के साथ वरात ले कर कूच कर दिया। चदउर में वारात पहुँचते ही दूल्हे के सौन्दर्य का चारो ओर वखान होने लगा। द्वार चार वडे धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। फिर व्याह की वेला आई। कुमारी चित्ररेखा वेदी पर लायी गई। प्रीतम कुँवर का उसके साथ विधिवत् विवाह हुआ। फिर ज्योनार हुई। दूल्हा उसके वाद ज्योही जनवासे को चलने लगा—सखियो ने उसका हाथ पकड लिया —रानी भी आ गई और वोली 'हमारे कुल की यह रीति है कि विवाह के वाद वर को सोवनार दी जाती है' इसके पश्चात् युवतियाँ प्रीतम कुँवर को चित्ररेखा के पास पहुँचा कर लौट गई। चित्ररेखा प्रियतम का लोकोत्तर सौन्दर्य देख कर आसक्त हो गई, किन्तु जव वह सेज पर पहुँची तो वहाँ नगी तलवार रखी देख कर ठिठक गई। उसने पति से पूछा 'मैंने आपको अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया फिर वीच में यह तलवार क्यो रखी है। यह हमारे पूर्ण मिलन में वाधक हो रही है। प्रीतम कुँवर वोला मैं तुम्हारा वर नही हूँ। तुम्हारा वास्तविक वर एक कुवरा व्यक्ति है। मैं तो एक राही था यो ही पकड लिया गया। फिर यह नाटक करना पडा। 'चित्ररेखा ने उत्तर दिया—कुवरा भार मे पडे। हमारे लिये तो ब्रह्मा ने तुम्हें वनाया है। जिऊँ या मरूँ तुम्हें छोड कर दूसरे का मुँह न देखूँगी।" यह कह कर उसने रोते हुए पति का चरण-वदन किया और उसकी मृत्यु तिथि लिख कर विदा किया। प्रीतम कुँवर जनवासे में आया। अपने सेवको को लेकर वहाँ से उसने काशी को प्रस्थान किया।

इसके अनन्तर बारात में से सात सरदार राजा चन्द्र सेन के द्वार पर गये और बिदाई की प्रार्थना की। राजा ने महल मे आकर रानी से बिदाई की तैयारी करने को कहा। तब तक कुमारी चित्ररेखा ने सारा वृत्तान्त अपनी माता को बता दिया था। उसने वही बात राजा से कह दी। इस रहस्य को गुप्त रखकर ही सब लोगो ने विचार किया कि बरातियों से कहा जाय कि बिदाई के लिए दूल्हा महल में भेजे। वह दुलहिनि को डोली पर बैठाएगा तभी बिदाई होगी। हमारे यहाँ यही प्रथा है। सरदार बोले वर तो बारात के साथ ही चला गया। चन्द्रसेन इससे समझ गया कि उसके साथ अवश्य छल किया गया है। उसने बरातियो के साथ दूल्हे को पकडने के लिए सवार दौडाये। सवारो ने कुबरे के सहित बारातियो को कुछ ही दूर पर घेर लिया। महल मे जब यह समाचार पहूचा कि कुबरा वर पकड लिया गया तो स्त्रियो मे कोई कहने लगी कि अगुओं ने धोखा किया, कोई पण्डितो को गाली देने लगी। बराती तो किसी प्रकार भाग निकले किन्तु कुबरा भाग न सका। वह पकड लिया गया।

उधर प्रीतम कुँवर शकरपुरी काशी पहुँच गया। उसने विश्वेश्वर का दर्शन किया, भैरवजी की पूजा की और पार्वती मठ मे जाकर वदना की। पार्वती जी प्रसन्न हो गई। उनकी प्रेरणा से प्रीतम कुँवर ने व्यास जी का दर्शन करके अत्यन्त दीनतापूर्वक स्तुति की। व्यास जी ने 'चिरजीव' होने का आशीर्वाद दिया। यह सुनकर प्रीतम कुँवर ने अपने अल्पायु योग की बात बताई। व्यासजी बोले 'मुझे यह ज्ञान न था, अब ब्रह्मा तुम्हारी अभिलाषा पूरी करे।' इतना कहकर व्यासजी प्रीतम कुँवर को ब्रह्माजी के पास मानसरोवर ले गये। वहाँ उन्होने स्वय तथा बालक द्वारा ब्रह्माजी की चरण वदना के अनन्तर सारी व्यवस्था कह सुनाई ब्रह्मा उस समय सत्पुरुष का ध्यान कर रहे थे। वे बोले 'मैंने इस बालक को जीवन दान दिया—अब यह शीघ्र चदउर जाये अपनी पत्नी को आत्मदाह करने से बचाये। व्यासजी तत्काल उस बालक को लेकर काशी आ गये और उसे तेज घोडे पर चढा कर उसे उसी समय चदउर भेज दिया।

यहाँ चदउर मे पति की मृत्युतिथि को चित्ररेखा ने चिता बनाकर जल जाने का उपक्रम किया। माता-पिता ने उसे बहुत समझाया किन्तु प्रियतम से दिव्य लोक में मिलने की इच्छा एव असह्य विरह के कारण अपने शरीर को भस्म कर डालना ही उसने श्रेयस्कर समझा। दृढ निश्चय जान कर सखियो ने उसे पूर्ण रूप से अलकृत किया। उधर प्रीतम कुँवर जब चंदउर मे बीस कोस की दूरी पर अत्यन्त थक गया तब गरुड ने उसकी सहायता की। उन्होंने अपने ऊपर उसे बैठाया और एक ही दड में चदउर लाकर उतार दिया। जब चिता मे आग लगाने का समय हो गया तब वह सहसा चिता के पास गया। सारे नगर के लोग उसे आया देखकर आश्चय चकित हो गये। राजा और रानी ने उसे पहचाना—चित्ररेखा ने भी चीन्ह लिया। तब चिता पर चढती हुई पुत्री का हाथ पकड कर माता-पिता ने नीचे उतारा। इस अलौकिक घटना से सारे नगर में प्रसन्नता की लहर दौड गयी। राजा ने बहुत सा दानपुण्य करके अपना भाग्य सराहा। प्रीतम कुँवर और चित्ररेखा के दिन भोग विलास में आनन्द पूर्वक बीतने लगे।

इधर कुबरे को सवार रास्ते से ही पकड कर चदउर ले आये। नगर में आने पर लोगो ने उसे खूब पीटा। फिर भगा दिया। किन्तु वह नगर छोडकर कहीं गया नहीं। वही

छिपकर रहने लगा । नगर की निकटवर्ती गोमती नदी के एक घाट पर उसकी बैठक रहती थी । वहाँ स्त्रियाँ नहाने जाया करती थी । उसने सोचा कदाचित् इधर कभी चित्ररेखा आये तो उसका दर्शन कर लूँगा । एक दिन वह उसी घाट पर बैठा अपने दुर्भाग्य पर पश्चात्ताप कर रहा था कि लडकियो का एक झुण्ड स्नान के लिए आया । उनके साथ राजकुमारी चित्र रेखा भी थी । कुबरा उसी घाट पर बैठा था । चित्ररेखा के प्रकाशपूर्ण मुख मडल को देखते ही वह मूर्छित हो गया होश आने पर उसने मन ही मन सोचा । मुझे ही यह सुदरी प्राप्त होने वाली थी किन्तु वरातियो ने हमारे साथ धोखा किया । जव सव कुमारिया स्नान करके घर जाने लगी तव कुवरे ने दौड कर राजकुमारी का चरण वदन-किया । सखियो ने उससे पूछा 'तुम घाट पर क्यो रहते हो । तुम तो चोर मालूम पडते हो, अव इस घाट को छोड कर शीघ्र ही किसी अन्य स्थान में चले जाओ । स्त्रियो के नहाने के घाट पर पुरुपो की क्या आवश्यकता ?' किन्तु वह कुबरा टस से मस न हुआ—टकटकी लगाकर राजकुमारी के मुख को देखता ही रहा । युवतियो ने सोचा इसकी नीयत ठीक नही है । अत सभी ने जूतियो से उसे खूव पीटा । उसे इसमें आनन्द आने लगा । बार-बार जूतिया उठा कर उन्हें मारने को प्रोत्साहित करता रहा । युवतियो के राजकुमारी के साथ चली जाने पर वह सिर पीट कर घटो रोता रहा किन्तु कुछ देर के वाद मन को सात्वना देता हुआ वह वोला 'अव मैं पश्चिम दिशा में तुर्कों के पास जाऊगा और उन्हें चदउर पर चढा लाऊँगा । इस सारे प्रदेशवासियो को इस दुर्व्यवहार का मजा चखाऊँगा ।' यह निश्चय करके वह पश्चिम की ओर गया । तुर्कों के पास जाकर उसने सारा वृत्तात कहा । तुर्कों ने चदउर पर चढाई का डका वजा दिया । इसकी खवर चदउर के राजा चंद्रसेन को लगी । उसने वालवच्चो को प्रीतम कुँवर और चित्ररेखा महित उत्तर-दिशिवर्ती गह्वर पहाड में सुरक्षार्थ भेज दिया । इधर चदउर की रक्षा के लिए आस पास के हिन्दू राजा अपनी अपनी सेनाएँ लेकर एकत्र हो गये । हिन्दू तथा तुर्क सेना में वारह दिन तक घमासान युद्ध होता रहा । अन्त में तुर्कों की विजय हुई । हजारो हिन्दू खेत रहे । कुवरे ने अन्त में अपना वदला ले ही लिया ।

प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा और ज्ञानरतन

प्रेमाख्यानक काव्य परपरा में ज्ञानरतन बहुत वाद की रचना है । हिन्दी मे प्राप्त वहुत से भारतीय और सूफी शैली के प्रेमाख्यानक इसके पूर्व लिखे जा चुके थे । उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रेमाख्यानो का स्पष्ट प्रभाव भी ज्ञानरतन पर पडा है । प्रेमाख्यानो की यह सामान्य विशेपता है कि उनमें परवर्ती प्रेमकथाओ की चर्चा कथानक रूढि के रूप में प्राय हुई हैं, जिसमें नलदमयती, सुलोचना, रानी पिंगला, मधुमालती, कुमुदावती, रत्नसेन पद्मावती, सपनावती, हस जवाहिर, उषा अनिरुद्ध, मैनावती और जडभरत के आख्यान प्रमुख हैं । इनमें से कुछ प्रसिद्ध और कुछ अज्ञात हैं । कुमुदावती, जडभरत, और प्रीतम कुँवर की कथाओ का प्रयोग तो स्वय नवलदास ने किया है और जिस प्रकार वे सकेत देते हैं उससे प्रतीत होता है कि इनसे पूर्व भी इन कथाओ की परम्परा अवश्य रही है । प्रीतम कुँवर की कथा थोडे परिवर्तन के साथ जायसी की 'चित्ररेखा' में मिल जाती है । नवलदास ने कुछ ऐसे भी प्रेमाख्यानो की चर्चा की है जिनके विवरण पूर्णत प्राप्त नही ।

परपरागत प्रभाव की दृष्टि से नवलदास पर सर्वाधिक प्रभाव जायसी का है। कामकद । की कथा कहते हुए उन्होने यत्र तत्र ठीक वैसे ही वर्णन किये है जैसे जायसी ने। बीच-बीच मे वे पद्मावत की कथा के उद्धरण भी देते गये हैं। यह सभवत उन्हे साप्रदायिक साधना की परपरा में 'पद्मावत' की महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण करना पडा होगा। विचारणीय है कि सूफी शाखा में जिस प्रकार प्रेमाख्यानो की रचना-प्रक्रिया चल रही थी उसी प्रकार निर्गुण धारा में भी लोक-प्रसिद्ध आख्यानो के आधार पर निर्गुण साधना के प्रचार प्रसार का कार्य चल रहा था। नवलदास पर जायसी के प्रभाव को हम तत्कालीन स्थिति मे 'पद्मावत' की सम्पूर्णता ही मान सकते हैं क्योंकि नवलदास सम्भवत प्रथम कवि है जिन्होने 'ज्ञानरतन' में प्राचीन भारतीय पौराणिक आख्यानो की विस्तार से चर्चा की है। उनके सामने सेवरी, कूवरी, हरिश्चन्द्र, ध्रुव चरित्त, रामकथा, सतीमोह, गोपीप्रेम, सती सुलोचना, उषा अनिरुद्ध, भानु प्रताप, वलि, द्रौपदी, कीचक वध आदि कथायें उपलब्ध थी—

धन्य भक्ति सेवरी अस पावा। जेहि वल प्रभु कह जूठ पवावा।
धन्य कूवरी भगतिनि साँची। सुमिरन समत जाल तजि राँची।
ऊँचे पर हरिचद नरेसू। मगन भये तजि अवध सुदेसू।
ऊँचे पर ध्रुव ध्यान लगावा। ऊँच प्रताप अमै पद पावा।
साथ ही भरम नारि कर सगा। सीताराम जानु यक अगा।
जो सकर-त्रिय सगति कीन्हा। जरि वरि विछुरि सतिहुँ दुप दीन्हा।

तात्पर्य यह कि नवल दास भारतीय और सूफी दोनो ही परपराओ से परिचित थे और उन्होये दोनो का यथावसर ज्ञानरतन के स्वरूप-निर्माण में उपयोग किया है।

सत्यनाम साधना :

'ज्ञानरतन' निर्गुण प्रेमाख्यान है। माधवानल-कामकदला की लोकप्रसिद्ध कथा के माध्यम से नवलदास ने सतनामी पथ की साधना पद्धति का निरूपण किया है। प्रारभिक स्थिति में सत साहित्य अपनी पूर्ववर्ती साधना-पद्धतियो से बहुत प्रभावित था। कालान्तर में 'नाथ' और 'सिद्ध' साधनाओ की जटिलता इससे दूर होने लगी थी। यहाँ तक कि 'हरिदासी', 'सतनामी' 'चरणदासी' आदि सम्प्रदायो में बहुत अंशो तक निर्गुण-सगुण का समन्वय सा होने लगा था। सूर और तुलसी की लोकव्यापी समन्वय साधना का इसमे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यही कारण है कि नवलदास के समय तक आते आते निर्गुण साधना में हठयोग सम्बन्धी कुछ शब्द मात्र शेष बचे थे। 'ज्ञानरतन' में साधनामार्ग की कठिनाई और आराध्य को पाने की विकलता तो है किन्तु इडा, पिंगला, सुषुम्ना, ब्रह्मरध्र, सहस्रारचक्र, अनहदनाद आदि के वर्णन बहुत कम है। 'ज्ञानरतन, में गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। ग्रथ के प्रारम्भ में मे ही गणेश वदना के पश्चात् नवलदास ने गुरु-वदना की है। गुरु समस्त साधनाओ मे सफलता दिलाने वाला, मोहान्धकार को विच्छिन्न करने वाला और द्विधा चित्तवृत्ति को एकाग्र कराने वाला है। ससार मे 'अनहद नाद' सभी घटो मे निरतर होता रहता है किन्तु चित्त की चचलता के कारण सामान्य लोग उसे सुन नही पाते। इस साधना की कुजी गुरु के ही पास है। उनके बिना कोई परम ज्योति का दर्शन नही करा सकता—

अनहद सबद सुनत सब कोई। दुचित जक्त समुझत नहि सोई।
यह घरिआल सबद जग बाजा। प्रगट रहत नित नौ दरवाजा॥

दस्मम द्वारा गुप्त गति रहता। पहुँचत भक्त जगत नहिं चहता।
अटपट द्वार अगम सुठिर्बांका। वरनत सत श्रुति सॉकर नाका।
करि पट असित कपाट देपावा। दुचित जक्त केहु मरम न पावा।
वह कुजी सतगुरु मन पावे। गुरु विन कवन उघारि देपावै।
सतगुरु वल चलि भक्त उघारहिं। दरसन करि तन मन वन वारहिं।

इस सावनामार्ग मे मोहग्रस्त जीव को पहले यह दिव्य आवास अत्यत समीप प्रतीत होता है किन्तु चलने पर उसकी अगम्य कठिनाई सामने आती है। अत कोई विरला ही 'सतगुरु' तक पहुँच पाता है—

मूरिप जीवनिमेरु पर, निरपत नियर देपाइ।
चढत सो अटपट पथ अगम, विरले पहुँचहिं जाइ॥

—दो० १९, पत्र ९

नवल दास ने इस विकट सावनामार्ग का वर्णन करते हुए वताया है कि इसकी कठिनाइयों को जो सहन करते चलता है, उसे कुछ प्रकाश मिलता चलता है किन्तु वह मार्ग इतना अटपटा है कि विना पथप्रदर्शक गुरु के पग-पग पर भ्रात हो जाने का भय है। उनकी यह दृढ धारणा है कि निर्गुण के प्रकाश का आभास उसे ही हो सकता है जो प्राणो की चिंता किये विना साधना मार्ग में आगे वढे। अन्ततोगत्वा परम ज्योति के दर्शन मात्र से युगो का सचित पाप धुल जाता है ओर काम-क्रोव का अस्तित्व मिट जाता है—

अति उजियार जगामग होई। सिर दै चढै सो पहुचै कोई।
तव चढि देपै दरस गोसाई। निरगुन झलक कहाँ कहँ ताई।
रवि मनि उदै रहत असमाना। सिर सगम सत जलहि नहाना।

जन्म मरन तिन्हकर मिटै, वसि निरगुन के पास।
दास नेवल सो भक्त भा, करि मन वच क्रम आस॥

—दो० २३, पत्र १२

यह अगम्य सावना नई नही है। नवलदास कहते हैं कि शकर, व्रह्मा, नारद, गणपति गिरिजा, सनकसनदन आदि ने इसी पथ का अनुसरण करके परम सिद्धि प्राप्त की थी।

वहँ मदिल हर हठि मन लावा। वहँ मदिल नित विधि मन भावा।

× × ×

वह घर अगम अपार है, वहुरि वहुत औसान
दास नेवल सतगुरु कहैं, जेहि जस निश्चै ज्ञान

—दो० २०, पत्र— ॥

युगों से भक्तो ने इसी परम तत्त्व प्राप्ति के लिए सावना की है। इस निर्गुण तत्त्व की झलक कण-कण से मिल रही है किन्तु अज्ञान के कारण विरले लोगो को ही गुरु कृपा से उसका दर्शन होता है—

सुनि लोक है घट घट, वह धुनि घट घट बाजु ।
अति उजियार जगामग, निरगुन झलक विराजु ॥

—दो० २२, पत्र ११

परम तत्त्व ज्ञान का यह अमृत फल जिस वृक्ष पर लगा है, वह बड़े विकट रखवालों द्वारा रक्षित है। उनसे लड़कर पहुँचना बड़ा कठिन है। जो साधक गुरु का निर्देश प्राप्त करके जीवन की आशा त्याग कर इस दुरूह पथ पर अग्रसर होगा वही अमृत तत्त्व का आस्वादन कर सकेगा—

तेहिं महँ एक तरिवर अस राजे। जरपताल नभ डार विराजे॥
फूल जुगल निसि वासर फूले। येक चाँद यक रवि सम तूले॥
तेहि फल केरि होत रख वारी। पाँच सुभट निसुदिन बलभारी॥
और पचीस नारि वन्ह केरि। चौकी देत पेड वहि घेरि॥

× × ×

तरू पर चढै वेलार सो, बढै विरह की आगि।
मउत विना जो मरि जियै, तौ चापै फल जागि॥

—दो० २४, पत्र १२

ज्ञान और ध्यान के बिना यह शरीर अन्धकार मय है। यदि ध्यान किया जाय तो आत्मप्रकाश प्राप्त हो सकता है। जब निर्गुण को पाने की विकलता हृदय में उत्पन्न हो जाती है तब गुरु के शब्द सुनाई पडने लगते है। माधवानल भी जब काशी से ऊब गया तब सतगुरु की वाणी उसे सुनाई दी। साधना में लक्ष्य एक होना चाहिये चाहे उसकी प्राप्ति के लिए प्राण त्याग ही क्यो न करना पड़े—

रवि तनुजा अस नाभ डहर को। तेहि चढि पावै भरम सहर को।
वाम डहरि कर सुरसरि नामा। सो माधोनल याहिन तामा।
जब दिन वह पिंगला पथ पावा। पुहुपावती नगर नियरावा॥

× × ×

कुन्ड येक अमृत भरा, महा सुरग छवि रूप।
जो वहि नगर पहूँचै, देपै दरस अनूप॥

—दो० २९ पत्र १३

कहीं-कहीं नवलदास ने परम्परागत, साधनों में रूढ़ शब्दों का भी प्रयोग किया है यद्यपि ऐसे वर्णन सम्भवत साधना मार्ग की दुरूहता के बीच साधक की निष्ठा को अविचल रखने के लिये किये गये है—

नेल्ही सुरति नयन करि प्याला। पियत प्रेम रस मन मतवाला।
पिघर वदन जल भरि दोउ नैना। गावत शब्द प्रेम के बैना।
पिपिकार जन्त्र बजाय बिरागी। रमि तन मनहि अगम धुनि लागी।
पग पर तिन्ह करै जरि छार। तजउँ न जुग जुग अस यह टार॥

—पत्र—१६

नवलदास ने सिद्धिगोटिका आदि की साधना को हेय कहा है। उनके मत में वास्तविक सिद्धिगोटिका तो 'सत्यमति' है अन्य गोटिकाये कच्ची हैं—

सतमत सिद्ध गोटिका साँचा। गुटिका अवरि गनव सव काँचा।
पारा ते सिरजत वनै, तौ साल भरे महँ होई।
सिद्ध गोटिका वही है, जो पावै नर कोई॥ दो० ४३

एक स्थान पर उन्होने स्पष्ट रूप से कहा है कि सिद्धिगोटिका प्राप्त योगी निर्गुण ब्रह्म में प्रवेश ही नही पा सकते। वे निर्गुणाकाश के वाहर ही चक्कर लगाते रहते है—

सो मुख मेलि उडत वहुतेरे। नही पहुँचहि निर्गुन नभ नेरे।
उपर उडहिं जहँ लगु मन चाही। भीतर अगुन गगन महँ नाही।

विभिन्न तान्त्रिक साधनाये किस प्रकार प्रच्छन्न कायिक वृत्तियो की पोपक मात्र थी इसे नवलदास जानते थे। किन्तु ये सावनाये तो ऊपर उडने की थी। अन्तर्ज्ञान उनसे कोसो दूर है। उसे गुरू की कृपा प्राप्त करके मन, वचन और कर्म की एकाग्रता से प्राणो की चिंता किये विना अपने साध्य की साधना में लगे रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है। उस साधना की प्रक्रिया और कठिनाई पर ससारी लोगो का विश्वास ही नही हो सकता—

यह सत मत सतन्ह हित भापा। जग सव सुनत प्रतीति न राषा।

निर्गुण मन्दिर का भी वर्णन नवलदास ने किया है। वह सासारिक महलो जैसा नही है। वहाँ तो विना दीपक के ही उजाला रहता है। सूर्य-चन्द्र किरण तारो और नक्षत्रो के विना ही वह सतत ज्योतिर्मान रहता है—

विना दीपक उजियार अपारा। रहित नषत जगमग सव तारा।
विन ससि चन्द्र उदै असमानू। बिन रवि दरसन जन मत भानू।
विन मसिआल उजेर मसाला। निरखहु उघरत कुन्जी ताला।

× × ×

अगिनि पवन जल पपि भरि, उपर न पार्वाह पार।
अनहद वानी घट येक, सुनत जक्त झकार॥—दो० ७०

शरीर की चिंता त्याग कर जो सुरति साधना में समाधिस्थ हो प्रियतम के नाम की रट लगाने लगता है उसी का दसम द्वार खुलता है। यह स्थिति तव आती है जव निर्गुण की प्राप्ति की विकलता में रोम-रोम से खून पसीना बन कर प्रस्रवित होने लगता है—

तजितन सुधि वुधि सुरति समानी। मुष रट उचरत पिय पिय वानी।
दसम द्वार गुप्त जहँ नाकी। डहर अगम अति अट पट वाँकी।
सोत सोत ढरि रकत पसेऊ। तव समुझै यहि मत कर भेऊ।

उस अगम्य घर तक पहुँचने के लिये सत्सग ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। पच ज्ञानेन्द्रियो और पच तत्त्वो की पच्चीस प्रकृतियो को वश में कर सके, काम, क्रोध लोभ आदि का सयमन कर सके, दसो इन्द्रियो को जो निष्क्रिय कर सके, आत्मा को साधना मार्ग से विचलित करने वाले अज्ञान रूपी चोरो को ज्ञान के प्रकाश से दूर खदेड सके, जो प्राणो का मोह त्याग सके, इन गुणो से समन्वित अहर्निश साधना में लीन मूकवत् वाक्सयमी, गुरुप्रदत्त वीजमत्र की गोप-

नीयता का संरक्षक—धीर और स्थितप्रज्ञ साधक ही सतगुरु की कृपा प्राप्ति का अधिकारी हो सकता है—

निसुदिन छिन भरि निमिषि न छूटे। तव सब सिद्धि सम सरिगढ टूटे।
मूक सरिस मुप वचन न वोले। अगम अमर मत कवहुँ न वोले।
अव तन मन धुनि रटनि पिरीती। दिन निसि नहिं समुझत कित वीती।

ज्ञानरतन मे निर्गुणसाधना किसी क्रमिक रूप मे विकसित होती हुई स्थिति के अनुरूप चित्रित न होकर स्थानिक है। इसमें वर्णित घटनाओ के प्रसग भी इस प्रकार है कि उनके आधार पर किसी साधनात्मक रूपक की कल्पना स्वाभाविक न होगी। नवलदास ने आत्मत्याग, चिन्तन, सत्सग, सदाचार, गुरु उपदेश, सतनाम जप और प्राप्ति की विकलता को ही स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है। जहाँ कही, सुरति, सेल्ही, उन्मन और 'सुपमन' आदि की वाते उन्होने की है वे उस स्थान विशेष पर कथन की मार्मिकता, घटना की तीव्रता, और वेदना की गभीरता व्यक्त करने के लिये ही आयी हैं। सभव है, निर्गुण काव्यधारा मे प्रयुक्त इनका पर-परागत साम्प्रदायिक स्वरूप ही इसका कारण रहा हो।

पूर्ववर्ती प्रभाव :

'ज्ञानरतन' भारतीय जनजीवन में विकास पाते गये विभिन्न साधना मार्गो, धार्मिक आदोलनो एव साहित्यिक उपलब्धियो का आकर है। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से ज्ञानरतन का रचना काल रीतिकाल का उत्तरार्द्ध है। इस दृष्टि से नवलदास के समक्ष भक्तिकाल और रीतिकाल का सम्पूर्ण साहित्य रहा होगा किन्तु उनकी इस रचना में अनुभव और सत्सग का का प्रभाव सर्वाधिक है। 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत' को छोडकर किसी अन्य ग्रथ का प्रभाव ज्ञानरतन पर नही दिखाई देता। निर्गुण सत कवि होते हुए भी नवलदास पर 'मानस' की स्पष्ट छाप है। इन्होने वदना, ग्रन्थ-रचना-तिथि और यत्र यत्र घटनाओ में वर्णन में 'मानस' की छाया का निश्चय ही ग्रहण किया है। ज्ञानरतन और रामचरित मानस की रचना तिथियो के वर्णन में कितनी समता है—

सवत अठारह से अरतीसा। कहियत नाइ भगत पद सीसा॥
माघ मास सुभ पूरन मासी। कृपा समुझि हरि चरित प्रकासी॥
रतन ज्ञान तम कलुप नसावन। सुनत श्रवन मन रुचि उपजावन॥

मानस-रूपक-प्रसंग और ज्ञानरतन का साधनामार्ग प्रसग एक-दूसरे के अत्यत समीप है—

राम रूप सरि मति समुहानी। धारा विमल त्रिविध त्रिमुहानी॥

समस्याये शाश्वत है। समाधिस्थ चित्त में उनके प्रति युगो का अन्तर होने पर भी समान भावनाएँ प्रतिफलित हो ही जाती है—

अनहित सव जग हित कोउ नाही। करि विचार देख्यो मन माही॥
सुत पितु नारि सकल परिवारा। यह काहुहि कोई देइ न पारा॥ पत्र—१९

जन्म लेना और जीवित रहना स्वप्नवत् है यह कोई ज्ञानी अपने ज्ञान नेत्रो से ही जान सकता है—

जीवन जन्म सपन कर लेपा । ज्ञान नयन्ह करि ज्ञानिन्ह देपा ।।
आवत जात स्वास जग माही । नहिं आवै तो अचरज नाही ।। पत्र—३५

नवलदास मानते है कि शकर ने पार्वती से जिस गोपनीय नामभक्ति तत्त्व का उद्घाटन किया था, उसी सतनाम को जालधर, गोरख, भरथरी आदि ने भी जपा—

वहै नाम संकर मन रापा । पारवती सन गुरहिं भापा ।।
विधि सुत सहित वहै सतनामा । सुमिरन करत सरत सब कामा ।। पत्र—४

प्रीतम कुँवर को देखकर ग्राम्य महिलाये उससे छाया में बैठकर विश्राम करने को कहती है । नवलदास के इस प्रसग का 'वनपथ मे राम' प्रसंग से बहुत कुछ साम्य है—

सीतलि छाँव नेवारउ घामा । एक पहर अब करहु अरामा ।।
जनक जननि कह किन्ह सिप दीन्हा । नयन ओट ज्यन्ह तुम्ह अस कीन्हा ।।
कुलिस कठिन उर जननि तुम्हारी । तुम्ह कह तजि करि घर रखवारी ।।
जीवनि मनि तुम चलेउ बिहाई । वह घर बार भार परै जाई ।। पत्र–११३

प्रेमाख्यानक परपरा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ जायसी का पद्मावत भी नवलदास के सामने एक आदर्श रहा होगा । नवलदास ने ज्ञानरतन की कथा-योजना, निर्गुण-निरूपण, साधनामार्ग की कठिनाइयो का वर्णन, विरह की लोकव्यापी व्यजना और विरहातिशयोक्ति बहुत कुछ पद्मावत के आदर्श पर किया है । जैसा कहा जा चुका है जिस प्रकार जायसी आदि सूफी कवियो ने प्रसिद्ध आख्यानो का आश्रय लेकर प्रेममार्गी सूफी शाखा के काव्यो की रचना की उसी प्रकार निर्गुण संत कवियो ने भी निर्गुण साधना के प्रचार प्रसार के लिए लोकाख्यानो का उपयोग किया । ऐसा करते समय पद्मावत उनका मुख्य उपजीव्य ग्रन्थ रहा हो यह नितान्त स्वाभाविक है । ज्ञानरतन की घटनाये भी पद्मावत से मिलती-जुलती है । प्रिय की प्राप्ति के लिए प्राण त्याग की कामना जायसी की भाँति नवलदास ने भी आवश्यक मानी है—

अब तेहि पथ चढौ मैं, चढि वह दरसन लेऊँ ।
की नयना सीतल करौ, की वोहि पथ जिउ देउँ ।। दो० २८

नागमती और कामकंदला के विरह में कितना साम्य है—

केहि पावो मैं परम सदेशी । जेहि कर वचन सुनै परदेशी ।
कोई अस भँवर काक पिक होई । विरह विथा तहँ बरनत कोई ।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि जायसी का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी नवलदास सर्वत्र अपनी मौलिकता, सूझ बूझ, और वास्तविकता को बनाये रखते हैं । वियोग की तीव्रता दिखाने के लिये एकाध स्थलो पर नवलदास ने भी सेल्ही, सुरति आदि के वर्णन किये हैं किन्तु विरह की नाप जोख और अतिशयोक्ति से बचकर—

वह दुप देपत सघन वन, भीजे तरिवर पात ।
धरनि अकास पसीजेउ, कठिन विरह दुप बात ।। दो० ६३

आकाश को काला कर देने और पशु पक्षियो तक को दुखित कर देने वाले जायसी और नवलदास के विरह वर्णनो मे बहुत कुछ साम्य है—

विरह अगिनि तिय तन मन तापी । विरह वज्रागि अकाशहु व्यापी ॥
पञ्चि अकास भयो जरि कारे । तपत भानु नभ चलत न हारे ॥
कुल पसु पषि मृगन्ह दुष पावा । विरह लहरि अस केहि न सतावा ॥

सौन्दर्य वर्णन के परपरागत उपमानो के प्रयोग मे भी पद्मावत और ज्ञानरतन के वर्णन साम्य रखते हैं—

अस वह जुवति रूप जेहि पूरा । विहमत लाल होत जरि कूरा ॥
ससि मुख तनु जनु दामिनी जोती । बोलत बोल रतन मनि मोती ॥

ज्ञानरतन मे स्थान स्थान पर नवलदास ने 'पद्मावत' की ओर स्पष्ट सकेत भी किये हैं जिससे प्रतीत होता है कि पद्मावत की सपूर्ण कथा उनके सामने आदर्श रूप मे उपस्थित थी—

१ को सिव अस जिन्ह जरत बचावा । रतनि सेन पद्मावति पावा ।
२. गोरा बादिल जस जग जोधा । पद्मावति कर कीन्ह प्रबोधा ।
३ विरह लहरि तप काहि न जागी । रतन सेन चितउर गढ त्यागी ।

साधनात्मक प्रतीक के रूप मे 'पद्मावत' और 'ज्ञानरतन' के नगर वर्णन लगभग समान हैं—

सुरति न पहुँचत निरपत कोई । अगिनि सुवन थकि लौटा रोई ॥
सात पड धवरहर अपारा । शुभ सिवराजु बाजु घरियारा ॥
अनहद सब्द सुनत सब कोई । दुचित जक्त समुझत नहि कोई ॥
वह घरिआल मब्द जग बाजा । प्रगट रहत नित नौ दरवाजा ।
दस्सम द्वार गुप्त गति रहता । पहुँचत भक्त जगत नहि चहता ॥ पत्र—९

जो उस सत्य की प्राप्ति कर लेता है उसको यहाँ के सासारिक कष्टो को सहने की क्या आवश्यकता—

ज्येन्ह पावा तेहि बहुत अरामा । सो किमि आइ सहै यह धामा । पत्र—१२
जे वहि छांह पाइ फल खावा । ते यहि जग फिरि काहेक आवा । पत्र—२६

कामकदला का साथ चलने के लिये आग्रह नागमती के आग्रह मे साम्य रखता है—

जह काया तह छाया, जहाँ सुमन तह बास ।
जह जह प्रीतम पगु धरै, तह तह नारि नेवास ॥ पत्र—३५

परपरागत प्रेमाख्यानो का परिचय देते समय भी नवलदास जायसी का अनुकरण करते हैं—

माय कुँवर साधा तप जोगू । मधु मालति कर विरह वियोगू ।
मुगुदावति सर जरिवर माधा । राजकुँवर रोवत मन्हि हाथा ।

× × ×

रतनसेन चितउर गढ त्यागी । विरह लहरि तन काहि न जागी ।

× × ×

सपनावति वह गयउ पतारा । अनि अटपट द्विज गान नवारा ।

महात्मा नवलदास ने साधना के इस दुर्गम पथ का साधकों की सुविधा के लिए सत-नामी सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार विशद विवरण प्रस्तुत किया है—

वाम उहर अधियार वरावै। दहिने रवि नदिनि महँ धावै।
चलत कछुक तहँ मिलत उजेरा। कुंड सुरग सुदर मनि घेरा।
अमृत अरुन भरा तेहि माही। दरसन करत अगर चलि जाही।
धरम राज दरसन वहि वाटा। चढत मिलत सरि सुषमन घाटा।
उतर दछिन दिसि कनक सुमेरु। विन गुरु चढत परत तेहि फेरू।
कनक सु तरिवर कमल सुमन धन। कनक पत्र फलफूल कनक वन।
वह वन उतरि हेवचल पारा। दरसन कनक मदिल उजियारा।
वहँ मदिल हर हठि मन लावा। वहँ मदिल हठि विधि मन भावा।
सनक सनदन सनत कुमारा। कहे मदिल निसि देवस अधारा।
सुर मुनि वर नर असुर जो कोई। वहि पर वसत भगत सत होई।
वह घर अगम अपार है, वहुरि वहुत औसान।
दास नेवल सतगुर कहँ, जेहि जस निश्चै ग्यान। वही, पत्र १०-११

नवलदास ने मुख्य कथा के नायक माधवानल तथा अतर्कथाओ के नायक जडभरत, कमलनयन और प्रीतम कुँवर को इस साधनापथ का तत्त्वज्ञ पथिक माना है, और इसी रूप में उनका चित्रण किया है। उन्होंने इन सभी को अपनी साम्प्रदायिक मान्यतानुसार 'सतनाम' का अनन्य प्रेमी वताया है। 'निर्गुण प्रेमाख्यान होने के कारण इसके अन्तर्गत शून्य लोक, अनाहत नाद, कुंडलिनी जागरण आदि तत्वों की स्थान स्थान पर व्याख्या की गयी है। कवि ने इस 'संतमत' को ही जीव के उद्धार का सर्वोत्कृष्ट पथ वताया है।

यह निरगुन सतमत सुमत, अगम अथाह अनन्त।
महरम को भरि समुद रस, वन्ह कर कवहु न अत॥ वही, पत्र ८४

नवलदास वीतराग सत थे। फिर भी प्रेम अथवा शृंगार के सयोग तथा वियोग दोनो पक्षों के जैसे विम्व रतनज्ञान में चित्रित है वे कवि की अद्भुत काव्य प्रतिभा के परि-चायक हैं।

माधवानल-कामकदला के आख्यान को आधार वना कर लिखी गयी रचनाओ में गण-पति, कुशल लाभ, आनन्दघन, आलम, वोधा आदि कवियो ने सयोग शृंगार का वडा ही हृदयाकर्षक स्वरूप प्रस्तुत किया है। साहव नवलदास की सत प्रकृति को 'काम' और उसके उद्दीपक तत्त्वो का विवरण उतना रुचिकर नही प्रतीत हुआ। ऐसे प्रसगो में भी उनका साध-नात्मक दृष्टिकोण ही प्रधान दिखाई देता है—

माधौ कह तिन्ह कर गहि लीन्हा। अपने महल तुरित सुभ कीन्हा॥
सुन्दर महल कनक वहु भाँती। मानिक दीपक वरई दिन राती॥
देखि महल नैना ठगे, औ अछरी कर रूप।
जहँ निरखत तहँ जोति छवि, आवा दरस अनूप।
पलग रगति वहि महल सोहावा। तेहि पर सुमन सुगध विछावा।
तेहि पर अरुन विछावन सोहे। माधोनल निरखत मन मोहे।

माधौ कहँ विसराम करावा । तव अछरी सेवन मन लावा ।
कोक सार चरचा मन आना । सकल कला माधौ कर जाना ॥
असित पाख नीचे कहँ आवै । सेत पाख ऊँचे कहँ धावै ।
सब तिथि गति तिय अग मिलावा । मदनवास महि जुलि चिह्नावा ।

कहना न होगा ऐसे शृगार पूर्ण विषम स्थलों पर कवि का निर्लिप्त भाव मर्यादा रक्षा में सहायक हुआ है । लौकिक दृष्टि से इसे भले ही कवि की असफलता की सज्ञा दी जाय किन्तु कवि का, साधनात्मक दृष्टि से इससे आगे कुछ कहना सगत न होता । नवलदास के मत में सयोग अथवा मिलन का क्षण रात्रि की भाँति काला होता है, उस पर पर्दा पडा रहना ही अच्छा होता है ।

सयोग वर्णन के नखशिख सम्बन्धी प्रसगो में प्रयुक्त उपमान प्राय परम्पराभुक्त बहुश्रुत और बहुप्रयुक्त हैं फिर भी कथन को सहजता और अवसरोचित मार्मिकता के कारण उनमें अजब अनूठापन आ गया है । काव्य और साधनात्मक निर्गुणवाद का अपूर्व सामञ्जस्य रात्री के धुँधलके में माधवानल को दृश्यमान कामकदला के इस चित्र में देखा जा सकता है

मावोनल मन करत विचारा । किन्ह मानिक दीपक यह वारा ।
भा उजियार अगम अस देखा । जिमि जन अगुन ध्यान करि लेखा ।
अस विघटत मारुत पछियावा । सपूरन ससि निकसि देखावा ।

नवलदास की सबसे बडी विशेषता इस बात मे है कि उन्होने उत्तर मध्यकाल के उस सामतीय वातावरण में जबकि परकीया का महत्त्व सर्वोपरि था, स्वकीया-परक दापत्य भाव की व्यापक प्रतिष्ठा की, वह भी एक वेश्या के साथ । नवलदास सत होते हुए भी सामाजिक सम्बन्धो के प्रति बडे निष्ठावान् हैं । स्थान स्थान पर सती, सावित्री और सीता के आदर्श पातिव्रत की चर्चा उन्होने की है । माधव के साथ जाने का हठ कामकदला का ही नही सपूर्ण प्रेमिका-वर्ग का अपने प्रिय के सान्निध्य मे रहने का हठ है । नवलदास ने अपनी अनुभूति की व्यापकता से कामसेन के बन्धन में बँधी, प्रिय के मिलन के लिए आतुर कामकदला के भावमग्न अतस्तल मे बैठकर उसकी वेदना का चित्रण किया है

जीवन जन्म सपन करिलेषा । ज्ञान नयन्ह करि ज्ञानिन्ह देपा ॥
आवत जात स्वास जग माहि । नहिं आवै तो अचरज नाही ॥
को अस जगत जबर जेन्हजीते । तुम किन करत बिछोह पिरीते ॥
बिछुरत भपम चटाइ कै, तन मन तुम्ह कह देऊँ ।
जोगिनी ह्वै जग छाँडि कै, ढूँढि मित्र कहँ लेऊँ ॥

कन्दला के वियोग से दुखी नवलदास अपनी सामान्य मन स्थिति मे आते हैं तब वे उपदेश देते है —

परदेशी नृप नवल विहँगू । जोगी भँवर न रापहि सग ॥
जोगी भँवर करे जेहि भाना । तिन्ह को प्रीति सपन सुख पाना ॥

निष्ठुर प्रियतम जाने को प्रस्तुत है । न जाने कब लौटेगा । यदि योगी है तो उसे शिष्य की आवश्यकता पडेगी ही, फिर क्यो नही मुझे ही शिष्य बना लेना ? यदि कुछ भी करने को तैयार

'ज्ञान रतन' पर 'नाथपंथ' का भी पर्याप्त प्रभाव है यद्यपि नवलदास ने निर्गुण साधना की 'नाथपथी' रहस्यात्मकता को बहुत कुछ सहज एवं स्वभाविक बना दिया है फिर भी निर्गुण-पथ में प्रचलित नाथयोग की परंपरागत शब्दावली का परित्याग वे नही कर सके हैं। सिद्ध-गोटिका आदि के निर्माण तथा पारद के घोटने की प्रकिया का पता नवलदास को था, यह दूसरी बात है कि वे उसे महत्त्व नही देते थे—

पारा ते सिरजत बनै, तौ बर्ष भरे महँ होइ।
सिद्धिगोटिका वही है, जो पावै नर कोइ॥ — दो० ४३

संत साहित्य में गृहस्थ जीवन साधना मे बाधक नही माना गया है। कबीर, नानक आदि संतो के विवाहित होने और गृहस्थी जोड़ने से यह सिद्ध होता है कि संत कवि प्रकृत लोक जीवन के प्रति असहिष्णु नही थे। उनका मुख्य विरोध लोक में व्याप्त आडम्बर से था। नारी भी यदि साधना मार्ग में बाधक है, तभी माया है। किन्तु नाथ योग में स्त्री सर्वथा त्याज्य मानी गई है। माधवानल ने कामकंदला का त्याग इसी आदर्श के लिये किया था—

परदेसी नृप नवल विहगू। जोगी भँवर न रापहि संगू।

नाथ योगी की दूसरी विशेषता है उसका निरंतर विचरण। इसी से उसके आचरण की निर्मलता सुरक्षित रहती है—

जोगी भँवर जगत महँ जेते। जग रस पर थिर कबहुँ न ते ते॥
केहि के दरद केर वै चहतू। यहि जग महँ जल निरमल बहतू॥ — ६३

माधवानल को सतनाम की शिक्षा देने में भी नाथ पंथ का प्रभाव स्पष्ट है—

माधौनल सतगुरु सुधि आने। तंत्र अगम अनि कहत सोहाने।
अमर मंत्र यह सुख सतनामा। यह तुव करब सकल सिधि रामा।

× × ×

यह जपि सिधि विधि संभु हित, गोरस जुत नौ नाथ।
चौरासी सिद्धन जपा, बैठि सकल यक साथ॥ — पत्र।

नाथयोगी रहस्य-साधना-मार्ग का पथिक होता है इसलिये अपनी अनुभूतियो को गुप्त रखना उसका अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है—

मूक सरिस मुप वचन न बोलै। अगम अमर मत कबहुँ न खोलै॥

कामरूप की लोना चमारिन की विविध तंत्र मंत्र में अद्भुत गति के वर्णनो में नाथपंथ का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है—

सिव अष्टाग जोग पढि साधा। वह जहँ चहत रहत नहि बाधा॥
मुद्रा चारि सिद्ध वहि माही। सिध्य अवरि अष्टादस ताही।
भैरो तंत्र उडीस समेता। अवर तंत्र गुन जहँ लगु जेता॥
—दो० १८० के आगे।

तात्पर्य यह कि नवलदास ने तुलसी और जायसी, के आदर्श पर 'ज्ञानरतन' की रचना की है। नाथपंथी सिद्धो के चमत्कारो और उनकी साधना प्रणाली से भी वे परिचित थे। सबसे बडी बात यह है कि नवलदास ने हिन्दू जीवन-दर्शन और जीवन-पद्धति की भी मार्मिक

अभिव्यक्ति की है। देवी देवताओ की वदना, ऋपियो के माहात्म्य एव अवतारों की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि नवलदास पर हिन्दू धर्म का सर्वाधिक प्रभाव था। कथा के बीच-बीच में रामचरित की घटनाओ से वे अपनी कथा को पुष्ट करते हैं और माधव के अध्ययन के प्रसग में चारो वेदो की चर्चा करते हैं। इस प्रकार नवलदास ने अपने समय मे प्रचलित आचार विचारो, साहित्यिक उपलब्धियो, लोकाख्यानो परपराओ आदि को यथोचित महत्त्व देते हुए दृढ सास्कृतिक आधार भूमि पर ज्ञानरतन की रचना की है। इस ग्रथ मे कवि ने निर्गुण-सगुण, साकार-निराकार आदि तत्त्वो का विशद निरूपण करते हुए समकालीन लोक जीवन के साथ ही साप्रदायिक विश्वासो की भी यथार्थ अभिव्यक्ति बडे ही कौशल से की है। अन्य सूफी तथा निर्गुण मार्गी रचनाओ मे इस तत्त्व का प्राय अभाव है। इस दृष्टि मे भारतीय सस्कृति की समन्वयवादी परपरा मे यह ग्रन्थ विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।

प्रेमतत्त्व वर्णन

ज्ञानरतन प्रेमगाथा है। नवलदास के मत मे प्रेम साधना की सबसे बडी विशेपता है अनन्यता—

प्रीति असिल कर अचल प्रभाऊ। अवर जगत निरखत नहि काऊ।
तन मन रटन पिरीतम नामा। तेहि पर अवर मत्र केहि कामा।

—ज्ञानरतन, पत्र ६०

जिस साधक के हृदय में यह तत्त्व आ गया वह निर्भय हो जाता है, सशयहीनता प्रेमी का नित्य लक्षण है—

बीज प्रेम कर जेहि घट जामा। तेहिकस भरम सीत औ घामा॥
सीस दीन्ह प्रिय दरसन आसा। तेहि कस सिंह सेर कर त्रासा॥

—वही, पत्र ४२

जेहि के हृदै पिरीतम होई। तेहि जग मरम न पूछै कोई।

प्रेमाकाश के निर्गुण ज्ञानसूर्य का दर्शन साधक अनन्त बाधाओ को पार करके आत्म-बलि देकर ही प्राप्त कर सकता है। वहाँ पहुँच कर जीव अनन्त काल तक अखड अमृत का पान करता हुआ सभी बन्धनो से मुक्त हो जाता है—

प्रेम गगन जहँ निरगुन भानू। महि ते वह ऊँचा अरु भानू।
पहुँचै जो सिर दै चढै, पकरि सजीवनि सूरि।
जुग जुग सो अमृत पियै, जन्म जन्म दुख दूरि॥ वही, पत्र १०

यह गूढ प्रेम साधना साधक के अपने बस की बात नही। मार्गदर्शक सतगुरु के बिना इस बीहड पथ पर दो कदम भी आगे नहीं चला जा सकता। साधना के गुप्त द्वार की कुञ्जी उसी के हाथ में रहती है—

वह कुजी सतगुर सन पावे। वह बिन पवन उघारि देखावै॥
सतगुर बल चलि भाँति उघारहि। दरसन कीन्हन मन धन वारहि॥
सूरि सजीवनि मेरु पर, निरखत निभर देखाई।
चढने सो अटपट पथ अगम, बिरले पहुँचहि जाई॥ वही, पत्र १०

महात्मा नवलदास ने साधना के इस दुर्गम पथ का साधको की सुविधा के लिए सतनामी सप्रदाय के सिद्धान्तानुसार विशद विवरण प्रस्तुत किया है—

वाम उहर अधियार वरावै। दहिने रवि नदिनि महँ धावै।
चलत कछुक तहँ मिलत उजेरा। कु ड सुरग सुदर मनि घेरा।
अमृत अरुन भरा तेहि माही। दरसन करत अगर चलि जाही।
धरम राज दरसन वहि बाटा। चढत मिलत सरि सुषमन घाटा।
उतर दछिन दिसि कनक सुमेरु। बिन गुरु चढव परत तेहि फेरू।
कनक सु तरिवर कमल सुमन घन। कनक पत्र फलफूल कनक वन।
वह वन उतरि हेवचल पारा। दरसन कनक मदिल उजियारा।
वहँ मदिल हर हठि मन लावा। वहँ मदिल हठि विधि मन भावा।
सनक सनदन सनत कुमारा। कहे मदिल निसि देवस अधारा।
सुर मुनि वर नर असुर जो कोई। वहि पर वसत भगत सत होई।
वह घर अगम अपार है, वहुरि वहुत औसान।
दास नेवल सतगुर कहै, जेहि जस निश्चै ग्यान। वही, पत्र १०-११

नवलदास ने मुख्य कथा के नायक माधवानल तथा अतर्कथाओ के नायक जडभरत, कमलनयन और प्रीतम कुँवर को इस साधनापथ का तत्वज्ञ पथिक माना है, और इसी रूप में उनका चित्रण किया है। उन्होने इन सभी को अपनी साम्प्रदायिक मान्यतानुसार 'सतनाम' का अनन्य प्रेमी वताया है। 'निर्गुण प्रेमाख्यान होने के कारण इसके अन्तर्गत शून्य लोक, अनाहत नाद, कु डलिनी जागरण आदि तत्वो को स्थान स्थान पर व्याख्या की गयी है। कवि ने इस 'सतमत' को ही जीव के उद्धार का सर्वोत्कृष्ट पथ वताया है।

यह निरगुन सतमत सुमत, अगम अथाह अनन्त।
महरम कौ भरि समुद रस, वन्ह कर कबहु न अत ॥ वही, पत्र ८४

नवलदास वीतराग सत थे। फिर भी प्रेम अथवा शृ गार के सयोग तथा वियोग दोनो पक्षो के जैसे बिम्ब रतनज्ञान में चित्रित है वे कवि की अद्भुत काव्य प्रतिभा के परिचायक हैं।

माधवानल-कामकदला के आख्यान को आधार वना कर लिखी गयी रचनाओ में गणपति, कुशल लाभ, आनन्दघन, आलम, वोधा आदि कवियो ने सयोग शृ गार का वडा ही हृदयाकर्पक स्वरूप प्रस्तुत किया है। साहव नवलदास की सत प्रकृति को 'काम' और उसके उद्दीपक तत्वों का विवरण उतना रुचिकर नही प्रतीत हुआ। ऐसे प्रसगो में भी उनका साधनात्मक दृष्टिकोण ही प्रधान दिखाई देता है—

माधौ कह तिन्ह कर गहि लीन्हा। अपने महल तु रित सुभ कीन्हा ॥
सुन्दर महल कनक बहु भाँती। मानिक दीपक वरई दिन राती ॥
देखि महल नैना ठगे, औ अछरी कर रूप।
जहँ निरखत तहँ जोति छवि, आवा दरस अनूप।
पलग रगति वहि महल सोहावा। तेहि पर सुमन सुगध विछावा।
तेहि पर अरुन विछावन सोहे। मावोनल निरखत मन मोहे।

माधौ कहँ विसराम करावा। तब अछरी सेवन मन लावा।
कोक सार चरचा मन आना। सकल कला माधौ कर जाना॥
असित पाख नीचे कहँ आवै। सेत पाख ऊँचे कहँ धावै।
सब तिथि गति तिय अग मिलावा। मदनवास महि जुलि चिह्लावा।

कहना न होगा ऐसे शृगार पूर्ण विपम स्थलों पर कवि का निर्लिप्त भाव मर्यादा रक्षा में सहायक हुआ है। लौकिक दृष्टि से इसे भले ही कवि की असफलता की सज्ञा दी जाय किन्तु कवि का, साधनात्मक दृष्टि से इससे आगे कुछ कहना सगत न होता। नवलदास के मत में सयोग अथवा मिलन का क्षण रात्रि की भाँति काला होता है, उस पर पर्दा पडा रहना ही अच्छा होता है।

सयोग वर्णन के नखशिख सम्बन्धी प्रसगो में प्रयुक्त उपमान प्राय परम्पराभुक्त बहुश्रुत और बहुप्रयुक्त है फिर भी कथन की सहजता और अवसरोचित मार्मिकता के कारण उनमें अजब अनूठापन आ गया है। काव्य और साधनात्मक निर्गुणवाद का अपूर्व सामञ्जस्य रात्री के धुँधलके मे माधवानल को दृश्यमान कामकदला के इस चित्र में देखा जा सकता है

माधोनल मन करत विचारा। किन्ह मानिक दीपक यह बारा।
भा उजियार अगम अस देखा। जिमि जन अगुन ध्यान करि लेखा।
अस विघटत मारुत पछियावा। सपूरन ससि निकसि देखावा।

नवलदास की सबसे बडी विशेपता इस बात में है कि उन्होने उत्तर मध्यकाल के उस सामतीय वातावरण में जबकि परकीया का महत्त्व सर्वोपरि था, स्वकीया-परक दापत्य भाव की व्यापक प्रतिष्ठा की, वह भी एक वेश्या के साथ। नवलदास सत होते हुए भी सामाजिक सम्बन्धो के प्रति बडे निष्ठावान् है। स्थान स्थान पर सती, सावित्री और सीता के आदर्श पातिव्रत की चर्चा उन्होने की है। माधव के साथ जाने का हठ कामकदला का ही नही सपूर्ण प्रेमिका-वर्ग का अपने प्रिय के सान्निध्य में रहने का हठ है। नवलदास ने अपनी अनुभूति की व्यापकता से कामसेन के बन्धन में बँधी, प्रिय के मिलन के लिए आतुर कामकंदला के भाव-मग्न अतस्तल में बैठकर उसकी वेदना का चित्रण किया है

जीवन जन्म सपन करिलेपा। ज्ञान नयन्ह करि ज्ञानिन्ह देपा॥
आवत जात स्वास जग माँहि। नहिं आवै तौ अचरज नाही॥
को अस जगत जवर जेन्हजीते। तुम किन करत विछोह पिरीते॥
विछुरत भपम चढाइ कै, तन मन तुम्ह कह देऊँ।
जोगिनी ह्वै जग छांडि कै, ढूँढि मित्र कहँ लेऊँ॥

कन्दला के वियोग से दुखी नवलदास अपनी सामान्य मन स्थिति मे आते हैं तब वे उप-देश देते हैं —

परदेसी नृप नवल विहँगू। जोगी भँवर न राखहि सगू॥
जोगी भँवर करे जेहि भावा। तिन्ह की प्रीति पवन सुख पावा॥

निष्ठुर प्रियतम जाने को प्रस्तुत है। न जाने कब लौटेगा। यदि योगी है, तो उसे शिष्य की आवश्यकता पडेगी ही, फिर क्यो नहीं मुझे ही शिष्य बना लेता? यदि कुछ भी करने को तैयार

संतकवि देवीदास और उनके वाणीकार शिष्य

राधिका प्रसाद त्रिपाठी

सत देवीदास जगजीवन साहव के उन चार प्रमुख शिष्यो में से थे जिन्हें सत्तनामी सम्प्रदायान्तर्गत चार पावा या स्तम्भ के रूप मे जाना जाता है।[१] कदाचित् देवीदास जी जगजीवन साहव के शिष्यो में वरिष्ठता की दृष्टि से द्वितीय थे।[२] इनका जन्म भाद्रपद कृष्ण ८ मगलवार विक्रम सं० १७३५ को वारावकी जिलान्तर्गत लक्ष्मणगढ नामक ग्राम में हुआ था। कालान्तर मे यह लक्ष्मणगढ को छोड कर पुरवा नामक ग्राम में रहने लगे थे।[3] इनके पिता भवानी सिंह सावारण जमीदार थे। यह भारद्वाज गोत्रीय अमेठिया (गौड) वश के क्षत्रिय थे। साम्प्रदायिक साहित्य एक स्वर से इन्हे गौडवशीय या अमेठिया वश का वताता है।[४] देवीदास जी शरीर से वडे ही सुन्दर थे। वोधेदास ने 'नील स्वरूप वारि छवि कामा' कह कर इनकी सुन्दरता का वर्णन किया है।[५] ईश्वरदास कृत 'भक्तमाल' से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।[६]

---

१. (क) प्रभु जगजीवन वश जथा मति कहा सुहाई।
अव पावा कहि चारि नाम तिनके समुझाई॥
प्रभु दूलन प्रभु देवि सेव्य सेवक के साँचे।
वहुरि गोसाईदास श्याम प्रभु सुमिरण साँचे॥
ये चारो जन जक्त के खभ आपु सव सो भन्यो।
पइहैं मुक्ति विसेख ते जेहि सनेह इनते वन्यो॥ —भक्तमाल, पृ० १६

(ख) अन्त साक्ष्य से भी इनका जगजीवन साहव का शिष्य होना प्रमाणित होता है—
—देवीदास के प्रभु जगजीवन। —शब्द लीला, लीला १ छद

२ दूसर देविदास उजियारे जिन्ह वहुतन्ह कहँ पार उतारे।—रतन ज्ञान, प० स० ३

३ (क) लछिमनगढ ते कूच करि पुरवा में आसन ठयो। —भक्तमाल
(ख) देविदास प्रभु गौड कहाये।
तजि लछिमन गढ पुरवै आये॥ —कोटवा माहात्म्य, पृ० १३

४ (क) वहुरि अमेठिया वश में जन्म कर्म उत्तिमलयो। —भक्तमाल, पृ० २०
(ख) गौरवश छत्री पुनि । वही, पृ० २०
(ग) गौरवश छत्री केर जाना। —भक्ति विनोद, दशम अध्याय
(घ) देविदास प्रभु गौड कहाये। —कोटवा माहात्म्य, पृ० १३

५. भक्ति विनोद, दशम अध्याय

६ भक्तमाल, पृ० २०

कहा जाता है कि देवीदास जी वाल्यकाल में ही माता और पिता दोनों की स्नेह छाया के वचित हो गये थे तथा माता-पिता का देहान्त हो जाने के वाद इनकी वृत्ति परमपिता की ओर उन्मुख हो गयी थी। परिणाम स्वरूप मात्र १८ वर्ष की अवस्था मे इन्होंने जगजीवन साहव से दीक्षा ले ली थी।[१] यह वात पुष्ट प्रमाणो पर आधृत नही जान पड़ती। वोधेदास[२] और ईश्वरदास[३] के अनुसार जव देवीदासजी दीक्षा ले कर कठोर साधना में रत हुए थे तव इनके माता-पिता को वडी चिंता हुई थी। ऐसी स्थिति में वाल्यावस्था में ही इनके माता-पिता के निधन की वात असत्य सिद्ध हो जाती है। कहना न होगा इस सम्वन्ध में वोधेदास और ईश्वरदास के कथन को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक माना जायगा। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि देवीदास की चित्तवृत्ति वाल्यकाल मे ही ईश्वरोन्मुख हो गयी थी।

जव यह जगजीवन साहव की शरण में पहली वार सरदहा गये तव अत्यत भावाकुल हो कर उनके चरणो मे लोटने लगे थे। अन्त मे जगजीवन साहव ने प्रभावित हो कर इन्हे स्वय उठाया और नाम की दीक्षा दे दी। इस प्रसग का वर्णन ईश्वरदास ने वडे मार्मिक ढग से किया है—

सवहिं पसारि अग हाथ पाँव कीन्हेउ तग
वहुरि वटोरि धूरि माथे पै चढावही
मानो रक पायो धन वेगि होइ मुदित मन
लाग्यो लेन ताको हिये भाव को वढावही
रज को प्रभाव जौन जानै कोऊ ऐसो नीच
माया के नसे में लखि कर्म को न पावही
तिनको सकल वादि नेम धर्म क्रिया आदि
नेक ना सुफल भक्तमाल सो वतावही॥
वोल्यो तव साई जगजीवन कृपालु चित।
उठौ उठौ उठौ न लगावो नेक ढील है॥

× × ×

वेगि सो पकरि कर कह्यो आप उठौ अव
छोडि वकवादि सव कीजै यादि नाम की॥
प्रानन पियारे मेरे रह्यो मैं तलास तेरे
कीन्हेउ भल आयउ नेरे वात भै अराम की॥

---

१ उत्तरी भारत की सत परम्परा, पृ० ६१५

२ तात मात भ्रात जन व्याकुल सकलगात रोवत उफात दु न समित जनायो है
—भक्तमाल पृ० २२

३ पुरजन कहै का भयो विधाता, करना करहिं पिता अरु माता।
—भक्ति विनोद, दशम अध्याय

नही है तो अपने ही हाथो प्राण ले ले क्योकि नारी तो युगो से पुरुष की छाया है। जहाँ काया वहाँ छाया —

की मोहि लाइ लेव पिय साथा। की तौ मारि चलव सय हाथा ।।
सेवा करौं पपारौं पाया। जुग-जुग नारि पुरुप कै छाया ।।
का गोरप सम फिरहु अकेला। सग लाइ मो कहँ करु चेला ।।
जहँ काया तहँ छाया, जहाँ सुमन तहँ वास।
जहँ जहँ प्रीतम पगु धरै, तहँ तहँ नारि नेवास ।। —दो० ५७

प्रेम की यह एकनिष्ठा माधव में भी है। उज्जैन की सुन्दरियाँ उसे रचमात्र भी आकृष्ट नही कर पाती। वे दुखित होकर लौट जाती है —

माधौनलहिं रिझाइ भल, वह अति निठुर न रीझ।
फिरी सकल मन मइल करि, आपु आपु कहँ पीझि ।।

'ज्ञानरतन' में वात्सल्य चित्रण भी वडा ही मार्मिक है। कामकन्दला की मृत्यु पर उसके माता-पिता विलखने लगते हैं।

आजु प्रीति तुम्ह सकल निवाही। तन इत रापि गइहु जहाँ चाही।
आजु नेह कर भयउ निवेरा। आजु अवनि तजि गगन वसेरा ।।
आजु वनिज भइ पूरी तुम्हारी। आजु सकल जग चलिहु विसारी ।।

प्रीतमकुँवर को अकेले निराश्रित घूमते देखकर ग्रामीण नारियाँ जो कुछ कहती हैं, उसमें मातृत्व की उत्कृष्ट छाप है। इतने रूपवान पुत्र को छोडकर जो माँ घर की रक्षा करे वह वज्रहृदया नही तो और क्या है? जव जीवन मणि ही दूर हो जा रहा है तव घर भाड में जाय .—

सीतलि छाँह नेवारउ घामा। एक पहर अव करहु अरामा ।।
जनक जननि कहँ किन्ह सिख दीन्हा। नयन ओट जिन्ह तुम अस कीन्हा ।।
कुलिस कठिन उर जननि तुम्हारी। तुम्ह कहँ तजि करि घर रखवारी ।।
जीवन धन तुम चलेहु पराई। वह घरवार भार परै जाई ।।

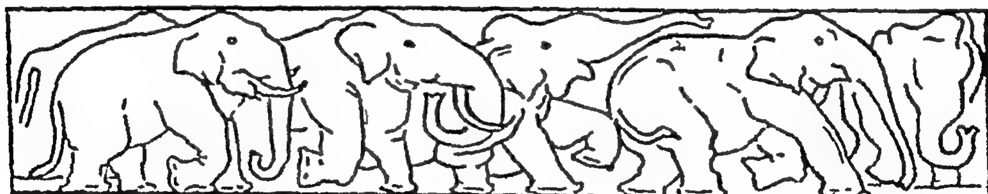
भावुकता और स्वाभाविकता के साथ साथ नवलदास में काव्योचित मार्मिकता भी है। कामकन्दला के सौन्दर्य वर्णन में उन्होने अपनी कविजनोचित सरसता का परिचय दिया है —

सुभ लिलाट पर पूरन मासी। उदित विदित जग जोति प्रगासी ।।
निरषि नयन मृग सकल सिहाने। जल वन पजन मीन लुकाने ।।
सुक मुष सरिस नाक सुभ लोनी। अपनेह कर गढि सारस जोनी ।।
जानहु तडित सुतनु धरि आई। वेदी वेसरि वनक वनाई ।।

सच तो यह है कि सभी सौन्दर्य युक्त प्राणियो में परमेश्वर की दिव्य आभा को देखने वाले नवलदास ने प्रेम, वियोग और शृगार के विविध पक्षो की मनोहारी कल्पनाये की हैं। जहाँ उनकी दृष्टि कवि की है वहाँ मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु जव उन्हें अपनी साधना, ससार की अवास्तविकता और ज्ञान की चरम सत्यता की स्मृति आती है उन्हें यह सारा ससार ही परदेसी लगने लगता है —

हम जो कहा बुझाय भल, आगेह विमल विचार।
यह परदेसी जक्त सब, को केहि लावें पार॥

संसार के प्रति विरक्ति का भाव रखते हुए भी नवलदास कामकन्दला के वियोग से व्यथित हैं, योगी के वश मे राजकुमारी की परवशता को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है, पुत्री के मरण पर माता-पिता के रुदन से साश्रु है। ससार की बुराइयो को देखकर 'बाउर' की तरह चुप है और सारे वैषयिक प्रलोभनो को निर्लिप्त भाव से झेल जाने वाले है। उनकी यह विशेषता उन्हें प्रेमाख्यान परपरा के कवियों में महत्त्व-पूर्ण स्थान प्रदान करती है। उनके उप-मान किसी परम्परा की नकल नही अपितु लोक जीवन के सूक्ष्म अध्ययन के परिणाम है उनका सौन्दर्य चित्रण नारी और पुरुष में परमेश्वर की दिव्य आभा का आभास कराता चलता है। उनके वियोग-वर्णनो में लोक-जीवन की सहज सकरुण वेदना है। साहित्यिक उत्कर्ष मे 'ज्ञानरतन' किसी भी सूफी तथा उत्तरमध्यकालीन भारतीय प्रेमाख्यान के समकक्ष रखा जा सकता है। यह हो सकता है कि ज्ञानरतन में सागोपाग नखशिख वर्णन न मिले, नायिकाभेद खोजने वालो को निराश होना पडे, आलकारिक वर्णनो की छटा देखनेवालो को सतोष न हो, किंतु ज्ञानरतन मे वह बहुत कुछ है जिसके कारण वह प्रेमाख्यानक साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। सत कवि ने जिस प्रकार आत्मज्ञापन और प्रचार से अपने को दूर रखा उसी प्रकार उनका यह ग्रथ भी काव्यरसिको की आँखो से ओझल, अज्ञात एवम् अनिर्दिष्ट पडा रहा।



संतकवि देवीदास और उनके वाणीकार शिष्य

राधिका प्रसाद त्रिपाठी

सत देवीदास जगजीवन साहव के उन चार प्रमुख शिष्यो मे से थे जिन्हें सत्तनामी सम्प्रदायान्तर्गत चार पावा या स्तम्भ के रूप मे जाना जाता है।[1] कदाचित् देवीदास जी जगजीवन साहव के शिष्यो में वरिष्ठता की दृष्टि से द्वितीय थे।[2] इनका जन्म भाद्रपद कृष्ण ८ मगलवार विक्रम सं० १७३५ को वारावकी जिलान्तर्गत लक्ष्मणगढ नामक ग्राम में हुआ था। कालान्तर में यह लक्ष्मणगढ को छोड कर पुरवा नामक ग्राम में रहने लगे थे।[3] इनके पिता भवानी सिंह साधारण जमीदार थे। यह भारद्वाज गोत्रीय अमेठिया (गौड) वश के क्षत्रिय थे। साम्प्रदायिक साहित्य एक स्वर से इन्हे गौडवशीय या अमेठिया वंश का वताता है।[4] देवीदास जी शरीर से वडे ही सुन्दर थे। वोधेदास ने 'नील स्वरुप वारि छवि कामा' कह कर इनकी सुन्दरता का वर्णन किया है।[5] ईश्वरदास कृत 'भक्तमाल' से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।[6]

---

१ (क) प्रभु जगजीवन वश जथा मति कहा सुहाई।
अव पावा कहि चारि नाम तिनके समुझाई॥
प्रभु दूलन प्रभु देवि सेव्य सेवक के साँचे।
वहुरि गोसाईदास श्याम प्रभु सुमिरण साँचे॥
ये चारो जन जक्त के खभ आपु सव सो भन्यो।
पइहै मुक्ति विसेख ते जेहि सनेह इनते वन्यो॥ —भक्तमाल, पृ० १६

(ख) अन्त साक्ष्य से भी इनका जगजीवन साहव का शिष्य होना प्रमाणित होता है—
—देवीदास के प्रभु जगजीवन। —शब्द लीला, लीला १ छद

२ दूसर देविदास उजियारे जिन्ह वहुतन्ह कहँ पार उतारे।—रतन ज्ञान, प० स० ३

३ (क) लछिमनगढ ते कूच करि पुरवा में आसन ठयो। —भक्तमाल
(ख) देविदास प्रभु गौड कहाये।
तजि लछिमन गढ पुरवै आये॥ —कोटवा माहात्म्य, पृ० १३

४ (क) वहुरि अमेठिया वश में जन्म कर्म उत्तिमलयो। —भक्तमाल, पृ० २०
(ख) गौरवश छत्री पुनि । वही, पृ० २०
(ग) गौरवश छत्री केर जाना। —भक्ति विनोद, दशम अध्याय
(घ) देविदास प्रभु गौड कहाये। —कोटवा माहात्म्य, पृ० १३

५. भक्ति विनोद, दशम अध्याय

६ भक्तमाल, पृ० २०

कहा जाता है कि देवीदास जी बाल्यकाल मे ही माता और पिता दोनो की स्नेह छाया के वचित हो गये थे तथा माता-पिता का देहान्त हो जाने के बाद इनकी वृत्ति परमपिता की ओर उन्मुख हो गयी थी। परिणाम स्वरूप मात्र १८ वर्ष की अवस्था मे इन्होंने जगजीवन साहब से दीक्षा ले ली थी।[१] यह बात पुष्ट प्रमाणो पर आवृत नहीं जान पड़ती। बोधेदास[२] और ईश्वरदास[३] के अनुसार जब देवीदासजी दीक्षा ले कर कठोर साधना में रत हुए थे तब इनके माता-पिता को बडी चिंता हुई थी। ऐसी स्थिति में बाल्यावस्था मे ही इनके माता-पिता के निधन की बात असत्य सिद्ध हो जाती है। कहना न होगा इस सम्बन्ध मे बोधेदास और ईश्वरदास के कथन को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक माना जायगा। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि देवीदास की चित्तवृत्ति बाल्यकाल में ही ईश्वरोन्मुख हो गयी थी।

जब यह जगजीवन साहब को शरण में पहली बार सरदहा गये तब अत्यंत भावाकुल हो कर उनके चरणो में लोटने लगे थे। अन्त मे जगजीवन साहब ने प्रभावित हो कर इन्हें स्वय उठाया और नाम की दीक्षा दे दी। इस प्रसग का वर्णन ईश्वरदास ने बडे मार्मिक ढग से किया है—

सबहिं पसारि अग हाथ पाँव कीन्हेउ तग
बहुरि बटोरि धूरि माथे पै चढावही
मानो रक पायो धन वेगि होइ मुदित मन
लाग्यो लेन ताको हिये भाव को बढावही
रज को प्रभाव जौन जानै कोऊ ऐसो नीच
माया के नसे में लखि कर्म को न पावही
तिनको सकल बादि नेम धर्म क्रिया आदि
नेक ना सुफल भक्तमाल सो बतावही॥
बोल्यो तब साई जगजीवन कृपालु चित।
उठो उठो उठो न लगावो नेक ढील है॥

× × ×

वेगि सो पकरि कर कह्यो आप उठो अब
छोडि बकवादि सब कीजै यादि नाम की॥
प्रानन पियारे मेरे रह्यो मैं तलास तेरे
कीन्हेउ भल आयउ नेरे बात भै अराम की॥

---

१. उत्तरी भारत की सत परम्परा, पृ० ६१५

२ तात मात भ्रात जन व्याकुल सकलगात रोवत उफान दु ग अमित जनायो है

—भक्तमाल पृ० २२

३ पुरजन कहँ मा भयो बिधाता, बरना करहि पिता अरु माता।

—भक्ति विनोद, [illegible]

लीजे पुनि मत्र कान कानन लगाइ ध्यान
राखो सो प्रमान गहो पथ निज धाम की ।।[१]

दीक्षोपरान्त यह सरदहा निकट स्थित सैलखपुर नामक ग्राम मे अपने किसी सम्वन्धी के यहाँ रहते हुये जगजीवन साहव का सत्सग लाभ करने लगे ।[२] इसके अनन्तर देवीदास जी सैलखपुर से पुरवा लौट कर कठोर नाम-साधना में लीन हो गये । साधना काल में इनकी असामान्य दशा देखकर इनके परिवार के लोग अत्यत व्याकुल हो उठे थे ।[३] इन्होंने कुछ समय तक अभरन तट पर एक वृक्ष की छाया में वैठ कर जगजीवन साहव की वाणी का प्रचार भी किया ।[४] कहते है इसी स्थान पर गुरुदेव की वाणी का अध्ययन और चिंतन करते हुए इन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई ।[५] ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् इन्होंने लक्ष्मणगढ जा कर कुछ समय भजन सत्सग में व्यतीत किया और फिर पुरवा में आ कर रहने लगे ।[६] यह गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले महात्मा थे । इनकी वश परम्परा आज भी चल रही है ।

---

१. भक्तमाल, पृ० २०

२. (क) देह ते सो भयो विदा मन ते न भयोजुदा, आयो पुर सैलप समुझि स्थली नात की ।
गुरद्वार निकट विचारि तहाँ डटि रह्यो करै सतसग जाते सुद्ध होत पातकी ।।
—वही, पृ० २१

(ख) लै उपदेस विदा तव भयऊ देविदास सैलपपुर गयऊ । —भक्ति विनोद, दशम अध्याय

३ (क) निजपुर त्यागी कीन्हेउ प्रथम निवास जहाँ आनि तहूँ लायो दिढ नाम ही की जाप हैं
गुरु जो लखायो मत्र ताहि लै जगायो इमि, खायो न पीयो सो जल विख ज्यो वरायो हैं
रयन दिन रहैं परे अंतर सो ध्यान धरे डोलत न वोलत सो काहू के वोलायो हैं
गडी दृष्टि दृष्टि माहि खोलत सो नेंक नाहिं पुरजन कहैं इन्हैं अल्प कोऊ आयो हैं
तात मात भ्रात जन व्याकुल सकलगात, रोवत उफात दु:ख अमित जनायो हैं
—भक्तमाल, पृ० २२

(ख) निजपुर छाडि लीन्ह जहँ वासा तहाँ क आये देवीदासा ।
देविदास गुरु मत्र जगावा निसुवासर कछु पिया न खावा ।।
नहिं डोलहि नहिं काहु ते वोलहिं गाडे दृष्टि नेत्र नहिं खोलहिं ।
पुरजन कहैं का भयो विधाता करुना करहिं पिता अरु माता ।।
—भक्ति विनोद, दशम अध्याय

४ अभरन तट एक सुन्दर निहारि तरु ताके तर वैठि कीन्हेउ ग्रथ को प्रचार है ।
—भक्तमाल, पृ० २२

५ पढै पुनि गुनैं सुनैं समुझैं विचारैं ताहि जो जो कछु करैं पुनि ताके अनुसार है ।।
अस केहू विरलेक ग्रथ को मनन कीन जैसे कछु देविदास ताको मत वूझ्यो है ।।
वूझ तहि होत भो प्रकाश रविज्ञान यह जानत ब्रह्माड खेल अन्तरहिं सूझ्यो है ।
—वही, पृ० २२

६ साहव सो सांवले के और हू चरित्र सुनो लछिमनगढ पुनि कीन्हेउ आनिवास है ।
कीन्हेंउ कछु काल तहँ भजन विहार जुत वहुरि सो चालि किह्यो पुरवा प्रकाश है ।
—वही, पृ० २२

देवीदास अपने समय के बडे ही यशस्वी सत थे। जगजीवन साहब के एक दूसरे शिष्य नवलदास ने इन्हे 'सत सिरताज' की सज्ञा दी है।[1] 'भक्ति सुमिरनी प्रकाश' के लेखक ने इन्हे 'भक्ति दीप' नाम से अभिहित करते हुए श्रद्धा सवलित भावो की व्यजना की है—

भक्तिदीप देवी भयेउ जग उदित हृदै परकास करन।
भजन भाउ निसुदिन अडो वडो प्रेम सुप धाम।
वचन प्रीति अमृत द्रवै गुन गाइ मनोहर नाम।
करि सेवकाई भक्त जक्त में नीति सिपाएउ।
जगजीवन गुर परताप ते नाम के वीज वोवाएउ।
रामनाम दृढ किएउ सत प्रगट जग दुप हरन।
भक्ति दीप देवी भयेउ जग उदित हृदै परकास करन।[2]

सत्तनामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी इन्हें सम्पूर्ण समाज को तारने वाले के रूप में देखा जाता है—

जगजीवन धारा सरिस, दूलनदास जहाज।
देविदास केवट भयो, तार्यो सकल समाज॥[3]

कहा जाता है कि इन्होने १३५ वर्ष की आयु भोगकर स० १८७० में परमगति पायी।[4] ईश्वरदास के अनुसार भी इनका १३५ वर्ष तक जीवित रहना प्रमाणित होता है।[5] डॉ० ग्रियर्सन ने भी इन्हे १७९० ई० अर्थात् स० १८४७ के आसपास उपस्थित वताया है जिसके अनुसार यह ११२ वर्ष के हो चुके थे।[6]

देवीदास जी न केवल उच्चकोटि के साधक के रूप में विख्यात थे वरन् एक सशक्त वाणीकार के रूप में भी आज तक स्मरण किये जाते हैं। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास-ग्रथों में जगजीवन साहब और नवलदास के बाद यदि किसी का नामोल्लेख हुआ है तो वह देवीदास जी ही है। डॉ० ग्रियर्सन ने इनका उल्लेख शात रस के कवि के रूप में किया है।[7] अवतक देवीदास जी कृत १२ ग्रथ और कुछ स्फुट पद प्राप्त हो चुके हैं। ग्रन्थो की नामावली इस प्रकार है—

---

१ सुख सागर, पृ० २
२ भक्ति सुमिरनी प्रकाश, पृ० ३०
३ नवज्योति से उद्धृत
४. उत्तरी भारत की सत परम्परा, पृ० ६१५
५ एक सै औ दस वर्ष वीतिगो कगार जब देह भै सिथिल तब कह्यो आप बोलि हैं
अब हम जब निज देस को शरीर त्यागि तौलो जेठ बधू मर्म भाख्यो निज खोलि हैं
अबै न पचीस वर्ष आप सो गवन करो मेरे कहे दीनबन्धु कौनिउ विधि बोलि हैं
कीन्हेउ सो कबूल तन रहेउ पुनि जो लै चहेउ बहुरि उजारि पूरि जक्र रोलि होलि हैं
—भक्तमाल, पृ० २४
६ हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० २३९
७ वही, पृ० २३९

१ सुखमनाथ	७ भरतध्यान
२ भ्रमविनास	८. गुरुचरन
३ विनोदमगल	९ भ्रमरगीत
४ भक्तिमंगल	१०. ज्ञान सेवा
५ भक्त लीला	११. नारदज्ञान
६ शब्द लीला	१२. वैराग्य ज्ञान

इन ग्रथो मे से अभी तक केवल 'शब्द लीला' का प्रकाशन 'श्री सत्यनाम मुमुक्षु आश्रम बछरावाँ से सन् १९६५ मे हुआ है। इस कृति को सम्प्रदायान्तर्गत 'ब्रह्मवाणी' के नाम से भी जाना जाता है। अडतालीस पाठो में विभक्त इस ग्रथ मे सत लक्षण, ज्ञान साधना, भक्ति साधना, सतगुरु, गैबी देश, नाम सुमिरन, संसार की नश्वरता, राम की भक्त-वत्सलता तथा भक्ति के महत्त्व का विशद निरूपण किया गया है। उदाहरणार्थ देवीदास के कुछ छद नीचे दिये जाते हैं—

सब घट रमिता रमिता मधुर मारुत की नाई।
पैदा और निर्पंद कियो तुमहिनि एक साईं।
तेज अग्नि परमान हो सीतल जलहि सरूप।
जेहि जस जानि परै सो तैसे धनि तुम त्रिभुवन भूप।[1]
उनके कया न काम धाम धन उनके नाही।
गैबी पुरुष अलेप लेप काहू माँ नाही।
पदुम पत्र हम देखिये बुन्द न जल ठहराई।
अस सब माँ सबही ते न्यारा समुझि तकहु तुम जाई।[2]
तरै मात औ पिता तरै बान्धव सुतनारी।
तरै बहुत परिवार तरै प्रीतम हितकारी।
जिन सुमिरा तिनही लहा जक्त जन्म को लाहु।
सकट परै भक्त के सगी अपनावत गहि बाह।[3]
तप करि देह जराय पाप यह वृथा कमायो।
गुरु बिन ज्ञान के हीन अन्त कछु जानि न पायो।
नख सिख जटा रखाइ कै अग विभूति लगाय।
यहु दहुँ कवन मुक्ति मत सुनि कै राम दिहिन बिसराय।[4]
छोटे छोटे पेडन को सुन्दर कियारी करै
पनरे से पौदा तिन्हें पानी से पालिबो
नीचै गिर गये तिन्हें टेक दै ऊँची करो
ऊँचै चढि गये तिन्हें जरूर काटि डारिबो

---

१ शब्द लीला, पृ० ७।
२ वही, पृ० १०।
३. वही, पृ० २७।
४. वही, पृ० ९४।

फूलैं फूलैं फूल सव वीन एक ठौर करो
घनैं घनैं सव एक तरफ से उजारिवो
राजन को मालिन को नीति कहै देवीदास
चारि घरी राति रहै इतना विचारिवो ।[1]

गिरिवरदास

सत गिरिवर दासजी जलालीदास के पुत्र थे ।[2] कहना न होगा, जलाली दास सत्तनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सत जगजीवन साहव के पुत्र थे ।[3] तात्पर्य यह कि गिरिवरदास, जगजीवन साहव के पौत्र थे । सम्प्रदायान्तर्गत इन्हें जगजीवन साहव के अवतार की प्रतिष्ठा प्राप्त है ।[4] यह वडे सहज स्वभाव के महात्मा थे । इन्हें अपनी कुल परम्परा का तनिक भी अभिमान नही था । वाल्यकाल से ही इनके अलौकिक व्यक्तित्व का लोगो पर व्यापक प्रभाव पडने लगा था । इनका विवाह तो हुआ था किन्तु इन्होने वैवाहिक जीवन के प्रति कोई रुचि नही दिखाई ।[5]

सत जलालीदास की मृत्यु के उपरान्त गिरिवरदासजी कोटवा की गद्दी पर समासीन हुए । जिस समय यह कोटवा धाम (वारावकी) के पीठाचार्य हुए सत्तनामी पथ के सतो मे त्याग वृत्ति का अभाव होने लगा था, लोग सत की रहनी को विस्मृत करने लगे थे । ऐसे समय में गिरिवर दासजी ने अपनी सूझवूझ का परिचय दिया । इन्होने अपनी सगठन शक्तिके द्वारा पथ के भीतर नव-चेतना का सचार किया । वोवेदास के अनुसार जव समार एव भक्त गण रूपी लक्ष्मण अत्यन्त व्याकुल और वेहाल हो उठे थे तव गिरिवर दास रूपी हनुमानजी ने अपने उपदेश की सजीवनी से सवको नवजीवन दिया था ।[6]

---

१ राम ऋषिदास के व्यक्तिगत नोट वुक से ।

२ साईं गिरिवर गुरु अग्नि कै प्रगट भयो ।

—भक्तमाल, पृ० ११

३ जगजीवन सुत भयो जलाली ।

—भक्तिविनोद

४ साई जगजीवन शरीरनिजत्याग समै कह्यौ हम अवही पलटि जग जाइ है ।
प्रगट भै वानी जौन जीवन कल्याण हेत ताहि सो करव पुनि खोजि एक ठई है ।
वहुरि अमेठिया जो देविदास शिष्य मेरा तिन्है सो करव गुरु गर्व नो विहाई है ।
सोई गिरिवर गुरु आनि कै प्रगट भयो . . . . :

—भक्तमाल, पृ० ११

५. भयो जो विवाह नेक कीन्हेउ ना प्रसग अग
कुटी करि रह्यो आप वाहिर उछाहि कै ।

—वही, पृ० ११

६ जग्त भगत लक्षमन भये व्याकुल वहुत वेहाल ।
सहित सजीवनि गिरवर ल्याये कपि तेहि काल ॥

—भक्त विनोद गोदावरी अध्याय

गिरिवरदास जी बड़े तेजस्वी और साधनामय जीवन व्यतीत करने वाले महात्मा थे। इनकी महिमा का वर्णन करते हुए बोधेदास ने लिखा भी है—

गिरिवर गिरि मदर जस भारी, ज्ञान सिंधु मथि सुधा निकारी।
सो अमृत सजीविन भाई, जेहि ते अजर अमर पद पाई ॥[१]

इनके जन्म एव मरण की निश्चित तिथि प्रस्तुत लेखक को नही ज्ञात हो सकी है फिर भी इतना स्पष्ट है कि यह विक्रम की उन्नीसवी शती के उत्तरार्द्ध मे अवश्य ही वर्तमान थे क्योंकि इनके गुरु देवीदासजी का जीवन काल १७३५ से १८७० के मध्य पड़ता है।

इन्होंने जगजीवन साहब की वाणी का सग्रह करने के साथ ही स्वय भी कुछ स्फुट वाणी की रचना की है। नमूने के लिए कुछ छन्द नीचे दिये जाते है—

आरति जै सतगुरू बजरङ्गी, कृपा सिंधु समरथ सतसङ्गी।
बिरद पाल सति लगन सुवारन सतिनामी जन-चूक निवारन।
पायक राम भक्त भयहारी, असरन सरन प्रणत सुखकारी।
वेद पुराण विदित सत करनी सुमिरत पाप ताप त्रयहरनी।
इष्ट देव सन्तन सिरताजा, महावीर राखिय जन लाजा।
गिरवर पर अब कीजै दाया, दे वर दरस अभय कपिराया।[२]
पूजा विषय समान हैं, जग जीवन मत जान।
गिरवर लिखा सो कीन्हेउ और न हिरदय आन ॥
पियत भाग औ गाजा भगत अमल नहि खांहि।
गिरवर जगजीवन कहा खाहिं सो नरकहिं जाहिं ॥
असवारी पर ना चढेउ वाहन अहै निषिद्ध।
गिरिवर सो त्यागन किहेउ किहेउ रिष्य मुनि सिद्ध ॥[३]

अनूपदास

अनूपदास जी सतदेवीदास के पुत्र थे।[४] सत वृत्ति इन्हें रिक्थ रूप में प्राप्त हुई थी। इन्होंने बाह्य प्रभावो से सर्वथा ऊपर उठकर नाम साधना की थी।[५] कहते हैं साधना में अत्यधिक लीन रहने के कारण इन्हें दस-दस दिन तक भोजन करने की सुधि नही रहती

१. भक्ति विनोद, पन्द्रहवाँ अध्याय
२ आरती सग्रह, आरती सख्या १२
३ नव ज्योति से
४ पुनि प्रभु देवी सुवन, भयो समस्त अनूपा।
—भक्तमाल (ईश्वरदास) पृ० ३८
५ गहेउ नाम निर्वान लग्यो अग सीत न धूपा।
नहिं कछु भूख पियास नही दुख सुख कछु लागे'
—वही, पृ० ३८

थी।[1] यह भ्रमर वृत्ति से जीवन यापन करने वाले महात्मा थे।[2] इन्होंने भी स्फुट वाणी की रचना की है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में से शिवसिंह सेंगर ने अपनी पुस्तक में इनका उल्लेख किया है। इनकी काव्य शैली के नमूने के रूप में दो छंद नीचे दिये जाते हैं—

गुरु लखावै नामको नाम लखावै रूप।
रूप लखावै आपको कहिगे दास अनूप॥[3]

पासनि सो बाँधि कै अगाधि जल बोरि राखे।
तरि तरवारि सो मारि मारि हारे हैं।
गिरि ते गिराय दिये डरपे न नेक तव।
मतवारे भूधर से हाथी तरे डारे हैं।
फेरे सिर आरा लै अगिनि माझ डारै पुनि;
पूँछ मोडि तन सो लगाये नाग कारै हैं।
पूछते बतायो खम्भ तहँई दिखायो रूप।
प्रकट अनूपदास वानि ही से प्यारे हैं।[4]

रामसेवक दास

संत रामसेवक दास के पिता का नाम उदयराम था।[5] उदयराम जी जगजीवन साहब के शिष्य और बाराबंकी जिलांतर्गत हरिश्चन्द पुर नामक ग्राम के निवासी थे।[6] रामसेवक दास जी देवीदास के प्रिय शिष्य थे।[7] यह ब्राह्म मूहूर्त में उठकर अपने पिता उदयराम की समाधि के पास बैठकर बडी शुचिता के साथ साधना किया करते थे।[8] कहते हैं कि इन-

---

१ दस-दस रोज तक भोजन की सुधि नाही,
सुधि जो करावै केऊ ताते उछरत है।
—वही, पृ० ३९

२ करेउ न ठौर एक भ्रमर की वृत्ति लीन्हेउ
आज यई कालिह वई रहेउ न सो छाम है। —वही, पृ० ३९

३ राम ऋषिदास के व्यक्तिगत नोट बुक से

४ शिव सिंह सरोज, पृ० १०-११ से उद्धृत

५ उदयराम प्रभु तनय राम सेवक सुभ खानी।
प्रगटे महा उदार भजन मूरति पहचानी॥ —भक्तमाल (ईश्वर दास) पृ० ७६

६ उदैराम साहेब गुरु प्यारा, हरिश्चन्द पुरी मां ध्यान सभारा।
अपने दास भरा अनुरागी, प्रभु जगजीवन के पद लागी॥ —अघनाशन ते

७ सकल सुकृत भाजन विमल पनु देवी प्रगटेव भनो।
मोद समस्त कृपालु होइ, ईश्वर निज करि जग जनो। —भक्तमाल पृ० ७६

८ उदयराम साहब को सुमिरि समाधि मढ़ि,
बैठे मारि आसन कै कामना रदन ते।
प्रान औ अपान वायु सोधि सो मदन सम,
सूरति लगावै नाभि गुरु के पदन ते। —वही, पृ० ७६

की सेवामे एक दासी रहती थी जिसके नाते इनके चरित्र के विषय मे लोकापवाद फैलने लगा था। एक दिन जब इन्होने सबके भ्रम का निवारण करने के लिए सबके सामने दासी को नगा हो जाने का आदेश दिया। गुरु का आदेश मानकर जब दासी ने वस्त्र उतारा तब लोगो ने उसे पुरुष रूप में देखा और अपनी गलती स्वीकार करते हुये स्वामी जी से क्षमा याचना की।[1]

रामसेवक दास जी सत्तनामी सम्प्रदाय के वाणीकार संतो में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। इन्होने 'गुरु वन्दना' और 'अरवरावती' नामक दो ग्रथो की रचना की। इनके द्वारा विरचित कुछ शब्द भी प्राप्त होते है। ईश्वर दास ने इनके कवि रूप की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

अनुभौ भाखेउ गिरा सिरा बहु विधि ते चोखी।
होत भक्त मन मगन सुनत पुनि गुनत अनोखी॥

ईश्वरदास की रचना का नमूना नीचे दिया जाता है—

साधो ममझि ले मन माहि।
नाम सम कछु और सतपथ सत, भाखत नाहि।
तीर्थ व्रत और जग्य जप तप जोग साधि रहाहि।
नाम विन भे सर्व मिथ्या भरमि भटका खाहि।
खैंचि प्राणायाम रहते भाड की गति आहि।
नही मुक्ती होहि याते भजन विनु पछिताहि।
नाम अविचल अकत अनुभव प्रीति जेहि मन माहि।
'राम सेवक' धन्य वे नर सुमिरि सत मिलि जाहि।

इसी प्रकार देवीदास जी के शिष्यो के अतिरिक्त इनकी शिष्य परम्परा में वाणी की रचना करने वाले और भी बहुत से सत हो चुके हैं। सत गुरुदत्तदास और सत जवाहिरदास जैसे वाणीकार न केवल सतनामी सम्प्रदाय वरन् समस्त निर्गुण-सत-काव्य परम्परा के शृगार हैं। मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साहित्य का अध्ययन इनकी कृतियो मे अनुशीलन के अभाव में अधूरा रहेगा।



१ वही, पृ०७६

इलियट का "निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत" और "साधारणीकरण"

प्रेमनाथ टंडन

टी० एस इलियट (सन् १८८८-१९६५) का नाम २०वी शताब्दी के प्रमुख अगरेजी कवि-आलोचको में परिगणित किया जाता है। अग्रेजी साहित्य मे इलियट के सैद्धान्तिक-चिंतन का विशेष स्थान है। इलियट ने क्रमबद्ध रूप मे सैद्धान्तिक आलोचना सबधी किसी स्वतत्र ग्रथ का प्रणयन नही किया। आलोचक के रूप में उनकी प्रसिद्धि के प्रमुख आधार उनके वे विचार-विवेचन है जो उनके अनेक फुटकर निबधो और उनके द्वारा की गयी शेक्सपियर, दान्ते, एन्ड्रयू मार्वेल आदि की कृतियो की व्यावहारिक आलोचनाओ मे उपलब्ध होते हैं।

इलियट के काव्य सबधी विवेचनो से एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि उन्होने विशुद्ध आत्माभिव्यक्तिपरक तथा भावनावेगपूर्ण काव्य का प्रबल विरोध किया है। उनके आक्रमण का प्रमुख लक्ष्य रोमानी भाव-चेतना का काव्य था क्योंकि वह मूलत व्यक्तिवादी काव्य है। इलियट की धारणा थी कि काव्य मे कवि के निजी भावो की अभिव्यक्ति काव्य की सकीर्णता की द्योतक है। इसके अतिरिक्त अनियत्रित भावावेग से युक्त काव्य किसी शाश्वत मूल्य की प्रतिष्ठा नही कर सकता, रोमानी काव्य की अतिशय कल्पना-प्रवणता एव प्रबल भावावेगमयता उसे अस्पष्ट एव अमर्यादित बना देती है। इसके परिणामस्वरूप मानसिक सघटना, जो काव्य का मूल तत्त्व है, भग हो जाती है। उनकी स्थापना है कि काव्य मे 'अनेकता मे एकता' के स्वर और मर्यादित तथा व्यवस्थित भावो की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसलिए उन्होने काव्य में सघटन, सम्यक् नियोजना, उपयुक्त शिल्प-विधान आदि पर विशेष बल दिया। काव्य की आत्मनिष्ठता एव वैयक्तिकता की घोर भर्त्सना करते हुए उन्होंने एतद्विषयक चिन्तन-क्रम में सर्वप्रथम 'व्यक्तित्व से पलायन' (एस्केप फ्राम पर्सनेलिटी) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे व्यापक स्तर पर 'निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त का सिद्धान्त' अथवा 'अव्यक्तिवाद' कहा जा सकता है। प्रस्तुत सिद्धान्त का क्रोचे के चरम आदर्शवादी सिद्धान्त 'अभिव्यजनावाद' से सीधा विरोध है। काव्य से रचनात्मक स्तर पर सम्बद्ध होने के कारण इलियट ने निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त का प्रतिपादन मूलत और मुख्यत कवि की रचना-प्रक्रिया के सदर्भ में किया गया है। परन्तु काव्यास्वादक-पक्ष मे भी प्रस्तुत सिद्धान्त को उसी अनिवार्यता के साथ लागू किया जा सकता है जिस अनिवार्य-अपेक्षा के साथ इलियट इसे कवि पर लागू करते हैं। इलियट ने एक स्थान पर स्वय इसका सकेत किया है 'काव्य के आस्वादन का एक ऐसा विशुद्ध अनुचिंतन है जिस पर से वैयक्तिक सवेगो की सभी प्रकार की हलचले अपसृत हो जाती हैं। इस प्रकार वस्तु जैसी है, उसी रूप मे हम उसे देखने का प्रयत्न करते हैं।'[1]

---

१ सेक्रेड वुड, पृ० १४-१५।

निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त का दूसरा पक्ष स्वय काव्य के स्तर पर व्यवस्था (आर्डर) से सम्बद्ध है। यह प्रस्तुत सिद्धान्त के प्रथम पक्ष का सहज प्रतिफलन है। वैयक्तिकता के परिहार एव निर्वैयक्तिकता की सिद्धि के फलस्वरूप भावावेग नियन्त्रित होता है। इस प्रकार काव्य सवधी समान विवेचना की केन्द्रत्रयी—कवि, काव्य और आस्वादक—में से प्रत्येक के धरातल पर इलियट ने वैयक्तिकता का निषेध कर काव्य को मर्यादित, सतुलित, व्यवस्थित करने एव उसे वस्तुगत रूप प्रदान करने की चेष्टा की। काव्य-कृति के सम्बन्ध मे, इलियट ने एक अन्य सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है, जिसे 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' अथवा 'वस्तुगत सह सवधी' का सिद्धान्त कहते है। यह सिद्धान्त काव्य की आत्मनिष्ठता का आत्यन्तिक निषेध कर काव्य की निपट वस्तुरूपता का प्रतिपादन तो नही करता, पर काव्य की वस्तुनिष्ठ प्रकृति को अपेक्षाकृत महत्ता अवश्य प्रदान करता है।

निर्वैयक्तिकता-सिद्धान्त के प्रतिपादन का सूत्र इलियट ने परम्परा और काव्य के तारतम्य की अपनी व्यक्तिगत अवधारणा के आधार पर प्राप्त किया है। वे, एक माने मे, इतिहास और परम्परा को काव्य का आधार मानते हैं, और इन्ही को उन्होने अपने काव्य विषयक समस्त चिन्तन-विवेचन का प्रस्थान-विन्दु स्वीकार किया है। अपने प्रसिद्ध निवध 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' में उन्होने काव्य और परम्परा के अनिवार्य अपेक्षित सवध निर्भ्रान्त शब्दावली में महत्त्व-प्रतिपादन किया है। काव्य और पारस्परिक सबध के गहरे और सूक्ष्म विश्लेषण को, एव उसके फलस्वरूप काव्य में अव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा को, इलियट के समग्र चिन्तन को एक महत् उपलब्धि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

इलियट के अनुसार परम्परा का तात्पर्य 'सस्कृति' से है। परम्परा और इतिहास से उनका आशय किसी विशिष्ट जाति एव समाज के समग्र सास्कृतिक उत्तराधिकार से है। सस्कृति समाज के जीवन का एक ढग विशेष है, वह एक ऐसा ढग है जो रक्त सवध से जुडे हुए पूरे समाज की उपलब्धियो एव रीति-रिवाजो को अभिव्यक्त करता चलता है। यह ढग ही काव्य में वैयक्तिक विभिन्नताओ का परिहार कर अनेकता में एकता की स्थापना करता है, कलाकारो को जाने-अनजाने एक सामान्य उत्तराधिकार और सामान्य लक्ष्य के सूत्र में बाँध देता है।[1] इलियट की दृष्टि में समस्त साहित्य अखण्ड-रूप है, किसी विशिष्ट काल अथवा व्यक्ति के साहित्य का अपना कोई पृथक् अस्तित्व नही होता, साहित्य मात्र में परम्परा की अखड एव निर्बाध अभिव्यक्ति होती चलती है। इलियट परम्परा को बहुत व्यापक अर्थ मे ग्रहण करते हैं। परम्परा में वर्तमान और अतीत दोनो का समावेश है, वह अतीत बोध भी है और वर्तमान बोध भी वह शाश्वत भी है और परिवर्तनशील भी, उसकी सतत गत्यात्मक धारा अपने अखण्ड, अविच्छिन्न प्रवाह मे समग्र जातीय अथवा सामाजिक जीवन के अत्युत्कृष्ट अशो को समाहित करती हुई प्रवाहित होती है। जो अपेक्षाकृत साधारण और अनुत्कृष्ट अश होते हैं, वे परम्परा के अखण्ड प्रवाह में स्वयमेव विलीन होकर नष्ट हो जाते है। श्रेष्ठ काव्य की रचना के लिए कवि को समाज की, देश की, इस अखण्ड चेतना का ज्ञान होना चाहिए, यह ज्ञान उसके लिए अनिवार्य है, उसको प्राप्त किये विना वह उत्कृष्ट काव्य की रचना कर ही

---

१. सेलेक्टेड एसेज, पृ० २४।

नही सकता। प्रत्येक युग में समय की शाश्वत गति और मानव इतिहास की सतत गत्यात्मकता के साथ ही उस युग की विभिन्न परिस्थितियो में भी परिवर्तन होता है, काव्य प्रकारान्तर से जीवन की ही अभिव्यक्ति है, इसलिए यह नितान्त स्वाभाविक है कि उसके स्वरूप और उसके आकलन के मानदण्डो में भी परिवर्तन हो। परन्तु परम्परा के सम्यक् ज्ञान के अभाव में यह परिवर्तन किसी भी पक्ष मे सम्यक् रूप में प्रतिफलित नही किया जा सकता। इलियट की दृष्टि में परम्परा कोई जड, स्थिर वस्तु नही है, उसमे नवीनता का सहज समावेश है और नवीनता एव परिवर्तन इलियट के अनुसार सदा ही श्रेय है। पर इस परम्परा का ज्ञान प्राप्त करने की दिशा क्या होनी चाहिए ?—इलियट के अनुसार इसकी दिशा यही है कि वर्तमान और अतीत दोनो का सस्कृति-विशेष के सदर्भ मे ज्ञान प्राप्त किया जाय, वर्तमान को अतीत के सदर्भ मे और अतीत को वर्तमान के सदर्भ मे देखा समझा जाय। यह ज्ञान स्वत उपलब्ध नही हो जाता, उसे सायास अर्जित करना होता है।

प्रश्न है कि काव्य मे परिवर्तन को प्रतिफलित करने, नवीनता को समाविष्ट करने, की समुचित दिशा क्या हो सकती है ?—समुचित दिशा यही हो सकती है कि परिवर्तित युगीन परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य में काव्य मे नवीनता का समावेश जातीय जीवन एव उसकी परम्परा के अनुसार ही हो, किसी दूसरी जाति की सस्कृति के अनुसार अथवा उसके अनुसरण पर नही। इलियट के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय काव्य मे नवीनता का समावेश भारतीय परपरा और सस्कृति के अनुरूप ही होना चाहिए, किसी दूसरे देश की परम्परा के अनुरूप अथवा उसके आधार पर नही, क्योकि ऐसा करने से वह काव्य युग-जीवन मे खप नही सकता। भारत के आधुनिक साहित्यकार जो पाश्चात्य काव्य-परम्परा के अनुकरण, बल्कि अंधानुकरण, को फैशन मानते है, इलियट की दृष्टि मे हेय ठहराये जा सकते है। इसके अतिरिक्त कवि-कलाकार का यह भी दायित्व है कि वह अपनी वैयक्तिक अनुभूतियो को व्यापक सामाजिक अनुभूतियो एव भावो—परम्परा—में विलीन कर देता है। परम्परा-बोध उसकी वैयक्तिक अनुभूतियो से अधिक मूल्यवान् है, इलियट इसी को 'मूल्यवान् के प्रति आत्म-समर्पण' कहते हैं। कवि का यह दायित्व है कि वह अतीत बोध को अर्जित कर उसे परिवर्तित एव परिविकसित करता रहे और इस क्रम मे अपने व्यक्तित्व को उसके प्रति पूर्णतया समर्पित कर दे। जब कवि परम्परागत सास्कृतिक अनुभूतियो को अभिव्यक्त करता है तब उसके व्यक्तिगत भाव सार्वभौम में रूपान्तरित होकर व्यक्त होते है। कविता व्यक्तिगत भावो का प्रकाशन न होकर उनसे पलायन है, इलियट के अनुसार इस उक्ति का यही तात्पर्य है। यही काव्य मे निर्वैयक्तिकता की सिद्धि है। कवि तो एक माध्यम मात्र रहता है, काव्य में उसके निजी भावो-प्रभावो की अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु जातीय जीवन के प्रभावो की अभिव्यक्ति होती है। इसके विपरीत यदि कोई कवि अपनी रचना मे अपने निजी दुख-दर्द की गाथा लिखता है, तो वह काव्य के महान् उद्देश्य से च्युत हो जाता है।

कवि अपनी रचनाओं में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि किस प्रकार करता है, अथवा उसका काव्य निर्वैयक्तिक कैसे हो सकता है इसके स्पष्टीकरण के लिए इलियट ने कवि और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करते हुए एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है जो यो है: आक्सीजन और सल्फर-डाइ-आक्साइड जब प्लैटिनम के तार की मौजूदगी में मिलायी जाती है

तो उनसे सल्फ्यूरिक एसिड बनता है। यह सयोग तभी होता है जब प्लेटिनम का तार भी मौजूद हो तथापि नये बने एसिड मे प्लेटिनम के तार का लेशमात्र भी नही होता और प्लेटिनम पर भी कोई प्रभाव नही प्रतीत होता—उसमें न कोई परिवर्तन आता है, और न उसका कोई अश घोल में जाता है। कवि का मन इस प्लेटिनम के टुकडे की भाँति होता है। व्यक्ति के अनुभव को वह अशत अथवा पूर्णत. प्रभावित कर सकता है परन्तु कलाकार जितना सिद्ध-हस्त होगा उतने ही उसमे भोक्ता और स्रष्टा मन परस्पर पृथक् रहेगे और उतनी ही सुष्ठु रीति से मन अपनी उपादानरूप वासनाओ को आत्मसात् और रूपान्तरित करेगा।[१]

इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि प्लेटो की भाँति इलियट भी कवि को एक यात्रिक माध्यम मात्र स्वीकार करते है। यहाँ उन्होने बताया है कि कवि मानस में भाव और भावनाएँ कविव्यक्तित्व से सर्वथा असपृक्त रहते हुए उसी प्रकार विशिष्ट एवं अप्रत्याशित रूपो में सघटित होती रहती हैं जिस प्रकार प्लेटिनम के टुकडे की उपस्थिति मे उक्त दोनो गैसे सघटित होकर एसिड बनाती है और प्लेटिनम का टुकडा सर्वथा अप्रभावित एव निष्क्रिय रहता है। इलियट ने इस सम्बन्ध में अन्यत्र कहा है "कवि का मन वास्तव में एक ऐसा ग्रहण यत्र है जो उन सभी अगणित अनुभूतियो, वाक्याशो तथा बिम्बो को ग्रहण करता है और उन्हें जमा करता है जो वहाँ पर तब तक पडे रहते है जब तक नव मिश्रित वस्तु को रूप प्रदान करने के लिए सभी तत्त्व एक साथ उपस्थित नही हो जाते।"[२]

प्रस्तुत उद्धरण में इलियट ने कवि-मन के लिए ग्रहण-यत्र शब्द का प्रयोग किया है, जिससे यह अनुमान होता है कि वे एक स्व-चालित यंत्र और काव्य-कृति को कवि की अचेतावस्था की उपज स्वीकार करते है। एक अन्य स्थान पर उन्होने बलपूर्वक कथन किया है कि कला का जीवन सर्वथा स्वतत्र है, काव्य-कृति का आकलन कवि-व्यक्तित्व से सर्वथा अस-पृक्त रूप में किया जाना चाहिए, और यह, कि उत्कृष्ट आलोचना कविता की होती है, कवि की नही। इलियट के ये सारे कथन इस अनुमान को पुष्ट करते है कि इलियट काव्य में कवि-व्यक्तित्व की सत्ता का आत्यन्तिक निषेध स्वीकार करते है। उद्धरण मे सृजन-प्रक्रिया के सबध में प्लेटिनम के तार का रूपक उपस्थित करते हुए उन्होने यह भी बताया है कि एसिड के निर्माण की प्रक्रिया में प्लेटिनम का तार "निष्क्रिय" रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य-सृजन की प्रक्रिया में कवि "निष्क्रिय" रहता है, और सृजन-प्रक्रिया कवि के चेतनमन की प्रक्रिया न होकर एक जड, यात्रिक प्रक्रिया है। पर प्रश्न यह है कि क्या कलाकार के व्यक्तित्व से सर्वथा अस्पृष्ट किसी कलाकृति की कल्पना की जा सकती है? क्या कोई ऐसी कलाकृति हो सकती है जो कलाकार की अनुभूति के योग के बिना ही निर्मित हो गयी हो? क्या सृजन-प्रक्रिया वस्तुत कोई जड, यात्रिक प्रक्रिया है?—क्या वह कलाकार के सतत चेतन मन की प्रक्रिया नही है?—स्पष्ट है कि इन प्रश्नो का उत्तर सकारात्मक नही हो सकता। तब क्या इलियट काव्य में कवि-व्यक्तित्व के सहज, अनिवार्य

---

१ सेलेक्टेड एसेज, पृ० १२४-२५।

२ ट्रेडीशन एड दि इडिविजुअल टैलेंट,।

योग के तथ्य को हृदयगम नही कर पाए, या उनका तत्सबधी समस्त विवेचन भ्रामक है ?— इलियट के विषय में कोई ऐसी धारणा बनाना कदाचित् भूल होगी। इस सम्बन्ध मे यह अवश्य कहा जा सकता है कि इलियट ने अपने एतद्विषयक विवेचन को बहुत स्पष्ट शब्दावली मे प्रस्तुत नही किया या नही कर पाये जिसके फलस्वरूप भ्रम की स्थिति कही-कही उत्पन्न हो गयी है। सन् १९४० मे दिये गये यीट्स-विषयक अपने एक भाषण मे उन्होने स्वीकार किया है "यीट्स के प्रारम्भिक कविता-सग्रहो की सभी कविताओ मे मुझे इधर-उधर केवल कुछ ऐसी पक्तिया मिल जाती हैं जिनमें अपूर्व व्यक्तित्व का भान होता है, जो हमें कवि के मानस और अनुभूतियो के विषय में और अधिक जानने की जिज्ञासा और उत्तेजना मे बाँध देता है। यीट्स के निजी भावात्मक अनुभव की उत्कटता हमें कदाचित् ही मिलती है। उसकी कुछ उत्तरकालीन कृतियो में हमें यह तत्त्व मिलता है।"

इलियट के स्फुट समीक्षात्मक निबन्धो के सकलन "सेक्रेड वुड" जिसमे उनका प्रसिद्ध निबध 'ट्रेडीशन एन्ड दि इन्डिविजुअल टैलेट' सकलित है, और जिसमें उन्होने काव्य में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि को अनिवार्य माना है—का प्रकाशन सन् १९२८ में हुआ था। पर १९४० में उन्होने यीट्स के विषय में उक्त कथन किया है। इसमें यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है—कि इलियट इट्स की प्रारभिक कविताओ मे उसका अपूर्व व्यक्तित्व न मिलने, उसके भावात्मक अनुभवो की उत्कटता न मिलने, के कारण चिन्तित है। इलियट जो अभी तक काव्य को 'व्यक्तित्व से पलायन' मानते आये हैं, यीट्स के सम्बध में अब यह आपत्ति कर रहे है कि उसकी कविताओ मे उसका व्यक्तित्व मुखरित नही होता, इसलिये वे उत्कृष्ट नही है। उक्त कथनो में निहित विरोधाभास को इलियट ने स्वय लक्षित किया, और उसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने कहा है "मैंने" अपने प्रारम्भिक लेखो में कला को निर्वैयक्तिकता को स्वीकार किया है, और जब (यह) प्रतीत होता है कि यीट्स की उत्तरकालीन कविताओ का, उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के कारण श्रेष्ठ बताने से मैं अपने उस मत का विरोध कर रहा हूँ तो यह हो सकता है कि मैं अपनी बात (उस समय) ठीक से न कह सका या न व्यक्त कर सका, या उस विचार को मैंने अप्रौढ रूप से ग्रहण किया। किंतु अब मैं सोचता हू कि इस विषय में तथ्य इस प्रकार है—निर्वैयक्तिकता के दो रूप होते है। एक वह निर्वैयक्तिकता है जो केवल कुशल शिल्पी के लिए प्राकृतिक होती है। दूसरी वह है जो प्रौढ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है। यह दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ कवि की होती है जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवो के माध्यम से, सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है। वह अपने अनुभव की सम्पूर्ण विशिष्टता को, उसके द्वारा सामान्य प्रतीक प्रस्तुत करने लिए, बनाए रखता है।"

इलियट के उक्त परवर्ती मत से उनके पूर्ववर्ती मत का विरोधाभास और पुष्ट होता है। पर ऊपर कहा जा चुका है, और जैसा इलियट ने स्वयम् भी स्वीकार किया है, यह केवल विरोधाभास है, वास्तविक विरोध नही 'और इस प्रतीयमान विरोध का कारण विषय का सम्यक् और स्पष्ट शब्दावली मे व्यक्त न किया जाना है। इलियट का विचार अप्रौढ या उनका चिन्तन अपरिपक्व नही है, उन्होने काव्य की सृजन-प्रक्रिया को सही रूप मे हृदयगम किया है, इसमें सदेह नही, बस वे उसे स्पष्ट ढग से कह नही पाये। कालान्तर मे उन्होने इसे स्पष्ट शब्दों मे व्यक्त किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में भी साधारणीकरण के अन्तर्गत "निर्वैयक्तिकता" की चर्चा की गयी है। वास्तव मे व्यक्ति रूप कवि के दो रूप हैं — १–भोक्ता या व्यक्ति रूप कवि, और २–सर्जक कवि। पहला पक्ष कवि का सामान्य मानवीय व्यक्तित्व है। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति अपने दैनदिन जीवन में नाना प्रकार के भावो का अनुभव करते हैं उसी प्रकार कवि भी करता है। परन्तु सामान्य व्यक्ति से कवि एक बात में विशिष्ट है कि वह सासारिक अनुभवो को भावित कर काव्य रूप में व्यक्त भी कर सकता है। भावो के भावन और अभिव्यक्तिकरण के क्रम मे उसका स्रष्टा-मन सक्रिय होता है जिसे कवि का सर्जक व्यक्तित्व (पोइटिक अथवा क्रियेटिव पर्सनेलिटी) भी कहते हैं। यह सर्जक व्यक्तित्व कवि के सामान्य मानवीय अर्थात् लौकिक व्यक्तित्व से सर्वथा पृथक् और विशिष्ट प्रकार का होता है। इलियट जहाँ कहते हैं कि कवि काव्य मे अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नही करता- अथवा 'काव्य व्यक्तित्व से पलायन' है, वहाँ उनका तात्पर्य कवि के उसी सामान्य, लौकिक व्यक्तित्व से है, भोक्ता व्यक्ति रूप कवि से है, उसके सर्जक व्यक्तित्व से नही। कवि के सर्जक व्यक्तित्व के योगदान के अभाव मे काव्य की कल्पना ही असगत है। इलियट ने भी इस तथ्य को भली-भाति हृदयगम किया है। वे काव्य सृजन में कवि की महत्ता स्वीकार न करते हो, अथवा उसकी अनिवार्य-अपेक्षा न मानते हो, ऐसी बात नही है—यह प्लेटिनम वाले रूपक से सिद्ध है। जिस प्रकार प्लेटिनम की उपस्थिति में ही दोनो गैसे मिलकर एसिड बना पाती है, भले ही प्लेटिनम अप्रभावित रहता हो, उसी प्रकार कवि के सर्जक व्यक्तित्व की मौजूदगी मे अथवा उसके माध्यम से भाव एव भावनाए काव्य रूप में व्यक्त हो पाती है, भले ही कवि-व्यक्तित्व अप्रभावित रहता हो। यह अप्रभावित रहने वाला और अघुलनशील व्यक्तित्व कवि का सामान्य मानवीय व्यक्तित्व होता है, क्योंकि काव्य में कवि के वैयक्तिक भावो, उसके निजी अनुभवो की अभिव्यक्ति नही होती अपितु उसके कलात्मक अनुभव (पाइटिक या क्रियेटिव एक्सपीरियस) की अभिव्यक्ति होती है जो कवि के सर्जक व्यक्तित्व के माध्यम मे होती है। निजी भाव, व्यक्तिगत अनुभव लौकिक, ससर्गयुक्त एव सुख-दुखात्मक होते है, और यही कारण है कि वे आस्वाद्य नही हो सकते। काव्य का अनुभव अन्य सभी प्रकार के लौकिक अनुभवो से विलक्षण है, इलियट इसे स्वीकार करते हैं [१] "दि एन्ड आफ दि एन्ज्वायमेन्ट आफ पोइट्री इज ए प्योर कन्टेम्प्लेशन फ्राम ह्विच आल दि ऐक्सिडेन्ट्स आफ पर्सनल इमोशन आर रिमूव्ड"[१] और [२] "दि इफेक्ट आफ ए वर्क आफ आर्ट अपान दि पर्सन हू एन्ज्वायज इट इज एन एक्सपीरियस डिफरेन्ट इन काइंड फ्राम एनी एक्सपीरियस नाट आफ आर्ट"[२]। काव्यानन्द विलक्षण इसीलिए है कि काव्य कवि के उस विशिष्ट सर्जनात्मक व्यक्तित्व का प्रतिफलन है जो व्यक्तिगत ससर्गो से मुक्त होता है, और व्यक्तिगत ससर्ग मुक्त सहृदय द्वारा ही आस्वाद्य होता है। भावन एव सृजन के क्षणो में कवि अपने सामान्य, ससारी व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है, वैयक्तिक राग-द्वेषो मे मुक्त हो जाता है, जिसका सहज परिणाम यह होता है कि कवि का किसी विशिष्ट स्थिति, किसी विशिष्ट घटना अथवा भाव का अनुभव भावन के क्रम मे देशकालादि की सीमाओ मे मुक्त होता हुआ कलात्मक अनुभव में रूपान्तरित होकर आस्वाद्य बन जाता है। यह सब कवि की सर्जनात्मक कल्पना अथवा प्रतिभा के सहारे होता है। इलियट के

१—व २—सेक्रेट वुड।

अनुसार काव्य मे निर्वैयक्तिकता की सिद्धि की प्रक्रिया और उसका स्वरूप यही हो सकता है। उन्होने लिखा भी है कि जो कलाकार जितना अधिक पूर्ण एव परिपक्व होगा उसमे भोक्ता व्यक्ति एव स्रष्टा मन का पार्थक्य उतना ही अधिक स्पष्ट और पूर्ण होगा।[१] अर्थात् प्रौढ कवि अपने काव्य को अधिक से अधिक निर्वैयक्तिक बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह निर्वैयक्तिकता केवल कवि के निजी भावो का अपसरण नही है, अपितु निजी मात्र भाव का अपसरण है, वैयक्तिकता मात्र का अपसरण है। इलियट ने इस तथ्य को अपने अनेक कथनो मे स्वीकार किया है —

[क] "महान् कला निर्वैयक्तिक होती है, इस अर्थ में कि व्यक्तिगत सवेद और व्यक्तिगत अनुभव विस्तृत होकर एक प्रकार के निर्वैयक्तिक में पूर्णता प्राप्त करते है, इस अर्थ मे नही कि व्यक्तिगत अनुभव तथा मनोविकार से वे विच्छिन्न हो जाते है।"[२]

[ख] "काव्य के आस्वाद का लक्ष्य एक ऐसा विशुद्ध अनुचिन्तन है जिस पर से वैयक्तिक सवेगो की सभी प्रकार की हलचले अपसृत हो जाती है।"[३]

[ग] "The program of an artist is a conditional self-sacrifice, a conditional extinction of personlity."[४]

[घ] " Retaining all the particularity of his experience, to make of it a generat symbol "[५]

इलियट काव्य मे कवि-व्यक्तित्व के निरन्तर विलय की बात करते हैं, परम्परा के प्रति कवि के पूर्ण आत्म-समर्पण को श्रेय मानते है। 'साधारणीकरण' के अन्तर्गत भी इस संबध में विस्तृत चर्चा की गयी है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे भी काव्य मे कवि के व्यक्तिगत मनोविकार की अभिव्यक्ति को स्वीकार नही किया गया है। ध्वन्यालोक लोचन मे 'शोक श्लोकत्वमागत' की व्याख्या के सदर्भ मे अभिनवगुप्त ने कहा है 'न तु मुने शोक इति मन्तव्यम्', अर्थात् श्लोक रूप मे परिणत होने वाला यह शोक मुनि का व्यक्तिगत मनोविकार नही था। पर क्रौंच वध की इस विशिष्ट घटना को देख कर कवि ने जिस भाव का अनुभव किया, क्या वह उसका निजी भाव नही कहा जायगा? —इसका स्पष्ट उत्तर है कि वह उसका निजी अनुभव तो था, पर निजी भाव या मनोविकार नही। निजी अनुभव भी इस दृष्टि से कि कवि ने उस सारी घटना का एक विशिष्ट रूप, एक विशिष्ट परिवेश में और एक विशिष्ट प्रकार से अनुभव किया और वह विशिष्ट अनुभव कवि की भावयित्री प्रतिभा के योग से कलात्मक अनुभव में रूपान्तरित हो गया। यह कलात्मक अनुभव के अन्तर्गत अनुभूत होने वाला भाव (शोक) न कवि का व्यक्तिगत मनोविकार था, न क्रौंची का और न किसी और का ही। वह भाव वस्तुत काव्योपम भाव

---

१. सैक्रेड वुड।
१ ला सर्पेण्ट की भूमिका।
३. सैक्रेड वुड।
४. सैक्रेड वुड।
५ समीक्षालोक, नगेन्द्र दीक्षित, पृ० ५७२ पर उद्धृत।

था जो कवि के मानस मे उत्पन्न हुआ था। और कवि-प्रतिभा के योगदान से सार्वभौम वन गया था। "सार्वभौम" का अर्थ 'प्रत्येक का' नही है, अपितु 'किसी का न होते हुए सवका' है, यह 'पर्सनल इम्पर्सनल अनुभव' या 'भाव' है, उसकी सत्ता वस्तुरूप है। हुआ यह कि वध की घटना देखते समय कवि-मानस में सस्कार रूप में सुप्त स्थायी भाव शोक जागृत हुआ। स्थायी भाव प्रकृत्या सार्वभौम होने के कारण साधारणीकरण की सभावना से युक्त होता है। डा० निर्मला जैन ने स्थायी के सार्वभौम स्वरूप के विषय मे लिखा है " अन्य भावो के साथ स्थायी का वही सम्वन्ध है जो विशेषो के साथ सामान्य का होता है। जिस प्रकार काव्यगत चरित्रो एव विम्वो मे अनेक छोटे-छोटे व्यौरो के वीच एक सामान्य तत्त्व अन्तर्निहित रहता है, उसी प्रकार काव्यगत भावो में भी अनेक सचारियो के वीच एक स्थायी की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। इस प्रकार स्थायी भाव प्रकृत्या 'सामान्य' ही होते है। सामान्य होने के कारण ही स्थायी भावो के साधारणीकरण की समस्त सभावना उनकी प्रकृति में ही विद्यमान है।"[१]

इस प्रकार, साधारणीकरण सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य मे काव्योपम, सार्वभौम स्थायी की अभिव्यक्ति का स्वीकार प्रकारान्तर से कवि का अपने निजी व्यक्तित्व, निजी भाव, का सार्वभौम के प्रति समर्पण तथा काव्य में निर्वैयक्तिकता की सिद्धि ही है। स्मरणीय है कि इलियट ने अपने समस्त काव्य-चिन्तन में स्थायी भाव जैसे किसी तत्त्व का उल्लेख नही किया है, पाश्चात्य काव्य चिंतन मे स्थायी की धारणा ही अनुपलव्ध है। पर इलियट जिसे 'परम्परा' अथवा 'सामूहिक भाव अथवा चेतना' का अभिधान दे रहे हैं, वह दूसरी शब्दावली में स्थायी भाव ही है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने एक स्थान पर अवश्य कहा है —" " Those elementary feelings which subsist permanently in the race " जिसमें स्थायी भाव का सकेत प्राप्त किया जा सकता है, और इलियट, जिन पर आर्नाल्ड का पर्याप्त प्रभाव है, ने भी कहा है —"Not to find new emotions but to use the ordinary ones "। इस कथन मे भी स्थायी का सकेत मिलता है। वैसे, इलियट की 'परम्परा' में सामूहिक भाव का और 'सामूहिक भाव' में स्थायी का समावेश है, और सामूहिक भाव व्यक्तिगत ससर्ग युक्त नही होते। जहाँ इलियट कहते हैं कि काव्य व्यक्तित्व से पलायन है, वहाँ वे कवि के लौकिक, विल्कुल निजी व्यक्तित्व का परिहार तो स्वीकार करते ही है[२], उनका आशय व्यक्तित्व-मात्र के परिहार से है, यह पहले वताया गया है। इसका सहज परिणाम यह है कि काव्य वर्णित भाव काव्योपम हो जाता है, वह न मेरा रह जाता है, न तेरा, न कवि का और न किसी और का, उसकी सत्ता वस्तुनिष्ठ हो जाती है और इसलिए वह सर्वजन-ग्राह्य वन जाता है। इस प्रकार 'महान् कला निर्वैयक्तिक होती है,—इलियट की प्रस्तुत उपपत्ति का आशय स्पष्ट है। पर, जैसा कहा जा चुका है, इलियट काव्य में कवि-व्यक्ति मात्र का निषेध नही करते, क्योंकि ऐसा करने पर रचनागत वैशिष्ट्य के औचित्य को सिद्ध करना प्राय अस-

१. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, पृ० २०६-२०७।

२ एक ओर वास्तविक जीवन सदैव विषय सामग्री है और दूसरी ओर वास्तविक जीवन से अपसरण कलाकृति के सृजन के लिए आवश्यक शर्त है।"

—सेलेक्टेड एसेज, पृ० १११।

भव हो जायगा। इसलिए उन्होंने स्वय लिखा है:" Retaining all the particularity of his experience, to make of it a general symbol।" अतएव इलियट के विवेचन में कवि के सर्जनात्मक व्यक्तित्व के योगदान का निषेध नही है। काव्यास्वाद के विषय में एम० हिरियाना ने लिखा है " it is a personal empersonal experience।"[1] लौकिक व्यक्तित्व और निजी भावो का अपसरण हो जाने पर काव्य वैयक्तिकता और अतिशय भावुकता से मुक्त हो कर सतुलित और व्यवस्थित हो जाता है, जिसकी सिद्धि इलियट को अभिप्रेत है। सृजन के धरातल पर यदि कवि आत्मसमर्पण के द्वारा निर्वैयक्तिकता की सिद्धि करता हुआ काव्य को वस्तुनिष्ठ एव सर्वजनग्राह्य रूप प्रदान करता है तो आस्वाद के धरातल पर सामाजिक भावावेश, यहाँ तक कि व्यक्तिगत रागद्वेष मात्र, से मुक्त हो कर काव्य के आस्वादन में प्रवृत्त होता है।

इलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त अथवा वस्तुनिष्ठता के सिद्धान्त का एक अन्य पक्ष है जिसका सम्बन्ध भाव-व्यजना के माध्यम से है। इलियट की मान्यता है कि कवि अपने मानसगत काव्योपम भाव को सीधे पाठक तक सप्रेषित नही कर सकता, उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए मूर्त्त माध्यम की आवश्यकता है। अपने एक प्रसिद्ध निबन्ध 'हैमलेट एण्ड हिज प्राब्लम्स' में हैमलेट के सदर्भ में उक्त माध्यम के स्वरूप की चर्चा करते हुए इलियट ने लिखा है—'कला के रूप मे सवेगो की अभिव्यक्ति का एकमात्र ढग वस्तुगत सहसबन्धो की खोज है, दूसरे शब्दो में वस्तुओ की एक राशि, एक स्थिति, घटनाओ की एक शृखला जो उस सवेग विशेष के लिए 'फार्मूला' है जिसमे ऐन्द्रिय अनुभव में परिणत होने वाले बाह्य तथ्यो के प्रस्तुत होने पर वह सवेग तत्काल उद्बुद्ध हो जाता है।'[1] इलियट की यह शब्दावली काफी स्पष्ट है। काव्योपम भावो को कवि कुछ ऐसी स्थितियो, वस्तुओ, घटनाओ आदि के माध्यम से प्रस्तुत करता है कि उनसे सपर्क स्थापित होते ही पाठक के मानस में भी तत्काल वह सवेग उद्बुद्ध हो जाता है जिसकी अभिव्यक्ति के निमित्त से वस्तुए आदि 'फार्मूला' बनी है। इस प्रकार यह सामग्री (वस्तुगत सह-सबधी वस्तुए, स्थितियाँ, घटनाएँ) कवि की अमूर्त अनुभूति, काव्योपम भाव, का मूर्त्त रूप है जिनसे कवि एव ग्राहक के बीच सबध सूत्र स्थापित होता है।

साधारणीकरण सिद्धान्त के अन्तर्गत भी कवि के अन्तर्गत काव्योपम भाव के सम्मूर्तन का विशद विवेचन है। इलियट के वस्तुगत सह सबधियो के समकक्ष संस्कृत काव्यशास्त्र के विभावानुभावादि प्रस्तुत किये जा सकते है। कवि भावो को उन्ही वस्तुरूप विभावानुभावो के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, जिन से साक्षात्कार होते ही पाठक के हृदय में वही भाव उद्बुद्ध हो उठते है। एक प्रकार से वे वस्तुगत सहसबधी, विभावानुभाव, भाव के कारण है। पर संस्कृत काव्यशास्त्र मे इसका निर्भ्रांत विवेचन है कि ये विभावानुभाव लौकिक कारण नही है। और न उनके साक्षात्कार से सहृदय-हृदय में उद्बुद्ध होने वाला भाव लौकिक भाव ही है। लौकिक कारण एव भाव से इनके पार्थक्य एव वैलक्षण्य के बोध के लिए ही उन्हे

---

१. आर्ट एक्सपीरिएंस—एम० हिरियाना।

२ सेलेक्टेड एसेज, पृ० १२४-२५।

विभाव, स्थायीभाव आदि सज्ञाए दी गयी हैं। ध्वन्यालोक लोचन में अभिनवगुप्त ने यह चर्चा उठायी है कि विभावानुभावो से भाव किस प्रकार उद्‌वुद्ध अथवा अभिव्यक्त होते है और इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने वताया है कि वे घट-दीप-न्याय से प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त होते है, विभाव और स्थायीभाव में कोई तार्किक अथवा आनुमानिक सम्वन्ध नही हैं। इलियट ने भावव्यजना की प्रक्रिया पर सभवत कोई प्रकाश नही डाला। पर यह उन्होंने अवश्य कहा है कि कवि अपने भावो को पाठक तक सीधे सप्रेपित नही कर सकता, सप्रेषण के लिए मूर्त माध्यम की आवश्यकता है। भारतीय काव्यशास्त्र के एक आधुनिक अध्येता श्रीकृष्ण रायन ने अपने एक निवन्ध 'रस और वस्तुगत सह-सम्वन्धी' मे इस विपय पर प्रश्न उठाया है कि 'भाव और ऐन्द्रिय सहसम्वन्वियो के बीच जो सम्वन्ध भाव होता है, उसकी निश्चित प्रकृति क्या है और फिर वह प्रक्रिया क्या है जिससे भाव का उदय होता है?' और अभिनवगुप्त के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री रायन ने कहा है कि 'काव्य के अन्तर्गत ऐन्द्रिय सह सम्बन्धी कहलाने वाली वस्तुए भाव को उसी प्रकार व्यंजित करती हैं जिस प्रकार ध्वनि के सहारे शब्द अर्थ को व्यजित करते हैं।'[१] श्री रायन ने आधुनिक शब्दावली मे काव्यगत वस्तु को भाव का 'व्यजक सहधर्मी' कहा है।[२]

इलियट के कुछ समीक्षको के अनुसार इस प्रकार की विचारधारा का प्रतिपादन इलियट से पूर्व अन्य कई आलोचक कर चुके थे। उदाहरण के लिए प्रोफेसर मेरियो प्राज ने इस सिद्धान्त का स्रोत एजरा पाउण्ड के प्रस्तुत कथन में स्वीकार किया है 'कविता एक प्रकार का प्रातिभ गणित है, जो हमें समीकरण प्रदान करता है—अमूर्त आकारो त्रिकोणो, वृत्तो आदि के समीकरण नही, वल्कि मानव सवेगो के समीकरण।[3] कुछ विद्वानो ने इलियट के उक्त मत का मूल फ्रासीसी प्रतीकवादियो के काव्य-विषयक विवेचनो में खोजने की चेष्टा की है। प्रतीकवादियो की मान्यता है कि कविता भावो को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त नही कर सकती, भाव केवल उद्‌वुद्ध किये जा सकते हैं। वस्तुस्थिति चाहें जो हो, इलियट के 'वस्तुगत सहसवधी' के सिद्धान्त की अनेक दृष्टियो से आलोचना की गयी है। एक तो यह कहा गया है कि इलियट ने प्रस्तुत सिद्धान्त का प्रतिपादन यद्यपि काव्य की वैयक्तिकता एव भावावेगमयता के प्रति विरोध भाव व्यक्त करते हुए किया था और उसे वस्तुनिष्ठ रूप प्रदान करना चाहा था, तथापि उक्त सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप मे भावाभिव्यक्ति पर ही वल देता है, क्योकि वस्तुगत सह सबधी अन्तत भाव को ही अभिव्यक्त करते है। अतएव, कुल मिलाकर यह सिद्धान्त भाव को ही काव्य का आधारभूत तत्व स्वीकार करता है।[४]

इलियट और उनके प्रस्तुत सिद्धान्त पर यह आक्षेप लगाया जाना कदाचित् सगत नही

---

१ व्रिटिश जर्नल आफ एस्थेटिक्स, जुलाई '६५, पृष्ठ ३५०-५१।

२ रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, निर्मला जैन।

३ दि स्पिरिट आफ रोमान्स, पृ० ५।

४ "In this Eliat accepts inspite of his avowed classicision that' the artist is primarily concerned with tenstion"

—क्रियेशन एण्ड डिस्कवरी, इलीसियो वाइवस, पृ० २४८।

है, क्योकि उन्होने काव्य की सत्ता, अथवा भावाभिव्यक्ति मात्र का निषेध नही किया है, उन्होने एक ओर तो काव्य मे वैयक्तिक भावो की अभिव्यक्ति का निषेध किया है और दूसरी ओर रोमानी काव्य जैसी अतिशय भावावेगमयता का। प्रस्तुत सिद्धान्त के प्रतिपादन से वे बहुत कुछ अपने उद्देश्य की सिद्धि मे सफल हुए हैं, क्योकि वस्तुगत सह-सबंधियो के माध्यम से अभिव्यक्त काव्योपमभाव भी वस्तुनिष्ठ स्वरूप प्राप्त कर लेता है, इस अर्थ मे कि वह किसी एक का न रहता हुआ भी सर्वजन सवेद्य बन जाता है।

कुछ अन्य विचारको ने हैमलेट एण्ड हिज़ प्राब्लम्स मे इलियट के उक्त वक्तव्य में प्रयुक्त 'सवेग' शब्द पर आपत्ति की है, और इलियट पर आक्षेप करते हुए कहा है कि जिस भाषा मे इलियट ने उपर्युक्त सदर्भ में भावव्यजना की वस्तुनिष्ठता का निरूपण किया है, वह अभिव्यजनावादी भावात्मकता का आभास देती है, साथ ही वह इतनी तर्कशिथिल है कि उसमें वस्तुनिष्ठता की अभीष्ट प्रतिष्ठा नही हो पाती।"[1] इस सदर्भ मे विलियम विमसैट ने इलियट के उक्त कथन के स्थान पर उनके एक अन्य कथन को वस्तुगत सह-सबधी के सिद्धान्त का अपेक्षाकृत अधिक सतोषजनक रूप माना है। इलियट का वह कथन इस प्रकार है "वे अपने सर्वोत्तम रूप में मन की स्थितियो और अनुभूतियो के लिए शाब्दिक पर्याय खोजने के प्रयास मे सलग्न थे।"[2] विमसैट के अनुसार प्रस्तुत कथन मे "सवेग" के स्थान पर 'मन की स्थितियो और अनुभूति' पद का प्रयोग अधिक परिष्कृत एव सतोषप्रद है। श्रीकृष्ण रायन ने इलियट के प्रस्तुत कथन पर एक अन्य दृष्टि से आक्षेप किया है, यद्यपि यह आक्षेप अप्रत्यक्ष है। उन्होने प्रश्न उठाया है कि वह वास्तविक प्रक्रिया क्या है जिसके द्वारा लौकिक पदार्थ आस्वाद्य पदार्थो मे परिणत हो जाते है ?—और इसका उत्तर देते हुए -उन्होने कहा है कि सस्कृत और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इसका उत्तर एक सा ही है—'साधारणीकरण'। परन्तु इलियट की अपनी स्वय की रचनाओ मे उनके निजी बिम्ब किस प्रकार एक सामान्य अर्थवत्ता से युक्त वस्तुगत सह सबन्धी हो जाते है—इलियट के समीक्षक इसके स्पष्टीकरण में असमर्थ रहे है।[3] श्री रायन के प्रस्तुत वक्तव्य को इलियट के उक्त सिद्धान्त पर अप्रत्यक्ष आरोप माना जा सकता है। उन्होने आगे कहा है कि सस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण सिद्धान्त की व्याख्या के अन्तर्गत सामग्री के साधारणीकरण का विधान नही है, अपितु उसे एक ऐसी प्रक्रिया के रूप मे निरूपित किया गया है जो वस्तुत सहृदय-हृदय में घटित होती है। अभिनव के अनुसार साधारणीकरण शैली, आलकारिक अभिव्यक्ति और लय के द्वारा, तथा सगीत, गान और नृत्य के द्वारा सभव होता है, ये सब कवि की सामग्री को प्रभावित नही करते अपितु ग्राहक के मन को प्रभावित करते हुए उसे लौकिक जगत् से ऊपर उठाकर सौन्दर्य लोक मे समासीन कर देते हं, जहाँ लौकिक, निजी और विशिष्ट का कोई स्थान नही रहता। इसमें कोई संदेह नही कि साधारणीकरण की प्रक्रिया का जितना सूक्ष्म, विशद और

---

१ रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, निर्मला जैन, पृ० ३२९।

२ "The metaphysical, were, at best, engaged in the task of trying to find the verbal equivalent for states of mind and feeling"

सेलेक्टेड एसेज़ पृ० २४८

सागोपांग विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में हुआ है, उतना अन्यत्र कही भी नही हुआ, और इलियट ने तो कोई सुव्यवस्थित आलोचना-ग्रंथ लिखा भी नही है, इसीलिए उनके फुटकर आलोचनात्मक निवन्धो में साधारणीकरण अथवा 'यूनिवर्सलाइज़ेशन' का उतना सूक्ष्म और विशद विवेचन ढूँढना कदाचित् सगत न होगा, और इतना निश्चित ही है कि इलियट ने इस सम्वन्ध में उस मूलभूत तथ्य का सकेत किया ही है उसकी ओर श्री रायन ने ध्यान आकृष्ट किया है। और उनका निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त कवि और ग्राहक दोनो पक्षो पर समान रूप से लागू किया जा सकता है, यह ऊपर वताया जा चुका है।

यहाँ तक तो इलियट के सिद्धान्त-विवेचन मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होती। पर इसके आगे, जहाँ वे परस्पर विरोधी कथन कहते हैं, वहाँ से कठिनाई की शुरुआत होती है। इलियट का सृजन-प्रक्रिया विषयक विवेचन समग्र सृजन-प्रकिया को दो स्पष्ट भागों में बाँट देता है। एक तो यह कि कवि पहले अपने मन में किसी विशिष्ट भाव या अनुभूति की अभिव्यक्ति का निश्चय करता है, और दूसरा यह कि इस निश्चय के अनन्तर वह उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए समुचित ''आव्जेक्टिव को रिलेटिव्स' ढूँढता है। इस सम्वन्ध में इलियट का कथन है "कवि का मन वास्तव में एक ऐसा ग्रहण यत्र है, जो उन सभी अगणित अनुभूतियों, वाक्याशो तथा विम्वो को ग्रहण करता है और जमा करता है जो वहाँ पर तव तक पडे रहते हैं जव तक "नवमिश्रित" वस्तु को रूप प्रदान करने के लिए सभी तत्त्व एक साथ उपस्थित नही हो जाते।"[१] इलियट के सुप्रसिद्ध समीक्षक इलीसियो वाइवस ने इलियट के मत पर आपत्ति करते हुए कहा है "

"Feelings stored up in the poet's mind, which is in fact a storage receptacle, words for which feelings want in order to attach themselves at the time of composition, the pre-established harmony that must be asumed to exist between the waithing feeling and its verbal garment, the very assumption that a feeling can exist by itself in the mind and wait without symbolic expression of any kind—all this is very dubious"[२].

इलीसियो वाइवस की यह आपत्ति वहुत ही उचित है। इलियट के निम्नलिखित कथनों के साथ उनके उक्त कथन को रखकर विचारने पर यह आपत्ति और भी प्रखर हो उठती है :—

---

१ The poet's mind is in fact a receptacle for seizing and storing up numberless feelings, phrases, images, which remain there until all the particles which can unite to form a view compound are present togather."

२ क्रिएशन एड डिस्कवरी, पृ० १७६।

[क] 'कवि तब तक यह नही जानता कि उसे क्या कहना है जब तक कि उसने कह नही लिया है।"[१]

[ख] "... we do not know until the shell dreaks what kind of egg is laying under it ।[२]

यहाँ इलियट यह भी कहना चाहते हैं कि जब तक कविता कागज़ पर शब्दमूर्त्त नही हो जाती तब तक उसके स्वरूप, उसके वर्ण्य के विषय मे प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है। इलियट के उक्त दोनो कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं और उनमें सगति बैठाना कठिन है। यदि कविता के शब्दमूर्त होने के पूर्व इलियट के कवि को वर्ण्य की प्रकृति का कोई भान ही नही रहता तो वह वस्तुगत सह सबधियो की योजना किस आधार पर करता है? काव्य के स्तर पर इलियट ने 'व्यवस्था' अथवा 'order' की आवश्यकता बताई है, पर ऐसी स्थिति में भावो की शब्दगत व्यवस्था का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? 'व्यवस्था' की सभावना तो तभी है जब कि भावो का, अनुभूतियो का, ठीक स्वरूप ज्ञात हो।' 'मेटाफिजिकल कवियो' पर विचार करते समय इलियट ने उनके 'वर्बल इक्वीवेलेंट' ढूँढने और 'अत्यधिक व्यस्तता' के साथ ढूँढने का उल्लेख किया है। अर्थात् इलियट के अनुसार ऐसा नही है कि कवि-मानस में भावोदय के साथ ही उसके वस्तुगत सहसबधी का उदय हो जाता हो, कवि को उसे या उन्हें व्यस्ततापूर्वक ढूँढना पडता है। पर भाव की प्रकृति, उसके स्वरूप के स्पष्ट अवबोध के अभाव में वह किसके लिए, किस आधार पर और किस प्रकार वस्तुगत सह-सबंधी ढूँढता है? और शब्दमूर्त्त होने के पूर्व भाव बिना किसी प्रतीक के आश्रय के किस रूप में कवि-मानस मे एकत्र रहते हैं? इसके अतिरिक्त, इलियट ने कही यह भी स्पष्ट नही किया कि कविता भावो को उद्बुद्ध करती है या अभिव्यक्त करती है? यदि वह भावो को अभिव्यक्त करती है तो प्रश्न है कि जड वस्तुगत सह सबधी इसमें किस प्रकार समर्थ हो पाते है?—चेतन भाव को वे कैसे अभिव्यक्त कर सकते हैं? और यदि कविता भावो को उद्बुद्ध करती है तो यह इलियट के स्वय के 'निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त' के विपरीत है, क्योकि वह तो काव्य में प्रत्येक प्रकार के व्यक्तिगत भाव के निषेध को स्वीकार करता है। वैसे, इसका समाधान कदाचित् यह कह कर किया जा सकता है कि इलियट अन्य किसी उपयुक्त 'शब्दावली के अभाव में 'रस' रूप भाव को ही भाव कह रहे हैं, भावोद्बुद्धि से उनका तात्पर्य लौकिक, विशिष्ट भावो से नही है, क्योंकि काव्य के आस्वादन को वे 'विशिष्ट' स्वीकार करते है। परन्तु अन्य शकाओं का समाधान इलियट के काव्य विषयक विवेचन से नही हो पाता।

भारतीय साधारणीकरण सिद्धान्त में इस प्रकार की कोई सदिग्ध स्थिति नही है। वहाँ सहृदय के चित्त में वस्तु और भाव के उदय का प्राय एक साथ ही होना स्वीकार किया गया है, और यह साधारणीकरण सिद्धान्त के अन्तर्गत वस्तुतत्व और आत्मतत्व के अभेद, उनके सह-अस्तित्व के प्रतिपादन, का स्पष्ट प्रमाण है। वाल्मीकि के श्लोक के प्रसग में रचना-प्रक्रिया की चर्चा से यह स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि कवि-मानस में भी वस्तु और भाव का

१ दि यूज़ आफ पोइट्री एंड दि यूज़ आफ क्रिटिसिज़्म।

२ सेलेक्टेड एसेज़,

उदय प्राय एक साथ ही होता है। रस को 'झटिति प्रत्यय' कहा गया है। आस्वादन-प्रक्रिया के विवेचन मे यह बताया गया है कि मुख्यार्थ से व्यग्यार्थ का बोध असलक्ष्यक्रमरीति से तुरन्त घटित होता है। वाच्य वाचक रचना प्रपंच से चारु काव्य के पारायण से सहृदय के व्यक्तिगत रागद्वेष तिरोहित होने लगते है, जिसके फलस्वरूप उसके हृदय मे उद्वुद्ध स्थायी रस रूप मे आस्वाद्य होता है। इलियट काव्यास्वाद में सहृदय को द्रवित करने की क्षमता स्वीकार करते हैं। अपने एक प्रसिद्ध निवध 'दि म्यूज़िक आफ पाइट्री' में उन्होने लिखा है 'If we are moved by a poem, it has meant something, perhaps something important, to us, if we are not moved, then it is, as poetry, meaningless," सस्कृत-काव्यशास्त्र भी रसास्वाद में सहृदय को द्रवित करने की सामर्थ्य मानता है यह रसास्वाद का एक विशेप गुण है। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है इलियट का काव्य-विवेचन अनेक रूपो में भारतीय साधारणीकरण सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है और इलियट काव्यास्वाद की समस्या को अपने ढग से हल करने में वहुत दूर तक सफल भी है तथापि साधारणीकरण सिद्धान्त जैसी सर्वांग-सम्पूर्णता, सगति एव क्रमवद्धता उनके विवेचन मे नही मिलती।



अपभ्रंश वैयाकरणों तथा प्राचीन हिंदी कवियों के भाषा विषयक उल्लेख

रामसिंह तोमर

प्राकृतापभ्र श के वैयाकरणो ने कही कही भापा के सवध में ऐमे उल्लेख किये हैं जिनकी व्याख्या अपेक्षित थी, किन्तु की नही गयी। प्राकृतो के विवेचन मे यह कही किसी वैयाकरण ने नही कहा कि कौन सी प्राकृत प्रधान है, फिर भी नामोल्लेख किए विना ही आधारभूत एक प्राकृत का रूप वैयाकरणो के मन में था। हेमचद्र ने इस आधारभूत स्तरीय प्राकृत को कोई नाम नही दिया है उसे केवल प्राकृत ही कहा है। शौरसेनी की विशेपताओ का सत्ताईस सूत्रो में उल्लेख करके कह दिया है 'शेप प्राक्रतवत्' अर्थात् अन्य विशेपताये प्राकृत के समान ही हैं। मागवी के विवेचन के पश्चात् कहा है 'शेप शौरसेनीवत्' अर्थात् मागवी के सवध में जो कुछ कहा है उसके अतिरिक्त अन्य विशेपताये शौरमेनी के समान रहेंगी। शौरसेनी का विवेचन मात्र सत्ताईस सूत्रो में करके कहा है कि 'शेप प्राकृतवत्'। प्रकारान्तर से अर्थ हुआ कि मागघी का भी मूल आधार वह सामान्य प्राकृत है जिसको हेमचद्र ने कोई नाम नही दिया है। पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रश के विवेचन के अत मे भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं 'शेप 'शौरसेनीवत्', 'शेप प्राग्वत्, शौरसेनीवत्।' इन उल्लेखो से शौरसेनी का महत्त्व अवश्य प्रकट होता है किन्तु यह स्पष्ट नही होता कि 'प्राकृत' नाम से जिम भापा का विवेचन हुआ है उसका क्षेत्र कहाँ था, तथा उसका नाम क्या था। सभव है वह साहित्यिक प्राकृत हो, शब्दो का विवेचन करते हुए कही कही कहा है कि महाराष्ट्र, विदर्भ आदि प्रदेशो में व्यवहृत शब्दो से उदाहरण देखना चाहिये। प्राकृत के उपलब्ध माहित्य के आधार पर इसका विवेचन किया जा सकता है। विद्वानो ने तथा कुछ वैयाकरणो ने इसे 'माहाराष्ट्र' कहा है। जो हो इस प्रश्न पर वैयाकरण एक मत नही हैं, शौरसेनी, मागधी के क्षेत्र प्राय निश्चित है किन्तु महाराष्ट्री का क्षेत्र क्या था इस पर कोई निश्चित प्रकाश अभी तक नही पडा है। प्राकृत के सभी वैयाकरण प्राकृतो के अनेक भेदो का विना सीमा निर्धारित किए उल्लेख करते हैं। भरत दण्डी जैसे काव्य समीक्षको के प्राकृत विपयक उल्लेखो का भी वैयाकरणो पर बहुत प्रभाव पडा होगा।

दण्डी ने माहाराष्ट्री प्राकृत के साहित्य की भूरिभूरि प्रशसा की है, फलस्वरूप माहाराष्ट्री प्राकृत को प्रधान माना जाने लगा, फिर भी आश्चर्य है हेमचद्र जैसे वैयाकरण ने उसका उल्लेख नही किया। इसका अर्थ है वे दण्डी के मत को नही मानते थे। काव्यरचना या श्रेष्ठ काव्यकृतियो के प्रसग में दण्डी के मत का महत्त्व है, भाषाविज्ञान की दृष्टि से उन्होंने जो कुछ कहा है वह विशेप महत्त्व का नही है। नाट्य-समीक्षकों ने नाटको में विभिन्न पात्रो द्वारा प्रयुक्त होने वाली भाषा के सवध में जिन नियमो का उल्लेख किया है वे भी रूढि या परंपरा का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं। प्राकृतो में से मागधी और दोनों या निश्चय ...

लेना निश्चय ही किमी भाषा के स्वरूप को बताने में सहायक नही हो सकता, नाट्य-शास्त्रियो के उल्लेख केवल इतनी सहायता करते हैं कि प्राकृतो के विभिन्न नामो की सूची हमें प्राप्त हो जाती है। भोज आदि काव्य समीक्षको ने भी प्राकृतो और अपभ्रश के जो उल्लेख किये हैं उनमें से कुछ इस लिए महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक भेद को स्पष्ट करने के लिए कुछ पद्य उदाहरण रूप में उद्धृत किये गए हैं। प्राकृतो के भाषा, विभाषादि भेदो का भी उल्लेख हुआ है किन्तु उससे स्थिति स्पष्ट नही होती। प्राकृत के सबन्ध में हेमचन्द्र ने जो विवेचन किया है वही वास्तव में स्पष्ट है। अन्य भेदो उपभेदो का कोई विवेचन न होने से उल्टा उल्लेख मात्र हमारी कोई सहायता नही करता। वररुचि और हेमचद्र के पीछे के वैयाकरणो ने ही ऐसे उल्लेख किए है वे दूसरो के मतो के सग्रहमात्र हैं।

प्राकृत के उद्भव के सबन्ध में कोई भी तर्कसगत प्रमाणपुष्ट तथ्य हमारे सामने नही है। हेमचद्र ने इस प्रश्न पर विचार किया है और जब वे कहते हैं कि प्राकृत की प्रकृति सस्कृत है, उसी से जो उत्पन्न हुई है या आई है वह प्राकृत है। अपने इस कथन को स्पष्ट करते हुए उन्होने आगे कहा है—प्राकृत में प्रकृति, प्रत्यय, लिङ्ग, कारक समास सज्ञा आदि सस्कृत के समान ही जानना चाहिए। इस कथन में कही भी अस्पष्टता नही है। इससे यह तात्पर्य नही निकलता कि सस्कृत से प्राकृत बनी है, प्राकृत के व्याकरण का ढांचा सस्कृत के ही समान है, उसके व्याकरण के ही आधार पर प्राकृत के व्याकरण की रचना हुई है—अनेक बाते एक समान हैं—यही उनके कथन का तात्पर्य है। प्राकृत और सस्कृत एक दूसरे की पूरक शाखाये हैं। वैदिक सस्कृत तथा साहित्यिक सस्कृत का ज्ञान प्राकृत के अच्छे ज्ञान के बिना अधूरा ही रहेगा, यही बात प्राकृत ज्ञान के विषय में कही जा सकती है।

वररुचि और हेमचद्र के पश्चात् प्राकृतापभ्रंश के वैयाकरणो के समय में प्राकृतें मात्र साहित्यिक भाषा के रूप में शेष रह गई थी। अत चौदहवी शती के बाद के या उसके आस-पास के जिन वैयाकरणो ने प्राकृत या अपभ्रशो के भेदो का उल्लेख किया है वह उनके सम्मुख विद्यमान व्याकरण या काव्य समीक्षा के ग्रथो के आधार पर हुआ है। हेमचन्द्र (बारहवी शती ई०) के पश्चात् त्रिविक्रम (तेरहवी शती ई०) सिंहराज (चौदहवी शती ई०), लक्ष्मीधर (सोलहवी शती ई०), मार्कण्डेय (सोलहवी शती ई०), अप्पय दीक्षित (सोलहवी शती ई०) प्रमुख प्राकृत वैयाकरण हैं। त्रिविक्रम का आधार हेमचन्द्र का व्याकरण है। उन्होने प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रश छ भाषाओं का विवेचन किया है। प्राकृत या अपभ्रंश के नवीन भेदो का उल्लेख या विवेचन नही किया है। सोलहवी शती में मार्कण्डेय ने अनेक भेदो का उल्लेख किया है—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी के अतिरिक्त आवन्ती प्राकृत का भी अत्यन्त सक्षेप में परिचय दिया है। महाराष्ट्री और शौरसेनी के सकर से आवन्ती बनती है और उसका क्षेत्र अवन्ती प्रदेश है। अन्य ग्रथो में अवन्ती जनपद का उल्लेख मिलता है उसी के आधार पर अवन्ती प्राकृत का मार्कण्डेय ने उल्लेख किया होगा। अवन्ती की जिन विशेषताओ का उल्लेख किया है उनके आधार पर किसी भाषा का ढांचा तैयार नही किया जा सकता। जो हो अवन्ती का भोज ने उल्लेख किया है और उन्होने कही से अवन्ती के उदाहरण के रूप में एक पद्य भी उद्धृत किया है। आवन्ती को उत्तम प्राकृत माना है। मार्कण्डेय ने प्राकृत के व्यापक भेद, संस्कृतसम और देशी का भी उल्लेख किया

है जो भोज की कृति में भी मिलता है । विभाषाओ में शाकारी, चाण्डाली, शावरी, औड्री, आभीरी, टक्की का उल्लेख किया है । लक्षणो का विस्तार से विवेचन नही किया, अत इनके स्वरूप के विपय में कोई निश्चित धारणा नही बनती । अपभ्रश के नागर, व्राच और उपनागर भेदो का विवेचन करके अत में पैशाची, शौरसेन पैशाचिकी और पाचाल पैशाची का सक्षेप में विवेचन किया है । इतने उपभेदो की आधारभूत सामग्री मार्कण्डेय के सामने नही थी, किसी परम्परा के आधार पर यह विभाजित किया गया है ।

मार्कण्डेय के कई शतियो पहले से ही हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ मे काव्य रचना होने लग गई थी, अपभ्रश मे आधुनिक भाषा की कुछ विशेपताएँ अधिक स्पष्ट रूप में दिखने लगी थी । अपभ्रश मे रचना करनेवाले कवि अपनी रचनाओ को कभी अवहस, कभी अवहट्ठ कभी देसिल वयना कहते थे । उनके समसामयिक भाषा कवियो को अपनी भाषा की जानकारी थी, किन्तु प्राकृत और अपभ्रश के सम्बन्ध में कदाचित् उनका ज्ञान बहुत स्पष्ट नही था । प्राकृत और अपभ्रश के वैयाकरणो ने छ भाषाओ का विवेचन किया था । षड्भाषा-चन्द्रिका जैसी रचनाओ से प्रकट होता है कि छ भाषा विपयक धारणा प्रतिष्ठित हो चुकी थी । इसका एक प्रमाण हमें पृथ्वीराज रासो में मिलता है —चन्द वरदाई अपनी षड्भाषा निपुणता का परिचय देने के लिए जयचद के दरबारी कवियो के मुख से कहलाता है ।

अभीरुह माणद जोय लरिसौ डाडिम्म लो वीयलो ।
लोयण्णे चलु चालु चालुयारा विवाउ कीयग्गहे ।
केसीरी के साय वैनिय रसो चक्की भिगी नागवो ।
इदो मध्य सु विद्यमान विहतो एरस्य भाषा छउने ॥

सस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, अपभ्रश की ध्वनि-विषयक एकाध विशेपताएँ उपर्युक्त-पद्य मे मिलती हैं । कही भी चदवरदाई ने भाषाओ का नामोल्लेख नही किया । पृथ्वीराजरासो में अनेक विदेशी शब्दो का प्रयोग हुआ है किन्तु इस पद्य में अरबी फारसी का कोई शब्द नही प्रयुक्त हुआ । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि षड्भाषाओ में वह सस्कृतादि को ही अतर्भुक्त करते थे ।

आगे भिखारीदास ने षड्भाषाओ का स्मरण किया है, 'पारसी' को भी उन्होने उनमे गिनाया है जो स्वाभाविक ही है । उनके समय फारसी चलती थी, एक प्रबुद्ध कवि को उसे स्थान देना ही चाहिए था । जो हो ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा-कवियो को अपनी प्राचीन भाषा परम्परा का ज्ञान अस्पष्ट रूप में ही था ।

इसके विपरीत वैयाकरणो को भी देश के विभिन्न क्षेत्रो मे प्रयुक्त प्राकृतापभ्रशो का पूरा ज्ञान नही था । उदाहरण के लिए मार्कण्डेय ने अनेक प्रकार की प्राकृतो और अपभ्रशो के नाम गिनाये है किन्तु काश्मीरी का उन्हे पता नही था, भोज ने शृगार प्रकाश में काश्मीरी का उल्लेख करते हुए उदाहरण के रूप में एक पद्य भी उद्धृत किया है । यह ध्यान देने योग्य

है कि काश्मीरी अपभ्रश में अभिनवगुप्त के समय से पूर्व से रचना होती चली आ रही थी। परात्रिंशिका की टीका में अभिनव गुप्त ने अनेक अपभ्र श पद्य उद्धृत किये हैं जो मात्रिक छदो में हैं। महानय-प्रकाश जैसी रचनाएँ पूरी अपभ्र श मे हैं। काश्मीरी प्राकृतापभ्रश से सम-सामयिक प्रवुद्ध समीक्षक परिचित अवश्य थे किन्तु वैयाकरणो ने उस पर विचार नही किया उनका यह अज्ञान या उपेक्षा आश्चर्य की वस्तु है।



धर्म-दर्शन खण्ड

●

षट्कोण-यंत्र

(The Hexagon of Basic Symmetry)

श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी वीज विन्दु (Point Matrix) ने अपने को किसी निर्दिष्ट 'तल' या स्तर (Plane) मे दोनो ओर प्रसारित किया—(homoplaner projection in opposite senses or directions)। फलस्वरूप किसी तल पर एक द्विपाक्षिक (bipolar) द्वन्द्व (Contradiction or opposition) सम्भावित हुआ। यह Homoplaner antithesis है, जैसे धन-उत्पादन के क्षेत्र मे एक ही स्तर पर उपाय व पद्धति मे एव एक ही श्रेणी में (जैसे श्रमिक श्रेणी मे) विरोध रहता है, ऐसा ही समतलो या समान-स्तरो में विरोध अन्य क्षेत्रो मे भी रहता है। साधन के क्षेत्र मे भी जैसे समान अधिकार वाले (प्राय एक ही प्रकार की प्रकृति, रुचि, सस्कार व सामर्थ्य वाले) साधक-समुदाय में विविध साधन पद्धति, प्रक्रिया व यन्त्र-तन्त्र का विसम्वादी सम्वन्ध रहता है।

यदि स्तर या तल एक न होकर भिन्न-भिन्न होते तो यह लेख कुछ अन्य होता, जैसे कि यहाँ नरश्रेणी मे श्रमिक व मालिक श्रेणियाँ है, मानस क्षेत्र में व्यक्तमानस (Surface mind) एवं अवमानस (Subconscious) है, तथा आदर्श व वास्तव का भेद है—इत्यादि।

उपर्युक्त दो क्षेत्रो में विरोध एव उसका क्षेत्र अभी भी किसी निरूपणीय स्थिति (Spcific concrete) में नही आया है। अव तक यह विश्लेपण (analysis) सामान्य एव 'अवास्तव' (Generic and abstract) ही है। निरूपित वास्तवरूपता में आने के लिये उसे त्रिभुज आकृति लेनी होती है। क्योंकि त्रिभुज, वृत्त, वृत्ताभास, वर्तुल इत्यादि के विना किसी क्षेत्र मे (Functional field) विशेपरूपता (specification) नही आती। फलस्वरूप द्विपाक्षिक स्थल पर त्रिपाक्षिक द्वन्द्व—polarity, oppsition रहता है।

हमारी साधारण कारवारी चेतना या अनुभव को यदि कहूँ—चित् + अचित्, भूमि या तल और उसके किसी विशिष्ट अवस्थान को मानूँ उसी तल पर अंकित एक सरल रेखा, तो उस सरल रेखा के ऊपर नीचे के दो लम्ब क्या कहते हैं ? ऊपर का लम्ब कहता है—यह देखो मैं उत्तरोत्तर चेतना की अभिव्यक्ति की ओर जा रहा हूँ। यदि मेरी पूर्णता की सीमा कोई हो तो वह होगी परम चित् या चैतन्य। नीचे वाला लम्ब उतरता उतरता कहता है—देखो मैं अचित् या जड मूलसत्ता की ओर जा रहा हूँ। अचित् के मूल में ही अनुभूत विश्व के सब कुछ का पता लगा रहा हूँ।

दोनो पक्षो की दो तरह की वात सुन कर जो किसी ने कहा—तुम दोनो ही काष्ठा (चरम स्थिति) की ओर जा रहे दिखते हो, पर यह चलना क्या है यह तो किसी ने कहा नही। यह सुन कर किसी ने कहा इसे केवल 'गति' कह कर

ही छोड दो। और कोई बोला—'केवल गति से काम नही चलता, उसके पीछे शक्ति (Power या Elan) न मानने से गति को कौन नियन्त्रित नाना रूप दे रहा है उस शक्ति को उपनिषद् की भाषा में कोई कहेगा-प्राण (अवश्य ही यह प्राण vital factor मात्र नही है, और इस का मूल उपादान amino acid नही है)। अब इस गति की विधायक-नियामक प्राण-शक्ति को मानते ही जो द्वन्द्व द्विपाक्षिक था, वह त्रिपाक्षिक अर्थात् त्रिभुजाकृति हो गया। क्योकि कोई चलिष्णु (गतिशील) बिन्दु ज्यो ही स्वय को त्रिभुजाकार में दिखाता है, तभी उसको कुछ गति-विधायक-नियामक सूत्र के अनुगत होना होता है, जैसे वृत्त ('पैरारोला' इत्यादि) की सरल रेखा का भी एक निजस्व सूत्र equation है। अवश्य ही वह एकमात्रिक है। यदि तल ठीक ही रखो तब भी त्रिभुज कहता है—मेरे केवल तीन बाहू ही नही हैं, उनके कौणिक (कोण-सम्बन्धी) सम्बन्ध का भी मान (माप) दिखाओ।

इस कारण त्रिभुज के साथ वृत्त का सादृश्य है। अवश्य ही वृत्त से हमारे दो मान होंगे—व्यासार्ध (T) समकोणिक (radian) मान (π) नही।

इसी कारण 'यन्त्र' के त्रिभुज व वृत्त में इतनी मैत्री है। त्रिभुज कहता है—मेरे भीतर व बाहर वृत्त नही आँकोगे ? समकौणिक मान को बङ्किम-सुषम-मान में न ले तो सृष्टि मे कही भी (केवल कमल-विकास में ही नही) इतना अपरूप वाँका सुन्दर सुनिविष्ट रूप नही मिलता। इस अत्यावश्यक कर्म के लिये ही तो अर्धमात्रा स्थित हैं। (The measure principles that accelerates any process-function either Bindu-wise ar Nada-wise)

अस्तु। अब हमने जो कारवारी चिदचित् तल रेखा लेकर (fd) शुरू किया था, उस पर ऊपर व नीचे यदि दो विप्रतीप त्रिभुज आँक दे तो वे क्या समझायेंगे ? ऊपर के त्रिभुज के शीर्षविन्दु मे जो चिद्वस्तु है वह केवल 'कुछ अनिर्वाच्य' (alogical) ही नही है। वह है, सत्ता + शक्ति + छन्द + आकृति (pattern) इस चतुष्टय की पूर्णता की भूमि। अथवा एक शब्द में कहें तो ऐश्वर्य (जिसमें ज्ञान, इच्छा व कृति सर्वोत्तम व स्वतन्त्र हैं) है। उस में से हम सबकी व्यावहारिक चेतना की भूमि पर एक क्रम से अवतरण जैसे हुआ है, वैसे ही उसमें 'उत्तरण' का भी एक क्रम निरूपित है या हो रहा है। शीर्ष को यदि कहूँ सत्यम् तो त्रिभुज के दो विपरीत चिह्नित बाहू-द्वय होगे ऋतम् या ऋतस्य पन्था। एक पराक् है, दूसरा प्रत्यक् (coming out and returning unto)। जिस भूमि या नेमि में हम सब सचराचर वर्तमान हैं, उसमें इन दोनो चढने-उतरने (ascent-descent) की धाराओ को समझना व उपलब्ध करना कठिन है। क्योकि हमारे तल (स्तर) में वैगुण्य-वैरूप्य-वैषम्य-जनक हेतुओ की ग्रन्थियाँ अल्पाधिक हैं ही। उनको काटने के साधन है—विज्ञान व प्रज्ञान।

नीचे के विप्रतीप त्रिभुज का शीर्षविन्दु है—अचिद्वस्तु। वह भी स्वरूप मे एक × है। प्रज्ञान दृष्टि से यह × ब्रह्म ही है, अवश्य ही निपुटित (enfolded, unfolded नही) है। विज्ञान ने उसे जड (matter) रूप से पहचानना चाहा है। किन्तु अन्त तक पूरा परिचय अभी मिला नही हैं। अनेक समीक्षा-परीक्षा-अन्वीक्षाओ में से एक पूर्ण परिचय की चेष्टा चल रही है और चलेगी। साख्य की भाषा में उसको 'प्रकृति' कह सकते है, किन्तु यह प्रकृति Physics का matter नही है। जो भी हो, नीचे के शीर्षबिन्दु से भी दो धाराएँ (त्रिभुज के

दो वाहू) निकली है। उनमें से एक को 'विवर्तन' की धारा कहेंगे—एक ही वस्तु के वहुरूप, विचित्र रूप वनाने की धारा। दूसरी है, उद्वर्तन की धारा। इसमें जड के उद्वर्तन से प्राण और प्राण के उद्वर्तन से चेतना उपलब्ध होती है। इसमे फूल के जड को केवल उसी रूप में नही, अन्य ही अभावनीय भाव से 'प्राण' वनते देखता हूँ। प्राण भी फिर अभावनीय भाव से ही वनता है चेतना, वुद्धि आदि। यह 'अभावनीय भावन' क्या है इसे समझना ही वास्तव में समझना है। जैसे D N A सयोग से amino acid यदि प्राण की मूल सामग्री वनता है तो वह मूल परमाणुओ से कैसे वनता है ? और वन कर भी फिर प्राण के मौलिक धर्म (Pro-creation) आदि की सृष्टि कैसे करता है ? मस्तिष्क से चेतना के उद्वर्त्तन में भी यही समस्या है। वल्कि यहाँ समस्या और अधिक गहरी है।

ऊपर हमने एक विप्रतीप के दृष्टान्त की कुछ परीक्षा की। श्रेय एवं प्रेय रूप प्रयोजन, धर्म एव अर्थ-काम-रूप उपाय, रस एव रसाभास रूप फल इत्यादि नाना भावो से इस विप्रतीपता (opposition) का प्रदर्शन हो सकता है। थोडे से स्थलो पर विरोध (opposition) दिखाया गया। प्रकृति-प्रत्यय एव ज्ञान व व्यवहार सभी जगह यह द्वन्द्व वर्तमान है। प्रकृति में जिनकी अध्यक्षता है वे इस षट्कोण द्वारा ही समन्वय करते है। मानव-व्यवहार में भी वही करना होगा। देखिये कि षट्कोण के ऊपर के तीन कोण और नीचे के तीन कोण एक सामान्य मौलिक स्थिति या समन्वय से आये है—मध्य मे वृत्त है, त्रिभुज है और केन्द्र-विन्दु या पद्म है। मध्य का यह परिमण्डल समन्वय की अभिविधि (formula) का निर्देश कर रहा है। जैसे कि अर्थ + काम व नि श्रेयस् (the supreme good) इन दोनो के विरोध का समन्वय करने के लिये धर्म (religion नही) को प्रशासक वनाओ (मध्य में त्रिभुज)। फलस्वरूप केवल अर्थ व काम को समृद्धि इत्यादि नही, किन्तु सर्वाङ्गीण अभ्युदय की प्राप्ति होगी।

पहले कहा गया ऊपर व नीचे के दो त्रिभुजो का वैपरीत्य (inversion) दो प्रकार की मौलिक सस्था की भावना के वीच के विरोध को दिखा रहा है। एक को यदि thesis कहे तो दूसरे को antithesis कहना होगा। सामान्यतया (as generally appriciated) यदि एक Hegelianism हो तो दूसरा Materialism, Marxism होगा।

एक पक्ष मे जानी जा सकने वाली (ज्ञेय) ही वस्तु का अस्तित्व है या ज्ञात होना ही वस्तु का अस्तित्व है। दूसरे पक्ष मे, वस्तु के अस्तित्व से ही उसका ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् वस्तु ही मौलिक (noumenal, fundamental) है, ज्ञान उन पर आधारित (phenomenal, derivative) धर्म है। मूलवस्तु (जो प्राण चैतन्यहीन है) मे ही कुछ-कुछ Critical परिणाम निकलते रहते है, उसी मे प्राण व चैतन्य का उद्भव होता है। मूल में इन दोनो का 'प्राक्भाव' है, जैसे कि जैवधातु प्रोटोप्लाजम में यदि जड सामग्रियाँ ठीक-ठीक अनुपात व समर्थ परिमाण में (requisite efficiency value) विद्यमान हो तो प्राणिक धर्म का उद्भव होगा। प्राणिक धर्म जड उपादानो में नही देखे जाते, नूतन यह एक प्रकार का असामान्य विवर्तन (cataclysmic transformation) है। मस्तिष्क के क्षेत्र में चैतन्य का उद्भव इसी प्रकार का है।

अवश्य ही, विरोधीपक्ष ऐसा उदभव मानना स्वीकार नही करेगा। उसके मत से तो (१) प्राण व चेतना मौलिक पदार्थ हैं, जिनके आत्मसङ्कोच आदि (self-limiting and self conditioning) के फलस्वरूप वाह्यवस्तु (matter) का उद्भव हुआ है। नही तो (२) मूल मे दो पक्ष (चेतन एव जड) स्वतन्त्र रहते हुए भी विश्व के विवर्तन पारस्परिक सम्पर्क (Correlationality) में आये है, अथवा (३) मूलवस्तु (Fundamental Being) में चेतना, प्राण व जड परस्पर सयुक्त (in mental implication or involution) रह कर भी पहले जड, फिर प्राण व चैतन्य रूप मे अभिव्यक्त हुई है। अर्थात् प्राण-चेतना का उद्भव नही अभिव्यक्ति (उत्तरोत्तर emergence) हुई है—विश्व के इतिहास में। सक्षेप में ऊपर के दोनो त्रिभुजो में तात्त्विक विरोध ऐसा ही कहा जाता है।

मेरे अपने सिद्धान्त—(जो कि औपनिषद् ब्रह्मवाद से मुख्य अश मे अभिन्न कहा जा सकता है, तव भी जो अद्वैत, द्वैत आदि किसी साम्प्रदायिक सिद्धान्त के साथ हूवहू (पूरी तरह) मिलता नही)—के अनुसार इस प्रतिलेख मे जो भूमि या तलरेखा हैं, वह Alogical Absolute (AA) है, जिसके ठीक अपने सम्पर्क में समग्र रूप से किसी प्रकार का वौद्धविमर्श (logical appriciation by forms and categories) नही किया जा सकता। अथ च, उसी में (by an immanent functioning) वौद्धविमर्श 'उदित' होकर नाना प्रकार की सदृश या विसदृश वौद्धविवृति (logical thesis, idiology इत्यादि) गढ रहा है। A.A स्वय इन सवके सम्बन्ध मे निरपेक्ष (neutral) हैं, अर्थात् स्वरूपत एव समग्रत' A A को वस्तु या विचार (Thing or Thought) विषय व विषयी (object or subject) कार्य-कारण कुछ भी नही कह सकते। कहना ही हो तो केवल एक मूल Matrix या Fact कहा जा सकता है। क्योंकि इस एकवाद (Vide our 'Approaches to Truth') में सभी कुछ सन्दिग्ध या आपेक्षिक हो सकता है। विश्लेषण में एव समाहार में जितनी सी प्राप्ति होती है वह 'immanent operation' या intrinsic stress के फलस्वरूप उत्पन्न है, ये सव Fact section, Fact review, Fact-judgment इत्यादि हैं। इनमें से कोई भी A A. नही है। सुतरा ऊपर प्रदर्शित 'विरुद्ध' दोनो त्रिभुज भी logical construction के फलस्वरूप प्राप्त दो प्रकार के ideological framework, इनका द्वन्द्व (opposition) भी वुद्धि मे या मनन से उत्पन्न होता है।

अव वुद्धि (understanding) के मूल Matrix से जिस किसी द्वन्द्व (contradiction, opposition) की सृष्टि होती है, वह उसी में निश्चिन्त (satisfied) नही रहता। द्वन्द्व को निर्द्वन्द्व करने के प्रयास मे ही मनन (विज्ञान व दर्शन) को सार्थक साधना है। उसको synthesis या reconciliation का सूत्र मिलाना होता है, यही उसका dialectical progresion है। पूर्ण समन्वय किसमे है व कहाँ मिलेगा ? जपसूत्रम् में परिणयी, अन्वयी, समन्वयी, महासमन्वयी एव परम-समन्वयी—ऐसे पञ्च-पाद विक्रम का सविस्तार वर्णन किया गया है। (श्री-यन्त्र आदि में केन्द्रवीज मे आरम्भ करके त्रिभुज, षट्कोणी, वृत्त, चतुष्कोणादि के द्वारा महासमन्वय पर्यन्त दिखाया जाता है, 'परम' दिखाना सम्भव नही)—गणित विज्ञानादि सभी क्षेत्रो में उपर्युक्त पाँचो पादो का प्रयोग हमने दिखाया है।

अवश्य बौद्धविमर्श केवलमात्र हम-आप जैसे अस्मदादि (ego-centric) व्यक्तियों के अधिकार में नही, वह तो विभिन्न केन्द्रो, स्तरो व सम्बन्धो मे थोडा-बहुत विभिन्न एवं विरुद्ध भी होता है। उन सबके 'परिणय' 'अन्वय' एव 'समन्वय' का प्रयास चल सकता है। किन्तु A A या Fact को समग्र एव पूर्ण (अर्थात् ब्रह्म) रूप से लेने पर उसमें या उसके अधिकार में एक 'महद् बुद्धि' (great or Archetypal Reason) एव तदभिमानी एक महान् आत्मा (Archetypal self) न लें तो, आणव या वैराज या किसी भी विश्व के अत्यद्भुत रचनाकौशल या परिपाटी की उद्‌भावना, सयोजना एव विधारणा—इन सबका कोई सुसङ्गत बौद्धविमर्श (total integral logical appreciation) सम्भावित नही होता। हमारा बौद्ध विमर्श सापेक्ष समन्वय की ओर अग्रसर हो रहा है एव होगा। किन्तु महासमन्वय एव परसमन्वय तब भी दूर ही रहेंगे। इस कारण हमारे बुद्धि-विमर्श को उसी सर्वाध्यक्ष के पूर्ण अकुण्ठ बुद्धि-बोध के साथ योग में (in congruent relation) लाना होगा। उसी Archetypal Reason एव उसके स्वनिरूपण (own ratiocination and conclusive proving) को हमें पाना होगा—'महा' एव 'परम' इन दोनो अत्यावश्यक समन्वय-पर्वो को पाने के लिये। इनकी प्राप्ति का पथ है—योगलब्ध प्रज्ञान, इसमे विज्ञान को विदा नही प्रत्युत उसका समादान एव समाहार है।

विज्ञान व विज्ञानभित्तिक दर्शन की दृष्टि से अभी भी मानव-मनन ने महासमन्वयी तक भी पहुँचाया नही है। इस कारण इस दृष्टि के केवल ऊपरी स्तर (surface field) मे ही नही गभीर व गम्भीरतर क्षेत्र मे (अर्थात् higher and deeper dimension मे) प्रसार की अपेक्षा है। तभी विज्ञान बनेगा प्रज्ञान। एक स्थूल दृष्टान्त ले। किसी एक प्रमाता (knower) ने किसी एक प्रमेय के निरूपण में एक प्रकार के प्रमाण (करण, means + ways) का अवलम्बन करके एक त्रिभुज (प्रमाता + प्रमाण + प्रमेय) पाया। अन्य किसी प्रमाता ने दूसरा त्रिभुज पाया। मान लो कि दोनो में विरोध है। उस विरोध का समाधान करने में दोनो त्रिभुजो को अन्तरङ्ग रूप से (intemetely, as far as possible in congruance) मिलाना होगा। ऐसे ही प्रयास के फलस्वरूप बनता है हमारा षट्कोण चित्र।

दोनो त्रिभुज परस्पर का (१) सम्पूर्ण परिहार (total exclusion), (२) सम्पूर्ण समाहार (total inclusion or coincidence) करते है, (३) परस्पर का सुषम अवच्छेद (harmonically interlace) करते हैं। यह तृतीय ही समस्त विरोधो का सुसमञ्जस समाहार है।

अर्थनीति आदि स्थलो मे भी democracy तथा socialism इत्यादि का विरोध उक्त षट्कोण त्रिभुज द्वारा ही समन्वय में लाना होगा। यहाँ उन विस्तार मे नही पड़ेंगे।

तात्पर्य यह कि इस षट्कोण (Hexagon) को ही जीवन व शासन, व्यष्टि एवं समष्टि—सभी व्यवहारो में अध्यक्ष बनाना होगा। प्रकृति (nature) में भी यही षट्कोण—rules all evolving creative pattern especialy in the formation for crystals अपने 'यन्त्रम्' (यन्त्र) मे से इस प्रसङ्ग मे इतना सा अंश उद्धृत करना

है—"For instance the infinitely varied but beautifully patterned hexagons of icicles on your window panes in a frosty night have all the wild look that a night in chaos may be imagined to fear, but how and whence do the beautiful hexagons emerge? Can it be from blind chance? Take other example in Nature outside and inside"

(षट्कोण के सम्बन्ध में लेखक का सम्पूर्ण 'यन्त्रम्' ग्रंथ देखना चाहिये।)

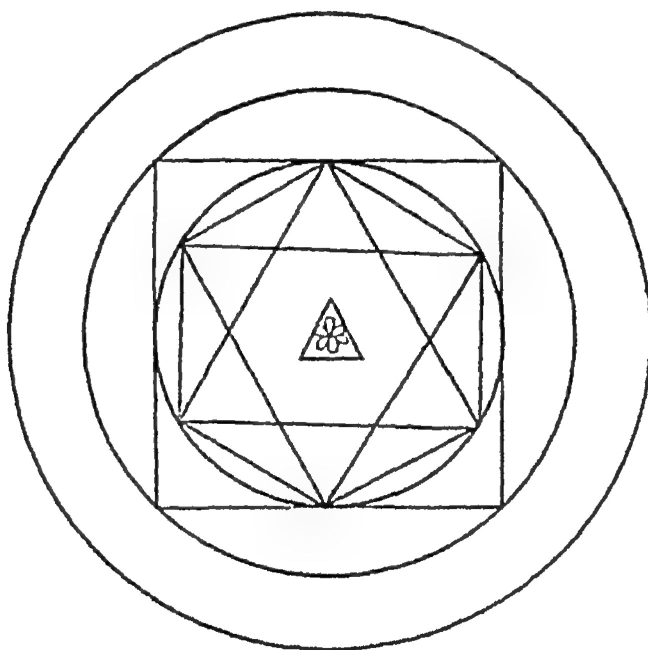
अब देखो $n\pi - 4$ इस सूत्र के अनुसार षड्भुज (Hexagon) की समकोणिक संख्या है ८। इसीलिये षड्भुज के परिमण्डल (operative sphere or field) में पहले (primarily) अष्टदल कमल रहेगा। सचराचर मे यह मूलत व्यक्त (manifest) नही है, अत. रहस्य-भाषा में इसे गुप्त अष्टदल कहा जाता है। 'यन्त्रम्' के परिच्छद पृष्ठ पर जो ॐकार की अष्टदल आकृति दी हुई है एव उसका व्याख्यान भी वहाँ किया है उसे इस प्रसङ्ग में देखना चाहिये।

परिमण्डल व्यक्त एव अव्यक्त, प्रकट व गुप्त दो प्रकार का है। षट्कोणी के चारो तरफ जो वृत्ताकार परिमण्डल है वह व्यक्त है, और षट्कोणी की नाभि का वृत्त-परिमण्डल अव्यक्त है। यह नाभि एव हृल्लेखा का 'अपना' मण्डल है। यहाँ प्रणव के स्वाधिकार में गुप्त अष्टदल विद्यमान है। निसर्ग के ऋजुपर्व ('यन्त्रम्' द्रष्टव्य) मे ॐकार का शुद्ध (Pure) स्वाधिकार है। सुतरा इस पर्व मे ॐकार अभिव्यक्त (Whatever is manifesting) को ही उसके समकोणो की सख्या के अनुसार मर्यादा (शक्तिमान व आकृति) देता है। इस कारण षट्कोणी में शक्तिमान है $२^{३}(=८)$ एव शक्ति की आकृति है अष्टदल। पहले द्विधाकरण, फिर उसी का त्रिवृत्करण ही "$२^{३}$" है। जैसे कि हमारे साधारण व्यवहार में सभी कुछ धन व ऋण-मुखो से द्विधा होकर देश-काल-सम्बन्ध के त्रिवर्ग में गुणित हो रहा है। धन या ऋणमुख से किसी मात्रा (measure) को जो ऐसे या अन्य किसी भी प्रकार ऋध्यमान करती है वही अर्धमात्रा है। ॐकार "ऐ" "श्री" "ह्री" इत्यादि रूप क्यो धारण करता है इसे भी अर्धमात्रा द्वारा ही समझना होगा।

कोणशीर्ष पर तल-लम्ब आँकने से पद्म का ढाँचा (Parabolic) बना। यह गुप्त अष्टदल (the hidden eight petalled lotus) है, क्योकि इसकी नाभि (core) में जो बीज (core-matrix) है वह सूक्ष्म अव्यक्त रूप में ही पहले अपना विन्यास करता है (Atom, जीवकोश इत्यादि सबमें)। स्थूल मे (in picturable field) वही इक्यावन अक्षरो की वर्णमाला हो सकती है। (वर्णमाला के विषय में लेखक का जपसूत्रम् विशेष रूप से द्रष्टव्य है)। सूक्ष्म अष्टदल से स्थूल वर्णमाला का विलास होने मे जो सेतु या axis of projection है, वह विशेष रूप से मध्यमा है (What keeps the norm or mean characteristic measure)। यह माध्यम (mean measure) न पाने तक कोई भी सूक्ष्म आकृति गोचरता में नही आती, हमारे व्यावहारिक स्तर पर दृश्य नही बनती। यन्त्र के वृत्त, चतुष्कोण आदि को भी इसी व्यावहारिक दृश्यता (plane-projection) द्वारा समझना होगा। वृत्त के बिना गति चक्रावृत्ति (cyclic pattern) में नही आती। इस कारण मूल

समकोण को वृत्त (Circular π) का आकार लेना होता है, जो अमेय (incommensurable) है। चतुष्कोण में देश-काल (x, y, z, t) सामान्य आधार पाते हैं, अन्य व्यञ्जना भी है। जैसे n-dimensional analysis मे किन्ही चार dimensions का चयन selection), और जैसे इन्द्रियग्राह्य (sensible) को यदि three-dimensional कहें तो अतीन्द्रिय (super-sensible) को कहेंगे 4th dimension—इसे अस्वीकार नही किया जा सकता, विज्ञान व गणित के व्यवहार मे भी नही। संख्या की ओर से कुछ काल्पनिक मान (imaginary quantity i. j.) न मानने पर जागतिक कोई भी समीकरण-सूत्र नही बन सकता। उदाहरण के लिये हाईजनवर्ग का समीकरण ही ले सकते है।

भीतर अष्टदल षट्कोण यन्त्र एव नाभि में स्थित बीज—ये सूक्ष्म + कारण स्पन्दो (causal stress) की पश्यन्ती व परा भूमि हैं। अन्त में, नाभि या हृल्लेखा (core pattern) मे कौन सा बीज रहेगा एव परिपार्श्व में क्या-क्या—यह इन सब बीजो की मौलिक परीक्षा व उसके मौलिक विनियोग, व विचार-पूर्वक समझना होगा। जपसूत्रम् में वैसी गम्भीर व व्यापक दृष्टि से इसे समझने की चेष्टा की गई है। सेतु सामान्यत अर्धमात्रा (link up principle) है। ("यन्त्रम्" द्रष्टव्य)।



ऊपर चित्राङ्कन मे जो यन्त्राकृति (basic power evolution and power control diagram) प्रदर्शित है, उसके मध्यस्थल में (inmost) जो त्रिभुज (tri pocer disposition)—है, उस त्रिभुज के केन्द्र में (जहाँ तीनों लम्ब कटते हैं) बिन्दु (विश्व का मूलबीज—the Ground Matrix) है, जो एक साथ शून्य (nil, or null point as actual or patent) एव पूर्ण (full or consumated level of the possible or potential) है इसीलिये यह "O" एव पद्म दोनों प्रकार से दिखाया जाता है।

२ उक्त विन्दु का आदिम (primary) त्रिमात्रिक self formulation है त्रिभुज, जैसे ॐकार में अ, उ, म । जो किसी अभिव्यक्त के process + End या Result + Root या source इत्यादि हैं। (यन्त्रम् तथा Metaphysics of physics द्रष्टव्य) ।

३ त्रिभुज स्वय को द्वन्द्व (opposition) में लेकर अन्तर्मुख (inverted) हुआ। (मूल प्रस्ताव में इसकी संक्षेप में विवृति है)।

४ उक्त विरोध समन्वित होकर षट्कोणी त्रिभुज वना (यन्त्रम् तथा मूल प्रस्ताव द्रष्टव्य)।

५ उक्त षट्कोणी के छ शीर्षविन्दु मिल कर (जुड जाने पर) एक सुषम षड्भुज (Hexagon) वना। यही सर्व-समन्वय में (Synthesis, congruence इत्यादि का नियामक सूक्ष्म (inner-functioning) यन्त्र है। It rules all harmonic postures and processes in creation (यन्त्रम्, जपसूत्रम् व मूल प्रस्ताव देखे)

६ मूल केन्द्रविन्दु (Core Matrix) का आश्रय लिये हुए जो त्रिभुज है और उसको घेरे हुए जो वृत्त हैं वह निर्देश करता है इस Core Matrix के अपने Causal dynamic field या sphere (causal stress pattern) को। और षड्भुज को घेरे हुए वृत्त निर्देश करता है सूक्ष्म (subtle) अथवा अव्यक्त, अगोचर (unmanifested) व्यूहरूपता की नेमि या परिधि को।

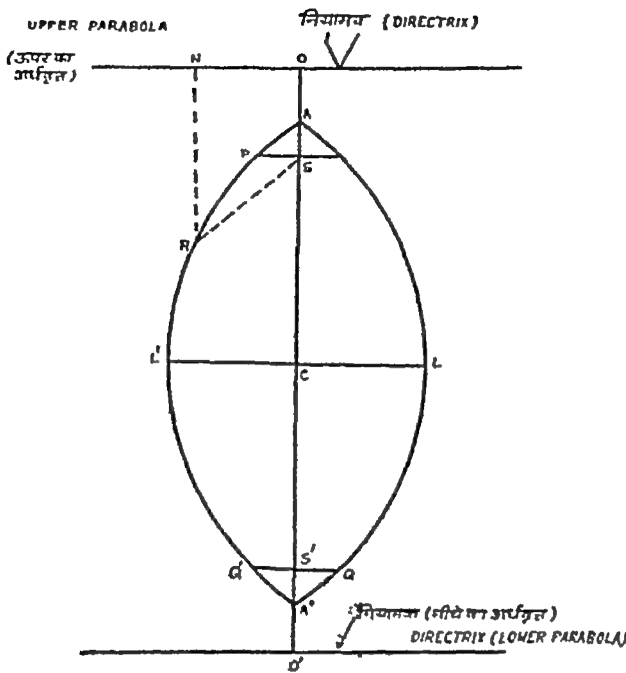
७ अन्तरतम (inmost) वृत्त को यदि Root Matrixs Realm या नाभि (sphere), तो दूसरे वृत्त को कहेंगे पहले का basic formulating sphere or Norm sphere (वस्तु = real का मूल ऋतलेख = Norm या छान्दसी तनु)। नाभि या causal Matrix की स्वगत (intrinsic) अर-नेमि-विस्तार-रूपता तर्क व गणित की परिभाषा में (logico-mathematical oppriciation) किसी प्रकार सीमित, सकुचित होकर (with limitation or specification) आने पर भी अभी भी वास्तव या कल्पित गोचर-रूपता में (picturable form) में नही आयी है, जैसे कि Matageometry, Quantum Physics एव Wave Mechanics के वे भाग है जो साधारण चतुर्मात्रिक विश्लेषण (XYZT) में आवद्ध नही रखे जाते।

८. भीतर से दूसरे वृत्त को घेर कर जो चतुर्भुज है वह विशेषत यही चतुर्मात्रिक विश्लेषण है, सुतरा गोचररूपता (picturability) का निर्देश देता है।

९. उसे भी घेरे जो वृत्त है वह है सीमा रेखा = boundary line between what is logico-mathematically understandable and formulatable, and what is actually and concretely observable

१० भीतर के पहले वृत्त को यदि कहें Noumenal मण्डल (ऋतञ्च सत्यञ्च) तो द्वितीय को कहेंगे medium मण्डल, और उसके वाहर वाला होगा हमारा साधारण convensional or reactive behaviour मण्डल।

कमल-दल



साधारण अक्ष—Common Axis $= AA'$, $SA = AO = S'A' = A'O' = \frac{1}{2} SP = \frac{1}{2} S'Q$,

नाभिलम्ब—Latus Rectum $= PP' = QQ'$,

नाभि—Focus $= S$ & S', $SR = RN$,

साधारण द्विकोटि—Common Double Ordinate $= LL'$, [$CL = CL'$, $CA = CA'$]

कमल-दल (Lotus-Petal) का यन्त्ररहस्य

मान लो 'यह' या 'अय' ('this') रूप से वास्तव (actual) की भूमि है। यही जपसूत्रम् की संज्ञा के अनुसार 'भू' लक्षण में आती है। उसे एक सरल रेखा में लिया। मान लो और भी एक भूमि है जहाँ इस 'यह' भूमि पर actual रूप से गृहीत वस्तु या घटना (= सत्ता + शक्ति + सम्वन्ध + आकृति) पूरे व यथार्थ रूप से है व रह सकती है। यह 'यह' के सम्वन्ध में 'वह' ('that' or 'what') की भूमि है। इसे कहते हैं 'स्व'। अब इन दोनो भूमियो को दो सरल रेखाये मान लिया। स्व-रेखा को कहो 'upper' और भू-रेखा को 'lower', इन दोनो के बीच जो व्यवधान है वह है अन्तरिक्ष जिसके माध्यम से 'वह', 'यह' बनता है और 'यह', 'वह'। सुतरां यह माध्यम चल (dynamic) है एवं उसमें एक स्वगत शक्ति-संस्था का रूप (intrinsic power picture) है। उक्त आकृति की अनेक प्रकार से कल्पना की जा सकती है। उनमें से जो सर्वाधिक यथार्थ एवं शुद्ध है, सरल से संयुक्त व ऋतानुग है उसी आकृति को दिखाने के लिये यह कमल-दल है। क्यों? ऊपर अंकित चित्र में ऊपर एवं नीचे दो सरल रेखा (Directrix) हैं। दोनों के बीच, इन्हें

दण्ड-रूप से जोडती हुई एक और सरल रेखा है। उसमे एक स्थिर विन्दु है S, सयोजक व ऋत-निरूपक रेखा है अक्ष (Axis) जपसूत्रम् की परिभाषा मे यही अक्ष है 'दक्ष'।

अब नीचे का कोई विन्दु यदि निश्चय करे कि वह नीचे की इस रेखा (actual) एव अक्ष के स्थिर विन्दु (S) (इन दोनो) में समदूरत्व रखते हुए अपना गतिपथ (ऋत-पन्था) निरूपित करेगा तो हमें ऊपर की ओर प्रसारित एक पैराबोला मिला। यदि ऊपर का भी कोई विन्दु ऐसा ही सङ्कल्प करके चले तो नीचे की ओर प्रसारित एक और पैरावोला मिला। एक आरोही (ascending) है दूसरा अवरोही (descending) साघन की दृष्टि से पहला कृति है दूसरा कृपा। दोनो Parabola सुषम रूप से (symmetically) परस्पर का 'छेद' (भेद) करते हैं। यही दोनो का समन्वय छेद है, जैसा कि दोनो त्रिभुजो के समय था। यह छेद (परस्पर मिल जाना या प्रवेश) दोनों विन्दुओ को सयोजक सरल रेखाओ (P S P) का समन्वय करता है। अक्ष के सम्पर्क में यही विशेष रूप से दक्ष है, क्योकि यही Parabola का सूत्र (अभिविधि) दिखाता है। इसीलिये कमल के रूप (form) के सम्बन्ध में यह निरूपक (Norm) है। इसका शासन है ऋत-छन्द। यही 'श्री' बीज है। लक्ष्मी या कमला का बीज है। अक्ष (Axis) "ऐ"—ऋत-छन्द मे अभ्युदय या अभ्या-रोह का बीज है। S या Focus विशेष रूप से "ह्री" बीज है। इसका आश्रय लेकर ही ऋतान्वय (unfolding या enfolding) घटित होता है। और स्व एवं भू इन दोनो की सीमा या काष्ठा जिसके द्वारा निरूपित होती हैं अन्तरिक्ष के माध्यम से वही "क्री" या क्ली बीज है।

कमलदल को Parabola pattern में विश्लेषण करके दिखाया गया। Parabola में SA AO अनुपात एक (unity) हुआ रहता है। अनुपात को यदि कहूँ e, और इसके घन या ऋण किसी भी प्रकार के परिवर्तन (change) को उसका index (i) कहूँ तो वह i शून्य, इसीसे $e^{0} = 1$। किन्ही दो मूलनियामको (S एव Directix) के सम्पर्क से कोई विन्दु यदि अपना गतिलेख (locus) $e^{0} = 1$ इस सूत्र में पाना चाहे तो उसका पथ Parabola आकृति का होगा। यह पथ साधारण आधार में ससीम नही। अवश्य ही उसको किसी ससीम आधार में (जैसे भूमितल से किसी projectile के क्षेत्र मे) ससीम अवच्छेद (finite section) में दिखाया जा सकता है। मैंने पद्म-दल में दो Parabolas को परस्पर सुषम अवच्छेद मे दिखलाया उनकी व्यञ्जना भी सक्षेप में दिखाई।

अब प्रश्न यह है कि दो परस्पर अवच्छिन्न (interlaced) सममात्रिक Parabola न दिखा कर उसी अर्थ को एक वृत्ताभास (ellipse) आकृति अथवा interlaced hyperbola इत्यादि रूप में नही दिखाया जा सकता ? वृत्ताभास में भी तो दो दिशाओ में दो directix, दो axis, दो विभिन्न केन्द्रविन्दु—यह सभी कुछ है। ठीक है। किन्तु वह समग्र $e^{0} = 1$ न होकर यदि कोई भग्नाश हो, तो उसके द्वारा चलिष्णु विन्दु का गतिवर्त्म ठीक अखण्ड मान में नही रहेगा। भग्नाश के 'लव' व 'हर' के अनुपात में विषमता होगी। जैसे सूर्य के चारो ओर किसी ग्रहविशेष का गतिपथ वृत्ताभास है, जहाँ centripetal एव centrifugal force दोनो का अनुपात वर्त्मनियामक है। इसमें परिवर्तन होता है व हो सकता है (जैसे किसी बाहर की ज्योति के आकर्षण से)। आणविक मण्डल में भी यह सम्भावित है।

इसीलिये atomic disruption घटित होता है। जीवकोश के विवर्तन मे, मानस व्यापार में भी ऐसी सम्भावना विशेष रूप से प्रकट है। इन सब 'विषम-विपर्यय' के (सुषम ऋतान्वय रूप से व्याख्यात) परिहार के लिये दो पैरावोला ही लेने पडते हैं—अभिव्यक्ति की शुद्ध, सुषम-रूपता दिखाने के लिये। व्याज (वैरूप्य) एव विघ्न (वैगुण्य) से रहित हुए बिना गति शुद्ध छान्दस ($e^{\circ} = 1$) आकार नही पाती। सृष्टि की स्थूलतालिक अभिव्यक्ति में सभी कुछ में eccentrins (e^{1}) होने की झोक (प्रवणता) है। उसको काटने हटाने का उपाय है—$1 = 0$ (evanascent) कर लेना। कमलदल उसी का सवाद देता है। इसीलिये पद्म विशेष रूप से—harmonic evolution towards a consummated end—का प्रतीक है।

हमारे विश्वानुभव की मूल सामग्री है A A (Alogical Absolute) उस को किसी पारिभाषिक, व्यावहारिक अवच्छेद में समग्र रूप से एव स्वभाव में (as a whole and as it is in itself) नही लिया जायेगा, सुतरा उसको, जड, प्राण, मन व्यावहारिक चेतना—इन सबमें से किसी को भी 'पूर्णतत्त्वत' नही कहा जायेगा। तब भी उसको इस जगत् के उद्भव व परिणति के प्रसङ्ग में, घनता-परिसीमा (maximum potency या implication) एव वितान-परिसीमा (maximum potency या amplification) इन दोनो रूपो मे जानने व देखने के प्रयास में विज्ञान उत्पन्न होता है। इन दोनो परिसीमाओ (विन्दु एव नाद) के अभिमुख ध्रुव (सतत) अभियान के लिये विज्ञान जिन मौलिक सूत्र-छन्दो का आविष्कार कर रहा है वे ही उसके मन्त्र है, जिन मौलिक ऋत-लेखो (true power-functioning diagram या device) का आविष्कार कर रहा है वे ही उसके यन्त्र है, और जिन मौलिक प्रक्रियाओ द्वारा इन दोनो में साहित्य, समन्वय (co-ordination) साध रहा है वे ही उसके तन्त्र हैं। इन तीनो में से यन्त्र power-disposition design है अत. उसकी आलोचना (understanding, appreciation) के लिये पहले ही (provisionally) एक दैशिक (ज्यामितिक) पटभूमि तैयार कर लेनी होती हैं, क्योंकि यन्त्र के स्थल पर सख्या सूत्र-रूप से नियामक होने पर भी परिमाण व परिमेयता की मुख्यता (preponderance of dimensionabilty) है। अवश्य ही dimension आणव, माध्यम (medium) एव वैराज—तीन पर्वो में लेना होगा। आणव की परिसीमा है विन्दु, वैराज की नाद और माध्यम की कला। इन तीनो मे पारस्परिक स्थिति परिणति कराती है अर्धमात्रा—The principle of dynamic acceleration, by continued differentiation and integration, with respect to two ultimate limits.

[A measure commensurable or not that accelerates in sense, ratio direction i e both in form and norm-evolving primarily harmonic functions —Mataphysics of Physics p 18]

(जपसूत्रम् में अर्धमात्राष्टकम् द्रष्टव्य।)

मान लीजिये किसी कागज पर एक यन्त्र आँकना है। क्योंकि यन्त्र है—basic power disposition scheme, एव पूर्वोक्त अर्धमात्रा है इसका अनुक (tracer)—

इसलिये कागज पर एक 2—dimensional रेखाचित्र (graph) ही दिखाना सम्भव होगा।

यन्त्र के धर्म (आकृति-प्रकृति) मे ऐसा कोई सङ्कोचन (reducing or restricting factors) नही है, इस कारण रेखा चित्र द्वारा उसकी निजस्व (अपनी) आकृति-प्रकृति को ठीक-ठीक व्यक्त नही किया जा सकता। वैसे चित्र मे व्यञ्जना (implication of sense) व कल्पना (suggestive hints, pointers, indicators आदि) ही उपयुक्त स्थान पायेगी। अवश्य ही व्यञ्जना व कल्पना—दोनों को ही सवादिनी होना आवश्यक है। जैसे कि यह यन्त्र (जैसे श्रीयन्त्र) अमुक देवता (जैसे ललिता) का है, इसमें उस देवता के ये-ये प्रभाव-विभावादि हैं—केवल इतना समझने से यन्त्र को पूरा-पूरा व वस्तुत समझना नही हो जाता। वीज-वर्ण आदि भी नही समझे जाते।

यह जो Cosmic scheme (भुवन-परिकल्पना) है, इसकी उत्पत्ति-स्थिति परिणति में मूल Matrix क्या है—इसका सन्धान लेना होगा। वह मूल-निरूपक विन्दु (origin या Radix) है। उसके केन्द्र मे वैठ कर यन्त्राकृति को उद्भावित (evolve) करना होगा। विन्दु ज्यामितिक 'point' नही है। यह सर्व-सम्भावना-वीज की परिसीमा है। यह Primal Evolvent centre है। इसी से रेखा, त्रिभुज, वृत्त आदि सभी evolutes का उद्वर्तन होता है। पहले उद्वर्तन-पर्व में मिलती है 'नाभि' एव 'नाभिनिष्ठ' (intrinsic) हृल्लेखा (core-picture of power-disposition)। रेखा, त्रिभुज, वृत्त आदि की व्यञ्जना अनुरूप मौलिक दृष्टि से ही समझनी होगी। इनमें से प्रत्येक total power disposition scheme का एक-एक specification है—विशेप-विशेष आलोच्य अनुवन्धो (frame of reference) में।

अन्त में एक प्रश्न है—मूल मातृका रूप विन्दु किस गोत्र का है ?—जड, प्राण या व्यावहारिक चेतन ? उत्तर—इनमें से कोई भी विशेष रूप से नही, अथ च इन सभी का मूल अधिष्ठान एव पूर्ण सम्भावना वही है। विज्ञान में जड, प्राण, मन को जितने ही घनिष्ठ रूप से समझ रहे हैं उतना ही उस मूल—(Thing or Power in itself) को समझने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उतना ही पट्कोणी आदि सृष्टि में अनुस्यूत यन्त्रसमूह को अच्छी तरह समझ रहे है। जड, प्राण व मन—यह त्रिधारा जहाँ मिलित है, परस्पर की पूर्ण उपकारक व सम्पूरक है वही प्रज्ञान की भूमि है। आज कृत्रिम उपाय से gene तैयार किया गया एक—Chemical entity that works wonder in biological evolution की तरह, यह ठीक हैं। किन्तु chemical basically and really क्या वस्तु है ? Physics कुछ स्पष्ट नही कह पायेगा आज नही तो परसो ? मनोविज्ञान आदि भी तव तक गाल पर हाथ धरे वैठे रहेंगे क्या ? मूल की तलाश तो करनी ही होगी—जितना विज्ञान कर सके उतना उससे, वाकी प्रज्ञान से। विज्ञान को छोडा तो नही जा सकता।

मूल वगला से अनूदित—डॉ० ऊर्मिला शर्मा

अद्वैत वेदान्त में वृत्ति की धारणा

(कुमारी) ऊर्मिला शर्मा

जो कुछ अनुभवगोचर है, इसका मूलभूत तत्त्व क्या है, और उस तत्त्व का अनुभव क्या है ? कैसे होता है, हो रहा है व हो सकता है—इसी की खोज दर्शन है। तत्त्व का स्वरूप क्या है, तथा अनुभव का स्वरूप, उपाय व प्रकार क्या है—इन दो जिज्ञासाओ से प्रवृत्त विचार दर्शन के दो पक्ष हैं, जिनका परस्पर निरपेक्ष अस्तित्व सम्भव नही, तत्त्व क्या है इसी की मान्यता पर अनुभव के स्वरूप, उपाय व प्रकार आदि का चिन्तन निर्भर है, इस प्रकार तत्त्व-मीमासा व अनुभव-मीमासा ये दो दर्शन-मात्र के अनिवार्य व अविभाज्य दो पहलू हैं।

अद्वैत वेदान्त दर्शन में परमतत्त्व और अनुभव या ज्ञान अभिन्न है। किन्तु वह पारमार्थिक स्थिति है, जहाँ अनुभविता, अनुभाव्य व अनुभव की त्रिपुटी नही है, निर्विकल्प स्वप्रकाशबोध अपने आपमें विराजमान है, उससे इतर कुछ है ही नही। किन्तु जिस स्थिति से विचार किया जाता है वह व्यावहारिक है। यहाँ अनन्त नानात्व से भरा जगत् ही अनुभविताओं के सम्मुख है। विचार का आरम्भ होता है इस प्रश्न को लेकर कि विचारक स्वय कौन है ? उसका परिवेप रूप यह जगत् क्या है ? तथा इन दोनो मे सम्बन्ध क्या है व कब तक है ? तत्त्वमीमासा से उत्तर मिलता है कि क्योकि तत्त्व एक ही है, (जिसे कहना ही हो तो ब्रह्म कहा जा सकता है) अत विचारक भी उस तत्त्व से पृथक् नही, उसका परिवेप नानात्मक है, सत्य एक है अत नाना को मिथ्या मानना होगा, इस परिवेप का भी तत्त्व वह एक ही है, उसी की सत्यता से यह स्थित है, उसी के चैतन्य से यह प्रकाशित है, प्रवृत्तिशील है। इस परिवेप से विचारक का सम्बन्ध भी फिर उस एक तत्त्व से पृथक् कुछ और नही हो सकता। स्थूल रीति से कहे तो इन दोनो में सम्बन्ध यही है कि एक ही तत्त्व से ये दोनो अनुप्राणित हैं, प्रकाशित है। किन्तु इतने से अन्तिम प्रश्न का पूरा समाधान नही होता, क्योकि एक ही आधार पर स्थित होने से अतिरिक्त भी कुछ सम्बन्ध इन दोनो में परस्पर दिखाई देता है कुछ ऐसा सम्बन्ध कि एक के विना दूसरे की कोई सार्थकता नही, स्थिति ही नही, यह कहना भी असत्य नही। वह सम्बन्ध है एक (चेतन) पक्ष द्वारा दूसरे (अचेतन) का उपयोग = व्यवहार। इसके भी मूल मे है एक के द्वारा दूसरे का जाना जाना। एक के प्रति दूसरे का प्रकट होना। इस प्रकार "जानना" ही वास्तव में तृतीय प्रश्न का उत्तर है। इस प्रकार विपुल विश्व से असख्य अनुभविताओ की सम्पर्क रेखा भी है ज्ञान ही। अब प्रश्न उठता है कि एकमात्र तत्त्व का स्वरूपभूत ज्ञान तथा विचारक व परिवेप का सम्बन्धभूत ज्ञान क्या एक ही वस्तु है ? परमतत्त्व तथा विचारक-परिवेप (जीव-जगत्, चेतन-चेत्य) की वस्तुता में जितना सा (पारमार्थिक व व्यावहारिक होने का) अन्तर है यह भी इन स्वरूप व सम्बन्ध-रूप ज्ञानों मे है या नही ? जो तत्त्व विचारक व परिवेप के अस्तित्व की भित्ति है, वही क्या इन दोनो में परस्पर उक्त सम्बन्ध की भी भित्ति है ? तथा अनिर्वचनीय मूल (माया) से रचित इन

दोनो (जीव-जगत्, चेतन-चेत्य) के अधिष्ठान रूप से गूढ (छिपा हुआ स्थित) एक तत्त्व ही क्या इनके परस्पर सम्वन्ध (ज्ञातृ-ज्ञेय भाव के घटक ज्ञान) रूप मे प्रकट है ? किन्तु यह ज्ञान है अनेक सीमाओं से घिरा, विश्व सागर के अतीव क्षुद्र सीकरो को भी क्रमश (एक समय में एक ही विषय को) पकडकर अनुभविता से उसका सम्वन्ध कराने वाला। पारमार्थिक स्थिति के ज्ञान (एकमात्र तत्त्व के स्वरूपभूत ज्ञान = चैतन्य) का इस व्यावहारिक स्थिति के ज्ञान (जीव को होनेवाला, पृथक्-पृथक् विपयो का कादाचित्क ज्ञान) से क्या सम्वन्ध है इसे देखने के लिये प्रवृत्त होने पर सामने आते है व्यावहारिक स्थिति की व्याख्या करने वाले अनेक वाद जो सच्चिदानन्द अद्वय निष्कल ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व के—विपरीत स्वरूप वाले सचराचर विश्व की सम्भाविका—माया से हुए, सम्पर्क के—विश्लेपण में विचारक-मति-वैचित्र्य के कारण प्रसृत हुए हैं। इन वादो में अनुभविता व अनुभाव्य जगत् के स्वरूप पृथक्-पृथक् आलोचित हुए हैं। इस पार्थक्य को ध्यान मे रखते हुए पूर्वोक्त समस्या (पारमार्थिक ज्ञान व व्यावहारिक ज्ञान का सम्वन्ध क्या है, कैसा व कव तक है ?) पर विचार तथा व्यावहारिक स्थिति में सम्भाव्य सभी ज्ञान-प्रकारो का अद्वैतसिद्धान्तो के प्रकाश मे विश्लेपण प्रसंगानुकूल होने पर भी इस लघुनिवन्ध मे सम्भाव्य नही। तथापि अद्वैतवेदान्त के सर्वतोमान्य तथ्य के रूप मे अतिसक्षेप में कहा ही जा सकता है कि अखण्ड अमेय ब्रह्म तथा अनिर्वचनीयस्वरूपा माया के अनिर्वचनीय ही सम्भेद (परस्पर अध्यास) की कृति है यह विश्व उन दोनो की ही अमेयता, अनिर्देश्यता ("यह ऐसा है"—न कहा जा सकना) समान ही है। स्वयप्रकाश-रूप ही तत्त्व सभी कुछ का आघार है अवश्य, किन्तु उस रूप में वह कहाँ पकड में आ रहा है ? माया द्वारा अनेक प्रकार से नापा जाता हुआ भी वह अमेय है, और उस अमेय को नानाविध माप में लाने वाली माया भी अपने स्वाभाविक स्वरूप में अमेया ही है। अव अमेय "एक" का—अनन्त मेय (दृश्य) मान (दर्शन) माता (द्रष्टा) से भरे जगत् का अधिष्ठान होना, तथा अमेया का उक्त अधिष्ठित की सम्भाविका (स्थिति देने वाली) वनना घटित कैसे होता है ? यह प्रश्न भी पूर्वोक्त प्रश्नो के साथ मिलकर जिज्ञासा को उत्कट वनाता ही है।

इन सव प्रश्नो का उत्तर वेदान्त की ज्ञानमीमासा मे मिल जाता है। तदनुसार पारमार्थिक ज्ञान ही वास्तव में ज्ञान-पदार्थ है, उसके व्यावहारिक रूप—विभिन्न अनुभविताओ को होने वाले विविध प्रकार के कादाचित्क विपयज्ञान-की उपपत्ति के लिये कल्पना की गई है एक उपाधि की, जो विभिन्न जानने वालो व विभिन्न विपयो की अपेक्षा से विभिन्न सख्या वाली होते हुए, अखण्ड नित्य ज्ञान-पदार्थ की खण्डश अनित्य अभिव्यक्तियाँ कराती हैं, अनुभविता व जगत् की स्थिति रहने पर्यन्त जिस किसी भी स्तर व प्रकार का ज्ञान सम्भव है, उस (ज्ञान) में इस (वृत्तिरूप) उपाधि की नियत अपेक्षा है, अथवा समस्त व्यावहारिक ज्ञानों का अनिवार्य घटक है वृत्ति रूप उपाधि।

इस वृत्ति का स्वरूप है—चिन्मात्र तत्त्व के अविद्या-सन्निवान से निष्पन्न ज्ञाता रूपो (सर्वज्ञ सर्ववित् ईश्वर व अल्पज्ञ जीव) की उपाधियों (माया, अविद्या, अन्त करण) का ज्ञानानुकूल ज्ञेयविपयाकार परिणाम, जो कि समस्त सचराचर जगत्-चित्र की भित्ति रूप मे सर्वत्र सर्वदा स्थित ब्रह्मचैतन्य (पारमार्थिक ज्ञान-पदार्थ) को "विपयज्ञान" रूप से अभिव्यक्त कराता है, जैसे कि सूर्यकान्त मणि सव ओर सामान्य रूप से व्याप्त होकर सभी को प्रकाशित

करती हुई सूर्यरश्मियो को, किसी एक स्थल पर दाहक (जलाने वाली) रूप में व्यक्त करता है ।

जीव के कदाचित्क विषयज्ञान के रहस्य की जिज्ञासा से जिस वृत्तिपदार्थ की कल्पना की गई है, उस पर ध्यान केन्द्रित रख कर उसका स्वरूप-विश्लेपण करने पर दिखाई देता है कि केवल घट-पट आदि विपयो के कदाचित्क ज्ञान की समस्या को सुलझाने मे ही वृत्ति-पदार्थ कृत-कृत्य नही, अपितु मायावाद के समान ही वृत्तिधारणा भी अद्वैत-वेदान्त के जगद्-व्यवहार के व्याख्यापक सिद्धान्तो की भित्ति है । तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व विलय भी वृत्ति के ही कार्य हैं । ईश्वर जगत्-स्रष्टा है जगद्विपयक ईक्षण करने के कारण । ईक्षण ईश्वर की उपाधि माया का परिणाम होने से वृत्ति ही है, (यह साधारण-सृष्टिवाद का अभिमत है) । जीव को एक ही मानने के पक्ष में उसकी उपाधि द्वारा विपय किये गये ब्रह्मचैतन्य पर अध्यस्त है जगत्, अत जीव की दृष्टि-निरूपिता ही समस्त सृष्टि है, उस दृष्टि की स्थिति ही सृष्टि की भी स्थिति है । किसी भी प्रकार से जगत् जब तक स्थित है तब तक इसमें चलने वाले, अनुभाव्य के सम्बन्ध रूप ज्ञान का प्रत्येक प्रकार वृत्ति-घटित ही है ।

इसके अतिरिक्त, ब्रह्म से लेकर तृण-पर्यन्त जो कुछ भी वर्त्तमान है वह विद्यमान होता (= जाना जाता) है किसी न किसी से सम्बद्ध होकर ही (यह सम्बन्ध व्यक्त हो चाहे न हो) । वृत्ति ही किसी भी स्थितिशील वस्तु को, यहाँ तक कि अमेय असग वस्तु ब्रह्म को भी किसी सम्बन्ध में लाकर प्रमेयरूपता देती है । शुद्ध चैतन्य को ज्ञप्ति, ज्ञान, ज्ञेय व ज्ञाता आकारो मे लाती है वृत्ति ही । अथवा अखण्ड भान (सभी कुछ के अधिष्ठानभूत चैतन्य या ज्ञान) में विपय-विपयि-भाव उदित होता है वृत्ति की अपेक्षा से ही । जहां से वृत्ति उदित होगी वह (ज्ञाता) विपयी है, जहां पहुँचेगी व जिसे अपने क्रोड मे लाकर अवभास्य बनायेगी वह विपय (ज्ञेय) है, उस वृत्ति पर आरूढ होकर चैतन्य विपय को प्रकाशित करेगा वह बोध (ज्ञप्ति) है—इत्यादि ।

इस जगत् का व अनुभविताओ के सीमित भाव का विलय भी होता है अखण्ड-ब्रह्माकारा वृत्ति के द्वारा ही । अथवा समग्र ब्रह्मचैतन्य के स्वेतर उपाधि से अस्पृष्ट स्वरूप को विपय बनाकर निखिल प्रपच का प्रविलय करते हुए पारमार्थिक स्थिति के प्रकट होने में साधकतम कारण है वृत्ति ही। इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त-दर्शन के तत्त्वमीमासा व ज्ञानमीमासा दोनों पक्षों में वृत्ति-धारणा की महत्ता सम-व्याप्त है ।



विट्गेंस्टाइन के अनुसार दर्शन का स्वरूप

देवकीनन्दन द्विवेदी

१. "दर्शन" तथा इसके समानार्थक अन्य शब्दो का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है। इन अर्थों में व्याप्त किसी सामान्य प्रत्यय की खोज स्पष्टत· व्यर्थ है। होता यह है कि दर्शन की कोई भी परिभाषा एक विशेष दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार दी जाती है भले ही यह बात प्रथम दृष्टि में स्पष्ट न हो। यह बात वापसमान[1] की तटस्थ लगने वाली परिभाषा के साथ भी कमोवेश रूप से सत्य है। विट्गेंस्टाइन के विश्लेषण की यह विशेषता है कि उसमें दर्शन की परिभाषा देने का कोई प्रयास नही है। इस विषय में विट्गेंस्टाइन का कोई सैद्धातिक आग्रह नही दिखता। यह कहना कि उसके अनुसार दर्शन भाषिक विश्लेषण है, केवल अशत सत्य है, और यदि इसे सावधानी से न समझा जाय तो कई भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

सबसे पहले यह बताना उपयोगी होगा कि विट्गेंस्टाइन के दार्शनिक विकास मे स्पष्ट रूप से दो अवस्थाये हैं, जिनमें कई महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। किन्तु यह कहना कि इन दो अवस्थाओ में दो विट्गेंस्टाइन हैं, जिनमें कोई साम्य नही है, एकदम गलत है। दोनो अवस्थाओं में मूल समस्याये वही हैं, और उनके समाधान की विधा भी लगभग एक ही है। रसेल[2] का मत कि "ट्रैक्टेटस" का विट्गेंस्टाइन एक मौलिक विचारक है किन्तु बाद का विट्गेंस्टाइन गभीर चिन्तन से विमुख हो गया है, निश्चयत असत्य है। दो अवस्थाओ में उसका सम्बन्ध तर्कशास्त्र की प्रधान समस्याओ से है, और दोनो अवस्थाओ में पारम्परिक दार्शनिक समस्याओं का विश्लेषण किया गया है।

२. विट्गेंस्टाइन काट की तरह दर्शन को "आलोचना"[3] मानता है। किन्तु यह आलोचना बुद्धि की नही, बल्कि भाषा की है। काट के लिए मुख्य प्रश्न था निर्धारण करना कि मानव-बुद्धि कितना और किस रूप में जान सकती है। विट्गेंस्टाइन ज्ञान-मीमासा को "मनोविज्ञान का दर्शन"[4] कहता है। बुद्धि की आलोचना किसी न किसी रूप में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। इसलिए विट्गेंस्टाइन भाषा को दार्शनिक विश्लेषण का आधार मानता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही, जैसा कि प्राय समझा जाता है, कि दर्शन दार्शनिक समस्याओ के रूप में नही बल्कि किसी अन्य रूप में भाषा का अध्ययन करता है। भाषा-विश्लेषण की आवश्यकता इसलिए पडती है कि जिससे दार्शनिक समस्याओ की सार्थकता का निर्धारण हो सके। वह ट्रैक्टेटस की प्रस्तावना में कहता है[5]

---

१ वापसमान एफ, "कन्टेम्पोररी ब्रिटिश फिलासफी",

२ रसेल, बी "माई फिलसाफिकल डेवलप्मेट" पृ २१६–१७

३ ट्रैक्टेटस, ४ ००३

४ ,, ,, ४ ११२१

५ ,, ,, पृ. २७

(उसका पूरा अर्थ संक्षेप में कुछ इस तरह व्यक्त हो सकता है)—जिसका कथन हो सकता है उसे स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है, और जिस विषय मे कथन नही हो सकता उसके लिए चुप रहना आवश्यक है।

इसलिए इस पुस्तक मे विचारो की, अथवा विचारो की नही बल्कि विचारो की अभिव्यक्ति की, सीमा निर्धारित की जायगी।

इस लिए यह सीमा केवल भाषा मे खीची जा सकती है और जो सीमा के उस पार है वह निरर्थक है।

अत ट्रेक्टेटस का एक मुख्य विषय है यह बताना कि किस प्रकार के तर्कवाक्य सार्थक हैं। विट्गेंस्टाइन के अनुसार सभी सार्थक तर्कवाक्य (पुनरुक्ति और व्याघात को छोड कर) वास्तविक अथवा सभावित स्थितियो[1] का कथन करते हैं। केवल वर्णनात्मक वाक्यो[2] का ही अर्थ होता है। वे एक विशेष स्थिति के होने अथवा होने का कथन करते है। यह कथित अथवा वर्णित स्थिति ही तर्कवाक्य का अर्थ है। किसी अन्य बात का कथन नही हो सकता। इस तरह सभी सार्थक भाषाये स्थितियो अथवा तथ्यो का चित्रण करने वाले वाक्यो तक ही सीमित हैं। विचार भी इन तथ्यो तक सीमित हैं क्योकि "विचार एक सार्थक वाक्य है।"[3] विचार और भाषा की सीमाये एक ही है। अत विचार और भाषा दोनो का विषय स्थितियाँ अथवा तथ्य ही है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो वाक्य किसी तथ्य का चित्रण (या कथन) नही करता वह निरर्थक है। उसका कथन निरर्थक है। इस दृष्टि से तथाकथित पारमार्थिक वस्तुओ—ईश्वर, आत्मा के विषय में कोई कथन नही हो सकता। मूल्यो—नैतिक एव सौन्दर्यात्मक का कथन भी अर्थहीन है। केवल प्राकृतिक विज्ञान के तथ्यो का सार्थक कथन हो सकता है। अत दर्शन के अधिकतर प्रश्न और सिद्धान्त असत्य नही, बल्कि निरर्थक हैं। जब ऐसे विवाद उठाये जाते हैं, तो हम केवल कृत्रिम दर्शन में फँस कर रह जाते है। तत्वशास्त्र, नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अन्य अनुभवातीत विषयो से सम्बद्ध विषय प्राय ऐसे ही कृत्रिम तथा मिथ्या प्रश्नो पर विवाद करते है। केवल उसी विषय का कथन हो सकता है जिसे स्पष्ट रूप से कहा जा सके। अर्थात् केवल वर्णनात्मक भाषा (जो प्राकृतिक तथ्यों का वर्णन करे) ही सार्थक है। इसका यह अर्थ नही कि जो अनुभवातीत है वह असत् है, केवल उसका कथन नही हो सकता।

यदि सार्थक कथन केवल प्राकृतिक तथ्यो का ही हो सकता है, तो दर्शन में किसी सिद्धान्त का निरूपण नही हो सकता। प्राचीन दार्शनिकों के अनुसार दर्शन एक विशेष प्रकार का ज्ञान अथवा ज्ञान की खोज है। यह दार्शनिक ज्ञान पारमार्थिक सत्ता के स्वरूप को व्यक्त

---

१ नोट "स्थिति" वस्तुओं के क्रमबद्ध सगठन को कहते है। "वस्तु" एक, अविभाज्य तत्त्व है जिसे केवल नाम दिया जा सकता है।

२ नोट यहाँ सुविधा के लिये मैंने "तर्कवाक्य" और "वाक्य" के पारिभाषिक अन्तर पर ध्यान न देते हुए दोनो का लगभग एक ही अर्थ में प्रयोग किया है।

३. ट्रैक्टेटस, ४।

करता है। कुछ दार्शनिक दर्शन को ज्ञान का विश्लेषण मानते है। कुछ आधुनिक दार्शनिक दर्शन के क्षेत्र में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करते है और दर्शन को एक विशेप प्रकार का सश्लेषात्मक विज्ञान मानते है। दर्शन की इन सभी परिभापाओ में दो कार्यो को मिला दिया गया है—सत्य की खोज और प्रत्ययो का स्पष्टीकरण। प्रथम क्रिया स्पष्टत सिद्धान्तो का निरूपण करती है, किन्तु द्वितीय केवल अर्थ के स्पष्टीकरण से सम्वन्धित है। पहला कार्य वैज्ञानिक का है और दूसरा दार्शनिक का। वैज्ञानिक केवल सत्य अथवा तथ्य का अन्वेषण करता है। दार्शनिक का कार्य केवल अर्थ का विश्लेषण एव स्पष्टीकरण करना है। अत. दर्शन भाषा की आलोचना है। दर्शन सिद्धान्त न होकर एक क्रिया है। दर्शन न तो विशेष प्रकार का विज्ञान है, न विज्ञान के समकक्ष। यह ज्ञान का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण भी नही है। किन्तु दर्शन सभी प्रकार के वाक्यो का उद्देश्यहीन विश्लेषण नही है। इसमें प्रयोगो, सन्दर्भों तथा वाक्यो का स्पष्टीकरण किया जाता है जिनका तार्किक रूप न समझने के कारण क्रमिक दार्शनिक विवाद उत्पन्न होते हैं।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि "ट्रैक्टेटस" में विट्गेंस्टाइन का एक मुख्य उद्देश्य दार्शनिक क्रिया का स्वरूप निर्धारित करना था। बाद के लेक्चर नोट तथा "फिलासाफिकल कन्वेस्टीगेशन्स" में भी उसकी प्रधान समस्यायें है दर्शन किस तरह की क्रिया है? एक दार्शनिक समस्या का क्या स्वरूप है? दार्शनिक समस्याये किस तरह उत्पन्न होती है? विट्गेंस्टाइन के विचारो को और अच्छी तरह से जानने के लिए यह आवश्यक है कि दोनो अवस्थाओ की समता और अन्तर को जान लिया जाय। "ट्रैक्टेटस" में वह मानता है कि दर्शन सिद्धान्त नही वल्कि क्रिया है। दर्शन का परिणाम दार्शनिक तर्कवाक्य नही वल्कि तर्कवाक्यो का स्पष्टीकरण है। "इन्वेस्टीगेशस" में वह कहता है कि दार्शनिक सिद्धान्त नही होते। कम से कम अपने लिए वह कहता है, "मै दर्शन में कोई मत नही रखता। वह कहता है कि दर्शन किसी प्रकार की व्याख्या नही करता, उसमें केवल वर्णन रहता है। दर्शन में समस्याओ का समाधान नई सूचना देने से नही वल्कि जो कुछ पहले से ज्ञात है उसे सही क्रम में समझने से होता है।[1] दर्शन में हम कोई निष्कर्ष नही निकालते। दर्शन में केवल वही कथन किया जाता है जिसे सभी स्वीकार करते हैं।[2] दर्शन की समस्यायें वैज्ञानिक समस्याये नही हैं। दार्शनिक समस्याये नए तथ्यो के अभाव के कारण नही, भाषा का स्वरूप न समझने के कारण उत्पन्न होती हैं। भाषा का ऊपरी रूप या उसका साधारण व्याकरण भ्रान्तियाँ उत्पन्न करता है। दार्शनिक समस्यायें भाषाजनित भ्रम पर आधारित हैं।-अत भाषा का स्पष्टीकरण ही दार्शनिक समस्याओ का समाधान कर सकता है

दर्शन भापा द्वारा उत्पन्न हमारी बुद्धि के सम्मोहन के विरुद्ध युद्ध है।

फि इ. सेक्शन १०९

१ विज़डम, जे, "लुडविग विट्गेस्टाइन १९३४-१९३७" माइंड, अप्रैल, १९५९, पृ०२५९
२ फि इ, सेक्शन १०९
३ फि इ, सेक्शन ५९९

इस प्रकार दोनो कृतियो में दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति का कारण भापा के तार्किक स्वरूप को न समझना माना गया है और दोनो स्थानो पर उनका समाधान भापिक स्पष्टीकरण है। किन्तु भापा के तार्किक स्वरूप तथा तार्किक स्पष्टीकरण के विपय मे दोनो कृतियो में अन्तर है "ट्रैक्टेटस" में विट्गेस्टाइन ने माना था कि भापा सरल तर्कवाक्यो का समूह है। यद्यपि साधारण भापा के वाक्य मिश्रित तथा अस्पष्ट होते है, किन्तु उनका तार्किक आकार कलकुलस की तरह शुद्ध और स्पष्ट है। भापा का वाह्य रूप उसकी आन्तरिक तार्किक रचना को छिपा देता है। दार्शनिक विश्लेषण वाक्यो के तार्किक आकार को अभिव्यक्त करता है। भापा के स्पष्टीकरण अथवा वाक्यो के विश्लेपण का अर्थ है मिश्र वाक्यो को सरल वाक्यो मे इस प्रकार विभाजित करना कि पहले का सत्य-मूल्य सरल वाक्यो के सत्य-मूल्य पर पूर्णत निर्भर हो। वाद में विट्गेस्टाइन ने इन दोनो मतो को छोड दिया। भापा कलकुलस नही है, उसका प्रच्छन्न रूप है। भाषा की तार्किक रचना समझने के लिए विभक्तात्मक विश्लेपण की आवश्यकता नही है। वाक्यों का कोई आन्तरिक आकार नही है जिसे दार्शनिक विश्लेपण द्वारा प्रकट किया जाय। भापा और विश्लेषण का यह स्वरूप कृत्रिम दार्शनिक सिद्धान्तो पर आधारित था। "पूर्णतया सरल" और "पूर्णतया सुनिश्चित" केवल दार्शनिक मान्यतायें थी। कोई ऐसा मानदण्ड नही है जिसके आधार पर उचित आकार का निर्धारण किया जाय। दार्शनिक का कार्य तर्क-वाक्य का विश्लेपण करना नही, अपितु उसे समझना है। और इसको समझने का अर्थ यह जानना नही है कि यह वाक्य किस तथ्य का चित्रण करता है, या इसका प्रच्छन्न आकार क्या है। इसे समझने का अर्थ है यह जानना कि यह वाक्य क्या करता है, इसका कार्य क्या है, यह किस उद्देश्य की पूर्ति करता है, और किन भापिक क्रियाओ मे इसका प्रयोग किया जाता है। वाक्य पहले से ही स्पष्ट हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि वाक्यो को गलत समझा जा सकता है। यदि वाक्यो के गलत समझे जाने की सभावना न हो तो दर्शन की आवश्यकता न पडे।

"ट्रैक्टेटस" के विपय मे कुछ आवश्यक वाते और है। एक तो यह है कि यद्यपि विट्गेंस्टाइन ने तत्त्व-मीमासा को अर्थहीन माना किन्तु "ट्रैक्टेटस" भापा तथा सत् दोनो के विपय में तात्त्विक सिद्धान्त, परोक्ष रूप से, देता है। जगत् को आणविक तथ्यो तथा भापा को सरल तर्क वाक्यो का समुदाय मानना और दोनो की तार्किक सरचना को एक मानना किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त से कम शानदार योजना नही थी। इसके अतिरिक्त आत्मा, जगत् और दोनो की सीमा, इच्छा, ईश्वर तथा मूल्यो के विपय मे विट्गेस्टाइन के रहस्यात्मक सूत्र जर्मन प्रत्ययवादी दार्शनिको की परम्परा मे ही हैं। दूसरे विट्गेस्टाइन केवल तथ्य-परक भापा को ही सार्थक मानते हुए भी एक सम्पूर्ण पुस्तक की रचना करता है जिसकी भापा उसी के सिद्धान्त के अनुसार अर्थहीन है। इस निष्कर्ष को वह स्वीकार भी करता है। किन्तु इस भापा का प्रयोग भापा तथा जगत् की तार्किक सरचना वताने के लिए हुआ है, अत वह इसे अर्थहीन होते हुए भी महत्त्वपूर्ण मानता है। इसकी स्थिति सीढी की तरह है जिसकी आवश्यकता चढाई पूरी कर लेने के वाद नही पडती। यह सव उनके भ्रामक भापा सिद्धान्त का अनिवार्य परिणाम था।

४ "इन्वेस्टीगेशस" तथा अन्य कृतियों मे विट्गेंस्टाइन "ट्रैक्टेटस" के दार्शनिक पूर्वा-

करते हैं। इस प्रकार हम एक आदर्श स्थापित करते हैं और उसे वास्तविक भाषा पर आरोपित कर देते हैं। उदाहरण के लिए, 'सत्' (real) के स्वरूप पर विचार करते समय मूर 'रियल' शब्द के विभिन्न प्रयोगो पर विचार न करके वह पूछता है कि वह कौन सा गुण है जो उन सभी वस्तुओ में है जिन्हें हम रियल कहते हैं। किन्तु यदि हम विभिन्न प्रयोगो को देखे तो स्पष्ट हो जायगा कि ऐसा कोई गुण नही है। 'रियल' शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार की विशेपताओ, दोपो, विचलनो और व्यक्तिक्रमो को अलग करने के लिए होता है, किसी सामान्य गुण का कथन करने के लिए नही। और हम क्या अलग करना चाहते हैं, क्या अन्तर वताना चाहते हैं, यह विशेप सन्दर्भ से जान सकते हैं। जो वात 'रियल' के लिए सत्य है वही अधिकतर शब्दो के लिए भी सत्य है जिनका दर्शन में महत्त्व है। साधारण मनुष्य, और दार्शनिक भी जब वे दार्शनिक चिंतन न कर रहे हो, इन शब्दो का ठीक-ठीक प्रयोग करते है और किसी प्रकार की उलझन में नही पडते। किन्तु दार्शनिक चिंतन करते समय कोई एक रूप हम पर हावी हो जाता है और हम उलझन में फँस जाते हैं।

विट्गेंस्टाइन इस निष्कर्प पर पहुँचता है कि अधिकाश दार्शनिक समस्याये वास्तविक समस्याये नही हैं। तथाकथित दार्शनिक समस्यायें केवल भ्रात धारणायें है जो भाषा के तार्किक रूप को ठीक-ठीक न समझने के कारण उत्पन्न होती हैं। किन्तु इससे यह न समझा जाय कि उसके अनुसार दार्शनिक समस्यायें तुच्छ है या वे किसी साधारण अर्थ में भ्रान्त हैं। ऐसा नही है कि वे भ्रात धारणायें केवल किसी सामान्य बुद्धि वाले मनुष्य की त्रुटियाँ हैं। ऐसी त्रुटियाँ भाषा के रूप से ही उत्पन्न होती है। इन मिथ्या धारणाओ का स्रोत भाषा ही है। भाषा ही हमे हतबुद्धि कर देती है। और ये भ्रान्तियाँ हमारे सोचने की आदतो में इतनी घुली मिली रहती हैं कि हम उन्हें साधारणतया जान भी नही पाते।

अब प्रश्न यह है कि इन समस्याओ का समाधान क्या है? हमने यह देख लिया है कि विट्गेंस्टाइन के अनुसार दार्शनिक चिन्तन करते समय भापा हमें फास लेती है। अत एक वास्तविक दर्शन का कार्य है हमें भापा के जाल से निकलने में सहायता करना। किसी दार्शनिक समस्या का समाधान यह जानने में है कि क्यो और कैसे भाषा को गलत समझा गया। दार्शनिक समस्या एक सप्रत्ययात्मक वीमारी का लक्षण है और दार्शनिक का कार्य इसके कारण का पता लगाना है। इसके लिए हमें दर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण शब्दो के वास्तविक प्रयोगो को देखना चाहिए।

जब दार्शनिक किसी शब्द, "ज्ञान" "सत्", "वस्तु", "मै", "तर्क वाक्य", "नाम"—का प्रयोग करते हैं और वस्तु का सार रूप जानना चाहते हैं तो अपने आप से यह पूँछना आवश्यक है क्या इस शब्द का प्रयोग कभी भी इस रूप मे उस भाषा क्षेत्र में होता है जो इसका मूल घर है?—हम शब्दो को उनके तत्वशास्त्रीय प्रयोगो से वापस दैनिक प्रयोगो पर लाते हैं।

—फि इ, सेक्शन ११६

यहाँ एक चेतावनी आवश्यक है। कोई यह समझ सकता है कि दार्शनिक का कार्य केवल एक कोशकार का कार्य है। अर्थात् केवल शब्द के विभिन्न प्रयोगो को विना किसी क्रम

के इकट्ठा कर देना। किन्तु दर्शन में किसी जटिल शब्द के विभिन्न प्रयोगो को इस तरह रखा जाता है जिससे एक विशेष समस्या का समाधान किया जा सके।

जैसा कि विट्गेस्टाइन से आशा की जा सकती है, वह इस कार्य के लिए किसी एक विधि का प्रयोग सभी समस्याओ के समाधान के लिए नही करता। प्रत्येक समस्या का अपना अलग स्वभाव है और इसी रूप में उसका अध्ययन होना चाहिए। कोई सामान्य विधि नही है

एक दार्शनिक विधि नही है, यद्यपि विभिन्न चिकित्साओ की तरह विभिन्न विधियाँ हैं। फि इ, से १३५

किन्तु इन विधियो के द्वारा विट्गेंस्टाइन का उद्देश्य संप्रत्ययात्मक स्पष्टीकरण प्राप्त करना है। यह जटिल शब्दो के विभिन्न वास्तविक एव संभावित प्रयोगो का अध्ययन करने से हो सकता है। इसके लिए कुशलता एव कल्पनाशील अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। केवल प्रयोगो को इकट्ठा कर देने से कोई लाभ नही। दार्शनिक विश्लेषण मात्र भाषिक विश्लेषण नही है। इसका सम्बन्ध दार्शनिक समस्याओ के समाधान से है। और यह शब्दो के विभिन्न प्रयोगो का क्रमबद्ध अध्ययन करने से सम्भव है। यहाँ विट्गेस्टाइन कुछ सहायक विधियाँ बताता है, जैसे "मध्यवर्ती प्रयोगो का पता लगाना और निर्माण करना," और "मूल भाषा खेलो का पता लगाना" (या कल्पना करना)। दार्शनिक दृष्टि से जटिल शब्द के कई प्रयोग होते हैं। हमें उनके बीच का सम्बन्ध, जो सदैव स्पष्ट नही होता, जानना चाहिए। शब्दो का कार्य जानने की एक अन्य विधि है किसी शब्द का उससे सम्बन्धित अन्य शब्दो से साम्य तथा वैषम्य का अध्ययन करना।

इन सभी विधियो में दर्शन वर्णनात्मक ही रहता है। वह किसी चीज की व्याख्या नही करता।[1] यही नही दर्शन शब्दो के वास्तविक प्रयोगो में कोई परिवर्तन नही करता, वह केवल उनका वर्णन करता है। वह हर चीज को वह जिस रूप में है हमारे समक्ष रख देता है। कुछ भी गुप्त नही है जिसकी व्याख्या करनी हो। जो गुप्त है दर्शन में उसका महत्त्व नही। किन्तु वर्णन न तो निरुद्देश्य है, न क्रमहीन।

दार्शनिक समस्यायें वैज्ञानिक अथवा तथ्यात्मक नही है, अत दर्शन वर्णनात्मक है न कि व्याख्यात्मक। शब्दो के प्रयोगो का स्पष्ट रूप ज्ञात हो जाने पर समस्यायें विलीन हो जाती हैं। दार्शनिक चितन का उद्देश्य पूर्ण स्पष्टता है इससे समस्या का समाधान नही होता, क्यो कि वास्तविक समस्या है ही नही। समस्या ही नही रह जाती।[2] विट्गेंस्टाइन कहता है कि दार्शनिक बोतल में बन्द मक्खी की तरह है—निकलने का रास्ता न पाकर बार-बार एक बद दायरे में घूमता हुआ। उसे यह समझ में ही नही आता कि दरवाजा सदा खुला है। अत उसके अनुसार वास्तविक दार्शनिक चितन मुक्ति (भ्रांति-निराकरण) प्रद है

दर्शन मे तुम्हारा उद्देश्य क्या है?—मक्खी को बोतल से निकलने का रास्ता दिखाना। फि इ, से ३०९

१ फि इ, से. १०९

२. फि इ, से. १३३

ग्रहो से पूर्णतया परिचित है और उनसे मुक्त होने का प्रयास करता है। उसके दर्शन की द्वितीय अवस्था, एक प्रकार से प्रथम अवस्था की प्रतिक्रिया है। भापा और तर्क का स्वरूप, नियम का प्रयोग, अर्थ का स्वरूप तथा अन्य सभी समस्याओ के विश्लेपण मे यह वात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यहाँ हम केवल दार्शनिक समस्याओ के स्वरूप तथा उनकी उत्पत्ति और समाधान तक ही सीमित रहेंगे।

४ १ दार्शनिक समस्या की एक विशेपता जो, उसे अन्य समस्याओ से पृथक करती है, उसकी अस्पष्टता है। उसमें विमूढ और भ्रमित करने की शक्ति होती है। दार्शनिक अपनी दार्शनिक मनोदशा में विमूढ हुए विना नही रह सकता। जो इस तरह की उलझन महसूस नही करता वह समस्या का पूरा रूप समझ नही सकता। विट्गेंस्टाइन हमेशा लोगो को यह उलझन महसूस कराना चाहता था, और सुकरात की तरह साधारण स्वीकृत सिद्धान्तो में भ्रान्तियाँ तथा विसगति निकालता था। यदि कोई व्यक्ति दार्शनिक उलझन मे घिर जाता है, तो उसकी दशा वडी असहाय हो जाती है। वह कई वैकल्पिक समाधानो का प्रयास करता है, किन्तु व्यर्थ। उसने एक वार मॉलकम से कहा था कि दार्शनिक भ्रान्ति मे पडा हुआ व्यक्ति उस मनुष्य की तरह है जो एक कमरे से निकलना चाहता है किन्तु निकलना नही जानता। यह खिडकी से प्रयास करता है किन्तु वह वहुत ऊँची है। वह चिमनी से निकलना चाहता है किन्तु यह वहुत सँकरी है।[1] एक दूसरी जगह वह कहता है कि दरवाजे को ओर जो सदैव खुला रहता है उसका ध्यान ही नही जाता।

यहाँ आप यह कह सकते हैं कि सभी विपयो में ऐसी स्थितियाँ आती हैं। निस्सन्देह अन्यत्र भी ऐसी कठिनाइयाँ आती हैं, किन्तु नए तथ्यो के प्रकाश में उनका समाधान हो जाता है। यहाँ पर तथ्यों का अज्ञान ही समस्या उत्पन्न करता है। पर दार्शनिक समस्याये विशेप कर उन्ही परिस्थितियो मे उत्पन्न होती है जिनमें नए तथ्यो से कोई मदद नही मिल सकती, जिनमें समाधान के लिए नए तथ्यो की आवश्यकता नही रहती। हम सभी प्रासगिक तथ्यो को जानते हैं। उदाहरण के लिए समय सम्वन्धी सभी तथ्य हमें ज्ञात है, फिर भी यह समस्या वनी रहती है कि समय वास्तविक है या नही। हम इस पहेली के सभी अशो को जानते हैं। नही जानते तो केवल यह कि वे कैसे एक साथ फिट होते हैं। यहाँ स्पष्ट दृष्टि का अभाव है। दार्शनिक जिस तरह वस्तुओ को देखता है उसी में कुछ गडवडी है। उसकी समस्या वैज्ञानिक नही है। वह महज एक भ्रान्ति है जो समस्या के रूप में सामने आती है।[2] उसकी वुद्धि रोगग्रस्त है, और वह सप्रत्ययात्मक रोग से पीडित है।

४ २ अव प्रश्न उठता है कि दार्शनिक समस्यायें उत्पन्न कैसे होती है? हमारी वुद्धि क्यो भ्रमित हो जाती है? जो हमें उलझन में डाल देती है? विट्गेंस्टाइन के अनुसार अधिकाश दार्शनिक समस्याये भापा सम्वन्धी भ्रान्त धारणाओ से उत्पन्न होती हैं। जिन विभिन्न तरीको से भापा हमें भ्रमित करती है उनमें तीन का विशेप महत्त्व हैं। (१) विभिन्न प्रयोगों का समावेश, (२) चित्र (Picture) और (३) शब्दो को वास्तविक सन्दर्भो से अलग रखने की प्रवृत्ति।

---

१. मालकम एन., "लुडविग विट्गेंस्टाइन · ए मेम्वापर" पृ० ५१
२. वी वी, पृ० ६

विट्गेंस्टाइन कहता है कि 'साधारणीकरण की प्रवृत्ति के कारण हम शब्दो के विभिन्न प्रयोगो का एक में ही समावेश कर लेते है।[1] हम यह मान लेते हैं कि शब्दो का एक तरह से ही प्रयोग होता है और सभी वाक्यो का एक ही प्रकार का कार्य है। यह प्रवृत्ति व्याकरण द्वारा और पुष्ट होती है। हम यह भूल जाते है कि भाषा के व्याकरणिक रूप उसके विभिन्न कार्यों की अपेक्षा बहुत कम हैं। उदाहरण के लिए, 'विश्वास करना', 'चलना', 'देखना', 'दौडना', 'सोचना', क्रियाये है, किन्तु इन सबका एक ही प्रयोग नही है। "क दौड रहा है" और "क सोच रहा है" दोनो का व्याकरणिक रूप एक ही है, किन्तु इनके कार्य भिन्न हैं। अर्थात् "दौडने" का प्रयोग एक प्रक्रिया के लिए होता है, पर 'सोचने' का प्रयोग किसी प्रक्रिया के लिए नही होता। किन्तु व्याकरणिक समरूपता हमे भ्रमित करके इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि सोचना एक प्राइवेट, गुप्त, मानसिक प्रक्रिया है। इसी तरह हम यह मान लेते है कि सभी संज्ञा-शब्दो का प्रयोग दृश्य अथवा अदृश्य वस्तुओ के लिए होता है। "दर्द" और "विचार" उसी तरह से वस्तुओ का बोध कराते है जैसे "मेज" और "पेड"। हम यह भी मान लेते है कि सभी वाक्य जिनका ज्ञानात्मक अर्थ है वर्णनात्मक हैं।

दूसरा तरीका पहले से ही सम्बन्धित है। शब्दो के प्रयोग का एक चित्र या रूप हमें मोहित कर देता है। व्याकरणिक समरूपता के कारण हम किसी शब्द के एक विशेष प्रयोग को उस प्रकार के शब्दो का मानदण्ड अथवा आदर्श प्रयोग मान लेते हैं। किन्तु मोह अथवा दासता की यह स्थिति व्याकरण तक ही सीमित नही है। किसी भी विषय में हम एक विचार या धारणा से इतना प्रभावित हो सकते हैं कि उसके अन्य कार्यो या प्रयोगो को एकदम अस्वीकृत कर दे। उदाहरण के लिए संशयवादी गणित की विधि को आदर्श मानकर उन सभी विषयो पर संशय करता है जिन्हें इस विधि से सिद्ध न किया जा सके। विट्गेंस्टाइन इस प्रकार के नमूनो के कई उदाहरण देता है। हम प्रत्यय अथवा धारणा को एक मानसिक वस्तु के रूप में, मन को एक रहस्यात्मक वस्तु अथवा स्थान के रूप में, तथा याद करना, सोचना, आशा करना, समझना इत्यादि को शारीरिक क्रियाओ की भाति मानसिक प्रक्रियाओ के रूप में चित्रित करते हैं। उसके अनुसार दार्शनिक समस्याओ पर विचार करते समय हम एक विशेष चित्र से प्रभावित रहते है, और एक आदर्श हमें भ्रमित करता रहता है। दार्शनिक अपने ही चित्रो अथवा नमूनो का बन्दी है।

यहां एक चेतावनी आवश्यक है। 'चित्र' का यह अर्थ नही कि वह सदैव सचेत और निश्चित हो। इतना ही पर्याप्त है कि हम किसी विषय में एक विशेष प्रकार से या एक विशेष नमूने के अनुसार सोचते है और कहते है। हम केवल उन्ही स्थितियो पर ध्यान देते है जो हमें रुचिकर लगती है।

तीसरे, दार्शनिक समस्यायें तब उत्पन्न होती है जब हम शब्दो को वास्तविक सदर्भों से निकाल कर उन पर अलग से विचार करते है। दार्शनिक चिंतन करते समय हम किसी शब्द के वास्तविक प्रयोगो पर ध्यान नही देते, केवल चिंतन द्वारा उनके अर्थ का निर्धारण

१ वही पृ १४-१८

करते हैं। इस प्रकार हम एक आदर्श स्थापित करते हैं और उसे वास्तविक भापा पर आरोपित कर देते है। उदाहरण के लिए, 'सत्' (real) के स्वरूप पर विचार करते समय मूर 'रियल' शब्द के विभिन्न प्रयोगो पर विचार न करके वह पूछता है कि वह कौन सा गुण है जो उन सभी वस्तुओ में है जिन्हें हम रियल कहते है। किन्तु यदि हम विभिन्न प्रयोगो को देखे तो स्पष्ट हो जायगा कि ऐसा कोई गुण नही है। 'रियल' शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार की विशेपताओ, दोपो, विचलनो और व्यक्तिक्रमो को अलग करने के लिए होता है, किसी सामान्य गुण का कथन करने के लिए नही। और हम क्या अलग करना चाहते है, क्या अन्तर वताना चाहते हैं, यह विशेप सन्दर्भ से जान सकते हैं। जो वात 'रियल' के लिए सत्य है वही अधिकतर शब्दो के लिए भी सत्य है जिनका दर्शन में महत्त्व है। साधारण मनुष्य, और दार्शनिक भी जव वे दार्शनिक चिंतन न कर रहे हो, इन शब्दो का ठीक-ठीक प्रयोग करते हैं और किसी प्रकार की उलझन मे नही पडते। किन्तु दार्शनिक चिंतन करते समय कोई एक रूप हम पर हावी हो जाता है और हम उलझन में फँस जाते हैं।

विट्गेंस्टाइन इस निष्कर्प पर पहुँचता है कि अधिकाश दार्शनिक समस्याये वास्तविक समस्याये नही हैं। तथाकथित दार्शनिक समस्यायें केवल भ्रात धारणायें हैं जो भापा के तार्किक रूप को ठीक-ठीक न समझने के कारण उत्पन्न होती हैं। किन्तु इससे यह न समझा जाय कि उसके अनुसार दार्शनिक समस्यायें तुच्छ है या वे किसी साधारण अर्थ में भ्रान्त हैं। ऐसा नहीं है कि वे भ्रात धारणायें केवल किसी सामान्य वुद्धि वाले मनुष्य की त्रुटियाँ हैं। ऐसी त्रुटियाँ भापा के रूप से ही उत्पन्न होती हैं। इन मिथ्या धारणाओ का स्रोत भापा ही है। भापा ही हमें हतवुद्धि कर देती है। और ये भ्रान्तियाँ हमारे सोचने की आदतो में इतनी घुली मिली रहती हैं कि हम उन्हें साधारणतया जान भी नही पाते।

अव प्रश्न यह है कि इन समस्याओ का समाधान क्या है? हमने यह देख लिया है कि विट्गेंस्टाइन के अनुसार दार्शनिक चिन्तन करते समय भापा हमें फास लेती है। अत एक वास्तविक दर्शन का कार्य है हमें भापा के जाल से निकलने में सहायता करना। किसी दार्शनिक समस्या का समाधान यह जानने में है कि क्यो और कैसे भापा को गलत समझा गया। दार्शनिक समस्या एक सप्रत्ययात्मक वीमारी का लक्षण है और दार्शनिक का कार्य इसके कारण का पता लगाना है। इसके लिए हमें दर्शन के लिए महत्त्वपूर्ण शब्दो के वास्तविक प्रयोगो को देखना चाहिए।

जव दार्शनिक किसी शब्द, "ज्ञान" "सत्", "वस्तु", "मैं", "तर्क वाक्य", "नाम"—का प्रयोग करते है और वस्तु का सार रूप जानना चाहते हैं तो अपने आप से यह पूँछना आवश्यक है क्या इस शब्द का प्रयोग कभी भी इस रूप मे उस भाषा क्षेत्र में होता है जो इसका मूल घर है?—हम शब्दो को उनके तत्वशास्त्रीय प्रयोगो से वापस दैनिक प्रयोगो पर लाते हैं।

—फि इ, सेक्शन ११६

यहाँ एक चेतावनी आवश्यक है। कोई यह समझ सकता है कि दार्शनिक का कार्य केवल एक कोशकार का कार्य है। अर्थात् केवल शब्द के विभिन्न प्रयोगो को विना किसी क्रम

के इकट्ठा कर देना। किन्तु दर्शन में किसी जटिल शब्द के विभिन्न प्रयोगो को इस तरह रखा जाता है जिससे एक विशेष समस्या का समाधान किया जा सके।

जैसा कि विट्गेंस्टाइन से आशा की जा सकती है, वह इस कार्य के लिए किसी एक विधि का प्रयोग सभी समस्याओ के समाधान के लिए नही करता। प्रत्येक समस्या का अपना अलग स्वभाव है और इसी रूप में उसका अध्ययन होना चाहिए। कोई सामान्य विधि नही है

एक दार्शनिक विधि नही है, यद्यपि विभिन्न चिकित्साओ की तरह विभिन्न विधियाँ हैं। फि.इ, से १३५

किन्तु इन विधियो के द्वारा विट्गेंस्टाइन का उद्देश्य सप्रत्ययात्मक स्पष्टीकरण प्राप्त करना है। यह जटिल शब्दो के विभिन्न वास्तविक एव सभावित प्रयोगो का अध्ययन करने से हो सकता है। इसके लिए कुशलता एव कल्पनाशील अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। केवल प्रयोगो को इकट्ठा कर देने से कोई लाभ नही। दार्शनिक विश्लेषण मात्र भाषिक विश्लेषण नही है। इसका सम्बन्ध दार्शनिक समस्याओ के समाधान से है। और यह शब्दो के विभिन्न प्रयोगो का क्रमबद्ध अध्ययन करने से सम्भव है। यहाँ विट्गेंस्टाइन कुछ सहायक विधियाँ बताता है, जैसे "मध्यवर्ती प्रयोगो का पता लगाना और निर्माण करना," और "मूल भाषा खेलो का पता लगाना" (या कल्पना करना)। दार्शनिक दृष्टि से जटिल शब्द के कई प्रयोग होते हैं। हमें उनके बीच का सम्बन्ध, जो सदैव स्पष्ट नही होता, जानना चाहिए। शब्दो का कार्य जानने की एक अन्य विधि है किसी शब्द का उससे सम्बन्धित अन्य शब्दो से साम्य तथा वैषम्य का अध्ययन करना।

इन सभी विधियो में दर्शन वर्णनात्मक ही रहता है। वह किसी चीज की व्याख्या नही करता।[1] यही नही दर्शन शब्दो के वास्तविक प्रयोगो में कोई परिवर्तन नही करता, वह केवल उनका वर्णन करता है। वह हर चीज को वह जिस रूप में है हमारे समक्ष रख देता है। कुछ भी गुप्त नही है जिसकी व्याख्या करनी हो। जो गुप्त है दर्शन में उसका महत्त्व नही। किन्तु वर्णन न तो निरुद्देश्य है, न क्रमहीन।

दार्शनिक समस्याये वैज्ञानिक अथवा तथ्यात्मक नही है, अत दर्शन वर्णनात्मक है न कि व्याख्यात्मक। शब्दो के प्रयोगो का स्पष्ट रूप ज्ञात हो जाने पर समस्यायें विलीन हो जाती है। दार्शनिक चिंतन का उद्देश्य पूर्ण स्पष्टता है इसमे समस्या का समाधान नही होता, क्यो कि वास्तविक समस्या है ही नही। समस्या ही नही रह जाती।[2] विट्गेंस्टाइन कहता है कि दार्शनिक बोतल में बन्द मक्खी की तरह है—निकलने का रास्ता न पाकर बार-बार एक बद दायरे में घूमता हुआ। उसे यह समझ में ही नही आता कि दरवाजा सदा खुला है। अतः उसके अनुसार वास्तविक दार्शनिक चिंतन मुक्ति (भ्रांति-निराकरण) प्रद है.

दर्शन मे तुम्हारा उद्देश्य क्या है?—मक्खी को बोतल से निकलने का रास्ता दिखाना। फि इ, से. ३०९

१ फि इ, से १०९
२. फि इ., से. १३३

क्या उसका दर्शन मात्र निषेध नही है ? वह स्वय इस आक्षेप की कल्पना करता है और कहता है

हम जिसका निषेध कर रहे हैं वह कार्ड के घर के सिवा और कुछ नही है, और हम भाषा की वह भूमि साफ कर रहे हैं जिस पर वे खडे है।

उपरोक्त विवरण से दो प्रश्न मुख्य रूप से उभर कर सामने आते है। क्या साधारण भाषा पूर्णतया उपयुक्त हैं ? और, क्या दार्शनिक का कार्य केवल निषेधात्मक हैं ? बहुत से दार्शनिक यह कहते हैं कि विट्गेंस्टाइन ने साधारण भाषा को पवित्र माना हैं और उसके साथ किसी परिवर्तन को अशुद्ध प्रयोग कहा है। उसके सिद्धात में भाषा के विकास की कोई सभावना नही हैं। किन्तु ऐसे दार्शनिक यह भूल जाते हैं कि विट्गेंस्टाइन विशेष प्रयोजनो के लिये भ्रातियो के निराकरण के लिये तथा नए तथ्यो के लिये साधारण भाषा मे परिवर्तन स्वीकार करता है।[1] वह केवल दार्शनिक द्वारा असाधारण प्रयोगो का विरोध करता है सभी शब्दो का चाहे वे सामान्य हो चाहे विशेष (टेक्निकल) वास्तविक सदर्भो मे प्रयोग ही सार्थक हैं। उनका असाधारण प्रयोग भ्रातियो को ही जन्म देता है। दूसरे प्रश्न के विषय में यह कहा जाता है कि विट्गेंस्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याये केवल भाषा के सम्बन्ध में है, और वे पूर्णतया तुच्छ और अर्थहीन हैं। ये दोनो बाते गलत हैं।

विटगेंस्टाइन यह नही कहता कि दार्शनिक समस्याये भाषा के विषय में है। यद्यपि अधिकाश दार्शनिक समस्यायें भाषा से ही उत्पन्न होती हैं। किन्तु उनका विषय ज्ञान, स्मृति सत्य, देश, काल, प्रत्यक्ष सवेदना, समझ, अभिप्राय तथा अन्य दार्शनिक समस्यायें हैं। यह बहुत बडी भूल है कि विट्गेंस्टाइन को रुचि केवल भाषा में है, तथ्यो में नही। किन्तु दार्शनिक का सबध तथ्यो से उसी रूप में नही होता जिस रूप में वैज्ञानिक का होता है। इसी प्रकार जब वह दार्शनिक समस्याओ को बौद्धिक बीमारी, कार्ड का घर तथा अर्थहीन कहता है तो वह उन्हें व्यर्थ अथवा तुच्छ नही मानता। यद्यपि ये समस्याये भाषा के अशुद्ध प्रयोग से उत्पन्न होती है, किन्तु उनमें एक प्रकार की गहराई होती है। उनमें गम्भीर असतोष व्यक्त होता है, और उनका वही महत्त्व है जो भाषा का[2]। यदि दार्शनिक समस्यायें अस्पष्ट तथा भ्रात होती है तो दार्शनिक चिंतन के पश्चात् हमें चीजो को देखने की सही दृष्टि प्राप्त होती हैं। दर्शन कोई सूचना नही देता, न कोई सिद्धात, किन्तु उससे हमारी भ्राति दूर होती है, ओर हम वस्तुओ को उनके सही परिप्रेक्ष्य में समझ सकते हैं। ५ २ किन्तु विटगेंस्टाइन को विश्लेषण में एक कमी अवश्य है। उसके अनुसार दर्शन अत्यधिक निषेधात्मक है। उसमें केवल विशेष समस्याओ के समाधान अथवा समाप्ति का व्यवधान हैं। किन्तु एक विशेष विषय से सम्बन्धित सभी समस्याओ के आन्तरिक सबधो को व्यक्त करते हुए वर्णनात्मक दर्शन भी सम्भव है। विभिन्न समस्याओ का अलग-अलग विश्लेषण करने के साथ-साथ उनका क्रमबद्ध अध्ययन भी आवश्यक है। इस ओर आक्सफोर्ड दार्शनिको ने ध्यान दिया है और विटगेंस्टाइन के दर्शन को आगे बढ़ाया है।

---

१ कि इ, से १३२

२ कि इ, से १११

युगलावतार श्री चैतन्य : एक विश्लेषण

तपेश्वरनाथ

१६ वी शदी के वैष्णवाचार्यों में माधुर्य भावी उपासना की दृष्टि से वगाल के महाप्रभु चैतन्यदेव का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वे भगवान श्रीकृष्ण की प्रेम-माधुरी के उन्मत्त गायक और राधा-माधव की शृंगार-लीला के रमता सकीर्त्तनकार थे। यद्यपि उन्होंने अपने नाम से किसी विशिष्ट पथ या सम्प्रदाय का सुचिन्तित प्रवर्त्तन नही किया किन्तु अपने चरित्र में विलक्षण सम्मोहन रखने के कारण वह जिधर ही गये उनके चारो ओर वैष्णव भक्तो की भावुक मण्डली वनती गयी। महाप्रभु के जीवनकाल मे ही उनकी भावुकतापूर्ण लीला-भक्ति को लेकर वगाल से लेकर वृन्दावन तक एक विशिष्ट सकीर्त्तन पथी दल का व्यापक वितान तन गया। सैकडों भक्त उनने अनुयायी वन गये। इनमें रूप, जीव, सनातन गोस्वामी, नित्यानन्द, कृष्णदास कविराज, गोपाल भट्ट, गदाधर भट्ट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें रूप-गोस्वामी ने प्रथमवार अपने दो ग्रथ-'भक्ति रसामृतसिन्धु' तथा 'उज्जवल-नीलमणि' मे अपनी विलक्षण प्रतिभा से भक्तिरस को शास्त्रीय पृष्ठाधार प्रदानकर कृष्ण को रस-राट् सिद्ध कर दिया। कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्य-चरितामृत' में महाप्रभु के भ्रमणशील जीवन की सम्पूर्ण मधुर झांकी प्रस्तुत की। यह एक ओर जहाँ जीवनी-साहित्य है वहाँ दूसरी ओर गौडीय वैष्णवो के भक्ति-सिद्धान्तो का तत्त्व-कल्पतरु भी। चैतन्य-मत के रस-सिद्ध हिन्दी कवियो की भी एक समृद्ध परम्परा है जिसमें भक्तियुग के गदाधर भट्ट से लेकर आधुनिक युग के श्री कृष्ण चैतन्य[1] तक सैकडो कवि समाविष्ट रहे हैं। इस प्रकार, चैतन्यदेव को सम्पूर्ण साधना और उसके विलक्षण प्रसार पर दृक्पात करने पर यह प्रतिभासित हुए विना नही रहता कि अवतार वादी चारित्र्य, शास्त्रीय गरिमा और कवित्व—इन त्रिविध आयामो पर उनकी-युगल - मूर्ति राधा-कृष्ण की मधुरोपासना पूर्णत श्रेयस्कर सिद्ध हुई।

चैतन्य का व्यक्तित्व मध्ययुग के अन्य सभी वैष्णव साधको की अपेक्षा विलक्षण था। इनका जन्म सन् १४८५ मे वगाल के नदिया जिले में शान्तिपुर नामक स्थान में हुआ था। इनके जन्म का नाम विश्वभर था। यही वाद में अपने अनुयायियो द्वारा कृष्ण-चैतन्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। अत्यन्त गौरवर्ण के उज्जल पुरुष होने के कारण इन्हें गौराङ्ग महाप्रभु के रूप में भी स्मरण किया जाता है। इन्होंने १८ वर्ष की उम्र में लक्ष्मी देवी से विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन मे प्रवेश किया। अल्पायु मे ही इन्होंने समस्त शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर ली दुर्भाग्यवश लक्ष्मीदेवी के आसामयिक निधन ने इन्हें दूसरा विवाह करना पड़ा। किन्तु, लक्ष्मी वियोग मे चिर दग्ध चित्त में लोकानुरक्ति का विरवा पुन पनप न सका। इसी विमुक्त चित्त से जब वह पितरो के पिण्डदान हेतु गया (विष्णुपद) आये तो ईश्वरपुरी नामक एक प्रसिद्ध

---

१. द्रष्टव्य—'चैतन्य मत और ब्रज-साहित्य'—श्री प्रभुदयाल मीतल, हिन्दी मन्दिर, मथुरा

वैष्णव सन्त के प्रभाव से उनके हृदय में पूरी विरक्ति जग पडी[1] और वे कालान्तर में घर-बार छोडकर सन्यासी बन गये।[2] हरि-नाम सकीर्त्तन ही इनके सन्यासी जीवन का एकमात्र आधार बन गया। ये इसी मधुर सकीर्त्तन में सुधि-बुधि खोकर रमण करते रहे। निरन्तर कृष्ण नाम का गान ही इनका पावन मत्र[3] था जो नवद्वीप में प्रस्फुटित होकर जगन्नाथ पुरी से वृन्दावन तक प्रसरित हो गया।

इन्होने भारत के सभी प्रमुख तीर्थों का भ्रमण किया। इनमें दक्षिण देश की यात्रा का विशेष महत्त्व है। क्योकि, भारतीय भाषाओ में कदाचित् सर्व प्रथम तमिल साहित्य (आल्वार प्रबन्धन्) में ही राधा-कृष्ण ('नविन्नईकण्णन') की मधुरोपासना का प्रचार-प्रसार हुआ। महाप्रभु तमिल प्रदेश के प्राय सभी वैष्णव क्षेत्रो में घूमे।[4] बहुत सभव है कि इस यात्रा में वे भावुक भक्तकवि आल्वारों की रचनाओ से परिचित और प्रभावित हुए हो।[5] इस यात्रा के अनन्तर उनके जीवन में एक विशेष उल्लास दृष्टिगोचर होता है। इसी यात्रा में इनका उत्कल देश के प्रसिद्ध विद्वान् (तथा राजमन्त्री) राय रामानन्द से साक्षात्कार हुआ था। गोदा तट पर यह दो वैष्णव भक्तो का एक अद्भुत मिलन था। इसका विस्तृत विवरण कृष्णदास कवि राज के 'चैतन्यचरितामृत'—मध्यलीला में मिलता है। चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति-रहस्य के सबध में जो स्फुट जिज्ञासा की, राय रामानन्द ने कही सक्षेप और कही विस्तार से उत्तर दिये।

महाप्रभु ने पूछा–'हे विद्वन् ! तुम भक्ति किसे कहते हो ?'
राय रामानन्द—'स्वधर्माचरण ही भक्ति है।'

परन्तु, महाप्रभु को इससे सन्तोष न हुआ। वह हर वार पूछते गये—' ए हो वाह्य, आगे कह आर' (अर्थात् यह भी वाह्य है, कुछ और आगे कहो)। क्रमश कृष्णार्पण, शरणागति, प्रेमा, दास्य, सख्य, कान्ता-प्रेम के भी आगे प्रश्न करने पर राय रामानन्द राधा-प्रेम को सर्वश्रेष्ठ वतलाकर चुप हो गये—

प्रभु कहे—एक साध्यावधि सुनिश्चय
कृपा करि कह यदि आगे किछु हय।
राय कहे—इहार आगे पुछे हेत जने
एतो दिन नाहि जानि आछये भुवने।
इहार मध्ये राधार प्रेम साध्य शिरोमणि
याहार महिमा सर्वशास्त्रेते वाखानि ॥ ८/९६-९८

---

1. Dr S, K De—'Early Hitory of the Vaisnava Faith's Movement in Bengal, P 76
2. Prof Sukumar sen–A Hiofory of Brajbuli literature, P. 12
3, Dr S K De–E H V F M B P 78-80 (Life & Personality of Chaitanya')
4 त्रितब्द भिक्षु-भक्ति प्रदीप तीर्थ, पृ० ७९
5, D N Gauguli–'The life of Shree Gauranga, P. 45

कान्ताभाव के आगे चैतन्य की जिज्ञासा पर रामानन्द को विस्मय हुआ इसके आगे पूछने वाला जन ससार में कोई है, ऐसा तो वे इतने दिनो से नही जानते थे। कान्ता - प्रेम की साधना में राधा-प्रेम ही चरम साध्य है। इस पर महाप्रभु ने गद्गद् चित्त से कहा-' हाँ, राधाभाव ही श्रेष्ठ है, परन्तु प्रमाण क्या है?' डॉ द्विवेदी के शब्दो में—[1] यह लक्ष्य करने की बात है कि महाप्रभु ने केवल अन्तिम बात के लिए प्रमाण माँगा था। पहले जितनी बाते बतायी गयी हैं वे अतिपरिचित हैं। प्रथम कहे गए सभी मत गीता और श्रीमद्भागवत मे मिल जाते है। परन्तु गीता या भागवत में राधा की चर्चा नही है।. राय रामानन्द ने इसके प्रमाण में, 'गीत गोविन्द' का मत उद्धृत किया जिसमे बताया गया है कि भगवान् श्री कृष्ण ने राधा को हृदय में धारण करके अन्यान्य व्रज-सुन्दरियो को त्याग दिया था।[2]

इस प्रसग से स्पष्टत दो बाते सामने आती है। पहली यह कि राय रामानन्द को यदि राधा-भाव की भक्ति का प्रेरक व्याख्याता मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। दूसरी बात यह कि दक्षिण में राधा-भाव की उपासना पहले ही पनप चुकी थी, जो परवर्ती युग में (निम्बार्कमत से होते हुए) चैतन्यादि मतो में गृहीत और प्रचलित हुई।

उपर्युक्त बातो के अतिरिक्त चैतन्यमत को प्रभावित करने वाले कुछ तथ्य ये है—

(१) महाप्रभु का दक्षिण के आल्वार भक्तो की मधुर कृतियो से परिचय।

(२) ११ वी-१२ वी शतीय लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत'[3] और जय देव के 'गीत गोविन्द' का व्यापक प्रभाव

(३) राय रामानन्द के राधा-कृष्ण युगल प्रेम[4] का चैतन्य-मत पर प्रभाव।

(४) राय रामानन्द से मिलनोपरान्त महाप्रभु का लक्षणीय भावान्तर।

(५) निष्कर्षत दक्षिण की राधा-कृष्ण माधुर्य-भक्ति का रस-सचार उत्तरापथ में चैतन्य महाप्रभु द्वारा उत्कल देश के माध्यम से हुआ, जहाँ के धार्मिक वातावरण मे (विशेषत जगन्नाथ मन्दिर में) जयदेव के गीत-गोविन्द का पवित्र स्वर पहले से गूँज रहा था।[5] उनके दिव्य भावान्तरण पर दाक्षिणात्य भ्रमण तथा वैष्णव गोष्ठियो का विशेष महत्त्व है। विशेषत राय रामानन्द से हुई गोष्ठी पूर्ण लाभप्रद रही। वैसे, चैतन्य भी इस युगलवाद से परिचित थे, इसका प्रमाण है। राय रामानन्द ने इसी ओर लक्ष्य करते हुए चैतन्य से स्पष्ट कहा था—

अभिनट तूमि सूत्रधार

ये मत नाचाओ ते मत चाहि नाचिवार। (चै० च०, मध्य०) अत महाप्रभु के नीलाचल (उत्कल) मे अवस्थान काल से पूर्व ही यह भाव-धारा इस क्षेत्र में प्रवाहित हो रही

---

१ मध्यकालीन धर्म साधनका, पृ० १४४-१४५

२. गीतगोविन्द—३/१—कसारिरपि संसारवासनाबद्धशृंखलाम्।
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरी ॥

३ महाप्रभु द्वारा दक्षिण से लायी गयी दो पाण्डुलिपियो में से एक यह भी है।

४. रामानन्द रचित राधाकृष्ण-प्रेम-परक सस्कृत नाटक 'जगन्नाथ-वल्लभ' द्रष्टव्य

५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-१८, अक-१ (जयदेव और उनका गीतगोविन्द-च० शिवदत्त शर्मा)

थी। चैतन्यदेव ने पूर्वी और सुदूर उत्तर पश्चिमी भारतीय अचल में इस प्रवाह को अपने मधुर व्यक्तित्व से और भी प्रखर वेग प्रदान कर दिया।

चैतन्यदेव का सन्यास भी निराला ही था। उसमें विधि-निषेध और कर्मकाण्ड का कोई व्यवधान नही था। निरन्तर राधाभाव की महादशा में आत्मप्रक्षेपण (सेल्फ-प्रोजेक्शन) और हरिनाम सकीर्तन को दिव्य माधुरी से उनका वहिरन्तर पूरी तरह सराबोर हो चुका था।[१]

चैतन्य वल्लभाचार्य के समसामयिक थे। इन दोनो का साक्षात्कार भी विद्वानो को प्राय मान्य है। तदनुसार 'वल्लभ दिग्विजय' के अनुशीलन से ऐसा विदित होता है कि वल्लभाचार्य ने सन् १५१८ ई० (स० १५७५) के आस-पास अपनी पुरी-यात्रा में महाप्रभु से साक्षात्कार किया था। और, वे चैतन्यदेव की युगलोपासना से प्रभावित भी हुए थे। तथापि चैतन्य की भावुकता की अपेक्षा वल्लभाचार्य में गाभीर्य प्रवल था। कृष्ण-प्रेम में तन्मयता, मुक्तता और खुलावा होने के कारण ही चैतन्य का सन्यासी सस्कार शकराचार्य की तरह वौद्धिक और वल्लभाचार्य की तरह साम्प्रदायिक न था। वल्लभाचार्य की वैष्णवता प्रवन्धात्मक थी। उसके मूल मे भागवत की भक्ति भावना कार्यरत थी। इसके प्रतिकूल, चैतन्य देव का चरित्र था—पूर्ण मुक्त और रसपेशल, उसके मूल में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और राधा-कृष्ण पदावली साहित्य की तरलता काम करती थी। इन दो महान् विभूतियो का चारित्रिक अन्तर मध्ययुग की कृष्ण-भावना को समझने का सर्वाधिक विश्वस्त सास्कृतिक आधार है। वल्लभाचार्य मूलत वालकृष्ण के उपासक भक्त थे। गोपियो की प्रेम-लक्षणा भक्ति का समावेश उन्होने भागवत के अतिरिक्त चैतन्य-मत और चरित्र से भी प्रभावित होकर किया, अधिकाश पडितो[२] का ऐसा ही विश्वास है। इस तरह दक्षिण के पेरियाल्वार(विष्णुचित्त) से मध्यदेश के वल्लभाचार्य और उनके प्रतिनिधि शिष्य सूरदास तक वालकृष्ण की भक्ति का यात्रा-वृत्त पूरा हो जाता है। इस यात्रा-वृत्त के दो मार्गों की यदि कल्पना करें तो चैतन्यदेव ही पूर्वी (सचार) वृत्त के प्रवल सवाहक सिद्ध होते हैं। आण्डाल से मीराँ तक—पश्चिमी (सचार) वृत्त का उल्लेख स्वय भागवत-माहात्म्य के "उत्पन्ना द्राविडे ' " (१/४८) वाले सूत्र में हो गया है। इसके साथ रामानुज का भी यथेष्ट योग था जिन्हे दक्षिण में 'तिरूप्पावै जीयर' (आण्डाल की माधुर्य पूर्ण कृति 'तिरुप्पावै' के पदों में अहर्निशि रस मग्न रहने वाले) और उत्तर में मध्य युगीन भक्ति-आन्दोलन का पुरोधा कहलाने का द्विविध श्रेय प्राप्त है।

चैतन्य अपने अवतार-स्वरूप में श्रीकृष्ण और उनकी लीला-सहचरी राधा देवी की समन्वित प्रतिमूर्ति थे। उनका अन्तरग कृष्णमय और वहिरग राधामय था। गौडिय वैष्णव

---

५ Prof S sen-H, B B L, P 14—' the Radha Krishna legend is a grand nallegody of the . eternal relalion between man & god. has been proved by the life of Chaitanya himself

१. (i) Dr S Sen-A History of Braj Buli Literature, P 379
(ii) डॉ० दीनदयालु गुप्त-अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, पृ० ५२८
(iii) श्री प्रभुदयाल मीतल—'व्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद', पृ० ४८

की मान्यता मे 'वृन्दावन-नागर' कृष्ण ही 'नदिया-नागर' चैतन्य रूप मे अवतरित हुए थे।[1] कृष्ण के रूप मे ही उन्होने कृष्ण-प्रेयसी राधा की उज्ज्वल कान्ति पायी थी। इसीलिए उन्हें 'अन्त कृष्ण वहिर्गौर' भी कहा जाता है। इस राग-रग का राज स्वय भागवत में ही प्रच्छन्न है।[2] इसी भाव के आधार पर रूप गोस्वामी ने अपने 'कडचा' में 'राधाभावद्युतिसवलित साक्षात् कृष्ण-स्वरूपी चैतन्य' की वन्दना की है—

चैतन्याख्य प्रकटमधुना तद्द्वय चैक्यमाप्त।
राधाभावद्युतिसुवलित नौमि कृष्ण-स्वरूपम्॥

इस अवतरित स्वरूप की प्राप्ति के लिये उन्हें चिरन्तन भाव-योग करना पडा था। उनके इस योग के चारो ओर भागवत और ब्रह्मवैवर्त की मधुर लीला, लीलाशुक और जयदेव के शृगारिक श्लोक, कवीन्द्रवचन-समुच्चय और सदुक्ति कर्णामृत के 'असती व्रज्या' के पद्य विद्यापति और चण्डीदास की मिलन-विरह जन्य पदावली-सव पचाग्नि का काम दे रही थी। महाप्रभु के दिव्यचरित का निर्माण इन्ही तानो-वानो से हुआ था। यह कोई विस्मय की वात नही। वैष्णव भक्तो के विश्वास में मध्ययुग का प्रत्येक आचार्य अवश्य ही कृष्ण या कृष्ण के किसी-न-किसी परिकर का अवतरित स्वरूप है।[3] सो, चैतन्य भी राधा कृष्ण के युगल अवतार मान्य थे।[4] राय रामानन्द को उन्होने अपना यही युगल स्वरूप दर्शाया था—

तवे हासि तारे प्रभु देखाल स्वरूप
रसराज महाभाव दुइ एक रूप॥ (चै० च०, मध्य, अष्टमपरिच्छेद)

वगाली विद्वानो ने उक्त धारणा मे अपना गभीर प्रत्यय प्रकट किया है।[5]—

" The life-story of Gauranga (Chaitanya Deva) who was & is believed to be an incarnation of Radha & Krishna in Union "

चैतन्यावतार की कल्पना में राधा-कृष्ण युगल अवतार की भावना स्वयमेव अन्तर्निहित है। उनके इस युगल स्वरूप के निर्माण में तात्कालीन वग सस्कृति और साधना का हाथ था। चैतन्य-पूर्व पूर्वी प्रदेश बौद्ध धर्म की तान्त्रिक प्रवृत्तियो से आछन्न था। इसमे शाक्ततत्र की साधना के समानान्तर सहज मत में 'युगनद्ध' (आलिंगन-बद्ध स्त्री पुरुप) की कल्पना का विकास हुआ। वगाल मे शिव और शक्ति के समानान्तर राधा और कृष्ण की सम्मिलित प्रतिमूर्ति का प्रचार १२वी से १४वी शती के बीच शनै शनै होता दिखाई पडता है। ब्रह्मवैवर्त में राधा के साथ कृष्ण का प्रथम प्राकट्य इसी रूप में निर्दिष्ट है।[6] विद्यापति-पदावली में

१ श्री राधा का क्रम-विकास—डॉ० शशि भूषण दास गुप्ता (पृ० २४२)

२ श्रीमद् भागवत-११/५/२९ ('कृष्णवर्णंत्विषाकृष्ण ··')

३ वल्लभाचार्य—अग्नि + कृष्ण—'सम्प्रदायप्रदीप'–५९ । विट्ठलनाथ-कृष्ण }
हितहरिवश-वशी-'हित चरित्र' । गोपीनाथ-बलराम }
चौरासी वैष्णव वन की वार्ता, पृ० १९१,४७८

४ चैतन्य—राधा + कृष्ण—चैतन्य चरितामृत, आदि लीला।

५ (i) Prof S Sen-H B, B L, P 16
(ii) Dr S K De-E H V F M B., P 229-" they regard Chaitanya as both Krisna&Radha in one Perdonality"

६ ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्म खण्ड, अध्याय-६

भी एकाध स्थल पर इसी बिम्ब का विधान हुआ है। चैतन्य-चरित्र में भी यही भाव प्रकटित है। किन्तु तीनो में भाव-साम्य के अतिरिक्त रूपगत सूक्ष्म अन्तर भी है। युगनद्ध रूप में स्त्री-पुरुष पूर्ण आलिंगन-बद्ध हैं, अर्द्धनारीश्वर रूप में दोनों आधे आधे हैं, चैतन्य स्वरूप में ये दोनो अन्तर्वाह्य है। युग्म की प्रेम अद्वैतता तीनो में अभीष्ट है। राधा-कृष्ण युगल मूर्ति मे भी यही अन्तरग सम्बध है। अत चैतन्य चरित में राधाकृष्ण युगल चरित्र पूर्णत प्रतिबिम्बित है। और, इसे देखते हुए यह निस्सकोच स्वीकार करना पडता है कि १६वी शती की वैष्णव-साधना और कृष्ण-भक्ति-काव्य मे युगलावतार के रसात्मक प्रवेश का श्रेय चैतन्यावतार को ही है। यदि चैतन्य का अवतरण न हुआ होता तो व्रज का कृष्ण-काव्य राधा-कृष्ण-काव्य न होता।

मध्य देश मे भागवतीय कृष्ण-भक्ति धारा के प्रवर्त्तक और उन्नायक वल्लभाचार्य हुए। उनकी पुष्टिभक्ति के विषय भगवान् कृष्ण और आश्रय गोपियाँ है। उनका प्रतिपाद्य विषय सम्पूर्ण कृष्णचरित है, केवल कृष्ण की रजनकारिणी लीला नही। उनकी उपासना पचभावोपासना (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्यादि) है, केवल मधुरोपासना नही। उन्होने भागवत की (पश्चिमी) धारा का अनुवर्त्तन किया, जिसमें उक्त बातो के अतिरिक्त अपेक्षित गाभीर्य है।

दूसरी ओर, चैतन्य मत ने ब्रह्मवैवर्त की (पूर्वी) धारा का आश्रय ग्रहण किया है। इनमे वात्सल्य का पक्ष गौण और मधुर भाव का प्राबल्य है। इनमें पचभावोपासना के स्थान पर माधुर्योपासना सविस्तार व्यजित है। यहाँ राधा और कृष्ण क्रमश परकीया और उपपति (जार) है। यहाँ कृष्णावतार का लक्ष्य प्रेम-लीला है। दोनो पर शाक्त-तत्र का प्रभाव है। राधा-प्रेम और राधा-विरह दोनो के प्रिय विषय हैं। इनमें शास्त्र की अपेक्षा जन-भावना और जन-काव्य के प्रति प्रबल आग्रह है।

इस पुराण में ऐसे ही कई तत्त्व हैं जिनका सामान्यत पूर्वी प्रदेश की कृष्ण-भावना के अतिरिक्त चैतन्य की युगलोपासना पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडा है। तो स्पष्ट है कि कृष्ण-भावना को लेकर भागवत-परम्परा से भिन्न पूर्वी अचल मे भागवत परम्परा अर्थात् राधा-प्रधान ब्रह्म-विवर्ती कृष्ण-लीला का प्रतिनिधित्व रहा। जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास और चैतन्यदेव इसी परम्परा के गायक और भक्त है।[1] इनका मूल उपजीव्य कृष्ण-लीला का मधुर पक्ष है, सम्पूर्ण कृष्णचरित नही। गौडीय वैष्णवो ने इसी ओर लक्ष्य कर रागात्मिका (साध्य) भक्ति को साधन भक्ति के रागानुगा मार्ग से और आगे बढे हुए प्रेम (प्रेमा) को महाभाव दशा (राधा महाभाव) तक अन्तर्न्यास सिद्ध किया है। रूप गोस्वामी ने अपने रस शास्त्र मे पुष्टिमार्गी भक्ति (वल्लभ-सम्प्रदाय की भागवतीय भक्ति) का स्पष्ट नाम्मोल्लेख कर इमी अन्तर का साक्षात्कार कराया है[2]—कृष्णतद्भक्त कारुण्य मात्र लाभैक हेतुका ॥ १०८ ॥

पुष्टिमार्गतया कैश्चिदिय रागानुगोच्यते।

अर्थात्, 'कृष्ण और उनके भक्तो की करुणा मात्र की प्राप्ति ही जिसका एकमात्र फल

---

१ द्रष्टव्य—'भारतीय साधना और सूर-साहित्य', पृ० १७४—डॉ० मुशीराम शर्मा

२. ,,—हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु-श्लोक—१०८, रूप गोस्वामी (स० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक)

है इस प्रकार की इस रागानुगा भक्ति को कुछ लोग 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं।' वल्लभाचार्य और चैतन्य का सम्मिलन प्राय इन्ही दो धाराओ (भागवत और ब्रह्मवैवर्त) का सगम है। इसमें शास्त्रीयता और लोक-परम्परा, भक्ति और शृङ्गार-भावना, प्रबन्ध और मुक्तक शैली सब एक साथ सहित हो गयी है। मध्यम युग के कृष्णचरित में इसी भाव-संहिति की अभिव्यक्ति हुई है। व्रज कवियो के कृष्ण-काव्य मे जो माधुरी और महिमा है वह इन स्रोतो के समीकरण का ही परिणाम है।[१] यहाँ पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण-सम्पूर्ण देश की रस-साधना बिल्कुल एकमेक हो गयी है।

ऊपर चैतन्यावतार पर युगल स्वरूप के आरोप की बात कही जा चुकी है। और, इसके साथ ही यह भी बतलाया जा चुका है कि इसका मूल कारण चैतन्य-चरित को प्रभावित करने वाली तत्कालीन बगभूमि की तात्रिक साधना है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत विभिन्न वज्रयानी देवताओ को अपनी शक्तियो के साथ समागम करते हुए वर्णित किया गया है। इसी को 'प्रज्ञोपाय-साधना' भी कहते हैं। बगाल में शिव और शक्ति के समानान्तर राधा और कृष्ण को वैष्णव सहजिया मत मे सम्मिलित कर लिया गया है। चैतन्यचरित वैष्णव सहजिया मत की इस युगल साधना का मूर्त प्रतीक है। यह बात बाहर से देखने पर कुछ अजीब-सी लगती है किन्तु राधा-कृष्ण युगल-प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में यह एक रहस्यपूर्ण तथ्य है।

प्रश्न है कि सगुण और निर्गुण का यह समन्वय कब हुआ? चैतन्यदेव वैष्णव भक्ति और सहज साधना के सम्मिलन की स्वाभाविक परिणति हैं, यह बात उनकी गुरु-परम्परा से भी चरितार्थ होती है। चैतन्य के गुरु ईश्वरपुरी और उनके गुरु माधवेन्द्र पुरी प्रेममार्गी अद्वैत सन्त थे।[२] प्रो० सुकुमार सेन की धारणा मे चैतन्य संभवत माधवेन्द्रपुरी की प्रेमद्वैत भाव-धारा के ही 'जन्मान्तर प्रतीक' थे।[३]

इसके अतिरिक्त, चैतन्यदेव की युगल साधना की एक प्रेरणा-दायिनी पुस्तक 'कृष्ण-कर्णामृत' भी है। और, इसके रचयिता दक्षिणदेशीय लीलाशुक बिल्व-मगल ठाकुर पहले अद्वैत सन्त थे जो पीछे कृष्ण-भक्त बन गये। यह बात स्वय 'बिल्व-मगल स्तव' के इस श्लोक से सिद्ध है—[४]

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्या स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षा।
शठेन केनापि वय हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥ ३७२ ॥

अर्थात्, 'अद्वैतानुयायी पथिको के पूजनीय एव आत्मानन्दी मुझको (लीलाशुक) भी गोपियो के किसी जारने बरबस अपना दास बना लिया।"

उपर्युक्त गुरु और कवि-परम्परा की साधना-परिणति को लक्ष्य करने पर यह भलीभांति

---

१ ,,–मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० १४५–डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ('लीला और भक्ति से')

२. Dr. S K De—E H V F M B, P 23

३. Prof S Sen—A H B B L, P. 12

४ भक्तिरसामृत सिन्धु, पश्चिम विभाग, [illegible], श्लोक ३७२ में उद्धृत।

कहा जा सकता है कि चैतन्यदेव वैष्णव भक्ति के क्षेत्र मे सहज और तन्त्र-मत का बीज पडने से उत्पन्न हुए थे।

युगल साधना के अतिरिक्त सहज मत की एक दूसरी विशेषता है—आरोप साधना। यह ससीम रस से सीमाहीन की उपलब्धि और आस्वादन पर जोर देती है। राधा और कृष्ण को युगल स्वरूप में देखने और रसास्वादन करने का श्रेय उत्तरकालीन वैष्णव सहजियो को ही है। चैतन्यावतार मे इसका पूर्ण प्रत्यक्षीकरण है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने व्रज-भाषा-काव्य की युगल मूर्ति (राधा-कृष्ण) के सविधान मे इस सहजवाद के महत्त्व पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार इस तन्त्र तत्त्ववाद का प्रवेश जब वैष्णव भूमि में हुआ तब राधा-कृष्ण ही शिव-शक्ति के स्थानापन्न हो गये।[१] प० गोपीनाथ कविराज जी के मतानुसार—'प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो शिव और शक्ति है, त्रिपुरा सिद्धान्त मे वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं और गौडीय दर्शन मे वही श्रीकृष्ण और राधा है। शिव-शक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण-राधा एक और अभिन्न हैं।[२] तन्त्र मे कृष्ण को काम-बीजात्मक और राधा को रति-बीजात्मक कहा गया है।[३] कृष्ण और राधा का यह रूप युगल-भाव की माधुर्योपासना का अन्यतम प्रेरक है। राधा और कृष्ण का यह प्रेम माधुर्यभक्ति की सर्वोच्चता का प्रतिष्ठापक है। इसी कारण चैतन्य ने राधा-कृष्ण-पदावली (जयदेव, विद्यापति, चण्डीदासरचित) को अपनी भाव-धारा का मूल उपजीव्य बनाया था, जिसपर माधुर्य भक्ति की प्रतिष्ठा हो सकी।

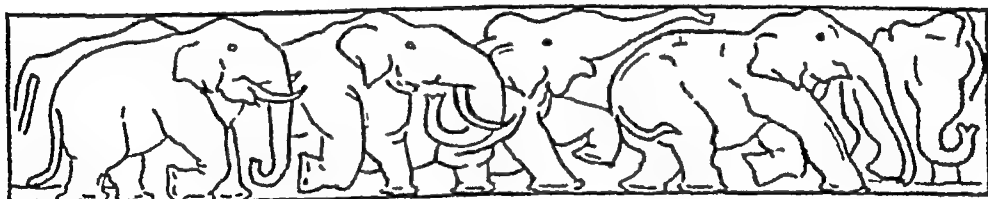
इस माधुर्य के भी आश्रय के स्वरूप-भेद से दो भेद हो जाते हैं। दाम्पत्य प्रेम में जहाँ आश्रय स्वकीया है, इस प्रेम की तीक्ष्णता कम रहती है। किन्तु, युगल प्रेम में जहाँ आश्रय परकीया और आलम्बन जार या विट है, वारण के कारण प्रेम मे अपेक्षाकृत अधिक तीक्ष्णता और गरिष्ठता आ जाती है। चैतन्य के राधा और कृष्ण परकीया प्रेम के ही आश्रया-लम्बन है।[४]

इस परकीया प्रेम को भी हम सहज और तंत्र मत की तीसरी देन मान सकते हैं। तन्त्र में परकीया-साधना को आदर्श रूप प्रदान किया गया है। और, इस मत के प्राय सभी साधको ने अपनी साधना की सिद्धि के लिए परकीया नायिका का 'महामुद्रा' या 'सहज सुन्दरी' के रूप मे उपयोग किया है। सहजिया वैष्णवो ने भी इसी पद्धति का अनुगमन किया। उनकी यह आरोप-साधना परकीया प्रेम के आश्रय में ही अग्रसर हुई। इसके प्रमाण मे जयदेव, चण्डीदास, राय रामानन्द, चैतन्य तथा उनके अनुयायी षड् गोस्वामियो को भी किसी-न-किसी परकीया (मुद्रा) के साथ सम्बद्ध बताया जाता है।[५] ससार में परकीया प्रेम की उत्कठा और प्रखरता अद्भुत है। वैष्णव सहजियो ने राधा-कृष्ण के आदर्श प्रेम के रसास्वादन मे इसी

१. सूर-साहित्य पृ० १९-२१ ('राधा-कृष्ण का विकास' शीर्षक निबन्ध)—डॉ. द्विवेदी।
२ हिन्दी भक्ति-रसामृत-सिन्धु की भूमिका—डॉ विजयेन्द्र स्नातक द्वारा उद्धृत।
४ डॉ विजयेन्द्र स्नातक—'हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धु' की भूमिका, पृ० ४।
५ 'परकीया भावे अति रसेर उल्लास'—चै० च०, आदि लीला (चतुर्थ अनुच्छेद)
६. विस्तृत विवरणार्थ द्रष्टव्य—'रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना' पृ० ७१—डॉ० भुव-नेश्वर मिश्र 'माधव'

परकीया-प्रेम को सोपान बनाकर इसे लोकोत्तर महिमा प्रदान की है। किन्तु यह परकीया-प्रेम जहाँ बौद्ध मत में आत्म-सुख का भी कारण है, वहाँ वैष्णव-मत में राधा और कृष्ण की 'केलि' तटस्थ दर्शन की वस्तु है।[1] और, इसका आनन्द परकीया-भावापन्न साधक ही निरन्तर अपने अन्त करण में अनुभव करता रहता है।[2] इस मत मे निश्चय ही कृष्ण की अपेक्षा राधा की विशेष महिमा है। यहाँ राधा के विना कृष्ण अपूर्ण है।

निष्कर्षत चैतन्यावतार मे राधा-कृष्ण की युगलोपासना पूर्णत प्रतिविम्वित है। इस युगलोपासना के स्वरूप और परम्परा पर भली-भाँति विचार करने पर चैतन्य के साथ-साथ कृष्ण-चरित की विशेषताएँ भी प्रकाश मे आ जाती हैं। चैतन्यदेव ने इस युगल स्वरूप को मध्ययुग (१६ वी शती) के सार्वभौम प्रतीक के रूप मे प्रतिष्ठित किया। इससे तत्कालीन सभी वैष्णव आचार्य, सम्प्रदाय और कवि प्रभावित हुए। आचार्य द्विवेदी ने इसी तथ्य को चमत्कार-पूर्ण ढग से हिन्दी जगत् में यह कहकर उद्घाटित किया था—'वल्लभाचार्य और सूरदास में सहज मतवाद का अस्तित्व है।[3] वस्तुत चैतन्य की ही मध्यस्थता में यह युगलवाद इन भक्तो को उपलब्ध हुआ था।



१. प० परशुराम चतुर्वेदी—'सहजिया सम्प्रदाय', हिन्दी साहित्य कोश—पृ० ८२६
२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—सूर-साहित्य—पृ० २७ ([illegible])
३ वही—पृ० २१

अर्थ धर्म संबंध खण्ड



महाभारत में धर्म और अर्थ का संबंध-विचार

सुखमय भट्टाचार्य

महर्षि व्यासदेव का महाभारत एक अमूल्य ग्रथ है। यह महान् ग्रथ सर्वविध ज्ञान का आकर है, इसीसे पचम वेद के नाम से यह सुप्रसिद्ध है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चतुर्वर्ग के सम्वन्ध में समस्त ज्ञातव्य वातें इसमें पाई जाती हैं। भारतसावित्री मे व्यासदेव कहते हैं—

ऊर्ध्ववाहुर्विरौम्येप न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थ न सेव्यते॥

"मैं हाथ ऊँचा उठाकर ऊँचे स्वर से घोपणा कर रहा हूँ कि धर्म का आश्रय लेने से अर्थ और काम की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु कोई भी मेरी वात सुन नही रहा है।"

इस कथन से स्पष्ट होता है कि महाभारत के मत से धर्म ही अर्थ का मूल है। धर्म को छोडकर अर्थ की चिन्ता करना सगत नही है। धर्म शव्द की महाभारत में किस प्रकार व्याख्या की गई है, पहले हमें यह जान लेना चाहिए। व्युत्पत्तिगत 'धर्म' के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं। 'धन्' 'पूर्वक' 'ऋ' धातु में 'मक्' प्रत्यय जोडने से धर्म शव्द वनता है। उसका अर्थ होता है—जिससे धन की प्राप्ति होती है। धन शव्द से पार्थिव और अपार्थिव सव प्रकार के धन का वोध होता है, ऐसा समझना चाहिए। दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—धारणार्थक 'धृ' धातु में 'मन्' प्रत्यय जोडने से धर्म शव्द वनता है। उसका अर्थ है—जो सवको धारण करता है, अर्थात् लोकस्थिति जिसके ऊपर निर्भर शील है। ये दोनो ही अर्थ धर्म शव्द से निकलते है। व्यष्टि और समष्टिगत लोकस्थिति जिसके ऊपर निर्भर है अर्थात् जिसको केन्द्रित करके प्रत्येक की जीवनायात्रा का निर्वाह होता है तथा जो वस्तु साधु उपाय से अर्थ कामादि की प्राप्ति में सहायक होती है—वही धर्म है।

धर्म शव्द का धातु प्रत्ययलव्ध अर्थ जो भी क्यो न हो, शव्द के सुनते ही अनेक अनिद्य आचरण के विषय हमारे मन मे उदित होते है। नाना अर्थों में प्रयुक्त धर्मशव्द के प्रतिशव्द-स्वरूप 'अनिद्य आचरण' शव्द का सभवत व्यवहार किया जा सकता है। आचरण केवल वाहर का व्यवहार मात्र नही है, मन की सच्चिन्ता भी धर्माचरण के भीतर गिनी जाती है।

केवल मात्र इहलौकिक स्थिति को धर्म के चरम उद्देश्य रूप में प्रकाश करना महा-भारत का अभिप्राय नही है। आनुष्ठानिक अनेक धर्माचरण कष्टसाध्य है। स्वभावत कष्ट-विमुख मानव परलोक की कल्याण-कामना से ऐहिक दुःख को भी धर्म के निमित्त वरण करता है। युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामह ने कहा था—

प्राय लौकिक व्यवहार के ऊपर धर्म का विधान निर्भर करता है, आपत्काल में अधर्म को भी धर्म के रूप में स्वीकार करना पडता है। साधारण लोगों के लिए धर्म का निर्णय

करना दु साध्य है। किन्तु यह बात निस्सदेह रूप से कही जा सकती है, कि धर्म इस लोक तथा परलोक में कल्याण प्रदान करता है।धर्म की ग्लानि से मानव की 'महती विनष्टि.' है।

सर्वभूतो की कल्याण चिंता, मैत्री और अहिसा ही शाश्वत धर्म है। 'सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत्' प्रभृति महाभारत वचनो में इसी सत्य का उपदेश दिया गया है। अतएव अर्थनीति सपर्कित समस्त व्यवस्था इस मूल सत्य का अनुसरण करेगी तो कभी मूल से भ्रष्ट नही होगी। यही महाभारत का उपदेश है। प्रधानत शान्तिपर्व की राजधर्म विषयक आलो-चना मे यह बात परिष्कृत रूप से ज्ञात होता है सभापर्व की नारदीय राजधर्म तथा कणिक की कूटनीति आश्रमवासिक पर्व की धृतराष्ट्र जिज्ञासा, उद्योगवर्ग की विदुरनीति प्रभृति प्रकरणो मे भी इस विषय की अनेक बाते विवृत हुई है।

राजा प्रजाजन के मगल के लिए राज्य तथा तमाज की अर्थनीति स्थिर करते है। इस विषय से सम्बन्धित अमात्यो के अतिरिक्त एक नि स्पृह सच्चरित्र विद्वान् ब्राह्मण पुरोहित उनका प्रधान उपदेष्टा होता था। राजा की नियुक्ति के विषय में प्रजासाधारण का भी अधिकार था। राजा होते थे—सद्वश के क्षत्रिय त्यागी, विद्वान् और धार्मिक व्यक्ति।

राजा अर्थशास्त्रीय नीति के अनुसार राजकार्य की धर्मवृद्धि की व्यवस्था करते थे, केवल प्रजा के पीडन से आर्थिक उन्नति नही हो सकती। अर्थनीति समस्त रक्षण के अनुकूल होगी, कभी प्रतिकूल नही, समाज के सुखस्वाच्छन्द्य की वृद्धि के प्रति दृष्टि रखकर अर्थनीति स्थिर करना उचित है।

असयत अश्व जिस प्रकार सवार को दु ख देता है, उसी प्रकार अजितेन्द्रिय राजा की अर्थस्पृहा समग्र राज्य का नाश करके राजा का भी नाश कर देती है। राज्यलक्ष्मी उन्हे शीघ्र ही त्याग देती है। करभार से प्रपीडित प्रजावर्ग का असन्तोष राजा की श्री नष्ट करने करने का अन्यतम कारण है। अतएव प्रजा के ऊपर कर-निर्धारण विचार पद्धति को सुष्ठु व्यवस्था, शिल्प और वाणिज्य को उन्नति निषयक नीति आदि के सम्बन्ध में राजा को सदा अवहित रहना चाहिए। सब प्रकार को ही सामाजिक उन्नति अर्थनीति के ऊपर निर्भर रहती है।

अर्थ के सग्रह तथा व्यय के कार्य में साधुचरित्र दक्ष व्यक्तियो को नियुक्त करने का उपदेश दिया है, इस विषय में जो साधुता और दक्षता का परिचय दे, उन्हें पुरस्कृत और सम्मानित करना चाहिए। कोष शस्त्रागार आदि की देखरेख के लिए विश्वस्त, विचक्षण और निर्लोभ पुरुष को नियुक्त करना चाहिए। आय और व्यय का एक सभावित हिसाब पहले से ही स्थिर कर लेना चाहिए। आय और व्यय के बीच नियत सामञ्जस्य की रक्षा करना आवश्यक है। आय के चतुर्थाश, अर्धाश, अथवा त्रिचतुर्थाश द्वारा व्यय चलाने का उपदेश महाभारत में दिया गया है। स्थायी भण्डार या राजकोष को सब समय उन्नत रखने का यत्न करना चाहिए।

अन्ध, मूक, विकलाग, अनाथ व्यक्ति राजकोष से सहायता प्राप्त करेगे। प्रजा के किसी व्यक्ति की चोरी हो जाने पर राजा चोर को दण्ड दे और मालिक का धन मालिक को लौटवाए। चोर को न पकड सकने पर राजकोष से उसी परिमाण में धन मालिक को देना

होगा। ब्रह्मस्व की किसी प्रकार क्षति नही करनी चाहिए। उपयुक्त विद्वान् बुद्धिमान् सद्-वशज चरित्रवान् अमात्य वर्ग के परामर्श के अनुसार अर्थनीति निश्चित करने का विधान है। अर्थबल और लोकबल ही सब शक्तियो में प्रधान है।

याज्ञिक ब्राह्मण एव देवता का धन कभी नही छीनना चाहिए। जिसके धन का असत्पथ में व्यय होता है राजा को बलपूर्वक उसका धन हरण करके जनता मे बाँट देने का आदेश दिया गया है। दस्यु तथा निष्कर्मी व्यक्तियो के हाथ अर्थ नही सौंपना चाहिए। उस धन पर समाज का अधिकार है। अर्थ विषयक सभी विचार विवेचना भविष्य के कल्याण पर दृष्टि रखकर करनी चाहिए। अनागत विधाता पुरुष कभी विपन्न नही होते।

अर्थनीति का मूल लक्ष्य हो—समाज के साधु और कर्मठ मनुष्यो की वृद्धि। विद्या, शौर्य, बल, दक्षता एव धैर्य—ये पाँच मानव के सहजात परम मित्र के रूप मे वर्णित किए गए हैं। अन्य प्रकार की समस्त सम्पत्ति कृत्रिम मित्र है। आवश्यकता पडने पर कृत्रिम मित्र का परित्याग करने पर कुण्ठित नही होना पडता।

वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय की शक्ति के परस्पर न मिलने से वैश्य शक्ति और शूद्रशक्ति भी परस्पर मिल नही सकती। समाज की श्री वृद्धि के लिए यह अत्यत विपरीत है। अतएव मस्तिष्क और बाहुबल के सुमार्ग पर बढने पर समाज की आर्थिक उन्नति सुनिश्चित है। पुरोहित और अमात्यवर्ग का परामर्श एवं समाजपति राजा का सुशासन न रहने से समाज का आर्थिक विपर्यय अनिवार्य हो जाता है। बृहस्पति और वशिष्ठादि के पौरोहित्य के कारण ही देवराजादि की सर्व प्रकार की समृद्धि सभव हुई थी। यह कथा महाभारत में वर्णित है। नारद युधिष्ठिर से पूछते है—'तुम्हारी सभा में आयव्यय का हिसाब रखनेवाले गणितशास्त्र के ज्ञाता व्यक्ति नियुक्त है न?' गणितज्ञ सच्चरित्र व्यक्ति को अर्थसबधी दायित्व अर्पित करना चाहिए।

सभी क्षेत्रो में अधिकारी का विचार करना चाहिए। अनधिकारी व्यक्ति के ऊपर अर्थनीति की व्यवस्था स्थापित करने का भार अर्पित करने से समाज की दुर्गति को रोका नही जा सकता।

पांच प्रकार के बल और सात प्रकार की प्रकृति में धन का स्थान है। पहले ही जानना चाहिए—राजकोष की सम्पत्ति राजा की व्यक्तिगत सपत्ति नहीं है। अपने आमोद-प्रमोद अथवा इच्छा पूरी करने का अधिकार राजा को नही दिया गया है। प्रजा के मगल के लिए ही नृपतिगण राजसूय, अश्वमेधादि यज्ञ करते थे। जहाँ भी राजकोष से अर्थ का व्यय होता दिखता है वहाँ प्रजावर्ग उपकृत होती है—यह भी दिखना है। धन का सार्थक विनियोग ही अर्थनीति का आदर्श है। व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्फीततर करना और उसमें उलझे रहना भारतीय आदर्श नहीं है।

वानप्रस्थ ग्रहण करने के अनन्तर धृतराष्ट्र ने जो सब उपदेश दिए हैं, उनमें एक प्रसंग है—'महाराज, कोष जमा करने के लिए सदा न्यायपूर्ण प्रयत्न करें, किन्तु अन्यायपूर्ण कोष-वृद्धि के लिए प्रयत्न न करें।'

अर्थसग्रह के सवध मे पितामह भीष्म भी युधिष्ठिर से कहते हैं—'राजा प्रजा के लिए ही उससे कर वसूल करे। देश, काल और पात्र का विचार करके अपना प्रजा का, दोनो पक्षो का मगल और प्रतिपाल्य-प्रतिपालक सवंध की जिससे कोई क्षति न हो, उसी प्रकार अर्थसग्रह करना चाहिए। भौंरा जिस प्रकार फूल के पौधे को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाते हुए फूल से मधुसचय करता है, तुम उसी तरह प्रजा की किसी प्रकार क्षति न करते हुए उनके अतिरिक्त धनाश से कोपवृद्धि की व्यवस्था करो। गाय को दुहते समय बछडे का अनिष्ट न हो यह ध्यान रखना पडता है। राज्यदोहन में भी प्रजा जिससे दुर्वल न हो, यह लक्ष्य रखना होगा। व्याघ्री जिस प्रकार अपने वच्चे को दाँतो में दबाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है और वच्चे को उससे किसी प्रकार की क्षति नही होती, ठीक उसी तरह प्रजा को कष्ट न पहुँचाते हुए उससे अर्थसग्रह करके कोषवृद्धि करनी चाहिए। एक तरह का चूहा होता है, जो सोते हुए मनुष्य के पैरो के तलवे का मास कोमल ढंग से काटकर ले जाता है और निद्रित व्यक्ति को किसी प्रकार की पीडा का अनुभव नही होता—तुम भी उसी प्रकार प्रजावर्ग को कष्ट पहुँचाए बिना कर वसूल करो। जो सम्पन्न हो, उनसे हर वर्ष पहले वर्ष की अपेक्षा कुछ अधिक कर वसूल करना चाहिए। इस प्रकार उन्हें कोई कष्ट नही होगा। अकाल मे, अस्थान में एव अन्यायपूर्ण उपायो से कर वसूल नही करना चाहिए। स्थिरचित्त से सदय निपुणतापूर्वक कर निश्चित करना चाहिए। असगत आचरण से प्रजागण विद्रोही हो उठते हैं।'

प्रजावर्ग की आय का दशमाश कर के रूप में ग्रहण करने की बात सुलभा-जनक संवाद के रूप में कही गई है। प्रजा द्वारा उत्पन्न वस्तु का षष्ठाश कर के रूप में वसूल करने की वात भी अनेक स्थलो पर कही गई है। इन उल्लेखो से प्रतीत होता है, महाभारत के समय में षष्ठाश कर ही वसूल किया जाता था। कृषक, शिल्पी, वणिक् तथा अन्य वृत्तिविशिष्ट प्रजा की जो वार्षिक आय होती थी, उसके छ भागो में से एक भाग राजा को देने का नियम था। अश्व, वस्त्र, मणिमाणिक्य, धान्य प्रभृति वस्तुएँ भी कर रूप में वसूल की जाती थी। अर्थात् जिस जनपद में जो वस्तु उत्पन्न होती थी एव जो परिवार जिस व्यवसाय द्वारा जीविका निर्वाह करता उससे वही वस्तु ही कर रूप में स्वीकार की जाती थी।

उस प्रसग में हमको यह स्मरण रखना होगा—उसकाल मे कर वसूली के वदले राज्य की रक्षा करना—इस प्रकार का कोई समझौता राजा प्रजा के वीच में नही था। राजा धर्म-वुद्धि से ही प्रजापालन करते थे, प्रजागण भी धर्मबुद्धि से ही राजकर देते थे। सब श्रेणी की प्रजा से कर नही वसूल किया जाता था। दरिद्र, अनाथ, विधवा, विपन्न व्यक्ति, तपस्वी एव स्वधर्मनिष्ठ ब्राह्मणो से कर वसूल करने का नियम नही था। अत्यधिक कर अदायगी की वार-वार निन्दा की गई है।

कृषक, शिल्पी, वणिक् प्रभृति व्यक्तिगण अपने-अपने कार्य में प्रतिष्ठित रहते हुए उत्साहपूर्वक जिससे वृत्ति की उन्नति कर सके, इस विषय में सतर्क दृष्टि रखने के लिए राजा को उपदेश दिए गए हैं। अत्यधिक धन की लालसा के फलस्वरूप राष्ट्र एव कृष्यादि वृत्ति का जिससे उच्छेद न हो जाय, कर निर्धारण में इस वात पर तीक्ष्ण दृष्टि रखनी चाहिए। लोभी राजा के प्रजाविद्रोह होता रहता है। प्रजागण ऐसे राजा पर विश्वास नही कर सकते।

शास्त्रानुसार अपराधी को दण्ड देने से प्राप्त धन, करस्वरूप प्राप्त वस्तु, एव सुरक्षित वणिको द्वारा प्रदत्त कर राजा को राजकोष मे जमा करना होता था। इसके बाद यदि किसी की जीवनयात्रा अचल हो जाय, तो राजकोष मे उसकी सहायता करनी होगी। प्रजा का समस्त खर्च चलाने के लिए राजा धर्मत बाध्य था।

अर्थशास्त्र-विरुद्ध अर्थनीति के प्रयोग से राष्ट्र का ध्वस अवश्यभावी है। नारद, शुक्राचार्य, बृहस्पति प्रमुख अर्थनीतिविशारद मनीषियो के विभिन्न उपदेशो की कथा महाभारत मे कीर्तित हुई मिलती है। कहा गया है कि राजा यदि उन सब उपदेशो के अनुसार धर्मानुमोदित अर्थनीति का आश्रय ले तो वसुमती उसके ऊपर माता के समान कल्याणदायी रहती है।

भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है—'महाराज, आप मालाकरके समान राष्ट्र के कल्याण के लिए अर्थनीति का प्रयोग करे, आगारिक के समान नही। आगारिक अगार के लिए वन-जगल को जला डालता है, और मालाकार वन को उद्यान में परिणत करके उसकी शोभा से स्वय मुग्ध होता है, दूसरे को भी मुग्ध करता है। अधिक सुगधित कुसुम चुनकर उत्कृष्ट माला प्रस्तुत करता है। अर्थनीति के सुष्ठु प्रयोग से प्रफुल्ल प्रजावृन्द की श्रद्धा और कृतज्ञता का आनन्द ही तुम्हारे लिए सुगन्धित माला के समान लोभनीय हो।'

राष्ट्र की आर्थिक अवस्था को देखकर व्यय का विधान करना चाहिए। जिस वर्ष कृषि वाणिज्यादि की अवस्था अच्छी रहे, उस वर्ष अर्थ के चतुर्थांश द्वारा सम्पूर्ण व्यय का निर्वाह करना चाहिए। जिस वर्ष उनकी अवस्था मध्यम हो, उस वर्ष सचित अर्थ का आधा खर्च करना चाहिए, और जिस वर्ष देश में दुर्भिक्ष हो, उस वर्ष चार भाग में से तीन भाग धन खर्च करना चाहिए।

जो राजा अर्थ-शोषण मे पटु, किन्तु रक्षण के समय उदासीन रहता है—'त वै राजकलि हन्यु प्रजा सन्नह्य निर्घृणम्।'

—प्रजागण मिलकर उस अधम राजा को निर्दयभाव से मार डाले।

शान्तिपर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते है—'केवल अर्थशास्त्र के निर्देशानुसार सर्वत्र अर्थनीति का प्रयोग करना ठीक नही है। धर्म के साथ योग रखकर अर्थनीति का प्रयोग न करने से राष्ट्र समूल विनाश को प्राप्त हो जाता है।'

इस समस्त आलोचना से स्पष्टत समझ में आता है—समाज की सर्वविधि आर्थिक व्यवस्था का भार राजा के ऊपर न्यस्त था। प्रजाजन के कल्याण के प्रति दृष्टि रखकर ही वे इस कर्त्तव्य का पालन करते थे। सर्वोपरि यह व्यवस्थापना धर्मकेन्द्रित थी। प्रधानत धर्म के प्रति राजा को लक्ष्य रखने के लिए कहा गया है। अर्थस्थिति की अनुकूलता अर्थ तथा धर्म दोनों पर ही चरम लक्ष्य होने पर भी धर्म ही दोनो में प्रधान है। इसी कारण अवस्थाविशेष में धर्म की रक्षा के निमित्त प्रचलित आर्थिक विधान को परिवर्तित करना पड़ता है।

आपत्काल में अर्थ नीति मे परिवर्तन के उपदेश से भी स्पष्ट होता है कि अर्थनीति में परिवर्तन सम्भव होने पर भी शाश्वत मानवधर्म का परिवर्तन कभी सम्भव नहीं है। शानु-

भाविक धर्म यद्यपि समाजविशेष तथा समय विशेष में परिवर्तन योग्य है, तथापि सर्वसाधारण मानवधर्म यथा—सत्य, अस्तेय, अहिंसा प्रभृति का अन्यथाचरण नहीं चलेगा। इससे भी धर्म और अर्थ के बीच धर्म का ही प्राधान्य सूचित होता है।

धर्म है उपजीव्य, परन्तु अर्थ उपजीवक है, अर्थात् धर्म के ऊपर निर्भरशील है। यह उपजीव्य-उपजीवक भाव ही दोनों का सम्बन्ध है। व्यासदेव ने इसी तथ्य की ऊँचे स्वर में घोषणा की है—

'धर्मादर्थश्च कामश्च'



व्यापार, व्यापारी और अर्थनीति

हनुमान प्रसाद पोद्दार

भारतीय सस्कृति मे प्रसिद्ध चार पुरुपार्थ है—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। अर्थ सबसे पहले है, क्योकि अर्थ के बिना ससार मे जोवन-यापन नही हो सकता, पर अर्थ अनर्थरूप बनकर पतन, भीपण दु ख एव नरक-यन्त्रणाका कारण भी बन सकता है और अर्थ परमार्थरूप बनकर उत्थान, आत्यन्तिक सुख और परम कल्याण—मोक्षका हेतु भी बन सकता है। जो अर्थ धर्मनियन्त्रित, धर्ममूलक और धर्मसाधनार्थ है, वह परमार्थरूप है। उससे प्राप्त होनेवाला 'काम' भी पवित्र है और उसका फल मोक्ष है। धर्म वही है, जिससे परिणाम में अपना और दूसरो का हित हो, जिससे सबका धारण हो। यह धर्म तथा अध्यात्म भारतीय सस्कृति का आत्मा है। पर जो अर्थ भोगवासनाप्रेरित है, भोगमूलक और नीच स्वार्थ, मोहजनित, सग्रह या इन्द्रिय-तृप्त्यर्थ है, उसका फल बन्धन है, नरक है। इसीसे धर्महीन तथा भौतिक भोगो में रचा-पचा मनुष्य पशु या असुर ही हो जाता है।

शुद्ध अर्थ का धर्म के साथ नित्य सम्बन्ध है। इसी से वर्णधर्म के अन्तर्गत एक पूरा वर्ण—वैश्य वाणिज्य, गोरक्षण और कृपि आदि के द्वारा अर्थोत्पादन करके अपना एव सबका जीवन-निर्वाह करता है, वाणिज्य आदि के द्वारा वह अपनी जीविका चलाता हुआ सबकी सेवा करता है और इसी के द्वारा वह मानव-जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष का अधिकारी होता है। हमारा प्रत्येक क्षुद्र-से-क्षुद्र कर्म भी धर्म से सम्बन्धित है, अतएव व्यापार-वाणिज्य भी धर्म से सम्बन्धित है। यह धर्म-सम्बन्ध आज क्रमश भुलाया जा रहा है। इसी से व्यापार के पवित्र सेवा के क्षेत्र मे क्षुद्र स्वार्थ का प्रवेश हो गया है और इसी से उसमें विभिन्न प्रकार के दोषों का अवाञ्छनीय उदय और सवर्द्धन हो रहा है एव फलत हमारा नैतिक पतन हो रहा है एव हम आये हुए सकटो से मुक्त होने के लिए नित्य नये-नये सकटो को बुला रहे है।

'स्व' जितना सीमित होता है, उतना ही स्वार्थ भी सीमित तथा संकुचित होता है। यही कारण है कि विश्व-चराचर में आत्म-दर्शन करने वाला भारतवर्ष आज राज्यों तथा जमीदारियो के विलयन के बाद भी एक राष्ट्र न होकर खण्ड-खण्ड हुआ जा रहा है और भूमि की सीमा, भाषावाद, जातिवाद आदि को लेकर भारतवासी आज एक-दूसरे पर वैसे ही मूर्खतापूर्ण आघात करके अपना ही विनाश-साधन कर रहे है, जैसे कोई मनुष्य अपने ही अगों की रक्षा के लिए अपने ही अगो को अपने ही अगो के द्वारा मार-काट रहा हो। इसी से आज नये-नये वादो की सृष्टि हुई है और सभी वाद विवादग्रस्त होकर प्रमादवश अपने ही हाथों अपना सहार करने में सलग्न है। अपने वाद के या वादगत किसी दल के हित के मनोरथ से देश का स्वार्थ या हित भुला दिया जाता है और व्यक्ति की हित कामना या स्वार्थ-साधना के लिए दलके हित का त्याग कर दिया जाता है। सर्वत्र इसी क्षुद्र-सकुचित भाव का विस्तार हो रहा है—व्यक्ति के स्वार्थ के लिए देश के स्वार्थ का अनायास बलिदान हो रहा है।

यह स्थिति सभी क्षेत्रो में है। वर्तमान अर्थतन्त्र भी मुख्यतया इसी लिए अस्त-व्यस्त तथा अनिश्चित हो गया है। वाणिज्य-व्यापार के क्षेत्र में भी यही विप प्रवेश कर गया है। इसी से सत्य, ईमानदारी, परहित आदि सद्भावो, सद्विचारो का परित्याग करके मनुष्य अवाञ्छनीय व्यक्तिगत स्वार्थसाधन के लिए हेय प्रवृत्ति में लगा हुआ उसी में गौरव का अनुभव करता है। इसी से खाद्यपदार्थो मे, रोगियो को रोगमुक्त करने के लिए दी जाने वाली दवाइयो मे ऐसी चीजे मिलायी जाती हैं, जिनका स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। ऐसी बातें सुनने में आयी हैं कि घी में पशुओ की चरबो मिलायी जाती है, चीनी में आटा मिलाया जाता है, आटे में लकडी का चूरा मिलाया जाता है, पिसी हल्दी में घोडे की लीद मिलायी जाती है, नकली जीरा, नकली काली मिर्च, नकली पीपल, नकली केसर, नकली तेल आदि बनते हैं, जो स्वास्थ्यनाश के साथ ही अन्य अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न करते हैं। बढिया वस्तु बता कर घटिया देना, तौल में कम देना, धोखा देकर दाम ज्यादा लेना या कम देना आदि अनेक दोप प्रधानतया नीच स्वार्थ के कारण ही व्यापारी-समाज में आ गये है। ये दोष धर्महीनता तथा अर्थ-पैशाचिकता के ज्वलन्त प्रमाण हैं, जो चोरी-डकैती से भी बुरे है।

व्यापारियो में वह परम्परागत ईमानदारी आज प्राय. नही रही है, जो रहनी चाहिये थी, पर यह भी निर्विवाद है कि यह रोग केवल व्यापारी-समाज में ही नही आया है, प्राय सभी क्षेत्र इससे आक्रान्त हैं। व्यापारी-समाज को खुलेआम 'चोर' कहा जाता है और समाजवाद के नाम पर उसकी जड खोदी जा रही है। भाँति-भाँति से उसको सन्त्रस्त किया जाता है। 'कर' तो इतने अधिक बढ गये हैं कि वे 'कर' न रहकर मानो धन की बलात् डकैती-जैसे हो गये है। बचत के पैसे रह ही नही पाते। यही कारण है कि निजी व्यापारका विस्तार होने में बडी रुकावट आ गयी है। पिछले १५ वर्षो मे कई सौ गुना करभार प्रजापर बढा है। जितने कर बढे है, उतनी ही 'कर' की चोरी भी स्वाभाविक ही बढी है। आदत बिगडने और पैसो का मोह बढ जाने के कारण पूरी तो चोरी बन्द नही होगी, पर कर घटा दिये जायेंगे तो बहुत अश में चोरी भी घट जायेगी। शायद घटी दर में भी 'कर' के उतने ही पैसे आ जायेगें, जितने बढी दर में आते हैं। ऐसा होने पर सरकारी लोकप्रियता बढेगी और व्यापारियो को व्यापार-विस्तार में सुविधा होने के साथ उनकी चोरी की बुरी आदत भी अशत छूटेगी। सरकार को इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये।

व्यापारियो की चोरी में अधिकारियो का भ्रष्टाचार भी एक प्रधान करण है, चूँकि अधिकारियो में भी व्यक्तिगत नीच स्वार्थ हैं, जो उन्हें भ्रष्टाचार में लगाये रखता है और वे स्वाभाविक ही व्यापारियो से मिल-जुलकर चोरी करते-कराते हैं। व्यापारियो का स्थान आज कल सहकारी-मण्डलो को दिया जा रहा है और उन्ही के द्वारा खरीद-बिक्री का काम करवाया जाता है पर उनके भी कार्यकर्त्ता उसी स्वार्थ से ग्रस्त हैं। अतएव वे भी चोरी करते हैं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले स्वार्थ परायण अधिकारी, शासक या नेतृवृन्द भी, जिनका सहकारी मण्डलवालो से स्वार्थ सम्बन्ध है, चोरी करने-कराने में सीधे-टेढे सहायक होते हैं। यो सहकारी मण्डल वालो के रूप में प्राय काला बाजार करने वाला एक नया भीषण वर्ग बन गया है। ऐसे कई सहकारी-मण्डल पकडे भी गये हैं। झूठे राशनकार्ड जगह-जगह पकडे जाते हैं (पर सब थोडे ही पकडे जाते हैं)। बात भी यह है कि जिस चीज की कण्ट्रोल में दो रुपया किलो

कीमत हो, उसके जब काले वाजार में ६ या ८ रुपये किलो दाम आते हो, तब झूठा राशन-कार्ड वनवाने में आज के अर्थपरायण स्वार्थी लोगो का सचेष्ट होना क्या आश्चर्य की वात है ? फिर कण्ट्रोल में जहाँ २-४ किलो से अधिक वस्तु नही मिलती वहाँ काले वाजार मे ऊँची कीमत देने पर वोरे-के-वोरे मिल जाते है, तव उसका यह अर्थ लगाना भी अनुचित नही कहा जा सकता कि सरकारी तन्त्र ही आवश्यकता वाले लोगो को मानो काले वाजार से माल खरीदने का मूक परामर्श देकर काले वाजारो को प्रोत्साहन देते हैं। इसमें भी सरकारी तन्त्र के अधिकारियो का व्यक्तिगत स्वार्थ ही प्राय कारण होता है।

जबसे सरकार खाद्यपदार्थो का व्यापार करने लगी है, तव से कई वार ऐसे समाचार मिले है कि अमुककी भूलसे या अमुक अनिवार्य कारण से इतने हजार वोरे चावल या गेहूँ सड गये और वे मनुष्यो के खाने के योग्य नही रह गये। फिर वह सडा माल मिट्टी के मोल वेच दिया जाता है और वही काले वाजारो में पहुच कर अच्छे माल के साथ मिलाकर वेचा जाता है। इसमें वहुतो की हिस्सेदारी तो रहती ही है।

सकुचित स्वार्थ के साथ ही कुछ ऐसे और कारण भी है, जिनमे व्यापारियो की कठिनाइयाँ वढने के साथ ही व्यापार के क्षेत्र में कई अवाञ्छनीय दोप आ गये है। उनमें प्रधान कारण हैं—ऐसे लोगो के हाथो में शासनाधिकारका रहना, जो कदाचित् अधिकाश ईमानदार होने पर भी व्यापार से सर्वथा अनभिज्ञ है, जिनको जो काम आता नही, वे उस कामको ठीक नही कर सकते, चाहे वे अपने दूसरे काम में वडे ही निपुण हो। व्यापारी पद्धति तथा व्यापारी मनोवृत्तियो से तथा व्यापारी हानि-लाभ से पूर्ण परिचित न होने के कारण वे ऐसे कार्य कर वैठते हैं, जिनसे विभिन्न प्रकार की वहुत-सी कठिनाइयाँ और अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। जैसे—व्यापारियो पर प्रतिवन्ध, वस्तुओ के मूल्य पर प्रतिवन्ध, यातायातपर प्रतिवन्ध, उत्पादन पर प्रतिवन्ध, परमिट से माल मिलना, आये दिन नये-नये करो की वृद्धि, अफसरी स्वभाव के अधिकारियो द्वारा उद्योगधन्धो का सचालन आदि। व्यापारी जव खुला निजी व्यापार करते हैं, मूल्य तथा यातायत पर कोई प्रतिवन्ध नही होता, तव वे जिस प्रदेश में माल अधिक होता है और सस्ता होता है, वहाँ से खरीद कर उस प्रदेश में पहुँचा कर वेचते हैं, जहाँ मालकी कमी है और वहुत तेजी है। व्यापार ज्यादा हो, इसलिये वे थोडे नफे पर काम करते हैं, और चूँकि स्वय घाटे-नफे के उत्तरदायी होते है, अतएव माल सडने नही देते, उजडने नही देते, रेल पर पडा नही रहने देते, क्योकि उनको इससे कष्ट होता है। परिणाम यह होता है कि अधिकता तथा न्यूनतावाले दोनो ही स्थानो में वस्तुओ की कीमत प्राय समान-सी हो जाती है, सवको सव चीजे मिल जाती है। काला वाजार न होने से व्यर्थ का लालच नही वढता और वस्तुओ के संग्रह की प्रवृत्ति तेजी और कमी में ही हुआ करती है। उत्पादन पर प्रतिवन्ध न होने पर वह माल सहज हो जाता है। पक्षान्तर में कण्ट्रोल होते ही वस्तु भूमिगत हो जाती है और सहज ही कीमत वढ जाती है। यह सव अनुभवहीन अधिकारका ही दुष्परिणाम है।

इसी के साथ-साथ सरकार की श्रमिकों तथा कर्मचारियों के साथ वरती जानेवाली नीति भी दोषपूर्ण है। महँगी के युग में उन्हें वेतन अच्छा अवश्य मिलना चाहिये, इसमें जरा भी दो मत नही हो सकते। पर उसमें काम न करके पैसे लेने की जो प्रवृत्ति वढ रही है, यह

प्रत्यक्ष राष्ट्रकी हानि है। इससे उत्पादन घटता है, उत्पादित घटता है, उत्पादित बस्तु का मूल्य बढता है, पूँजी लगाने वालो को लाभ कम मिलता है और श्रमिको में अकर्मण्यता तथा आलस्य-प्रमाद की आदत पड जाती है, जो आगे चलकर उनके लिये तथा प्रकारान्तर से देश के लिए वडी घातक होती हैं। सरकारको इन विषयो पर गहराई से विचार करना चाहिये। मेरी समझ से मूल्यो पर तथा यातायात पर कम-से-कम प्रतिवन्ध लगाये जायँ, उत्पादन पर प्रतिवन्ध न लगे, निजी उद्योगो पर प्रतिवन्ध हटा दिये जायँ, व्यापारियो को वेरोकटोक प्रतियोगिता करने दिया जाय और माल चाहे जहाँ, भेजा-लाया जा सके तो वहुत कुछ सन्तुलन ठीक हो सकता है।

इवर व्यापार-सगठनो के राष्ट्रीयकरण या सरकारीकरण की वाते बहुत उठ रही हैं। प्रतिवन्ध तो जव-तव लगाये ही जाते हैं, पर ध्यान देकर देखा जाय तो अबतक के अनुभव से यही सिद्ध होता है कि उन्द्योगधन्धो के क्षेत्र में सरकार प्राय असफल हो रही है। रेलवे में जो सदा ही नफा करती आयी है, घाटे के दर्शन होने लगे है। यह खेदकी वात है। यह कार्य-कुशलताका लक्षण नही है। सरकारी उद्योगधन्धो में घाटे के कारणो में व्यक्तिगत नीच स्वार्थ, वढी हुई चोरी तो कारण है ही, सचालन की त्रुटि भी एक प्रधान कारण है। वस्तुत सरकारी उद्योगधन्धो की स्थिति आज वडी शोचनीय है। कोई भी विचारशील निरपेक्ष पुरुष उस स्थिति से सतुष्ट नही हो सकता। सरकारी उद्योगधन्धो में जितनी पूजी लगी है, उसके अनुपात से लाभ बहुत ही कम मिला हैं, सभी प्रकारके खर्च की अधिकता है, उत्पादन की कोई खास चिन्ता नही। अफसराना ढग के अधिकारियो का नुकसान मे अग नही कटता, इसीलिये वे उसमें लापरवाह रहते है। चीजें उजडती-विगडती है, उत्पादन नही होता। पर वे इससे दुखी नही होते, अवश्य ही अपने कागज-कलमको वे ठीक रखते हैं। यह स्थिति है। सरकारी कारखाने तभी सफल समझे जायँगे, जब उनमें लगी हुई पूँजी देश को बदले में पूरा लाभ देगी और तभी उनकी प्रशसा भी होगी।

अतएव सरकार को मेरी समझ से नये-नये उद्योगो का राष्ट्रीयकरण न करके अथवा नये सरकारी उद्योगधन्धे न खोलकर पुराने चलाये हुये कामो को सम्भालना तथा उनकी त्रुटियो को दूर करके उन्हें सफल वनाना चाहिये। और सरकार को उन्ही महत्त्वपूर्ण कार्यों को करना चाहिये, जिन्हें सरकार ही भलीभाति कर सकती है, दूसरे नही। शेष उद्योग-धन्धो के सारे कार्यों को निजी तौर पर करने के लिये स्वतन्त्र छोड देना चाहिये। जैसे पडोसी छोटे-से देश जापान की सरकार देश के अर्थतन्त्र के विकास के लिये मार्ग-दर्शन करती है, सहकार करती है, अर्थ-सहयोग देती है, पर निजी कार्यों में दखल नही देती। जापान में उद्योगधन्वो का सरकारी क्षेत्र भारत की अपेक्षा बहुत ही सीमित है। इसी प्रकार यहा भी करना चाहिये।

ईमानदारी घटने का एक प्रधान कारण 'जीवनस्तर ऊँचा करने का' आन्दोलन भी है। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगो में देखादेखी अनावश्यक अभाव वढ गया, आदते विगड गयी, जीवन खर्चीला हो गया, स्वय श्रम करने और काम सभालने की वृत्ति घट गयी, आमोद-प्रमोद, छायाचित्र आदि के व्यसन वढ गये। इससे कुशिक्षा तथा असदाचार को प्रोत्साहन

मिला। शिक्षालयो की स्थिति विगडी। अप्रौढ धर्महीन शिक्षा मिली। फलत चरित्रहीन, सस्कारहीन जीवन का निर्माण होने लगा। उसीका दुष्परिणाम है—वर्तमान बढती हुई अराजकता, किसी का भी किसी भी व्यवस्था को न मानना और इसमें गौरव का अनुभव करना, लूटपाट करना, राष्ट्रीय सम्पत्ति का नाश करना, तोड-फोड करना, आग लगाना और दगाई हिंसात्मक प्रवृत्तियो के लिये उत्साहित रहना। फलस्वरूप–वाजार में अशान्ति, घर में अशान्ति, शिक्षालयो में अशान्ति, सरकारी कार्यालयो में अशान्ति, कारखानो में अशान्ति–ऐसी सार्वत्रिक अशान्ति में व्यापार कैसे पनपे? वहाँ तो शान्ति चाहिये। फिर, आये दिन व्यापारियो के प्रति सरकार के नये-नये प्रतिवन्ध तथा कानूनो का आतङ्क, वैंको की सहूलियत छिन जाने की आशङ्का, कम्यूनिस्टो का वढता हुआ भय तथा पडोसी देशो के द्वारा आक्रमण की तैयारी और व्यापारियो की अपनी झूठी शान के लिये वढाये हुए अभावो की पूर्ति के हेतु नीच स्वार्थ-साधना की वृत्ति, चोरी-असत्य की वढती हुई आदतें—वर्तमान व्यापारी जगत् की यह दु स्थिति वस्तुत वडी ही भयानक है।

इधर सरकार की वडी विचित्र 'विकास-योजना' चल रही है। उससे कुछ सुविधाएँ अवश्य हुई हैं, पर अव तक विकास के नाम पर जो कुछ हुआ है, उसे 'विनाश' न भी कहें तो यह तो कहा ही जा सकता है कि जो नैतिक विकास, समाज के लिये नित्य वाञ्छनीय है, वह तो नही हुआ। वल्कि इससे देश में नैतिक और भौतिक दोनो ही प्रकार की दरिद्रता और निराशा की वृद्धि अधिकाश में हुई है। देश मे आज चारो ओर त्राहि-त्राहि मची है। करोडो नर-नारी महगी की भयानक चक्की मे वुरी तरह पिसे जा रहे हैं। लोगो के नैतिक चरित्र का वुरी तरह पतन हुआ है और अशान्ति वढी है। कुछ समय पूर्व श्रीजयप्रकाशनारायणजी ने कहा था—

'विकास-योजना तो निष्फल गयी ही और लोगो में सत्ता तथा धन प्राप्त करने की होड चली और अनुचित लाभ उठाने के लिये राजकीय पक्ष के ग्रामीण क्षेत्रो ने पहुँचकर गावो मे झगडने की जड रोप दी।'

इन विकास योजनाओं के लिये हमारी सरकार ने ऋण लेना स्वीकार किया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत के पास अपनी पूँजी थी। अव वीस वर्षों मे जो ऋण वढा है, उसके आकडे सभी को चौंका देने वाले है।

सन् १९६७ ६८ के अन्त तक भारत पर ११,७२६ करोड ३१ लाख यानी १,१७,२६,३१,००,००० एक खरब सत्रह अरब छब्बीस करोड इकतीस लाख रुपये कर्ज के देने होगे। सम्मान्य श्रीमोरारजी भाई के कथनानुसार सन् १९६७ के मार्च की ३१ तारीख को ४७,९७,७७,००,००० सैतालीस अरब, सत्तानवे करोड सतहत्तर लाख रुपये केवल विदेशो का ऋण देना था। इसमे से दस वर्ष मूल रकम की किश्त के १६७ ८९ करोड तथा व्याज के १४१ ४७ करोड रुपये चुकाने पडेगे। श्रीमोरारजी भाई की गणना के अनुसार आगामी सन् २०१७ के मार्च की ३१ तारीख तक पचास वर्षों में अन्तिम किश्त चुकायी जा सकेगी।

यह सभी जानते है कि व्यक्ति हो चाहे राष्ट्र, बहुत अधिक ऋण चढ जाने से आर्थिक स्थिति बडी कमजोर हो जाती है, साख घटती है, सिर नीचा होता है और उसका बुरा प्रभाव

सभी क्षेत्रो पर पडता है। फिर एक बुरी आदत पड जाती है। जब तक ऋण मिलता है, तब तक ऋण लेकर ही सब काम बडी शान से करने का मन रहता है। फिर वह चाहे हमारी सरकार की भाति नया उद्योगधन्धा हो या भूखे पेट मे दाने डालने के लिये अनाज का प्रयोजन हो, शासन सुदृढ बनाना हो या युद्धसामग्री का निर्माण या सग्रह करना हो, हवाई विमानो, समुद्री जहाजो या रेलों का सुधार-निर्माण हो या सडके-नहरे आदि निकालना हो— एक-दूसरे प्रदेशो में, विभागो में शासन तथा व्यक्तियो में इसके लिये प्रतिद्वन्द्विता और आग्रह-दुराग्रह चलते हैं। भगवत्कृपा से उत्पादन बढ जाय, यथार्थरूप में विकास हो, तब तो किसी तरह काम चल जाता है, पर कही दुर्भाग्यवश ऐसा न हो तो फिर बढा हुआ कर्ज राष्ट्र के सम्मान तथा गौरव को नष्ट करने में कारण बनता है। भगवान् ही जाने देश का क्या होनेवाला है ?

इसमें जो कुछ भी कहा गया है, वह किसी दूसरे की आलोचना नही है। अपने द्वारा अपनी ही स्थिति का दिग्दर्शन मात्र है, क्योकि हम ही व्यापारी हैं, हम ही सरकार है, हम ही मालिक हैं, हम हो मजदूर हैं। सब एक ही शरीर के विभिन्न अङ्ग हैं।

भगवान् हम सबको सद्‌बुद्धि दे। सरकारी अधिकारी, व्यापारी सभी व्यक्तिगत संकुचित स्वार्थ को छोडकर देश तथा राष्ट्र का हित सोचे तथा धर्मसम्मत सर्वहितकारक अर्थोपार्जन एवं अर्थतन्त्र का सचालन करे तो सभी का कल्याण हो सकता है। जब से समझें, तभी से मङ्गल।



अर्थशास्त्र और नैतिक मूल्य

जे० एस० माथुर

आज के युग में, जब कि प्रत्येक व्यक्ति भौतिक सुख एवं कल्याण के ही संदर्भ में सोचता है, विकास एव प्रगति के आर्थिकेतर पक्षो पर विचार करना विरोधाभास प्रतीत होगा। परन्तु आज विश्व ऐसी स्थिति में पहुंच गया है कि मानवजाति के समक्ष विशुद्ध आर्थिक स्वार्थो एव प्रेरणाओ के कारण उपस्थित गभीर सकटो पर विचार करना अनिवार्य हो गया है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नही होगी कि यदि समाज के लिये अपरिहार्य आर्थिकेतर मूल्यो की उपेक्षा की गई तो वर्तमान आर्थिक ढाँचा भी अधिक समय तक कायम नही रह सकेगा। इन्ही सकटो के प्रति हमें आगाह करते हुये बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा था—"मैं नही जानता कि हमारी विपत्ति मे कौन सी विभीषिकाएँ होगी, लेकिन इसमें कोई सदेह नही कि यदि कोई आमूल परिवर्तनकारी कदम नही उठाया गया तो विज्ञानोन्मुख मानव जाति का विनाश निश्चित है। आज की दुनिया में विनाश का एक सक्रिय एव प्रभावी सकल्प कार्य कर रहा है जो आज तक हर विपत्ति मे विवेक पर विजयी रहा है। यदि हमे जीवित रहना है तो इस स्थिति को रोकना आवश्यक है।"[1] अल्बर्ट स्वेत्ज़र का कथन है, "अब यह प्रत्येक व्यक्ति को सुस्पष्ट हो गया है कि सभ्यता का आत्मघात प्रगति पर है। इसमे जो कुछ अवशिष्ट रह गया है, वह भी अधिक सुरक्षित नही है। यह अभी भी अवशिष्ट है, केवल इसलिये कि यह उन विध्वसकारी शक्तियो के दबाव से बच गया जिनसे अन्य और भाग अभिभूत हो गए, परन्तु उसी की भांति यह भी रेत पर टिका है और कोई अगला शैलपात, बहुत कुछ सभव है, इसे भी बहा ले जाय।[2]

मानवता पर यह संकट इसलिये आ पडा है कि वर्तमान आर्थिक ढाँचा ही मानवीय मूल प्रवृत्तियो को भ्रान्त धारणा को अनुचित महत्त्व देता है और मिथ्या मूल्यो का आग्रह करता है। आज के आर्थिक जीवन की मौलिक मान्यता ही है, आकाक्षाओ में अनियमित वृद्धि और परिणामस्वरूप इन अतोषणीय आकाक्षाओ की सतुष्टि के लिये अधिकाधिक प्रयत्न। अर्थशास्त्री आकाक्षाओं की अतोषणीयता को प्रगति का एक माध्यम मानते है। वास्तव में व्यक्ति का मूल्याकन उसके गुणो से नही अपितु उसकी भौतिक सम्पन्नता एव प्रभाव से किया जाता है। "विगत दो शताब्दियो मे यत्रो के प्रसार के साथ साथ आवश्यकता–वृद्धि का मत भी फैला। उद्योगो का लक्ष्य केवल उत्पादन-वृद्धि एव उत्पादन की वस्तुओं में विविधता लाना ही नही रहा, बल्कि उनका प्रयोग वस्तुओ की मांग बढाने के लिये भी किया गया। हम आवश्यकतामूलक अर्थ-व्यवस्था से अभिग्रहणमूलक अर्थ-व्यवस्था मे आ गए।"[3] अभिग्र-

---

१ हैज मैन ए फ्यूचर, पृ० ३६-३७

२ डिके एण्ड रेस्टोरेशन ऑफ सिविलाइजेशन, पृ० १६

३ लूइस ममफोर्ड-कोटेड बाई हेरिसन ब्राउन-दि चैलेन्ज आफ मैन्स फ्यूचर, पृ० १८०

णमूलक अर्थ-व्यवस्था ही आज सर्वमान्य प्रतीत होती है। राजा मोदास को भी कुछ ऐसी ही आकाक्षा थी परन्तु उसे उसका क्या फल भोगना पडा, यह हम सब को भली-भाँति मालूम है। आज के समाज का भी वही हाल है। आधुनिक मानव की कल्पना का स्वर्ग सम्भवत एक ऐसा विभागीय भण्डार होगा जिसमें नित्य नई वस्तुएँ आती रहें और जिसमें हर मनचाही वस्तु को प्राप्त करने के लिये प्रचुर धनराशि हो। हमारी उत्पादन-प्रणाली प्रतिदिन नई आवश्यकताओं को जन्म देती रहती है और उनकी सतुष्टि के नये नये साधन भी प्रस्तुत करती जाती है। उत्पादन एव उपभोग स्वय में ही साध्य बन गए हैं।

"अधिक उत्पादन ही क्यो ?" और "तरह-तरह की वस्तुओ की जरूरत ही किस लिए ?"—इन प्रश्नो पर कोई विचार ही नही करता।

एक ऐसे समाज में, जिसमे सामाजिक स्तर और प्रतिष्ठा वस्तुओ के स्वामित्व और उपयोग के लिये प्रतियोगिता चलती रहे स्वभावत किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति की तृष्णा शायद ही शान्त की जा सकती है। स्पष्टत सम्पत्ति की सार्वजनीन तृष्णा की शाति का प्रश्न ही नही उठता। सम्पत्ति का कितना भी समान, व्यापक एव उचित वितरण क्यो न किया जाय, सामुदायिक सम्पत्ति की कितनी ही वृद्धि क्यो न हो जाय, पर यह तृष्णा जिसके मूल मे दूसरो के सम्पत्ति के स्वामित्व में अतिक्रमण कर जाने की भावना विद्यमान है, शान्त नही हो सकती। किसी निर्णायक उपलब्धि का कोई प्रयास ही सम्भव नही है क्योकि यह सघर्ष वास्तव में प्रतिष्ठा की एक होड है जो ईर्ष्या पर आधारित है।"[1]

भौतिक सम्पन्नता के विभिन्न पागल-प्रयासो के कारण उत्पादन प्रणाली ऐसी हो गई है जिसमें मशीनी सस्कृति का प्रभुत्व है। उत्पादन उत्तरोत्तर जटिल, यात्रिक और केन्द्रित होता जा रहा है। परिणामस्वरूप प्राकृतिक साधनो का दुरुपयोग हो रहा है। शक्ति के अपूरणीय स्रोतो का द्रुतगति से शोपण किया जा रहा है तथा उनके स्थान पर नवीनतर स्रोतो की खोज की जा रही है। शक्ति के साधन के रूप में कोयले का स्थान पहले भाप और उसके बाद विद्युत् ने ले लिया। आज जैसे-जैसे शक्ति के पुराने स्रोतो का क्षरण होता जा रहा है, नए-नए स्रोत खोजे जा रहे है।

"छोटी से छोटी यात्रिक क्रिया भी जितनी शक्ति उत्पन्न नही करती उत्पन्न नही उससे अधिक शक्ति खर्च करती है, फिर इन सब क्रियाओ में खर्च होने वाली शक्ति सम्मिलित रूप से कैसे बहुलता प्रदान कर सकती है। तकनीकी विकास से सम्पन्नता असम्भव है। वस्तुत होता यह है कि उपयोग शनै शनै हमेशा बढता ही जाता है। यह एक नृशस बर्बादी है जिसका कोई दूसरा उदाहरण नही है। साधनो की अधिकाधिक बर्बादी वर्तमान तकनीक की विशेपता है। इस बरबादी से ही इसका अस्तित्व और प्रसार सम्भव है।"[2] यही कारण है कि तकनीक से अत मे प्राकृतिक साधनो की समाप्ति एव मानव जाति की निर्धनता ही हाथ लगती है। "यह निर्धनता तकनीकी प्रयत्नो से दूर नही की जा सकती। यह तो स्वय

१ वेबलेन—दि थियोरी आफ लेज़र क्लास, पृ० ३२।
२ दि फेल्योर ऑफ टेक्नॉलाजी, पृ० २०।

तकनीक में ही अतर्निहित है । यह तकनीक औद्योगिक युग के साथ ही आगे बढी है और अन्त तक बढती ही रहेगी ।"[१]

साधनो की समाप्ति के फलस्वरूप सगठन का उत्तरोत्तर वैज्ञानिक पुनर्गठन भी हुआ है। और व्यक्ति का नियत्रण इसी उद्देश्य से खास तौर पर प्रशिक्षित विशेषज्ञो के हाथ में आ गया है। "और जैसे-जैसे निर्धनता बढती है, सगठन का व्यक्ति पर दबाव बढ़ता जाता है, क्योकि यह अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक हो जाता है कि उसे अन्तिम बूँद तक निचोड लिया जाय। यह निर्दयता मनुष्य की प्रत्येक क्रिया मे लक्षित होती है। ऐसी दशा अवरुद्ध नगरो, देशो और पोतो में, जिनकी रसद कम हो रही हो, दिखाई पडती है ।"[२] औद्योगिक सगठनो में ऐसे कर्मचारियो की सख्या लगातार तेजी से बढ रही है जो पूर्णतया अनुत्पादक हैं। "यदि आज अन्वेषको का आवाहन किया जा रहा है और उन्हे अपनी प्रतिभा का प्रमाण देने, आगे बढने और अधिक तेजी से उत्पादन बढाने के लिये प्रोत्साहित किया जा रहा है तो इसका उद्देश्य यही है कि भूमि के शोषण के साधनो के वैज्ञानिकीकरण द्वारा भूमि का अधिकाधिक शोषण किया जाय ।"[३]

बढते हुए सगठन तथा उसकी पूर्णता के कारण शोषण के नए माध्यम स्थापित हो गए हैं। यहाँ तक कि समाजवादी देशो में भी विशेषज्ञ दूसरो पर नियत्रण का अधिकार प्राप्त कर लेता है और उसका यह अधिकार बढता ही रहता है। वैज्ञानिक प्रगति से उत्पन्न सगठन की कठोरता का यह अवश्यम्भावी परिणाम होता है। यह अनुत्तरदायी और परोक्ष सत्ता शक्ति बनने में प्रवृत्त होता है। "अधिकारियो की यह निरकुशता बढते हुए सगठन का सर्वाधिक दुष्परिणाम है। और यदि वैज्ञानिक समाज कुछ दफ्तरशाही की उद्धत नौकरशाही को बर्दाश्त करने के लिये कतई नही तैयार है तो इससे बचाव का उपाय अत्यन्त आवश्यक है ।"[४]

ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में व्यक्ति अपने को खोया हुआ और अकेला महसूस करता है। लोक-प्रत्यायन किंवा सम्मोहन के साधनो के माध्यम से हम अधिकाश जनता को यह समझाने में सयुक्त हो गए है कि उनके कल्याण का सर्वोत्तम निर्णय सत्तारूढ व्यक्तियो द्वारा ही किया जा सकता है। दो-तीन पीढियो से असख्य व्यक्ति श्रमिको के रूप में जी रहे हैं, मानव के रूप में नही। तकनीकी प्रगति के साथ साथ असहायता और असुरक्षा की भावना भी बढती जा रही है। अनवरत एव द्रुत परिवर्तन ने उस भावना मे वृद्धि की है, उस को तीव्रतर किया है। "प्रविधिज्ञो के प्रयत्नो ने मानव जीवन का प्रयोजन जितना सीमित हुआ है आध्यात्मिक शून्यता या रिक्तता की भावना उतनी ही बढी है। और इस प्रकार यातना-त्रस्त सत्रास प्रविधिक दुनिया की सृष्टि का अग है। यह सत्रास मानव चेतना में विविध रूपो मे

---

१ दि फेल्योर ऑफ टेक्नोलाजी, पृ० १३ ।
२ वही पृ० १७ ।
३. वही पृ० ८३ ।
४ रेस्क्यू दि इन्डिविजुअल ऑफ माडर्न आन सोसाइटी, पृ० ७२ ।

समाविष्ट हो जाता है—ऊब, विषाद, असारता, उद्देश्य-विहीनता घबराहट और बेचैनी की अनुभूतियो के रूप मे ।"[१]

इस दृष्टिकोण ने प्रत्येक व्यक्ति को अत्यन्त स्वार्थी एव आत्मकेन्द्रित बना दिया है। उसे दूसरो की समस्याओ की कोई फिक्र ही नही। और वह कभी एक क्षण के लिये भी विचार नही करता कि उसके कार्यो का समाज के अन्य सदस्यो पर क्या प्रभाव पडता है। एक सामान्य अमरीकी नागरिक की प्रवृत्तियो का वर्णन करते हुये एक विख्यात समाजशास्त्री ने कहा—"आज का सामान्य अमरीकी नागरिक प्राय निजी समस्याओ से ही सम्बन्ध रखता है। सम्बन्ध रखने से मेरा तात्पर्य है कि नागरिक उस समस्या के विषय में केवल चर्चा करने तक ही सीमित न रहे अपितु कभी कभी उसकी नीद भी हराम हो जाय। स्वास्थ्य, सम्पत्ति एवं परिवार से सम्बन्धित समस्याओ से तो उसकी नीद हराम हो जाती है, पर सामाजिक समस्याओ से उसकी नीद नही हराम होती, क्योकि वह सामाजिक महत्त्व के अनुभवो एव दूसरो से सम्पर्क को अपने जीवन का अग नही समझता। वह तो अपने ही स्वार्थ से मतलब रखने वाला समाजनिरपेक्ष व्यक्ति है।" "देश के भीतर और बाहर-सर्वत्र, समाज ऐसे वर्गो में बँटता जा रहा है जिनमें एक दूसरे के प्रति विद्वेष निरन्तर बढता जा रहा है। सहयोग का ध्यान अविवेकजन्य घृणा लेती जा रही है इतिहास की अनेक शक्तिशाली सभ्यताओ के पतन की यह पूर्व पीठिका रही है। ऐसा सोचने का कोई कारण नही है कि हमारी नियति इससे भिन्न होगी, जब तक कि हम समस्या को स्पष्ट रूप से नही कहते और आज के सामाजिक, वैयक्तिक एव शैक्षिक क्षेत्र में पाये जाने वाले विशिष्ट वर्ग (इलाईट) से उत्कृष्ट वर्ग विकसित करने का प्रयत्न नही करते। सामाजिक जीवन प्राणीजीवन से कम से कम एक माने में समानता रखता है, वह यह कि जब सामान्य विकास अवरुद्ध हो जाता है तब वैकारिक प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। यह सौहार्द या सहिष्णुता से अविश्वास तक का छोटा कदम ही है जहाँ से सामान्य सामाजिक सम्बन्ध शिथिल होते हैं।"[२]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मकेन्द्रितता, तथा समाज (जिसके हम अभिन्न अग है) की चिन्ता के अभाव से समाज जीवित नही रह सकता। इससे गम्भीर अव्यवस्था उत्पन्न हो जाने की आशका है। अस्तु। किसी बाह्य एजेसी की आवश्यकता है जो उन मान्यताओ पर नियत्रण रक्खे जो आज असख्य लोगो को प्रेरणा प्रदान कर रही हैं। समूह में हम 'कल्याण' 'समता' 'समदृष्टि' 'निष्पक्षता' आदि के आधार पर सोचते हैं। परन्तु ऐसे आन्दोलनो को स्वत. बहुत थोडी या नगण्य गति मिल पाती है क्योकि वैयक्तिक मूल्यो एव विशिष्टताओ तथा सामुदायिक या वर्गीय प्रतिमानो एव मानदडो में स्वाभाविक अर्तविरोध है। चूँकि व्यक्ति दूसरो के हितो का ध्यान रखने का अभ्यस्त नही है इसलिये सरकार या राज्य के रूप में किसी बाह्य सर्वशक्तिमान् सत्ता को सामुदायिक कल्याण की व्यवस्था करनी पडती है। गैसेट दसे 'यूरोपीय सभ्यता के लिये गम्भीरतम खतरा 'मानते हुये कहते है—"इसका उद्गम स्वय सस्कृति में ही है, किंच यह उसकी महिमा का एक अग है।"[3] इसी क्रम मे वे कहते हैं,

---

१ वही, फ्युचर ऑफ टेक्नॉलाजी, पृ० १३१।

२ इरिक फ्राम्म—फ्रीडम इन वर्क सिचुएशन, पृ० ६–७।

३. मेयो, स्पेशल प्राब्लम्स आफ एन इण्डस्ट्रियल सिविलाइजेशन, पृ० ११९।

"हमारे युग में राज्य एक जटिल यंत्र बन गया है। जो आश्चर्यजनक ढग से कार्य करता है और जिसकी कुशलता भी साधनो के गुण एव सूक्ष्मता के कारण आश्चर्य-जनक है। एक बार समाज मे उसकी स्थापना हो जाने पर उसके वृहत् यन्त्रों को चलित होने एव इस प्रकार समाज के किसी भी अग पर व्यापक प्रभाव डालने के लिए एक बटन दबाने को ही देरी रह जाती है।"[२] राज्य का हस्तक्षेप आज की सभ्यता के समक्ष उप-स्थित गभीरतम खतरो में से अन्यतम है। वास्तव मे अब ऐसा समय आ गया है जब कि समाज का अस्तित्व राज्य के लिये होगा और मनुष्य का शासन-तंत्र के लिये। गांधीजी ने कहा था—"राज्य शक्ति की वृद्धि को मैं सर्वाधिक भय की दृष्टि से देखता हूँ क्योंकि वाह्य रूप से शोषण को कम करके भलाई करती हुई भी वह शक्ति वैयक्तिकता को जो कि प्रत्येक प्रगति के मूल मे है, समाप्त करके मानवता का सबसे बडा अहित करती है।"[३] उनकी दृष्टि में राज्य सगठित एवं केन्द्रित हिंसा का प्रतीक है। इन प्रवृत्तियो ने, जो कि आज सभ्यता के लिये आतक बनी हुई हैं, गम्भीरचेता विचारको को वर्तमान समाज के भविष्य के प्रति सशयालु बना दिया है। हमें लार्ड रसेल की चेतावनी पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि "सम्भवत हम मानवता के अतिम चरण मे रह रहे हैं और यदि ऐसा है, तो उसके विनाश का दायित्व विज्ञान पर ही होगा।"[४]

इसलिए गांधीजी ने इस बात की हिमायत की कि हम अपनी आवश्यकताओ को अनन्त सीमा तक बढाने की प्रवृत्ति का स्वेच्छया नियमन करें उन्होने कहा—"हमारी सभ्यता-हमारी सस्कृति, हमारा स्वराज्य अपनी आवश्यकताओ के परिसीमन या आत्म-निग्रह पर निर्भर हो, न कि उनकी वृद्धि या आत्मरति पर।"[५] अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए उन्होने बाइबिल का यह उदाहरण प्रस्तुत किया—"धनवान् के लिए प्रभु के साम्राज्य मे प्रवेश पाना कितना दुष्कर होगा। एक ऊँट का सुई छेद मे निकलना एक धनवान् के प्रभु के साम्राज्य में प्रवेश पाने की बनिस्बत कही आसान होगा।" मनुष्य का सुख सतोष में ही निहित है। जिसे सतोष नही है, वह चाहे जितना धन रखे पर अपनी इच्छाओ का दास ही रहेगा। यह कहना निरा पागलपन होगा कि विश्व के हर व्यक्ति को न्यूनतम परिश्रम से उच्चतम सम्भव जीवन स्तर प्राप्त हो। किसी भी समाज का समष्टिरूप से विलासपूर्ण जीवनयापन एक असम्भव कल्पना है और जब कि विलासिता की कोई सीमा ही नही है तो हम कहाँ जाकर रुकेगे। इसलिए हमें अपनी आवश्यकताओ के नियमन के सदर्भ मे सोचना चाहिए। 'एक सीमा तक भौतिक सुविधा आवश्यक है लेकिन उसके बाद वह साधक न रह कर बाधा बन जाती है। अतएव असीमित सख्या मे आकाक्षाओ को उत्पन्न और सन्तुष्ट करते जाने का आदर्श मात्र प्रवचना एव भ्रमजाल है। उसके पहिले कि उसकी परिणति मानसिक एव बौद्धिक

१ गैसेट—दि रिवोल्ट ऑफ दि मासेस, पृ० ८५
२ ,, वही , पृ० ८७
३. मैथर्स—इका० थाट् पृ० ५२९
४ इर्नेस्ट—साइंस आन नोजाइटी, पृ० १२७
५ इका० थाट् पृ० ५२७

ऐयागी में हो जाय मनुष्य की सभी शारीरिक और बौद्धिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि का एक सीमा पर विराम हो जाना चाहिए। मनुष्य को अपनी समस्त भौतिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो को इस ढग से व्यवस्थित करना चाहिये कि वे मानवता को सेवा मे, जिस पर उसको सभी शक्तियाँ केन्द्रित हो, बाधा न उपस्थित कर सके।"[१]

नही, हमे एक कदम और आगे जाना चाहिए और सभी प्राणियो—केवल मनुष्यो ही नही—और निर्जीव वस्तुओ से भी तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहिए।

इसका तात्पर्य हो सकता हैं वर्तमान उत्पादन प्रणाली में आमूल परिवर्तन और इसके स्वरूप का और अपेक्षाकृत अधिक सरलीकरण। इसका तात्पर्य हो सकता है तकनीको और उससे सम्बन्धित सभी चीजो का काफी हद तक परित्याग। लार्ड रसेल के अनुसार "यत्र की पूजा घृणित कार्य है। पूजा की एक वस्तु के रूप मे यत्र शैतान का आधुनिक स्वरूप है और इसकी पूजा आधुनिक असुर-पूजा।"[२] एक अन्य समाजशास्त्री का कथन है—"तकनीको के अद्यावधि निरकुश विकास पर कठोर नियत्रण का अर्थ है—इसका ऐसा कठोर परिसीमन जो मनोरजन के कारखानो में हर घटे निर्मित कृत्रिम सवेगो एव आनन्दो से मतवाले ही नही अपितु शक्ति एव बाह्य अन्तरिक्ष पर विजय का स्वप्न देखने वाले युग से लगभग जगली सन्यास को अपेक्षा करता है।"[३] इसी कारण गान्धी जी चाहते थे कि भारत आर्थिक विकास को एक ऐसी प्रणाली अपनाए जो औद्योगीकरण को छोडकर गाँवो और कुटीरो का विकास कर सके। उनका विश्वास था कि "विश्व के साथ सुलह से रहकर और अपने सहस्रो कुटीरो का अभ्युत्थान करके सरल परन्तु उदात्त जीवन व्यतीत करता हुआ स्वतत्र भारत विकासशील विश्व के प्रति अपने कर्तव्यो का निर्वाह कर सकता है।"[४] उनके चरखे के सदेश को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिये। "चरखे का सदेश अपनी परिधि से अधिक व्यापक है। इसका संदेश सादगी, सेवा एव दूसरो को बिना कष्ट पहुँचाए जीने का सदेश है। व्यापक सदेश स्वाभावत सबके लिए होता है।"[५] इसी तरह के ही मनोवेगो को व्यक्त करते हुए लार्ड रसेल ने कहा था—"बात अपने मूल रूप में इतनी सरल है कि प्रगल्भ दोष-दर्शियो की उपहासपूर्ण उपमाओ से स्वागत किए जाने के डर से मैं इसे कहने में सकोच कर रहा हूँ। कृपया क्षमा कीजिएगा, मेरा तात्पर्य प्रेम—ईसाई प्रेम या करुणा—से है। यदि आप में इसकी भावना है तो आपके पास अस्तित्व को एक प्रेरणा है, कार्य में पथ-प्रदर्शक है, साहस का हेतु है और और है बौद्धिक ईमानदारी का एक अनिवार्य निमित्त। यदि आप मे इसकी भावना है तो आपके पास वह सब हैं जिसकी किसीको धर्मपथ पर आवश्यकता पड सकती है। यद्यपि आपको सुख न भी मिल सके परन्तु आपको इन लोगो की तरह निराशा का अनुभव नही करना पडेगा जिनका जीवन

---

१ इका० थाट्स, पृ० ५८३

२ दि इम्पैक्ट आफ साइंस आन सोसाइटी, पृ० १००

३ फ्यूचर आफ टेक्नॉलॉजी (वी० सी०)

४ इका० थाट्स, (१९६६)

५ इका० थाट्स (१९२७)

लक्ष्यविहीन और उद्देश्यशून्य है, क्योकि आप मानवीय कष्ट की विशाल राशि को कम करने के लिये सदैव कुछ कर सकते है ।"[1]

गाधीजी ने अपने आश्रम मे नेताओ को इन मूल्यो को अपनाने का प्रशिक्षण दिया । उनके आश्रम के सदस्यो के अवश्य पालनीय व्रत थे—अपरिग्रह, ऐच्छिक निर्धनता और अहिसा अर्थात् सभी प्राणियो अपितु प्रकृति के प्रति प्रेम एव करुणा । यह प्रचलित एव अगीकृत मूल्यो के सर्वथा विपरीत है । "वस्तुत तार्किक सिद्धान्तो के प्रामाण्य और भाषा की सम्पूर्ण वीभत्स स्पष्टता से युक्त पूर्ण अमानवीय विचार हम लोगो मे प्रचलित है । एक ऐसी सामाजिक मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी गयी है जो व्यक्ति में मानवता को निरुत्साहित करती है । असहानुभूति और अलगाव को—जिनका अपरिचितो के प्रति आजकल प्रत्येक प्रकार से स्पष्ट प्रदर्शन किया जाता है, अव सचमुच असभ्यता नही माना जाता वल्कि इन्हें कुशल एवं अनुभवी व्यक्ति का व्यवहार स्वीकार कर लिया गया है । हमारा समाज प्रत्येक मानव को मानवीय मूल्य एव मर्यादा नही प्रदान कर पाया है । मानव जाति के अनेक वर्ग मनुष्य के रूप में मात्र उपादान वनकर रह गये हैं ।"[2]

इन मूल्यो को धार्मिक या नैतिक विचार कह कर ठुकराया जा सकता है लेकिन गाधी जी हम लोगो से भिन्न दृष्टिकोण रखते थे । उन्होने कहा—"मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में कोई सूक्ष्म भेद नही मानता । जो अर्थशास्त्र किसी व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाता है वह अनैतिक अतएव पापमय है ।"[3] अल्वर्ट स्वेत्जर भी इस मत से सहमत है कि नैतिक प्रगति वह है जो वास्तव में सभ्यता के लिए सारवान् हो । "जब तक हम सभ्यता के उस सतही दृष्टिकोण से जिसने हमें दास वना रक्खा है, मुक्त नही हो जाते और स्वय को पुन नैतिकता के प्रति समर्पित नही कर देते तव तक एक स्थायी आधार पर सभ्यता को पुन प्रतिष्ठित करने में सफल नही हो सकेगे ।"[4] गाधीजी के शब्दो को पुन उद्धृत करते हुये—"अर्थशास्त्र को उपयोगी सिद्ध होने के लिए धर्म और अध्यात्म तक सीमित होने में सक्षम होना चाहिए ।"[5]

एक विश्व-समुदाय की स्थापना सम्भव है जिसमें लोग सुख और सद्भाव से रह सके । आज मानवता का भाग्य खतरे में है । हमें नए प्रशिक्षण की आवश्यकता है ताकि स्वार्थ, अज्ञान एव घृणा को उदारता, ज्ञान और प्रेम के वशीभूत कर सकें । "सभ्यता का नवोत्थान तभी सम्भव है जब कि यथेष्ट सख्या मे लोग प्रचलित मनोवृत्ति से स्वतन्त्र वल्कि विपरीत मनोवृत्ति अपनाएँ जो सामुदायिक मनोवृत्ति पर धीरे-धीरे हावी हो सके और अन्तत उसके स्वरूप का निश्चय करे । एक नैतिक आन्दोलन ही वर्वरता को समूल हटाने में समर्थ हो सकता है"[6]

---

१ इम्पैक्ट आफ साइन्स आन सोसाइटी, पृ० १४९

२ डिके एण्ड रेस्टोरेशन, पृ० ३२

३ इका० थाट्स पृ० ५२९

४ डिके एण्ड रेस्टोरेशन, पृ० ६

५ इका० थाट्स पृ० ८६

६. डिके एण्ड रेस्टोरेशन, पृ० ६८

हमें ऐसे व्यक्तियो को आवश्यकता है जो प्रवाह के विपरीत तैर सके। कोई भी समाज एक विद्रोही चेतना के अभाव में प्रगतिशील नही हो सकता। आशा है, वडो सख्या में निष्ठा वान् व्यक्ति आगे वढेगे और गुरुदेव टैगोर के इस गीत से प्रेरणा लेंगे—

यदि तीर डाक शुने केऊ न आसे तवे एकला चलो रे,
एकला चलो, 'एकला चलो, एकला चलो रे।
यदि केऊ कथा न काय, ओरे, ओरे, ओ अभागा,
यदि सवाई थाके मुख फिराए, सवाई करे भय
तवे परान खुले,
ओ, तुई मुख फूटे तोर मनेर कथ एकला वोलो रे
यदि सवाई फिर जाय, ओरे ओरे ओ अभागा,
यदि गहन पथे जावार काले केऊ फिरे न चाय
तवे पथेर काँटा
ओ, तुई रक्त माखा चरन तले एकला दलो रे।
यदि आलो न धरे ओरे ओ अभागा
यदि झड वादले आँधार राते दुआर देय धरे
तवे वज्रानले,
आपन वुकेर पाँजर ज्वालिये निए एकला जलो रे।



कला और संस्कृति खण्ड

•

साधना के समर्थ उपाय के रूप में संगीत

प्रेमलता शर्मा

भारतीय सगीत-शास्त्र का यह वैशिष्ट्य है कि उसके ग्रन्थो में सगीत के लिए, विशेषत गीत के लिए अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमे आध्यात्मिक-जीवन मे उसकी उपयोगिता का महत्त्व बताया गया है। इन उल्लेखो को स्थूलरूप से निम्नलिखित शीर्षको में रखा जा सकता है —

१ नाद-प्रशसा

यथा— नादादभिव्यज्यते वर्ण, पद वर्णात्पदाद् वच ।
वचसो व्यवहारोऽय नादाधीनमतो जगत् ॥
(स० र० १–२–२)

नाद से वर्ण की, वर्ण से पद की और पद से वचन (वाक्य) की अभिव्यक्ति होती है। सब व्यवहार वाणी से ही चलता है, इसलिए जगत् नाद के अधीन है।

२. नादोपासना की प्रशसा

यथा— नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।
भवन्त्युपासिता नून यस्मादेते तदात्मका ॥
(स० र० १–३–२)

नाद की उपासना से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इन देवो की उपासना हो जाती है, क्योंकि ये नादात्मक है यानी इनका स्वरूप नाद है।

३ देवत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियो मे गीत के प्रति प्रेम

यथा— गीतेन प्रीयते देव सर्वज्ञ पार्वतीपति ।
गोपीपतिरनन्तोऽपि वशध्वनिवशगत ॥
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणाऽऽसक्ता सरस्वती ॥
(स० र० १–१–२६, २७)

सर्वज्ञ देव पार्वतीपति गीत से प्रसन्न होते हैं, अनन्त भी वंशी-ध्वनि के वश में हैं, ब्रह्मा सामगान मे रत हैं और सरस्वती वीणा में आसक्त हैं।

४ चारो-पुरुषार्थो की गीत में साधकता

यथा— तस्य गीतस्य माहात्म्य क प्रशसितुम् ईशते ।
धर्मार्थ - काम - मोक्षाणामिदमेवैक - साधनम् ॥
(स० र० ४–१–३०)

गीत का माहात्म्य कौन कह सकता है? धर्मार्थ काम मोक्ष का यही एक साधन है।

सगीत-शास्त्र के ग्रन्थो के अतिरिक्त स्मृति पुराण आदिको मे एव तत्सम्वन्वी साहित्य में सगीत के प्रशसात्मक अनेको वाक्य मिलते हैं। उदाहरण के लिए--

वीणावादनतत्वज्ञ श्रुतिजातिविशारद ।
तालज्ञश्चा-प्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ॥
गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परम पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥
(याज्ञ० स्मृति ३–४–११५, ११६)

जो वीणावादन के तत्त्व या सार को जानता है, जो श्रुतियो और जातियो (के प्रयोग) में कुशल है, जो ताल का ज्ञाता है, वह मोक्ष मार्ग को प्राप्त होता है। गीतज्ञ यदि गीत के द्वारा परम पद को प्राप्त नही होता तो वह रुद्र का अनुचर वन कर उनके सग में आनन्द पाता रहता है।

एक विख्यात पौराणिक उक्ति इस प्रकार है—
अर्चनादधिक ध्यान ध्यानात् कोटिगुण जप ।
जापात् कोटिगुण गान गानात् परतर नहि ॥

ध्यान पूजा से अधिक है, जप ध्यान से अधिक है, गान जप से अधिक है और गान से अधिक कुछ भी नही है।

ऊपर उद्धृत वाक्यो से निम्नलिखित निष्कर्प निकल सकते हैं —

(१) सगीत न केवल उपासना और साधना का एक उपाय है, अपितु उत्कृष्ट उपाय है।

(२) देवत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ (देव-देवी) न केवल सगीत से प्रेम रखती हैं, अपितु उनकी सर्वोत्तम धारणा यही हो सकती है कि वे नादात्मक हैं।

(३) सगीत की साधना के विभिन्न स्तर है। उसके निम्न स्तरो में धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति होती है और उच्च स्तर में मोक्ष की।

हम सगीत के माहात्म्य के इन तीनो पहलुओ को कुछ विस्तार से समझने का यत्न करेंगे और इस परम्परा की दार्शनिक भित्ति का भी सधान पाना चाहेंगे। ये तीनो पहलू एक दूसरे से जुडे हुए हैं। इसलिये इन्हे पृथक्-पृथक् रूप से लेना सभव नही होगा, किन्तु उपसहार में इन तीनो के साथ पूरी वात को सवद्ध करने का यत्न किया जायगा।

मौलिक सत्ता अथवा परम तत्त्व को व्रह्म कहा जाता है और वह निरपेक्ष, तर्कातीत तत्त्व है। यह सत्ता हमारे उच्चतम अनुभव में 'अस्ति' (विशुद्ध निरुपाधिक सत्ता), 'भाति' (चित्) और 'प्रिय' (आनन्द) के रूप में प्रकट होती है।

'आनन्द' के प्रसंग में व्रह्म को 'भूमन्' और कभी-कभी 'मधु' भी कहा जाता है। इस प्रकार वह आनन्दात्मक चैतन्य है —

यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।
(छान्दोग्य० ७-२३-१)

यह आनन्द अथवा रस सत्तामात्र की व्यापक पृष्ठभूमि है। अनन्त आकाश अथवा असीम अर्णव की भांति यह आनन्द विश्व में सभी सत्ताओं का आधार है। इन दो उपमाओं में आकाश विशेषत सत् और चित् के वर्णन में उपयोगी है और अर्णव विशेषत आनन्द का सूचक है। वास्तव में ये दो पहलू पृथक् नहीं किये जा सकते। आकाश निःस्पन्द अधिष्ठान का द्योतक है और अर्णव मूलस्पन्द का। महामौन को मूलवाक् में अभिव्यक्त करता है महानन्द, जिसे ॐकार या प्राणब्रह्म भी कहा जाता है। इस प्रकार ॐकार के रूप में महानाद सृष्टि की प्रथम अभिव्यक्ति है। इसका न केवल सत् और चित् से अपितु आनन्द से संबंध है अर्थात् यह तीनों की अभिव्यक्ति है। आनन्द का मूलस्पन्द से सीधा संबंध है और सत् + चित् उसका अधिष्ठान है, इसलिये आनन्द को ही समग्र सृष्टि का उद्गम-स्थान, पोषक और विलय-स्थान कहा जाता है।

आनन्दाद् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन
जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्तीति।

(तैत्ति० ३-६)

भूमा की प्रथम आत्माभिव्यक्ति है महानाद और भूमा तो रस अथवा आनन्द से अभिन्न है। भूमा अथवा आनन्द उस मूलस्पन्द का समग्र स्वरूप है जिससे सृष्टि का आरम्भ होता है, जिस पर वह स्थित रहती है और जिसमें विलीन होती है।

रस अथवा आनन्द समग्र सृष्टि का 'हृत्' (सारभूत केन्द्रबिन्दु) है। संगीत द्वारा इस 'हृत्' तक पहुँचना सुगम हो सकता है क्योंकि (१) यह नादात्मक है, अत मूलस्पन्द अथवा महानाद के अनुभव का यह सुखद और सुगम मार्ग हो सकता है। (२) स्थूल स्तर पर भी संगीत हर्ष की स्वाभाविक और सार्वभौम अभिव्यक्ति के रूप में सर्वमान्य है। हाँ, यह अवश्य है कि उपर्युक्त अनुभूति के लिये उचित भाव, मन और शरीर की शुद्धि तथा अनन्य लगन सर्वथा आवश्यक है।

सृष्टि के आरम्भ की बात यहाँ तक हुई। जहाँ तक सृष्टि के विस्तार का प्रश्न है, उसके लिये यह उल्लेखनीय है कि सृष्टि का क्रम ऋजु, सम और अखण्ड नहीं है अपितु वह आवर्तनात्मक है जो तरंग का, चक्र का अथवा सर्पिल कुण्डली का आकार धारण करता है। उदाहरण के लिये बीज से वृक्ष और वृक्ष से पुन बीज यह एक चक्रिक क्रम है। तदनुसार महानाद बीजरूप 'बिन्दु' बनता है और वही 'कला' के रूप में उस बिन्दु की क्रमबद्ध अभिव्यक्ति भी बनता है। अभी जिन तीन आकारों का हमने उल्लेख किया वे सभी संगीत में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। यथा-ध्वनि तरंगों में तरंगवत् क्रम, ताल में चक्रिक क्रम और स्वर अष्टकों के संबंध में सर्पिल क्रम का सादृश्य पाया जाता है।

सृष्टि-विकास के उपर्युक्त क्रम के अनुसार महानाद अथवा परनाद अपने आपको सुगम छन्द (विविध होते हुए भी एकता के सूत्र से आबद्ध) के ढांचे में अभिव्यक्त करता है। विविधता और एकता का यह समन्वय भारतीय संगीत में राग और ताल में बहुत उत्कृष्ट रूप में पाया जाता है।

रस अथवा आनन्द मूलत स्वसमाहित अवस्था का द्योतक है जिसे 'स्वलसित' कहा जा सकता है। यही अपने आपको 'उल्लसित' अथवा 'विलसित' बनाता है। सगीत की भाषा में बात करे तो ॐकार या परनाद स्वरसप्तक के रूप मे अपनी अभिव्यक्ति करता है। (प्राचीन सगीतशास्त्र में मौलिक स्वरग्राम को षड्जग्राम कहा गया है और उसमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार का श्रुतिक्रम ४, ३, २ है। यही श्रुतिक्रम प, ध, नि में पुनरावर्तित होता है। ये दोनो त्रिक समान हैं और दोनो के बीच मे जोडने वाली कडी के रूप में मध्यम पडा हुआ है। स्पष्ट है कि इस ग्राम में दूसरा त्रिक पहले का ही पुनरावर्तन है।) यह स्वलसित का स्तर है। उल्लास के लिये स्वर आधारभूत 'सुर' (ड्रोन) बनता है और विलास के लिये वह स्वरसन्निवेशात्मक 'धुन' का रूप लेता है। अभिव्यक्ति का यह क्रम जो एक अखण्ड नाद से आरम्भ होता है, सगीत के स्थूलतम स्तर पर भी इन्द्रियगोचर हो सकता है और योगजन्य अनुभव के सूक्ष्म स्तरों में भी अवगत हो सकता है। सृष्टि की अभिव्यक्ति का अनुलोम क्रम और लय का विलोम क्रम—ये दोनो सगीत के द्वारा जितनी सुगमता से अवगत हो सकते हैं उतने शायद किसी अन्य साधना से नही।

यदि उपर्युक्त अनुभूति को सगीत का लक्ष्य मान लिया जाय तो फिर किसी राग को गाते बजाते समय यही काफी नही है कि स्वरो का यथोचित सन्निवेश किया जाय अपितु यह भी आवश्यक होगा कि स्वरो को नाद के अधिष्ठान अथवा भित्ति पर अभिव्यक्त किया जाय। 'नाद' में अभिव्यक्ति का क्रम और 'बीज' में विलय का क्रम अनुस्यूत है और सगीत में इन दोनो का स्थान है।

सगीत द्वारा अध्यात्म साधना का लक्ष्य है वितान अथवा विस्तार और विलय के क्रम का अनुभव करना। नादात्मक अभिव्यक्ति (स्वरोदय) और विन्द्वात्मक लय (स्वरविलय) की मात्रा अथवा नाप होना बहुत आवश्यक है। 'अमेय' का 'मान' आवश्यक है और यही सगीत में ताल का आधार है।

सुषम छन्द के ढाँचे मे अभिव्यक्ति की जो बात हमने ऊपर कही उस पर पुन ध्यान दे तो यह कहा जा सकता है कि जिसे मोक्ष या मुक्ति या योग कहा जाता है उसका सत्त्व है सभी मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक, शारीरिक सघर्षों, दबावो या तनावो का अन्त। 'समत्व योग उच्यते'। हम लोग विषम स्तर पर पडे हुए हैं और इससे हमें सुषम स्तर पर जाना है। इसी बात को योग की भाषा में यो कहा जाता है कि इडा और पिंगला की गति वक्र है और सुषुम्ना की गति सरल, सीधी है। सुषुम्ना के पथ में प्रवेश ही योगी का साध्य होता है। संगीत मोक्ष का साधन बन सकता है यदि वह इस पथ को खोलने में सहायक हो और सुप्त शक्ति (कुण्डलिनी) के जागरण में प्रेरक हो। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए स्वर और छन्द की साधना जो कि सगीत का सत्त्व है, महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय सगीत में राग को साधना का फार्मूला माना जा सकता है। निरुक्त पद्धति से 'राग' के घटक 'र', 'आ', 'ग'—इन तीनो की निम्नलिखित व्याख्या की जा सकती है।

'र' को अग्नि के बीजाक्षर 'र' का प्रतिनिधि माना जा सकता है। मनुष्य के शरीर मे अग्नि अथवा तेज का स्थान है मणिपूर चक्र जहाँ से नाद उठता है। नाद के उत्थान से

पहले मूलाधार में अग्नि का सुलगना आवश्यक है। मूलाधार से स्वाधिष्ठान चक्र तक उस सुलगी हुई अग्नि में प्रवाहिता आनी चाहिये क्योंकि स्वाधिष्ठान 'अप्' या जल का स्थान है। सच्चे संगीत की बात छोड़ दें तो हमारी साधारण वाक् का व्यापार कण्ठ में ही होता है और उसका नियमन इडा, पिंगला की विषम गति द्वारा ही होता है। इस गति का समान होना आवश्यक है (प्राणापानौ समौ कृत्वा)। इस समानता के बिना सुषुम्ना का पथ नहीं खुलेगा और शक्ति रूपा अग्नि गतिशील नहीं होगी, कुल कुण्डलिनी में गति नहीं आयेगी। सुषुम्ना की अग्नि की गति अभिव्यक्ति के क्रम में बिन्दु + नाद + कला है और विलय के क्रम में कला + नाद + बिन्दु है।

'र' और 'ग' के बीच में जो 'आ' पड़ा हुआ है वह इस बात का द्योतक है कि 'र' अचल नहीं है बल्कि वह परनाद, पर बिन्दु और सुषम कला के रूप में अभिव्यक्त होता है।

ग' गति का प्रतिनिधि है और जैसे 'क ब्रह्म' = भूमा अथवा 'ख ब्रह्म' = आकाश, वैसे ही 'ग ब्रह्म' = प्राण ब्रह्म। 'राग' में 'ग' इस बात का द्योतक है कि मुख्यप्राण के रूप में प्राणब्रह्म को प्राण अपान के दासत्व से मुक्त होकर 'अर्धमात्रा'[1] अथवा कुलकुण्डलिनी को जगाना है ताकि रजस् तमस् के निम्न स्तरों से उन्नत शक्ति के स्तर प्रज्ञान और आनन्द तक पहुँचा जा सके।

राग की साधना यदि ठीक ढंग से की जाय तो इस ऊर्ध्व गति में सहायक हो सकती है। इस प्रकार राग अपने उच्चतम स्तर में रस अथवा आनन्द की अपनी अलसित (अव्यक्त) स्थिति से स्वलसित, उल्लसित और विलसित स्तरों तक की गति का द्योतक है। अत राग आनन्द समाधि अथवा महाभाव का साधन हो सकता है, जो कि परमलक्ष्य है।

सृष्टि का हृत् (सारभूत केन्द्रबिन्दु) जो कि रस अथवा आनन्द है उसकी बात फिर से की जाय तो यह समझना होगा कि इस हृत् की अपनी हृल्लेखा (आन्तरिक आलेख्य) है। इस आलेख्य को काल के प्रसग से अबाधित प्रवाह के रूप में समझा जा सकता है और देश के प्रसग से निर्धारित स्थिति के रूप मे। इनमें से प्रथम (काल-सबधी) चल है और वह ऋत के रूप में कार्य करती है और दूसरी (देश सबधी) अचल है जो सत्य के रूप में कार्य करती है। इस द्विविधता में हृत् अपने चल रूप में 'हृदय' बनता है और अचल रूप में 'हृद्देश' बनता है। भारतीय संगीत के प्रबन्धों में, जैसे कि ध्रुपद में, ध्रुव अथवा स्थायी को 'हृद्देश' का प्रतिनिधि कहा जा सकता है क्योंकि वह पुनरावर्तित होने के कारण एक प्रकार का अचलत्व धारण करता है और गीत के अन्य खण्ड, जैसे कि अतरा, सचारी, आभोग, जो कि अधिक पुनरावर्तित नहीं होते, उन्हें 'हृदय' अर्थात् चलता का प्रतिनिधि माना जा सकता है। उसी प्रकार राग में किसी एक स्वर को (प्राचीन परिभाषा के अनुसार) वादी, अश अथवा स्थायी बनाना होता है और शेष स्वर उसके सवादी अथवा अनुवादी होते हैं। इस प्रकार किसी राग के वादी अथवा स्थायी स्वर को उसका 'हृद्देश' कहा जा सकता है क्योंकि वह स्थिर है और उसे अपने आपको 'हृदय' में भी परिणत करना होता है, अर्थात् जो स्थ-

---

१ 'अर्धमात्रा' में 'अर्ध' का अर्थ आधा नहीं है। उसका अर्थ है क्रमागत – सदा वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, सदा विस्तृत होता हुआ।

स्थायी नही हैं, उसकी चलता से वादी स्वर को गति मिलती है और इस प्रकार स्वलसित रस का उल्लसित और विलसित मे विकास होता है। इस प्रकार की प्रस्तुति के लिये नाद-ब्रह्म + विन्दुब्रह्म का कलाओ में विस्तार अपेक्षित है जिसे सुषम कला वितान कह सकते हैं। कलाओ की अभिव्यक्ति के क्रम मे स्वर का विवाह छन्द से हो जाता है, 'अमेय' का गठवन्धन 'मेय' से ही जाता है।

हिन्दू सगीत की कला और विज्ञान का आधार दर्शन में किस प्रकार मिल जाता है इस का सकेत ऊपर दिया गया है। इमी प्रसग में कुछ अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं, यथा—

(१) कलनी शक्ति, जो कलाओ के रूप में अभिव्यक्ति का क्रम वनाती है, मूलत पडग योजना के अनुसार कार्य करती है। ये छ अग 'र' 'ल' 'व' इत्यादि छ वीजाक्षरो में अनुस्यूत हैं। मूल राग भी छ ही हैं—राग-रागिणी-पद्धति में तो वैसा है ही, प्राचीन ग्राम-राग-पद्धति में भी शुद्ध राग छ ही हैं। मूल रागो की यह सख्या (६) मनुष्य-शरीर में छ चक्रो से भी सवद्ध है। राग-रागिणी-पद्धति के छ रागो के साथ छ वीजाक्षरो का सम्वन्ध जोडा जा सकता है। उदाहरण के लिये—'ॐ व' को मेघ राग का वीज माना जा सकता है क्योकि 'व' जल का वीजाक्षर है, उसी प्रकार 'ॐ र' दीपक राग का वीज हो सकता है क्योकि 'र' अग्निवीज है।

(२) 'गमक' का भारतीय सगीत में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गमक के द्वारा ही 'नाद' की 'मूर्च्छा' टूटती है और आलाप से स्वरो का 'नृत्य' आरम्भ होता है। 'गमक' = 'गमन' कराने वाला यानी ज्ञान कराने वाला। स्वर का वैचित्र्य-विलास गमक से ही होता है। यह शव्द शास्त्रीय दृष्टि से वहुत सार्थक है।

(३) भारतीय सगीत की प्राचीन पद्धति में मूर्च्छना शव्द का मौलिक महत्त्व है। 'मूर्च्छ' धातु के दो अर्थ हैं—मोह और उभार। दोनो अर्थो का सागीतिक मूर्च्छना में स्थान है। मूर्च्छना के द्वारा ही नाद अपनी अलसित (मूर्च्छित) स्थिति में से जागता है अथवा अव्यक्त वीजरूप विन्दु का सुषम कलाओ में विकास होता है। पारिभाषिक शव्दो में कहें तो मूर्च्छना ही ग्राम के सातो स्वरो को सभावनाओ को व्यक्त करती है। विलोम क्रम में ग्राम पुन अव्यक्त वन जाता है। इस प्रकार 'मूर्च्छ' का उभार अर्थ मूर्च्छना में लागू होता है। कमल की पखुडियो का विकास और सकोच उदाहरण के रूप में यहां समझा जा सकता है। अभिव्यक्ति के क्रम में 'अखण्ड' और 'अमात्र' रस खण्डित और विलोम क्रम से खण्डित और मात्रिक रस पुन अखण्ड और अमात्र हो जाता है।

'प्रिय' अथवा आनन्द ही तो अस्ति भाति का 'हृत्' है और सृष्टि एवं विलय मे उसका एक मात्र काम है सुषमता लाना अथवा मधुच्छन्द वनना। सुसमता ही तो सगीत का प्राण है। सृष्टि क्या है—निर्दोष ताल में 'नृत्य' है, आन्तरिक घनिष्ठना में 'वादन है, और आनन्दतिरेक में गान है। नृत्य और वादन में निर्दोष 'मात्रा' (नाप) की आवश्यकता है और गान में उन दोनों (नृत्य-वादन) का उत्कर्ष है अमेय आनन्द में। नृत्य और वादन का व्यापार सुषम कलाओ में चलता है और गीत मे नाद विन्दु का संयोग है, जहां से कि कलाओ

का उद्गम होता है। नृत्य-वादन में व्यासवृत्ति प्रधान है अर्थात् काल और देश के प्रसग में पृथक्करण प्रमुख है और गान में समास अथवा समाहृति प्रधान है अर्थात् एकीकरण प्रमुख है। प्राणन = प्राणव्यापार का तालात्मक नि सरण नृत्य है मनन की वाद्यो से घनिष्ठता वादन है अर्थात् मन में कल्पित स्वर सन्निवेश की वाद्य पर अवतारित रूप के साथ घनिष्ठता है, और गीत में गति, भावन और आह्लादन है, जो नृत्य और वादन की भी मौलिक प्रेरणा बनते हैं। वाक्-प्राण-मन के वैदिक त्रिक की भाषा में कहें तो नृत्य मे प्राण प्रधान है, वादन में मन और गान में वाक्। नृत्य का सम्बन्ध हमारे शरीर से, वादन का मस्तिष्क (बुद्धि) से और गीत का हृदय से कहा जा सकता है। इसीलिए हिन्दू संगीत की परम्परा में गान मे आलाप के द्वारा 'राग' का सवेदन-आवेदन सर्वोत्कृष्ट रूप मे हो सकता है, क्योंकि उसमें एकीकरण की उच्चतम अवस्था की सभावना है।

उपसहार से पूर्व यह कहना आवश्यक है कि ऐसे लघु लेख में केवल उदाहरण-रूप से कुछ सकेत देना ही सम्भव है जिससे हिन्दू सङ्गीत के वैदिक और तान्त्रिक (यौगिक) आधार का दिक्सूचन हो सके। इस विराट् विषय के साथ कुछ भी न्याय करना सम्भव नही। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि हिन्दू सगीत का एक ओर शरीर-मूलक हठयोग से घनिष्ठ सबन्ध है और दूसरी ओर मनोमूलक राजयोग से। सगीत में वाक्, प्राण, मन का सभी स्तरो पर समत्व साधा जाता है। अत सगीत बडी सुगमता से किसी भी साधना-पद्धति का सहगामी बन सकता है, जो शरीर को, मन को अथवा वाणी को आधार मानकर चलती हो।

इस लेख के उपक्रम में जो तीन निष्कर्ष रखे गये थे उन्हें यहां उपसहार में दोहरा लेना उचित होगा।

(१) हिन्दू सगीत साधना का उत्कृष्ट उपाय है क्योंकि उसकी सकल्पनाएं वैदिक दर्शन, योग और तंत्र पर आधारित है।

(२) देवत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियो की धारणा उन्हें नादात्मक समझने से सर्वोत्कृष्ट रीति से हो सकती है क्योंकि नाद मौलिक अभिव्यक्ति भी है और बीजरूप बिन्दु भी है। देव-देवियो की धारणा या तो मौलिक शक्तियो की अभिव्यक्ति के रूप में होती है अथवा इस व्यक्त सृष्टि के बीज के रूप मे।

(३) हिन्दू सगीत की सकल्पना ऐसी है कि उसमे निम्नतम से लेकर उच्चतम स्तरो की साधना के लिये अवकाश है और मुक्ति का सबध स्वाभाविक रूप से उच्चतम स्तर के साथ है।



'काकु' का शास्त्रीय विचार

(श्रीमती) सुभद्रा चौधरी

काकु अथवा ध्वनि-विकार के द्वारा विभिन्न भावो की अभिव्यक्ति होती है। प्रतिदिन के व्यवहार में ध्वनि का ऊँचा नीचा पन, मन्दता-तीव्रता, द्रुत अथवा विलम्बित गति ही उन भावो को प्रकट करती है। करुणा, शोक, व्याधि में ध्वनि नीची और गति धीमी रहती है। हर्ष या प्रसन्नता के वेग में स्वाभाविक रूप से आवाज ऊँची और गति द्रुत हो जाती है। डाँटने-फटकारने, लडाई-झगडे में आवाज़ में 'चिल्लाहट' मौर गति द्रुततर हो जाती है। स्वर-परिवर्तन से 'हाँ' का 'नही' और 'नही' का 'हाँ' हो जाता है। काकु भेद के इन शब्दो के द्वारा निराशा, विस्मय, हर्ष, प्रश्न आदि आदि भावो का वोध भी हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि स्वर या ध्वनि-भेद ही अर्थ के नियामक होते हैं।

नाटय जीवन की ऐसी अनुकृति है जिसमें थोडे समय और थोडे शब्दो में वहुत से अर्थ और भाव भरने पडते हैं, इसलिये इसमें अभिनय की प्रमुखता रहती है। नाठ्य का वाचिकाभिनय के अन्तर्गत स्थान है। इसके लिये शब्दयोजना और पाठ्य दोनो ऐसे होने चाहिये जिससे व्यंग्यार्थ का भी वोध हो। नाट्य में पाठ्य दो प्रकार का हो सकता है—गद्य कथोपकथन और पद्य। यो तो 'गीत' भी वाचिकाभिनय में ही आता है लेकिन जैसे सामान्य वोल-चाल ओर सस्वर पाठ में अन्तर है उसी प्रकार 'पाठ्य' और 'गीत' या 'गान' में भी अन्तर है। कुछ आगे चल कर इनके अन्तर पर प्रकाश डाला जायगा। नाट्य में पाठ्य का अत्यन्त महत्त्व होने के कारण भरत ने उस पर वहुत वल दिया है। प्रस्तुत लेख भरत के काकु-सवधी अध्याय और उस पर अभिनवगुप्त की टीका पर आधारित है।

नाट्यशास्त्र में काकुविचार पाठ्य के सदर्भ में हुआ है। इस अध्याय की सख्या वडौदा सस्करण में १७ और वनारस सस्करण में १९ है।

इस अध्याय में भाषा ओर कर्मविधान कहने के वाद भरत ने पाठ्य के षड्लकारो का विषय-प्रवेश कराया है। यथा—

एव भाषाविधानं तु ज्ञात्वा कर्माण्यशेषत ।
तत पाठ्य प्रयुञ्जीत षडलङ्कारसयुतम् ॥

षडलकार पाठ्य के 'गुण' है जो इस प्रकार हैं—सप्तस्वर, त्रिस्थान, चतुर्वर्ण, द्विविधा काकु, षडलकार और षडग। इन मे उपकृत हो कर या इनका विशेष सयोग पा कर काव्य पाठ्य वनता है। अव भरत के अनुसार इनके स्वरूप-निरूपण और विनियोग पर प्रकाश डाला जायगा।

स्वर—७ स्वर होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। ये रसो में उपयोगी है। इनका विशेष उपयोग तो नाट्य के अन्तर्गत ध्रुवाओं में होता है लेकिन

किसी एक स्वर को 'स्थायी' या आधार बना कर ही 'पाठ्य' सभव होने के कारण यहाँ भी स्वरो को छोडा नही जा सकता। वस्तुत काकु में स्वर ही उपकारी होते हैं अर्थात् स्वर के सयोग से ही काकु स्पष्ट होती है। इसलिये काकुविधान में स्वर का यही उपयोग है कि वे पाठ के लिये नियत आधार प्रदान करते हैं।

किस स्वर का किस रस में किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये इसे भरत ने सूत्ररूप में इन दो कारिकाओ में कहा है

हास्यशृङ्गारयो कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ।
षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु च॥
गन्धारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे।
धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके॥

'कार्यौ स्वरौ' की टीका में अभिनवगुप्त ने जात्यशकविनियोग की जो चर्चा की है उसका अर्थ यही है कि इन स्वरो को आधार बनाकर पाठ्य प्रयोग करना चाहिये।

स्थान—भरत ने तीन स्थान कहे हैं—उर, शिर और कण्ठ। 'स्थान' से पहले 'स्वर' का विनियोग बता चुकने के कारण सगीत के मद्र मध्य, तार स्थानो का ग्रहण न कर लिया जाय इसलिये भरत ने 'शारीर्यामथ वीणाया' के द्वारा शरीर वीणा के—उर, शिर, कण्ठ—इन तीन ही स्थानो का ग्रहण कराया है। स्वर सबसे पहले शरीर से ही उत्पन्न होते हैं और वे भी उर, शिर, कण्ठ—इन तीन स्थानो से ही। दारवी वीणा का पाठ्य में उपयोग नही क्योंकि उसमें वर्णो की उत्पत्ति सभव नही है। साथ ही तन्त्री में 'रक्ति' व 'अनुरणन' होने के कारण वीणा का प्रयोग होते ही पाठ न रहकर 'गान' हो जाता है इसीलिये भरत ने स्पष्ट रूप से शरीर वीणा के ही स्थान कहे हैं।

अभिनवगुप्त ने 'स्थान' को स्वर का 'स्वरूपनिष्पत्तेराश्रय' कहा है अर्थात् स्थानो के आश्रित होकर ही स्वर के स्वरूप की निष्पत्ति होती है। स्वरो के स्थानो के बारे में यह शका हो सकती है कि क्या वर्णो की अपने मूर्द्धादि स्थानो से उत्पन्न होते हुए, उर कण्ठादि स्थानो से भी उत्पत्ति सभव है? अभिनवगुप्त ने इसे इस रूप में स्पष्ट किया है कि मूर्द्धादि वर्णो की उत्पत्ति स्थान हैं और उरकण्ठादि स्वरो के। मूर्द्धादि स्थानो के प्रयत्न से वर्णो की उत्पत्ति होती है लेकिन उन वर्णो का उच्चारण मन्द्र, मध्य, तार ध्वनियो में भी सम्भव है और ये ध्वनियाँ क्रमश उर, कण्ठ और शिर से उत्पन्न होती है। इसलिये मूर्द्धादि में उत्पन्न वर्णो का स्वरो की दृष्टि से त्रिस्थानगत प्रयोग भी किया जा सकता है।

सगीत की दृष्टि से 'स्थान' और 'सप्तक' पर्याय माने जाते हैं लेकिन सप्तक में २२ श्रुतियाँ स्वत ग्राह्य होती हैं। भरत ने 'सप्तक' के बजाय 'स्थान' शब्द का प्रयोग इसीलिये किया है कि सप्तक कहने से कहीं यह अर्थ न समझ लिया जाय कि निश्चित आवाजों में पूरा सप्तकों में पाठ किया जाय।

तीन स्थानो के प्रयोग के लिये भरत ने यह विधान किया है—दूरस्थ के प्रति आह्वान

में शिर से अर्थात् ऊँची ध्वनि में, बहुत दूर न हो तो कण्ठ से यानी न बहुत ऊँची, न बहुत नीची बल्कि मध्यम ध्वनि और 'पार्श्वर्त' यानी बिल्कुल पास हो तो उर से अर्थात् नीची ध्वनि में पाठ करना चाहिये। जब कोई विशेष भाव व्यक्त न करना हो, केवल सामान्य बात कहनी हो तो वाक्य उर से आरम्भ करके कठ मे समाप्त करना चाहिये। यही स्वाभाविक क्रम है। सामान्य रूप से नीची ध्वनि में बोलना शुरू करके उत्साह वृद्धि के साथ-साथ स्वर की तीव्रता में भी वृद्धि हो जाती है और समाप्त करते समय मध्यध्वनि में अन्त किया जाता है। इसलिये शान्त प्रसग या 'आवेशशून्य' अवस्था मे इसी प्रकार पाठ होता है।

वर्ण—'वर्ण' की व्युत्पत्ति करते हुए अभिनवगुप्त कहते है 'विवृण्वते प्रकटयन्ति' अर्थात् पाठक्रिया का विस्तार करते है। भरत के अनुसार 'तपोधन' अर्थात् सूक्ष्मदर्शी लोग उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित इन चार वर्णों के योग से पाठ्य करते हैं।

वर्ण की टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि स्वरो के 'रक्ति' तथा 'अनुरणन' धर्मों का त्याग करके उच्च, नीच, मध्यम और कम्पनयुक्त ध्वनि के स्पर्शमात्र से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्पित वर्णों का प्रयोग करना चाहिये। 'रक्ति' ही प्रधानरूप से 'गान' का लक्षण है इसलिये उसका त्याग 'पाठ्य' के लिये आवश्यक है। पाठ्य और गान का अन्तर 'अपूर्णस्वरता' (७ स्वरो की अपेक्षा कम स्वरो का प्रयोग) और 'पूर्णस्वरता' नही है। अभिनव ने उदाहरण दिये है कि षाडव और औडव रूप में भी गानक्रिया होती है। यहाँ तक कि कुछ भाषाराग चतु स्वर और त्रिस्वर भी कहे हैं।

लोकगीतो, अभिनयगीतो आदि में भी ३-४ स्वरो का ही प्रयोग साधारणत होता है तब क्या वे पाठ कहे जा सकते है? वैदिक मत्रो का उच्चारण कुछ स्वरो में ही होता है लेकिन रक्ति नही होती इसलिये वह 'मन्त्रपाठ' कहलाता है। लेकिन उन्ही मत्रों का 'रक्ति' से युक्त सप्तकरूप स्वरो में प्रयोग होते ही वही 'सामगान' कहलाता है। इसलिये रक्ति से रहित केवल उच्चनीच ध्वनिसहित प्रयोग ही पाठ्य कहा जाता है।

'वर्ण' के सवध में यह स्पष्ट रूप से समझ लेना जरूरी है कि पाठ्य और गान में भेद स्थापित करने की दृष्टि से ही भरत ने पाठ्य योग में उदात्तदि ४ वर्ण कहे और गान के ४ वर्ण अलग से २९वे अध्याय में कहे है अन्यथा अलग-अलग वर्ण कहने की कोई जरूरत नही थी।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदात्तादि वर्णो के योग के कारण पाठ्य के अन्तर्गत सामान्य बोलचाल और स्वरविशेष को 'अश' या आधार बना कर किया जाने वाला 'पाठ'—इस प्रकार 'गान' के अतिरिक्त मनुष्य के समूचे वाग्व्यवहार का ग्रहण हो जाता है।

वर्णों का रसो में विनियोग भरत ने इस प्रकार करने के लिये कहा है—हास्य-शृंगार में स्वरित-उदात्त, वीर-रौद्र-अद्भुत में उदात्त-कम्पित, करुण-बीभत्स-भयानक में अनुदात्त-स्वरित-कम्पित वर्णों से पाठ करना चाहिये। इस अश की टीका में अभिनव ने किस स्वर को स्थायी बनाकर किस वर्ण का कौन-कोन सी जातियो में विनियोग करना चाहिये यह भी बताया है।

इस सदर्भ में जाति कहने का इतना ही अभिप्राय है कि उन जातियो के अश स्वरो का प्रयोग होना चाहिये ।

काकु—'साकाक्ष' और 'निराकाक्ष' वाक्यो के आधार पर भरत ने द्विविधा काकु कही है—'साकाक्ष काकु' और 'निराकाक्ष काकु' । साकाक्ष वाक्य उसे कहा जो 'अनियुक्तार्थक' है और निराकाक्ष वाक्य वह है जो 'नियुक्तार्थक' है । सामान्य रूप से इसका अर्थ यह किया जा सकता है कि जिस वाक्य का अर्थ निश्चित न हो या जिसमें आकाक्षा बनी रहे यानी बात अधूरी रह जाय वह साकाक्ष वाक्य होता है और जहाँ आकाक्षा समाप्त हो जाती है यानी निश्चित अर्थ का बोध हो जाता है वह निराकाक्ष वाक्य है । साकाक्ष वाक्य मे प्रयुक्त काकु साकाक्ष और निराकाक्ष वाक्य मे प्रयुक्त काकु निराकाक्ष कहलाती है । अभिनवगुप्त ने 'काकु' की टीका मे अनेक मत मतान्तरो का खडन-मडन करते हुए अपना पक्ष स्थापित किया है । यहाँ काकु सम्बन्धी विश्लेषण अभिनवगुप्त के अपने मत के आधार पर ही करने का प्रयत्न किया गया है ।

साकाक्ष काकु वह है जो शब्दो द्वारा वाच्य अर्थ के अतिरिक्त बहुत अधिक अर्थ का बोध कराती है । काकु मुख्य रूप से दो कार्य करती है—१ अर्थबोध और २ चित्तवृत्तिबोध । इनमें से पहली 'अर्थकाकु' और दूसरी 'रसकाकु' है । स्वर, स्थान, वर्ण, अलकार, अग—ये पाँचो गुण वास्तव में काकु को ही उपकृत करते है । काकु इन सबमें व्याप्त है इसलिये वही प्रमुख है । 'अल करोति इति अलकार ' इस व्युत्पत्ति से काकु का पर्याप्त विस्तार करने के कारण ही उच्चदीप्तादि को 'अलकार' कहा जाता है । ये काकु के उपकारक, सम्पादक (निर्माता) और परिपूर्णता लाने वाले हैं । 'विच्छेद' आदि अग भी रस, अर्थ, शोभा और कर्म द्वारा काकु का ही पोषण करते हैं । वाचिकाभिनय में भी काकु ही अर्थ का 'अभिनयन' करती है—'अभि मुख्येन नयतीति अभिनय ' अर्थात् मुख्य रूप से ले जाती है । शेष पाँचो गुण काकु के ही विस्तार हैं, इसीलिये भरत ने अध्याय के अन्त में 'उक्त काकुविधानम्' के द्वारा काकु में ही शेष पांच का भी समावेश कर दिया है ।

चित्तवृत्तिबोधिका रसकाकु वर्णहीन भी हो सकती है । 'सवित्' के 'स्पन्दन' या 'प्राणो' के 'उल्लास' से जो नादात्मिका वाणी उत्पन्न होती है उसमें सदा सार्थक वर्णो का प्रयोग नही होता, इसलिये उसके द्वारा चित्त के हर्षशोकादि भावो का ही बोध होगा । पशुपक्षियो की विशिष्ट ध्वनियो से भी उनकी भय, शोकादि चित्तवृत्ति का बोध तो हो सकता है लेकिन नाद के बल से उनका अनुमान ही किया जाता है, वर्णो का प्रयोग न होने से सीधे वाच्य नही होता । इसलिये नादात्मक ध्वनि मे 'व्यभिचार' नही हो सकता, एक प्रकार का नाद सदा एक ही भाव का बोध करा सकता है । 'झटिति' निकलने वाली यह ध्वनि मुखराग, पुलकादि सात्त्विक भावो के समान है जो स्वयं उद्भूत होते है और भावो का बोध करा के तुरन्त विलीन हो जाते है । लेकिन वर्णात्मक ध्वनि में काकु का प्रयोग होने पर वाच्यार्थ से भिन्न व्यग्यार्थ भी निकल सकता है जो वाच्यार्थ से विपरीत भी हो सकता है ।

रसकाकु को चित्तवृत्तिबोधिका और अर्थकाकु को अर्थबोधिका कहने से यह स्पष्ट हो सकती है कि नेपथ्य-पाठ या दूरस्थ के प्रति भाषण में उपर्युक्त दोनों व्यापारो को छोड़कर

दूरश्रव्यता ही प्रयोजन होता है, तव वहाँ कौन सी काकु मानी जाय ? इस शका का समाधान अभिनवगुप्त के अनुसार यह है कि सामान्य व्यवहार में तो केवल दूरश्रव्यता प्रयोजन हो सकता है लेकिन नाट्य मे किसी परिस्थिति को सार्थक बनाना या व्यक्तिविशेप की चित्तवृत्ति पर प्रकाश डालना ही नेपथ्यपाठ या पुस्तकपाठ के अभिनय का प्रयोजन होने के कारण वहाँ भी अर्थवोध या चित्तवृत्ति वोध तो होता ही है। इसलिये श्रव्यता रूपी प्रयोजन के आधार पर तीसरी काकु मानने की जरुरत नही है । लेकिन किसी विशेप परिस्थिति मे 'स्वरकाकु' मान सकते है । जैसे—कुछ दूरी पर कुछ व्यक्ति झगड रहे हो तो शब्द स्पष्ट सुनाई न देने पर भी आवाज़ से ही समझ में आ जाता है कि झगडा हो रहा है ।

भरत ने सिर्फ़ 'साकाक्ष' और 'निराकाक्ष' काकु ही कही है, अर्थकाकु, रसकाकु या स्वरकाकु नही, फिर भी पाठ्य के जिस उच्चारणभेदरूप धर्म को उसने काकु कहा है उसका कारण स्वरभेद है, इसलिए उसे 'स्वरकाकु' सज्ञा दी जा सकती है । स्वरो के विनियोग द्वारा पाठ्य और उर, शिर तथा कठ से उत्पन्न स्वरो में सामान्य वोलचाल—भरत के वचनो से 'स्वरकाकु' के ये दो रूप समझ में आते है ।

भरत के अनुसार प्रश्नसूचक वाक्य को नीची ध्वनि में शुरू करके उसका अन्त सबसे ऊँची ध्वनि में करना चाहिए । उसी वाक्य का ध्वनिकम उल्टा करने से सामान्य वाक्य हो जाता है । यही साकाक्ष और निराकाक्ष काकु है। जैसे—'काम हो गया ? काम हो गया' । इन दो वाक्यो में से पहले में 'गया' के अन्त में स्वर सबसे ऊँचा रहेगा । दूसरा वाक्य स्वीकृति-सूचक है क्योकि 'गया' में 'काम' की अपेक्षा ध्वनि क्रमश नीची होती जायगी।

काकु शब्द की व्युत्पत्ति 'कक लौल्ये' धातु से है जिसका अर्थ है चंचलता । लेकिन सदर्भ के अनुसार लौल्य का अर्थ है स्वरवैचित्र्य । जिस वाच्यभूमि में यह वैचित्र्य ईपत् रूप से दिखे वह 'काकु' कहलाती है । 'कक' का अर्थ जिह्वा भी होता है । जिह्वा अर्थात् वाणी व्यापार से काकु कहा जा सकता है ।

अलकार—'अल पर्याप्त काको स्वरूप येन सम्पाद्यते सोऽलङ्कार'—अभिनवगुप्त ने 'अलकार' की यह व्युत्पत्ति दी है । इसका अर्थ यह है कि काकु का स्वरूप जिसके द्वारा पर्याप्त रूप से सम्पन्न हो वह अलकार है । ध्वनि के तीनों स्थान यानी मन्द्र, मध्य और तार में से हरेक में ध्वनि के फिर से नीच, मध्य, उच्च यानी अनुदात्त, स्वरित और उदात्त भेद हो सकते हैं । इन गुणो के कारण ही काकु स्फुट होती है । भरत ने छ अलकार बताए हैं—उच्च, दीप्त मन्द्र, नीच, द्रुत तथा विलम्बित । इनमे दो दो के तीन जोडे हैं—उच्च-दीप्त, मन्द्र-नीच, द्रुत-विलबित । शुरू के दो जोडे मुख्य रूप से स्थानो से और तीसरा जोडा लय से सबध रखता है ।

'उच्च' शिर के अधोभाग मे रहता है । दूरस्थ के प्रति भापण में, विस्मय, उत्तरोत्तर सजल्प (एक दूसरे से वढ वढ कर वाते), परोक्ष व्यक्ति को बुलाने और त्रास देने में इसका प्रयोग होता है । तीन विभिन्न प्रकार के कार्य करने के कारण अभिनवगुप्त ने इसके ३ भेद किये—दूरस्थ के प्रति भापण प्रयोजन होने से 'स्वरकाकु', विस्मयादि अपने हृद्गत भावो को

प्रकट करने में प्रयुक्त होने वाली 'रसकाकु' और त्रासादि देने में यानी अन्य व्यक्ति में भाव उत्पन्न करने में कारणस्वरूप 'विभावकाकु'।

'दीप्त' शिर के ऊर्ध्वभाग में स्थित होता है। इसका प्रयोग आक्षेप, कलह, विवाद, अमर्प, धृष्टता, क्रोध, शौर्य, दर्प, ललकार, भर्त्सना, क्रन्दन मे होता है। स्वरकाकु ही शिर के तारतर भेद से 'श्रुतिकाकु' कहलाती है। 'तार' शब्द का अर्थ ही प्रकर्ष है। दीप्त मे उच्च की अपेक्षा स्वर का प्रकर्ष होता ही है।

'मन्द्र' हृदय के ऊर्ध्वभाग में और 'नीच' हृदय के अधोभाग में रहते हैं। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, दैन्य, व्याधि, शस्त्रक्षत, मूर्छा, मद, गुप्तकथन में 'मन्द्र' और स्वाभाविक भाषण, व्याधि, शम, श्रम से उत्पन्न थकान, त्रस्त होने, गिरने, मूर्छा में 'नीच' प्रकट होता है। इनमे भी 'स्वचित्तवृत्ति अर्पण' होने पर अर्थात् अपने भावो का बोध कराने में रसकाकु और 'परस्य रूपोत्पादन' मे यानी दूसरे व्यक्ति में भाव उत्पन्न कराने मे अभिनवगुप्त ने 'विभावकाकु' कही है। प्रयोजन-भेद से अलकारो का मिश्रण भी हो सकता है।

'द्रुत' और 'विलवित' मुख्य रूप से लय मे सबधित अलंकार हैं, यह पहले कहा जा चुका है। भरत ने कहा है कि ये कण्ठ के ऊर्ध्वभाग से सम्पन्न होगे जिसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। त्वरितगति से युक्त 'द्रुत' और धीमी गति से युक्त 'विलवित' अलकार होता है। विलास, वुदवुदाना, भय, शीत, ज्वर, त्रासित, वेदनादि में 'द्रुत' का और शृंगार करुण, वितर्कित विचार अमर्प, असूया, अव्यक्तार्थ, प्रमाद, लज्जा, चिन्ता, तर्जन, दोपवर्णन, दीर्घरोग में 'विलवित' काकु होती है।

विभिन्न भावो की अभिव्यक्ति मे अनेक अलकारो का एक साथ प्रयोग होता है। दूर स्थित व्यक्ति से बात करने, ललकारने, डराने-धमकाने आदि मे ध्वनि स्वाभाविकत तार से तारतर होती जाती है और गति भी द्रुत हो जाती है। इसलिये इन प्रसगो में उच्च, दीप्त, द्रुत अलंकारो से युक्त काकु का प्रयोग करना चाहिए। व्याधि, शोक, भयभीत, शस्त्र से क्षत होने, गूढ बात कहने, चिन्ता आदि में स्वर नीचा हो जाता है, इसलिए मन्द्र, नीच अलकार-प्रयोग का विधान है। इन प्रसगो में गति भी धीमी हो जाती है। इसी प्रकार अन्य परिस्थितियो में भी एक से ज्यादा अलकारो का एक साथ प्रयोग होता है।

लघु अक्षरो से युक्त पाठ्य में उच्चदीप्त और गुरु अक्षर युक्त पाठ्य जो सौम्य अर्थ और सुखकर भावो से पूर्ण हो उसमें मन्द्र-विलवित प्रयोग होना है। जिनमें तीक्ष्ण, रूक्ष अक्षरो का ज्यादा सयोग हो उनमें भी दीप्त का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार भरत ने अक्षरों की योजना के साथ भी अलकार-विनियोग बताया है।

हास्य, शृंगार, करुण में विलम्बिता, वीर, रौद्र, अद्भुत में दीप्ता और बीभत्स, भयानक मे द्रुता, नीचा काकु का प्रयोग करना चाहिये। इस रूप में नाना भावो और रसों के उपयुक्त काकु-प्रयोग का भी भरत ने विधान किया है।

अग—अग ६ है—विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन, प्रशमन। उच्चारण के बीच में विराम के कारण होने वाला अग 'विच्छेद' है। लयान्वित होने हुए मधुर स्वर से गुरु नाद से रंगस्थल को भरते हुए पाठ होने पर 'अर्पण' होता है। वाक्य समाप्ति पर होने वाला

न्यास 'विसर्ग' है। पदो के बीच मे जहाँ विच्छेद न हो यानी उच्छ्वास न हो वहाँ 'अनुबन्ध' होता है। तीनो स्थानो में शोभित होने वाला स्वर का क्रमश चढते जाना 'दीपन' और तार में पहुँचे हुए स्वरो का वैस्वर्य के बिना क्रमश नीचे उतरना 'प्रशमन' होता है।

अभिनव गुप्त ने विच्छेद-अनुबन्ध, अर्पण-विसर्ग और दीपन-प्रशमन यो तीन द्विक बनाये है। द्विको के अग विपरीतार्थक है। विच्छेद-अनुबन्ध मे ध्वनि का 'त्रुटितत्व-अत्रुटितत्व' या 'अभाव-भाव' होता है। विच्छेद में ध्वनि न रहने से त्रुटितत्व या अभाव होता है। भरत के अनुसार 'विसर्ग' का अर्थ वाक्य के अन्त में होने वाला विराम है, लेकिन अभिनवगुप्त ने विसर्ग को अर्पण का विपरीतार्थक बताया है। 'अर्पण' में नाद की पुष्टता यानी भरापन रहता है, इसलिये विसर्ग में अपुष्टता यानी भराव का अभाव होना चाहिये। विसर्ग के भरतोक्त लक्षण 'वाक्यन्यास' का अर्थ अभिनवगुप्त ने वाक्योच्चारण के समय नाद का त्याग अथवा क्षीणता किया है। लेकिन किसी विशेष चित्तवृत्ति में तो यह हो सकता है, सदा नही। अभिनवगुप्त ने इनका सम्बन्ध नाद के पीवरत्व-अपीवरत्व से भी जोडा है, इसलिये सामान्य अर्थ यह निकाला जा सकता है कि अर्पण में नाद पुष्ट या भरा हुआ और उत्तरोत्तर बढती हुई तीव्रता से युक्त तथा विसर्ग में इसके विपरीत अपुष्ट, विना भरा और क्रमश क्षीण होता हुआ रहता है। क्रमश दीप्त होता हुआ यानी तारस्थान की ओर चढता हुआ 'दीपन' और क्रमश. शमित होता हुआ यानी तार से मन्द्र की ओर उतरता हुआ 'प्रशमन' होता है।

इस प्रकार दीपन-प्रशमन में नाद की 'तारता' (पिच), अर्पण-विसर्ग में 'तीव्रता' (इन्टैन्सिटी) और विच्छेद-अनुबन्ध में 'काल' (ड्यूरेशन)—नाद के तीन गुणो का समावेश किया जा सकता है। नाद की चौथी विशेषता 'विशेष गुण' (टिम्बर) का यहाँ अभाव है क्योकि नाटच प्रयोग के लिये विशिष्ट प्रकार की कठ ध्वनि वाले नर का चुनाव तो किया ही जाता है, इसलिये चुन लिये जाने पर 'कठगुण' का नही बल्कि कठ में भावानुकूल परिवर्तन का ही महत्त्व हो सकता है। इसी को काकु कहा गया है। 'विशेष गुण' का सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियो या वाद्यो के उस गुण से है जिसके कारण एक व्यक्ति को ध्वनि अन्य व्यक्ति से अथवा एक वाद्य की दूसरे वाद्य से अलग पहचानी जाती है।

पाठ्य में हास्य-शृगार को अभिव्यक्ति के लिये अर्पण, विच्छेद, दीपन, प्रशमन का, करुण के लिये दीपन, प्रशमन का, वीर, रौद्र, अद्भुत के लिये विच्छेद, अनुबन्ध, दीपन, प्रशमन का; बीभत्स, भयानक के लिये विसर्ग, विच्छेद का प्रयोग करना चाहिये। अगो का त्रिस्थानगत प्रयोग इस प्रकार है—दूरस्थ के प्रति भाषण मे शिर से उत्पन्न तार स्थान से, कुछ पास स्थित के प्रति कण्ठ से उत्पन्न मध्य स्थान से और विल्कुल पास वाले के प्रति हृदय से उत्थित मन्द्रस्थान से पाठ्य प्रयोग करना चाहिये। मन्द्रतम और तारतम स्थानो का प्रयोग नही होता।

रसो में विभिन्न लयो का विनियोग यो है—हास्यशृगार में मध्य लय, करुण मे विलम्बित और वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स, भयानक में द्रुत। विच्छेद में विराम के काल का निर्णय लय के आधार पर ही होता है, इसीलिये लय-विधान भी किया गया है।

भरत ने अग में विराम का आधार अर्थसमाप्ति बताया गया है, छन्द नही क्योकि

अर्थसमाप्ति का बोध कराने के लिये एक, दो, तीन या चार अक्षरो के बाद भी विराम हो सकता है लेकिन छन्द में विराम निश्चित स्थान पर ही होता है। विराम भेद से एक ही वाक्य का अर्थ बदल जाता है। जैसे—नही जाओ। इसमें नही के बाद विराम करने से 'जाओ' अर्थ निकलेगा और विराम के बिना एक साथ उच्चारण से 'मत जाओ'। विराम का गलत स्थान पर प्रयोग होने से अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। इसलिये भरत ने विराम मे विशेष प्रयत्न करने के लिये कहा है।

आंगिक-वाचिक अभिनय में भी विराम का अत्यन्त महत्त्व है। बात शुरू होने पर दृष्टि उठती और समाप्ति के साथ नीचे गिरती है। बात के आरम्भ और समाप्ति के साथ हाथ भी उठते व गिरते है। वीर रौद्र रस मे हाथ मारने के लिये आकुल होते है और बीभत्स में घृणा के कारण सिकुड जाते है। करुण में स्तब्ध होने पर और भयभीत होने पर हाथ निचेष्ट होकर खुल जाते हैं। इस प्रकार भरत के अनुसार अर्थ-निश्चय हाथो के अभिनय, अलकार और विराम से होता है।

विराम का प्रयोग अर्थ-समाप्ति, पद-समाप्ति या 'प्राण' के अनुरोध मे होता है। 'प्राण' का अर्थ सामान्यत 'साँस टूटना' लिया जा सकता है। अभिनवगुप्त ने इसके लिये कहा है—'प्राणा रसभावाद्या, तदौचित्येन छेद' अर्थात् रसभाव नाटय प्रयोग के प्राणरूप है। रस-भाव के औचित्य के अनुसार होने वाले 'छेद' या विराम को 'प्राणवश' कहा जा सकता है।

अर्थबोध में अक्षरो के कर्षण का विशेष महत्त्व है। 'कर्षण' का अर्थ है दीर्घ उच्चार। इसका सम्बन्ध लय से है। अक्षरो का कर्षण होने पर लय स्वाभाविक रूप मे विलंबित हो जाती है। पाठ्य में अक्षरो को अधिक से अधिक ६ कलाओ तक खीचा जा सकता है ('कला' संगीतशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है जिसका मुख्य अर्थ १० लघु अक्षरो के उच्चारण का काल है।) विराम का प्रयोग इस ढग से होना चाहिये कि छन्द टूटे नही, छन्दो मे मिश्रण का भ्रम न हो और अर्थ-भग न हो।

भरत की काकु का ध्वनि के 'गुण' से सबध नही है। काकु और ध्वनि के 'गुण' का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न सबसे पहले शार्ङ्गदेव के 'संगीत रत्नाकर' में किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रकीर्णकाध्याय में 'छाया' नामक स्थाय के पर्याय के रूप में 'काकु' का प्रयोग हुआ है। काकु के ६ भेद कहे गये है—स्वरकाकु, रागकाकु, अन्य-रागकाकु, देशकाकु, क्षेत्रकाकु और यन्त्रकाकु। इनका सबन्ध संगीत से है। इसलिये यहाँ नामोल्लेख ही पर्याप्त है।[1]

'काव्य प्रकाश' के तृतीय उल्लास में आर्थी व्यजना के निरूपण मे भी काकु के महत्त्व पर कुछ प्रकाश पडता है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित कारिका द्रष्टव्य है।

वक्तृ-बोद्धव्य-काकूना वाक्य-वाच्यान्यसन्निधे ।
प्रस्ताव-देश-कालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥

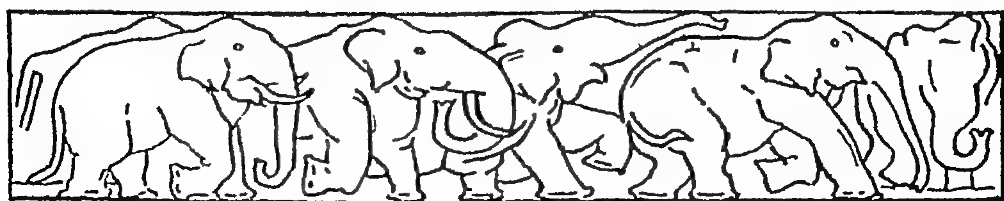
---

१ विशेष विवरण के लिये संगीत रत्नाकर, ३, श्लोक १२०–१२६ देखें। विशेष विवेचनात्मक टिप्पणियों के लिये नैष्ठिका का शीघ्र प्रकाशित होने वाला 'संगीत रत्नाकर' पर हिन्दी टीकादि द्रष्टव्य है।

अर्थात् वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्यादि के वैशिष्ट्य से विदग्ध लोगो को वाच्यार्थ से भिन्न अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला जो अर्थ-व्यापार होता है वह आर्थी व्यञ्जना ही है। काकु का लक्षण मम्मट ने 'ध्वनेर्विकार' दिया है। काकु (स्वर भेद) वाच्यार्थ से भिन्न लेकिन वाच्यार्थ के द्वारा ही व्यञ्जित होने वाले अर्थ का बोध कराती है। अभिनव गुप्त ने अर्थबोधिका अर्थकाकु और भावबोधिका रसकाकु—में जो दो भेद काकु के किये उन दोनो का समावेश काव्य प्रकाश की काकु में हो जाता है क्योकि शब्दो के द्वारा अर्थबोध और उन शब्दो मे रहने वाले स्वर भेद से चित्तवृत्तिबोध—ये दोनो प्रयोजन सिद्ध हो जाते है।

भरत के काकु विधान के विश्लेपण से यह निष्कर्प निकलता है कि काकु के द्वारा बोधित होने वाली वस्तु व्यंग्य ही होती है वाच्य नही। वाच्यार्थ काकु का क्षेत्र नही है। शब्दो के द्वारा वाच्यार्थ मे भिन्न अनुभूत होने वाला अर्थ और स्वरो के आधार पर होने वाला भाव-बोध—दोनो व्यजित होते है। किसी रस या भाव का नाम लेने से उसकी अनुभूति नही होती बल्कि उसके अनुकूल वातावरण का निर्माण करने पर ही होती है क्योकि रस या भाव स्वरो के वाच्य नही होते बल्कि स्वरो के व्यग्य होते है। वहाँ अभिधा, लक्षणा और आर्थी व्यजना पीछे छूट जाती हैं। जब शब्द की सब शक्तियाँ अभीष्ट भाव का बोध कराने मे असमर्थ हो जाती हैं तब काकु अपना कार्य करती है। चढना-उतरना, तीव्र-मन्द होना और विस्तार-संकोच-यही स्वर के धर्म है, यही काकु है, यही सगीत के भावपक्ष का आधार और प्राण है।

काकु सबधी इस सारी चर्चा के आधार पर यह निष्कर्प निकाला जा सकता है कि भरत की काकु का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है जिसमें 'गान' तथा ध्वनि के 'विशेष गुण' को छोड-कर सामान्य बोल-चाल और पाठय से सबद्ध ध्वनि के सब धर्म समाविष्ट है। काव्य-प्रकाश-कार की काकु आर्थी व्यजना के अनेक कारणो मे से एक है जिसमे अभिनवगुप्त की अर्थकाकु और रसकाकु का समावेश है। भरत की काकु नाटय से, मम्मट की काकु काव्य से और शार्ङ्गदेव की काकु मुख्य रूप से गीतवाद्य से सबधित हैं। वास्तव में ये सभी विभिन्न क्षेत्रों मे ध्वनि के उस धर्म को द्योतक हैं जिसके कारण अर्थबोध और भावबोध होता है जो ईश्वर-प्रदत्त वाणी के मनुष्य-कृत विकास को सूचक है।



"प्राचीन भारतीय पुर एवं संस्कृति"

उदय नारायण राय

आज के युग मे हमे ग्राम की तुलना मे नगरो मे अधिक तडक-भडक देखने को मिलती है। जब गाँव का रहने वाला पहली बार नगर में आता है, तो वहाँ की ऊँची अट्टालिकाओ, लम्बे-चौडे राजमार्गो पर तेज रफ्तार से भागती हुई तरह-तरह की सवारियो, नाट्यशाला, सिनेमा-घर, मनमोहक वस्तुओ से सुशोभित दूकानो तथा रात की रोशनी आदि को देख कर वह अपने को एक नई दुनियाँ में पाने लगता है। पुर के लोगो की रहन-सहन, बात-चीत का ढंग, दैनिक चर्या तथा आर्थिक और बौद्धिक जीवन आदि ग्रामवासियो की अपेक्षा पृथक् हुआ करता है। इन सब बातो को देखते हुए हमारे मन में इस कुतूहल का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि क्या प्राचीन काल मे भी ग्राम-जीवन और नगर-जीवन मे इस तरह का कोई भेद होता था या नही ? हमारा प्राचीन साहित्य विश्वास दिलाता है कि यह अन्तर हमारे देश मे कोई आज ही नही, पहले भी माना जाता था। इस सवन्ध में कालिदास के 'शाकुन्तलम्' नामक नाटक में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ में दिखाया गया है कि राजा दुष्यन्त की प्रेयसी हसपदिका उनसे रुष्ट है। वे विदूषक को आदेश देते है कि तुम जाकर उसे जरा 'नागरिक-वृत्ति' से समझा दो।[1] इस समस्त पद से तात्पर्य शहर में रहने वाले लोगो के वार्तालाप की निपुणता एवं व्यवहार-चातुर्य से है।

इसी ग्रन्थ में कण्व ऋषि के आश्रम का वर्णन आता है, जिसमे शार्ङ्गरव और शारद्वत नामक उनके दो प्रिय शिष्य रहते थे। आचार्य की आज्ञा के अनुसार वे शकुन्तला को ले कर राजा दुष्यन्त की राजधानी हस्तिनापुर में उसे सौपने को पहुँचे। उसका दुष्यन्त के साथ गान्धर्व-विवाह कण्व के आश्रम में पहले ही हो चुका था। शार्ङ्गरव वहाँ पहुँचते ही घबडा कर शारद्वत से अपने मनोभाव प्रकट करने लगा "मित्र ! यह बात तो नही है कि राजा दुष्यन्त बडे ही आचार-विचार वाले है और उनके राज्य का कोई भी व्यक्ति अपने धर्म और मर्यादा को नही छोडता, पर सूनी जगह पर रहने के कारण यहाँ का जनरव मुझे काटने दौड रहा है। मेरी तो दशा वैसी ही हो गई है, जिस तरह तेज आग की भयकर लपटो से खाक होते हुये घर को देखने पर होती है।"[2] शारद्वत भी उसका समर्थन करता हुआ कहता है—"मेरी भी दशा तुम्हारी ही तरह हो गई है। पुर में आने पर मनुष्य कुछ ऐसी तरह भौंचक्का

---

१ "सखे ! गच्छ, नागरिकवृत्त्या सान्त्वयैनाम्"

शाकुन्तलम्, अङ्क ५

२ "तथापीद शश्वत्परिचित-विविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीत गृहमिव ॥
अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, अङ्क ५,११

मठो में रहते थे जहाँ पर भिक्षु लोग बिना सिले हुए वस्त्रो को प्रयोग में लाते थे। जहाँ तक पुरवासियो का प्रश्न है, ये बारीकी के साथ सिले हुए कपडे पहनते थे। वस्तुस्थिति तो यह है कि सैन्धव सभ्यता-काल से ही हमारे देश में सुई-तागे व्यवहार में लाये जाते थे तथा कपडो की कतरन एव सिलाई एक पुरानी भारतीय परम्परा थी। अधोवस्त्र के रूप में अधिकतर धोती काम में लाई जाती थी, जो सूती और रेशमो दोनो ही हुआ करती थी। लोग कभी-कभी पायजामा भी पहनते थे जिसको 'स्वस्थान'[1] कहा जाता था। लगता है कि भोजपुरी भाषा का 'सुत्थन' शब्द इसी 'स्वस्थान' शब्द का अपभ्र श है। उत्तरीय वस्त्र के रूप मे मिर्जई या कुर्त्ता का प्रयोग होता था। विशेष अवसरो पर लम्बा कोट या घुटनो तक लटकती हुई अचकन पहनी जाती थी। सिर के ऊपर लोग टोपी या पगडी धारण करते थे। पुर-ललनाएँ लहँगा, साडी, चोली तथा किनारेदार चादर प्रयोग में लाती थी।[2]

सिर के बालो को सजाना उस समय के शृङ्गार का एक अभिन्न अग था। अजन्ता और बाघ की चित्रकारियाँ पुर-सुन्दरियो द्वारा बाल सँवारने के ढग पर अच्छा प्रकाश डालती है। स्त्रियाँ अपने बालो को काढ कर एक सुन्दर चोटी गाँछती थी जिसे 'वेणी' कहा जाता था। कभी-कभी वे बालो को समेट कर ललाट पर एक जूडा बाँधती थी जिसे हमारे प्राचीन साहित्य में 'ललाटजूटक'[3] कहा गया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित में लिखा है कि थानेश्वर की वधुएँ अपने केशपाश पर जाली लगाती थी। यह आज की महिलाओ के 'हेयर-नेट' का स्मरण दिलाता है। अधिक सौन्दर्य लाने के लिये वे अपने बालो में यथास्थान सुन्दर फूल भी खोस लेती थी। राजशेखर के अनुसार कान्यकुब्ज की ललनाओ की केशरचना पूरे देश मे आदर्श मानी जाती थी।[4] उनके समय में भारतवर्ष का यह प्रधान नगर था, अतएव वहाँ के नागरिको की वेशभूषा का अनुकरण यदि अन्य स्थानो पर किया जाता हो, तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है। हमारे देश में आज दिन फैशन की रोशनी बम्बई और दिल्ली जैसे महानगरो से आती है।

वात्स्यायन लिखते हैं कि नागरक अपने बालो को भलीभाँति सँवार डाले अपने मुखवास को शुद्ध करने के लिये उसे ताम्बूल-सेवन तो अवश्य ही करना चाहिए (गृहीतमुखवासताम्बूल कार्यान्यनुतिष्ठेत्)। उसे सफेद और चिकने वस्त्रो का प्रयोग करना चाहिए

---

१ लेखक का ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन' (प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी), पृष्ठ ३३१।

२ वही, पृष्ठ ३३१।

३ वही पृष्ठ ३३३।

४ 'यो मार्ग परिधानकर्मणि गिरा वा सूक्तिमुद्राक्रमे।
भगिर्या कवरीचयेपु रचना यद्भूपणालीपु च ॥
दृष्ट सुन्दरि कान्यकुब्जललना लोकेरिहान्यच्च य-
च्चक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्य स्त्रिय ॥'
वालरामायण, १०, ९०

ताकि उसके व्यक्तित्व का उभाड अच्छा से अच्छा सम्भव हो सके। स्नान करते समय वह 'स्नानचूर्ण' का प्रयोग करे।[1] लगता है कि इस शब्द से वात्स्यायन का तात्पर्य किसी तरह के उबटन से है जिसे पुरवासी नहाने के पहले प्रयोग में लाते थे। उनके अनुसार तीसरे या चौथे दिन नागरक को अपनी दाढी अवश्य ही बनवा लेनी चाहिये। उस समय आज जैसा 'सेफ्टी-रेजर' या अपने हाथ से दाढी बनाने का कोई साधन न था। इस काम के लिये नाई का सहारा लेना आवश्यक था, जिसका प्रतिदिन मिलना असभव था। नही तो, यदि वात्स्यायन आज के युग में होते, तो वे लिखते कि प्रतिदिन दाढी बनाना नितान्त आवश्यक है।

पुरवासी उस समय भी सुगन्धित तेल और इत्र आदि का व्यवहार करते थे। भारतीय नगरो में उनका उत्पादन अधिकता मे होता था और विदेशो मे उनकी तगडी मांग थी। रोम का प्लिनी नामक नागरिक अपने देश-वासियो को धिक्कारते हुए लिखता है कि वे राष्ट्र की अतुल धनराशि भोगविलास की वस्तुओं के पीछे भारतवर्ष भेज देते थे। आधुनिक केवडा-जल की भांति फूलो के निचोड से सुरभित जल तैयार किया जाता था, जिसे लोग छोटी पिचकारियो की सहायता से अपने वस्त्र पर भली-भांति छिडक लेते थे। चन्दन को घिस कर अनुलेप तैयार किया जाता था, जो वडा ही लोकप्रिय था। इसीलिए प्राचीन साहित्य में 'चन्दनानुलेप'[2] का प्रचुर उल्लेख मिलता है। गर्मी के दिनो में पुर-सुन्दरियाँ इससे अपने अवयवो को चर्चित करती थी (काचित्, पिपेषान्तर्विलेपनम्)। सुवास के लिए आज लोग अगरवत्ती को व्यवहार में लाते है। उस समय अमीर लोग अपने बैठक-खाने, शयनगृह तथा पूजाघरो में चन्दनवत्ती या धूपवत्ती जलाते थे। स्त्रियाँ चन्दनवत्ती (कालागरु) के धुएँ से अपने केशपाश को सुवासित कर अपने प्रियतम से मिलने जाती थी (शिरासि कालागरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्य सुरतोत्सवाय)।

उस समय भी अगराग कास्मेटिक का प्रयोग होता था। ये दो तरह के होते थे। एक तो केसरिया रग का होता था, जो काश्मीर से मिलने वाले कुकुम के केसर से तैयार किया जाता था। इसे प्राचीन साहित्य मे 'कुकुराग'[3] कहा गया है। यह वडा ही खुशबूदार होता था और पयोधर एव नितम्ब भाग पर लगाया जाता था (पयोधर कुकुमरागपिञ्जरै)। दूसरा गाढे लाल रग का होता था, जो लाक्षारस से तैयार किया जाता था। इसे अधरो के ऊपर चढाया जाता था (लाक्षारसरागलोहितै)। इस क्रिया को 'अधर-रजन'[4] कहा जाता था। यह आधुनिक युग के लिपस्टिक का स्मरण दिलाता है। कुमारसभव में कहा गया है कि पार्वती के ओठ लाक्षारस के अगराग की तरह लाल रग के लगने थे।[5] इसे चरणो पर भी चढाया जाता था, जो कि महावर का स्मरण दिलाता है। लाक्षारस का अगराग 'अलक्तराग'

---

१ देखिए मेरा ग्रथ 'प्राचीन भारत मे नगर तथा नगर-जीवन', पृष्ठ ३३४।

२. देखिए मेरा ग्रन्थ 'प्राचीन भारत मे नगर तथा नगर-जीवन', पृ० ३३५

३. ऋतुसहार पृ० ६, ५

४. नाट्यशास्त्र २३, ३०

५ ऋतुसहार, १, ५

हो जाता है। मैं भी सासारिक सुख और वासनाओ में चिपटे हुये नागरिको को उसी तरह देखता हूँ, जिस तरह स्नान किया हुआ व्यक्ति तेल से सने गन्दे आदमी को, जागता सोते को, स्वतत्र पराधीन को या पवित्र नर पापी को देखता है।"[१] इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि नगर-जीवन और ग्राम-जीवन तथा इसी तरह नगर-जीवन और अरण्य-जीवन में भेद था।

कालिदास-प्रणीत मालविकाग्निमित्रम् में ग्राम-नगर-भेद के विषय में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इसके पहले अक में गणदास और हरदत्त नाम के दो आचार्यों का वर्णन मिलता है जो कि संगीत के मर्मज्ञ थे। पर, दोनो एक दूसरे से जलते और नीचा दिखाने की ताक मे रहते थे। एक दिन वे एक दूसरे को हराने की ठान कर राज-दरवार में पहुँचे और महाराज से निवेदन किये कि श्रीमन्, ! हम लोगो के कला-ज्ञान की परीक्षा अपने सामने ले कर सदा के लिये निपटारा कर दें कि हम में कौन विषय का अधिक मर्मज्ञ है? उस समय दरवार में सयोग-वश महारानी और उनके साथ परिव्राजिका कौशिकी भी उपस्थित थी। महाराज देवी कोशिकी से वडे ही शिष्टाचार के साथ कहते हैं कि इन दीनो कलाकारो की ज्ञान परीक्षा अगर आप ही कर देती तो अच्छा रहता। इस पर परिव्राजिका अचम्भित हो, कहती है—"महाराज ! आप भी क्या मजाक करते हैं। नगर के रहते रत्न की परख कही गाँव में होती है" ?[२] राजशेखर-प्रणीत कर्पूरमञ्जरी में विदूषक (कुरङ्गक नामक) कहता है कि कस्तूरिका का विक्रम कही ग्राम में सम्भव हो सकता है? (कत्थूरिआकुग्गामें-विवि-कणि-आदि)। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि नगर में गुण की परख रखने वाले व्यक्तियो एव कला-कारो का वाहुल्य था। इस कथन की तुलना हम विहारीलाल के निम्नलिखित दोहो से कर सकते हैं—

वे न इहाँ नागर वडे जिन आदर तो आव।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ गँवई गाँव गुलाव ॥
कर लै सूँघि सराहि कै सवै रहे गहि मौन।
गन्धी गन्ध गुलाव की गँवई गाहक कौन ॥

अजी ! गाँव में गुलाव का फूलना न फूलना एक सा ही है। भला, वहाँ वे कदरदाँ जौहरी (नागर) कहाँ हैं, जो उसकी कीमत को समझे। अरे इत्रफरोश ! तेरी अक्ल कही मारी गई है, क्या रे ? तू इस वात को समझता क्यो नही कि तेरे गुलाव के गाहक भला कही गाँव (गँवई) मे मिल सकेंगे ? मालविकाग्निमित्रम् एव कर्पूरमञ्जरी के प्रमाणो से स्पष्ट है कि जो विद्वान् यह कहते हैं कि प्राचीन भारत में नगर नही थे, वे भ्रम में है। ग्राम और नगर में जो अन्तर आज माना जाता है वह पहले भी माना जाता था।

भास-कृत स्वप्नवासवदत्तम् में वर्णन मिलता है कि जव राजा का दल-वल सूने जगल मे ऋषि के आश्रम में प्रवेश करता है तो वहाँ खलवली मच जाती है। राजा का एक मुँहलगा

---

१ अभ्यक्तमिव स्नात शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
वद्धमिव स्वैरगतजनमिव सुखसगिनमवैमि ॥" वही, अक ५,१२

२ अलमुपालम्भेन ! पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा'
मालविकाग्निमित्रम्, अंक १

कर्मचारी, जो सुलझा हुआ भी था, दूसरे कर्मचारियों को फटकार लगाता हुआ कहता है—"हे ! आप इस बात को समझते क्यो नही कि यह तपोवन है ? यहाँ किसी प्रकार की भगदड मचाने की आवश्यकता नही है क्योकि इससे राजा की बदनामी होगी । आश्रम में रहने वालो के साथ मीठे वचन बोलना चाहिए और अच्छा व्यवहार दिखाना चाहिये । वे नगर के अपमान से बचने के लिये ही तो आ कर वन में रहते है।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि नगर लौकिक साधनाओ के लिये था और जगल धर्म-साधना के लिये ।[1] पारमार्थिक बौधायन ने कहा है कि पुर मे रहने वाले मनुष्य का नेत्र, वदन एव शरीर कुण्ठित हो जाता है तथा फलस्वरूप सिद्धि-प्राप्ति के लिये वह अयोग्य हो जाता है ।[2] हर्ष-कृत रत्नावली नाटिका मे विक्रमबाहु का अमात्य वत्सभूमि उदयन की राजधानी कौशाम्बी मेरा जदरबार की चहल-पहल को देख कर स्तब्ध हो कहने लगता है —अजी ! कही हयसारो में बँधे कुञ्जर मेरी दृष्टि को लुभा रहे है तो कही मन्दुरा में बँधे हुये तुरग ! कभी सगीत-ध्वनि से मैं आकृष्ट हो रहा हूँ तो कही दरबार में लगी गोष्ठियो के द्वारा । राजमहल के बाहरी दृश्य को ही देख कर सिंहलेन्द्र का ऐश्वर्य मुझे विस्मृत हो जाता है । प्रवेश-द्वार पर ही खडे मेरे कुतूहल को लख कर द्वारपाल मुझे गँवार के रूप में ग्रहण कर रहा है ।—

'आक्षिप्तो जयकुञ्जरेण तुरगान्निर्वर्णयन्वल्लभा-
न्सगीतध्वनिनाहृत क्षितिभृत गोष्ठीषु तिष्ठत्क्षणम् ।
सद्यो विस्मृतसिंहलेन्द्रविभव कक्ष्याप्रदेशेऽप्यहो
द्वा स्थेनैव कुतूहलेन महता ग्राम्यो यथाऽह कृत ॥

हुयेनसाग लिखता है कि कान्यकुब्ज तथा अन्य नगरो मे रहने वाले भारतीय नागरिको की चाल ढाल अनुकरणीय थी । वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित 'नागरक' शहर की सभ्यता में पले हुए कला-प्रेमी शौकीन भारतीय नागरिक का प्रतिनिधित्व करता है । उन्होंने 'नागरक' की जिस दिनचर्या का उल्लेख किया है, उसमें प्राचीन पुर-समाज के सास्कृतिक जीवन का हमें एक सुन्दर प्रतिबिम्ब मिलता है ।

प्राचीन समय में नागरिको की वेशभूषा किस तरह की होती थी यह तो स्वय एक बडा विषय हो जाता है जिस पर स्वतत्र ग्रन्थ का निर्माण किया जा सकता है । यहाँ सक्षेप में इतना कह देना आवश्यक है कि चीनी यात्रियो का यह कथन कि भारतवर्ष में दर्जीगीरी होती ही नही थी, पूर्णतया निराधार है । उनका यह वक्तव्य नगर में रहने वालों की वेश-भूषा से नही, अपितु बौद्ध श्रमणो के पहनावे से सम्बन्धित है । चीनी यात्री यहाँ अधिकतर

---

१ 'परिहरतु भवान् नृपापवाद न परुषमाश्रमवासिषु प्रयोज्यम् ।
नगरपरिभवान्विमोक्तुमेते वनमभिगम्य मनस्विनो वसन्ति ॥"
स्वप्नवासवदत्तम् अक १

२ 'पुररेणुकुण्ठितशरीरस्तत्परिपूर्णनेत्रवदनश्च । नगरे वसन्
सिद्धिमवाप्स्यतीति न तदस्ति ।' बौधायन धर्मसूत्र, २,३,५३ ।

३. देखिये, मेरा ग्रन्थ 'स्टडीज इन एन्शेंट इंडियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर' अप्रकाशित ।

मठो में रहते थे जहां पर भिक्षु लोग विना सिले हुए वस्त्रो को प्रयोग में लाते थे। जहां तक पुरवासियो का प्रश्न है, वे वारीकी के साथ सिले हुए कपडे पहनते थे। वस्तुस्थिति तो यह है कि सैन्धव सम्यता-काल से ही हमारे देश में सुई-तागे व्यवहार मे लाये जाते थे तथा कपडो की कतरन एव सिलाई एक पुरानी भारतीय परम्परा थी। अधोवस्त्र के रूप मे अधिकतर धोती काम में लाई जाती थी, जो सूती और रेशमी दोनो ही हुआ करती थी। लोग कभी-कभी पायजामा भी पहनते थे जिसको 'स्वस्थान'[1] कहा जाता था। लगता है कि भोजपुरी भापा का 'सुत्थन' शव्द इसी 'स्वस्थान' शव्द का अपभ्र श है। उत्तरीय वस्त्र के रूप में मिर्जई या कुर्त्ता का प्रयोग होता था। विशेप अवसरो पर लम्वा कोट या घुटनो तक लटकती हुई अचकन पहनी जाती थी। सिर के ऊपर लोग टोपी या पगडी धारण करते थे। पुर-ललनाएँ लहँगा, साडी, चोली तथा किनारेदार चादर प्रयोग में लाती थी।[2]

सिर के वालो को सजाना उस समय के शृङ्गार का एक अभिन्न अग था। अजन्ता और वाघ की चित्रकारियाँ पुर-सुन्दरियो द्वारा वाल सँवारने के ढग पर अच्छा प्रकाश डालती है। स्त्रियाँ अपने वालो को काढ कर एक सुन्दर चोटी गाँछती थी जिसे 'वेणी' कहा जाता था। कभी-कभी वे वालो को समेट कर ललाट पर एक जूडा वाँधती थी जिसे हमारे प्राचीन साहित्य में 'ललाटजूटक'[3] कहा गया है। वाणभट्ट ने हर्पचरित मे लिखा है कि थानेश्वर की वधुएँ अपने केशपाश पर जाली लगाती थी। यह आज की महिलाओ के 'हेयर-नेट' का स्मरण दिलाता है। अधिक सौन्दर्य लाने के लिये वे अपने वालो में यथास्थान सुन्दर फूल भी खोस लेती थी। राजशेखर के अनुसार कान्यकुब्ज की ललनाओ की केशरचना पूरे देश में आदर्श मानी जाती थी।[4] उनके समय में भारतवर्प का यह प्रधान नगर था, अतएव वहाँ के नागरिको की वेशभूपा का अनुकरण यदि अन्य स्थानो पर किया जाता हो, तो यह कोई आश्चर्य की वात नही है। हमारे देश में आज दिन फैशन की रोशनी वम्वई और दिल्ली जैसे महानगरो से आती है।

वात्स्यायन लिखते हैं कि नागरक अपने वालो को भलीभाँति सँवार डाले अपने मुखवास को शुद्ध करने के लिये उसे ताम्वूल-सेवन तो अवश्य ही करना चाहिए (गृहीतमुखवासताम्वूल कार्यान्यनुतिष्ठेत्)। उसे सफेद और चिकने वस्त्रो का प्रयोग करना चाहिए

---

१ लेखक का ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन' (प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी), पृष्ठ ३३१।

२ वही, पृष्ठ ३३१।

३ वही पृष्ठ ३३३।

४ 'यो मार्ग परिधानकर्मणि गिरा वा सूक्तिमुद्राक्रमे।
भगिर्या कवरीचयेपु रचना यद्भूपणालीपु च ॥
दृष्ट सुन्दरि कान्यकुब्जललना लोकेरिहान्यच्च य-
च्चक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्य स्त्रिय ॥'

वालरामायण, १०, ९०

ताकि उसके व्यक्तित्व का उभाड अच्छा से अच्छा सम्भव हो सके। स्नान करते समय वह 'स्नानचूर्ण' का प्रयोग करे।[1] लगता है कि इस शब्द से वात्स्यायन का तात्पर्य किसी तरह के उवटन से है जिसे पुरवासी नहाने के पहले प्रयोग में लाते थे। उनके अनुसार तीसरे या चौथे दिन नागरक को अपनी दाढी अवश्य ही बनवा लेनी चाहिये। उस समय आज जैसा 'सेफ्टी-रेजर' या अपने हाथ से दाढी बनाने का कोई साधन न था। इस काम के लिये नाई का सहारा लेना आवश्यक था, जिसका प्रतिदिन मिलना असम्भव था। नही तो, यदि वात्स्यायन आज के युग में होते, तो वे लिखते कि प्रतिदिन दाढी बनाना नितान्त आवश्यक है।

पुरवासी उस समय भी सुगन्धित तेल और इत्र आदि का व्यवहार करते थे। भारतीय नगरो में उनका उत्पादन अधिकता मे होता था तौर विदेशो में उनकी तगडी मांग थी। रोम का प्लिनी नामक नागरिक अपने देश-वासियो को धिक्कारते हुए लिखता है कि वे राष्ट्र की अतुल धनराशि भोगविलास की वस्तुओ के पीछे भारतवर्ष भेज देते थे। आधुनिक केवडा-जल की भाँति फूलो के निचोड से सुरभित जल तैयार किया जाता था, जिसे लोग छोटी पिचकारियो की सहायता से अपने वस्त्र पर भली-भाँति छिडक लेते थे। चन्दन को घिस कर अनुलेप तैयार किया जाता था, जो वडा ही लोकप्रिय था। इसीलिए प्राचीन साहित्य में 'चन्दनानुलेप'[2] का प्रचुर उल्लेख मिलता है। गर्मी के दिनो में पुर-सुन्दरियाँ इससे अपने अवयवो को चर्चित करती थी (काचित्, पिपेपान्तर्विलेपनम्)। सुवास के लिए आज लोग अगरवत्ती को व्यवहार में लाते है। उस समय अमीर लोग अपने बैठक-खाने, शयनगृह तथा पूजाघरो में चन्दनवत्ती या धूपवत्ती जलाते थे। स्त्रियाँ चन्दनवत्ती (कालागरु) के धुएँ से अपने केशपाश को सुवासित कर अपने प्रियतम से मिलने जाती थी (शिरासि कालागरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्य सुरतोत्सवाय)।

उस समय भी अगराग कास्मेटिक का प्रयोग होता था। ये दो तरह के होते थे। एक तो केसरिया रग का होता था, जो कास्मीर से मिलने वाले कुकुम के केसर से तैयार किया जाता था। इसे प्राचीन साहित्य मे 'कुकुराग'[3] कहा गया है। यह वडा ही खुशबूदार होता था और पयोधर एव नितम्व भाग पर लगाया जाता था (पयोधर कुकुमरागपिञ्जरै)। दूसरा गाढे लाल रग का होता था, जो लाक्षारस से तैयार किया जाता था। इसे अधरो के ऊपर चढाया जाता था (लाक्षारसरागलोहितै)। इस क्रिया को 'अधर-रजन'[4] कहा जाता था। यह आधुनिक युग के लिपस्टिक का स्मरण दिलाता है। कुमारसम्भव में कहा गया है कि पार्वती के ओठ लाक्षारस के अगराग की तरह लाल रग के लगते थे।[5] इसे चरणों पर भी चढाया जाता था, जो कि महावर का स्मरण दिलाता है। लाक्षारस का अगराग 'अलक्तराग'

१ देखिए मेरा ग्रथ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन', पृष्ठ ३३४।
२. देखिए मेरा ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन', पृ० ३३५
३ ऋतुसहार पृ० ६, ५
४. नाट्यशास्त्र २३, ३०
५ ऋतुसहार, १, ५

भी कहलाता था (अलक्तपाटलेन)। इसी अलक्तक शब्द से आल्ता शब्द निकला। आधुनिक काल में स्त्रियाँ आल्ते से महावर रचती हैं।

उस समय के रईसो की सवारियो में घोडा-गाडी उल्लेखनीय है। यह आकार में आधुनिक पालकी-गाडी या वग्घी के तुल्य थी, जिसमें कभी कभी दो घोडे जुते रहते हैं। उन्नीसवी तथा बीसवी सदी के प्रारंभिक भाग में धनीमानी सेठ-साहूकारो तथा जमीदार-घरानो में इस तरह की घोडागाडियाँ प्रयोग में लाई जाती थी। पटना में इस तरह की घोडा-गाडियाँ अब भी चलती हैं। धनिक नागरिक पालकी पर भी निकलते थे। अमरावती की कला मे कई तरह की हवादार पालकियो का अकन किया गया है। नागरिक मनोविनोद के लिए उद्यान-यात्रा (पिक्निक) किया करते थे। उस समय नगरो में उद्यान लगाने की प्रथा लोकप्रिय थी। मन्दसौर के लेख से ज्ञात होता है कि मालवा के दशपुर नामक नगर की वाटिकाएँ वहाँ की गजगामिनी पुर-वधुओ की चाल से सुशोभित होती रहती थी।[1] मृच्छकटिक में 'पुष्पकरण्डक' नामक पुरवाटिका का उल्लेख मिलता है, जो इलाहाबाद के आधुनिक कम्पनी बाग या खुसरोबाग की भाँति नगर-शोभा का प्राण रहा होगा।[2] इस नाटक में विदूषक इसकी प्रसशा करता हुआ कहता है कि यह उद्यान अपनी शीतलता द्वारा आज नन्दनवन को भी मात कर रहा है (लघुकरोतीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम्)।

रघुवश से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी के नागरिक मनोविनोद के लिए उद्यानयात्रा (पिक्निक) करते थे। इसका सबसे अच्छा वर्णन वात्स्यायन ने किया है। वे लिखते हैं कि नागरिक अच्छे वस्त्र और आभूषणो से सुशोभित (स्वलकृता) हो भली भाँति सजी हुई सवारियो में बैठ कर समीपवर्ती उद्यान में जायँ। वे अपने साथ खाने-पीने का सामान और गाने-बजाने की टोली को भी ले ले। वे अपना पूरा दिन वही पर मधुर वार्तालाप और सामूहिक मनोविनोद में व्यतीत करे और सन्ध्या के समय तक अच्छी तरह दिलबहलाव कर प्रसन्नचित हो घर वापस लौटें।[3] वात्स्यायन के वर्णन से लगता है कि उस समय उद्यान-यात्रा अत्यन्त लोकप्रिय थी। पुरवाटिका प्रेमी-प्रेमिकाओ के मिलन का गुप्त स्थान भी हुआ करता था। बहुधा वहाँ से युवको द्वारा अपनी प्रेयसी युवती को भगा ले जाने की घटनाएँ हो जाया करती थी (कन्यामपहरेदिति विवाहयोगा)।

अमीरों के घर खर्चीली दावते हुआ करती थी जिनमें मास-मदिरा खूब चला करती थी। इन्हें 'आपानक' कहा जाता था। ऐसे अवसरो पर तरह-तरह की मदिराएँ शराब के प्यालो में, जिन्हें 'चषक' कहा जाता था, भर कर पिलायी जाती थी। लगता है कि राजकुल की महिलाएँ भी कभी-कभी मदिरापान करती थी। मालविकाग्निमित्रम् नामक नाटक में अग्निमित्र की प्रधान महिषी इरावती मदिरा में उन्मत्त दिखाई गई है।[4] विवाह के लिए प्रयत्न

---

१ 'अजस्रगामिश्च तुरागनभि· वनानि यस्मिन्समलकृतानि' सरकार, सेलेक्ट इस्क्रिप्शंस, पृ० १९१

२ देखिये, मेरा ग्रंथ, 'हमारे पुराने नगर' (प्रकाशक, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलहाबाद), पृ० ११३।

३ कामसूत्र, पृ० ५३, सूत्र ४०-४१।

४. मालविकाग्निमित्रम्, पृ० ४९।

(कोर्टशिप) भी एक प्राचीन परम्परा थी। इसे 'अनुरजन' कहा जाता था (स्वयमेवानुरजयेत्)। गुणसपन्न युवक एव युवतियो के ऐसे भी उदाहरण मिलते थे जिनका विवाह गरीबी या माँ-बाप के मर जाने के कारण रुक जाता था। अतएव विवाह के हेतु स्वयं प्रयत्न के लिए वे बाध्य हो जाया करते थे। प्राय धनिक कुलो मे भी यह प्रथा प्रचलित थी। वात्स्यायन लिखते हैं जिस युवती पर युवक अनुरक्त हो, उसे वह विविध उपायो द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा करे (तया सह पुष्पावचय ग्रथन दुहितृकाक्रीडायोजनम्) अच्छे वस्त्र एव आभरणो से विभूषित होकर अपनी प्रेयसी के समक्ष जाय क्योकि युवतियाँ प्राय. दर्शनीय व्यक्ति से ही अधिक प्रभावित होती है (युवतयो हि ससृष्टमभीक्ष्णदर्शन च पुरुष प्रथम कामयन्ते)। उसके मन मे अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए वह उसे ऐसी वस्तुओ को भेट में दे, जिसमे उसकी अभिरुचि हो या सुन्दर कथा-कहानियाँ और मधुर गीत आदि द्वारा उसे रीझ लेने की चेष्टा करे। (वर्धमानानुरागो वाख्यानके मन कुर्वतो मन्वर्थाभि कथाभिश्चित्तहारिणीभिश्च रजयेत्)। इसी तरह यदि प्राप्त-यौवना, किसी गुणसपन्न एव दर्शनीय युवक को अपनी चेष्टाओ द्वारा पति चुनने में सफल होती थी, तो वह विवाह सामाजिक दृष्टि से ठीक समझा जाता था। राजकुलो में पतिवरण के इसी सिद्धान्त को लेकर स्वयवर की प्रथा निकली होगी।

नगर-समाज कला और सगीत का प्रेमी सदा से ही रहा है। उस समय के नगरो में ऐसी सस्थाएँ वर्तमान थी, जहाँ पर ललित-कला के विविध विषयो—गाना, बजाना तथा चित्रकारी आदि—की शिक्षा दी जाती थी। मालविकाग्निमित्रम् में एक कलाभवन का उल्लेख मिलता है जिसमें गणदास नामक आचार्य सगीत की शिक्षा देता था। वात्स्यायन ने लिखा है कि प्रत्येक नागरिक के लिए उच्च कला का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में राजकन्या गोपा के साथ कुमार सिद्धार्थ के विवाह का जब प्रश्न छिडता है उस समय उसके पिता इसके लिये अपनी अन्यमनस्कता प्रकट करते हुए आग्रह करते हैं कि हमारी कुलपरपरा के अनुसार अभी तक कन्याओ का विवाह कला में निपुण व्यक्ति के ही साथ होता आया है। कुमार सिद्धार्थ तो कलाज्ञान से सर्वथा रहित है। मैं अपनी कलानिपुणा पुत्री का उनके साथ विवाह, क्यों कर दूँ ?[1] जो बाजे नागरिको में विशेप रूप से लोकप्रिय थे उनमें वीणा, बाँसुरी और मृदग उल्लेखनीय है। भास ने 'चारुदत्त' नामक नाटक में वीणा को समुद्र से निकला हुआ रत्न कहा है।[2] बाँसुरी (वेणु) की प्रशसा करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि वह वाद्य प्रियतमा के मन को मुग्ध करने का एक प्रिय उपाय है।[3] मृच्छकटिक के अनुसार वसन्तसेना की सगीतशाला में भौंरे की मधुर गुन्जार के समान बाँसुरी अत्यन्त मधुरता के साथ बजाई जा रही थी उसमें युवतियाँ जब अपने कोमल करो से मृदग

---

१ 'अस्माक चाय कुलधर्म शिल्पज्ञस्य कन्या दातव्या नाशिल्पज्ञस्येति,
कुमारश्च न शिल्पज्ञस्तत्कथमशिल्पज्ञायाह दुहिता दास्यामि'
ललितविस्तर १२, १४३

२ 'वीणा नाम समुद्रोत्थित रत्नम्' चारुदत्त, अक ३।

३ 'वश यादयतो या शब्द शृणोति सा वश्या भवति' नागसूत्र, पृष्ठ ३७२, सूत्र ८:।

वजाती थी, उस समय वादलो के गर्जन की तरह गम्भीर शब्द निकलता था।[1]

रईसो के घरो में पशुशाला और पक्षिशाला बनी होती थी। लोग अपने मनोविनोद के लिये भेडा, बन्दर और मृग पालते थे (क्रीडनार्थं वा नरा वाञ्छन्ति पक्षिणम्)। उद्यान-यात्रा (पिक्निक) के प्रसग में वात्स्यायन ने लिखा है कि नागरिक पुर-वाटिका में भेडो की लडाई (मेष-युद्ध), तीतर-बटेर की जुझान (लावक-युद्ध) और मुर्गा-लडान (कुक्कुट-युद्ध) आदि द्वारा अपना दिलबहलाव करे।[2] कामसूत्र मे मुर्गा-लडान (कुक्कुट-युद्ध) की गणना चौंसठ कलाओ में की गई है। मृच्छकटिक में उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना की पशुशाला का मनोरम वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार वहाँ हाथी भात, तेल और घी से मिश्रित पिण्ड का भक्षण वडी ही मस्ती के साथ कर रहा था और उसके पास दुष्ट वन्दर, चोर की तरह मजवूती से जकड दिया गया था (पाटच्चर इव दृढबद्धो शाखामृग) कही घोडो के वाल सँवारे जा रहे थे, तो कही भेडो की गर्दन मली जा रही थी (मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य)। उसमें तेल से मली हुई सीग वाले बैल (बलीवर्द) जो बैलगाडी (प्रवहण) में जोते जाते थे, खडे थे। समीप ही अपमानित कुलीन व्यक्ति की तरह भैंस लम्बी साँसें ले रही थी।[3]

उसके घर मे पक्षिशाला, पशुशाला से अलग बनी थी। उसका दृश्य तो और भी अनुपम था। उसमें मोर पख को फडफडा कर उत्साहपूर्वक नाच रहा था। वह अपनी सुन्दर चालो द्वारा मानो रमणियो को आदर्श गति की शिक्षा दे रहा था।[4] खूटियो में लटकाए गए पिंजरो में वटेर, तीतर और कबूतर आदि पक्षी पाले गए थे। अन्य पिंजरो में कही तोता दही-भात से भरे पेट वाले ब्राह्मण की भाँति वेद-पाठ कर रहा था, कही कबूतरो के जोडे आलिंगन में रत हो कर सुख का आनद ले रहे थे (अन्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि)। कही तरह-तरह के फलो के रस का आस्वादन करमे से प्रसन्न सुरीली कठ वाली कोयल कूजन कर रही थी और कही जरूरत से ज्यादे सम्मान पाने के कारण गर्वित मैना टर-टरा रही थी।[5]

जहाँ तक उत्सवो का प्रश्न है, इस वात का निर्देश पहले ही किया जा चुका है कि भारतीय नागरिक वडे समारोह के साथ इन्हें मनाते थे। यह हमारे प्राचीन साहित्य और विदेशो यात्रियो के वर्णन से स्पष्ट है। भारतीम उत्सवो का परिचय इतनी थोडी जगह में देना सभव नही हो सकता। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि भारतीय उत्सवो की पृष्ठभूमि वहुत कुछ सीमा तक सामाजिक और धार्मिक दोनो ही थी। यहाँ उदाहरण के लिए 'मदनोत्सव' का वर्णन किया जाता है, जिसका सस्कृत-नाटको में बहुधा उल्लेख मिलता है। सम्राट् हर्ष की 'रत्नावली' नामक नाटिका में इसका सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। इसके अनुसार एक बार वसन्त ऋतु के आगमन के अवसर पर कौशाम्बी के नागरिको ने मदनोत्सव का आयोजन बहुत

---

१ 'युवतिकरताडिता जलवरा इव गम्भीर नदन्ति मृदगा.। मृच्छकटिक, अङ्क ४।

२ 'तत्रैवानुभूय कुक्कुटलावकमेपद्यूतयुद्धं' कामसूत्र, पृष्ठ ५३।

३ देखिए, मेरा ग्रथ 'हमारे पुराने नगर', पृष्ठ ११५।

४ "पदगति शिक्षमाणानीव कामिनीनाम्" मृच्छकटिक, अंक ४।

५ "अधिक कुरकुरायते मदनसारिका" वही, अक ४।

ठाट-बाट से किया था। इसे देखने के लिये महाराज उदयन अपने प्रासाद के कोठे पर आए। इस अवसर पर नगरवासियो का प्रमोद चरम सीमा पर पहुँच चुका था। विदूपक कहता है—महाराज! आप जरा इस मदन-महोत्सव की शोभा को तो देखे। मतवाली कामिनियाँ अपने हाथो में पिचकारी लेकर मस्ती में झूमते पुरुषो पर रग डाल रही है। पुरुषगण कुतूहलवश नृत्य कर रहे है और उनकी तालियो के शब्दो से गलियाँ मुखरित हो रही है। उडाए गए गुलाल से दस दिशाओ का मुख पीतवर्ण हो रहा है।[1]

उदयन नगर-वासियो के उत्साह एव असीम प्रसन्नता को देख कर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। उन्हे ऐसा लगा, मानो इस अवसर पर उनका राजधानी कौशाम्बी कुवेर-नगरी के भी ऐश्वर्य को मात कर रही थी। इस समय तक लोगो की पिचकारियो से निकला हुआ पानी चारो ओर फैल रहा था। उस पर उद्धत स्त्रियाँ जब चलती थी, तो उनके कपालो से इस पर अबीर गिरता था जिससे वहाँ की फर्श लाल वर्ण का हो जाती थी। जब मनचले नागरिक अपनी पिचकारियो के जल से वेश्याओ पर प्रहार करते थे, उस समय उनका हाव-भाव और विकास देखते ही बनता था। जब लोग गुलाल तेजी से उडाने लगे, उस समय चतुर्दिक अन्धकार सा फैलने लगा। बीच-बीच मे भूपण के रूप में धारण की गई मणियो के आलोक मे जब साँप के फण की आकृति वाली पिचकारियाँ दृष्टिगोचर होती थी, तो पाताल-लोक का दृश्य स्मरण हो उठता था।[2]

यह उत्साह अभी चल ही रहा था कि मदनिका नामक दासी ने हाथ मे आम्रमजरी लिए हुए महाराज को सूचित किया —महारानी का निवेदन है कि मकरन्दोद्यान मे जा कर अशोक-वृक्ष के नीचे कामदेव की पूजा करनी है, अतएव आर्यपुत्र वहाँ शीघ्र पधारे। इसके अनुसार विदूषक के साथ उदयन मकरन्दोद्यान मे आए। इसकी छटा को देखते ही विस्मित हो बोल उठे—अहा! मकरन्दोद्यान कितना सुन्दर है। वसन्त के यहाँ आ जाने से ये वृक्ष भी मतवाले से लग रहे है क्योकि मूँगे की सदृश कान्ति वाले नव पल्लवो से इनकी लाली वढ गई है। भौरो का शब्द कितना सुमधुर एव आह्लादकारी है। दक्षिण वायु इनकी शाखाओ को हिला रही है। ऐसा लगता है कि नशे की मस्ती में ये वृक्ष झूम रहे है।[3]

---

१ "प्रकीर्णपटवासपुञ्जपिञ्जरितदशदिशामुखस्य सश्रीकता
मदनमहोत्सवस्य" रत्नावली, अक १

२ "अस्मिन्प्रकीर्णपटवासकतान्धकारे
दृष्टो मनाग्मणिविभूपणरश्मिजालै ।
पातालमुद्यतफणाकृतिशृङ्गकोऽय
मामद्य सस्मरयतीह भुजगलोक ॥" रत्नावली अक १, श्लोक १२

३ 'उद्यद्विद्रुमकान्तिभि किसलयैस्ताम्रा त्विप विभ्रतो
भृङ्गालीविरतै कलैरविशदव्याहारलीलाभृत. ।
घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलै शाखानमूहर्मुहु–
र्भ्रान्ति प्राप्य मधुप्रसगमधुना मत्ता इवामी द्रुमा ॥
रत्नावली, अक १, श्लोक १७

मृच्छकटिक के वर्णन से लगता है कि जुए की शर्तों का पालन वडी कडाई के साथ करना पडता था। यह आवश्यक था कि दाँव पर जो सपत्ति रखी जाय या कोई वादा किया जाय, उसे विना किसी हिचक के अदा कर दिया जाय। जुए के खेल में उज्जयिनी का एक हारा हुआ जुआडी, हारी हुई रकम को देने में अपने को असमर्थ पाता है। फिर तो उसके ऊपर चारो ओर से बौछारे पडने लगती हैं। जीता हुआ जुआडी उससे कहता है कि इस समय तू कही भी भाग कर नही जा सकता। अगर तू स्वर्ग-लोक या पाताल-लोक में भी शरण लेना चाहे तब भी तेरी खैरियत नही हैं। पैसा तो मुझे देना ही पडेगा। यदि तेरे पास कुछ भी नही है, तो तू अपने शरीर को वेंच कर इसे पूरा कर, नही तो तुझे अपनी जिन्दगी से हाथ घोना पडेगा। इसी बीच वसन्तसेना आ जाती है। वह उसे धिक्कारती हुई कहती है—तू तो वडा ही गया वीता है रे, केवल थोडे से ठिकरो के लिए पचेन्द्रियो से वनी हुई ईश्वर की अनुपम रचना को मार डालना चाहता है। भला, तेरा कल्याण होने वाला है। अवश्य ही तेरा विनाश होगा।[1] वडी कठिनाई से वह उसे उन्मुक्त करा पाती है।

यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि प्राचीन नगर-जीवन का एक दूपित पक्ष भी था जिसमें वेश्याएँ, कुट्टनी एव चोर आदि आते थे। इन्ही के जीवन को लक्ष्य में रख कर पाणिनि ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना अष्टाध्यायी मे पुरसमाज के 'कुत्सित वर्ग' का उल्लेख किया है। इसके विपरीत 'प्रावीण्य वर्ग' था जिसमें शिष्ट, सुशिक्षित एव सुसस्कृत नागरिक आते थे (नगरात्कुत्स्नप्रावीण्ययो)[2]। मृच्छकटिक तथा दशकुमारचरित आदि ग्रन्थो मे दुष्ट वेश्याओ के काले कारनामो के उल्लेख मिलते हैं। मृच्छकटिक में कहा गया है—अजी इन मायाविनी वेश्याओ का तो कुछ पूछो नही। भला, उनका कोई भरोसा हो सकता है। ये झूठा प्रेम दिखा कर युवकों को फाँस लेती हैं और अन्त में उन्हें चौपट करके ही छोडती है। सन्ध्याकालीन लाली की भाँति वे क्षणिक राग वाली होती हैं। वे सागर की लहरो से भी चचल होती हैं और पुरुप की सारा धन चूस कर उसे अलक्तक की भाँति निचोड डालती हैं। हृदय से तो वे अन्य किसी पुरुप से प्रेम करती है, पर लोभ के पीछे ऊपरी प्रेम और ही से दिखाती हैं (अन्य शरीरेण च कामयन्ते)। उनका विश्वास करना खतरे से खाली नही है, क्योकि उनका सारा व्यवहार छल-प्रपच से भरा होता है। जैसे खेत में फेका हुआ जौ धान नही हो सकता या गधे घोडे का काम नही कर सकते अथवा कमलिनी पर्वत की चोटी पर नही उग सकती, वैसे ही वेश्या का आचरण पवित्र नही हो सकता (न देशजाता शुचयस्तथागना)। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह उसका परित्याग उसी तरह कर दे, जिस प्रकार श्मशान-भूमि पर पडा हुआ सुन्दर पुष्प अस्पृश्य समझ कर छोड दिया जाता है।[3]

इस नाटक में विदूषक एक हितैपी के रूप में चारुदत्त से कहता है—मैं ब्राह्मण हो

---

१. "दुर्वर्णोऽसि विनष्ठोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात्।
पचेन्द्रियसमायुक्तो नर व्यापाद्यते त्वया॥"

२ देखिये, मेरा ग्रन्थ 'स्टडीज़ इन ऐण्शेट इडियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर' प्रस्तावना।

३ "तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्या श्मशानसुमना इव वर्जनीया॥" वही, अक ४,१४।

कर आपके पैरो पर गिर कर कहता हूँ कि आप वेश्या का साथ छोड दे। गणिका तो जूते मे पडी किंकिणी के समान है, जो एक बार घुसने के बाद बडी कठिनाई के साथ निकाली जाती है (गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दु खेन पुनर्निराक्रियन्ते)। मित्र ! अधिक क्या कहूँ, जहाँ वेश्या रहती हैं वहाँ बुरे आदमी भी नही जाते, सज्जनो का तो कहना ही क्या ? उनके इन्द्रजाल से भगवान् ही बचाये। वे धन के लिए क्षण में हँसती है और क्षण में ही रोती भी हैं (एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो) बाहर से वे पुरुषो को विश्वास दिखाती है पर उनका दिल प्रवचना से भरा होता है। उज्जयिनी का न्यायाधीश विस्मित हो कर चारुदत्त से पूछता है—आर्य ! क्या यह सच है कि आपकी मित्रता किसी गणिका से है। चारुदत्त इसको स्वीकार करने मे शर्माता है।[1]

राजश्याल शकार उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना के रूप पर लट्टू है, पर वह उससे नफरत करती है। जब वह शकार के फदे में नही आती, तब वह उसे धिक्कारता हुआ कहता है—अरे ! तुझे किस बात का घमड है ? तू तो उस बावडी की तरह है जिसमें पढा-लिखा पडित, मूर्ख और अछूत सभी नहाते है। तेरी दशा तो उस लता की तरह है जिस पर मोर, कौवे सभी बैठते हैं। तू उस नौका की तरह है जिस पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी बैठते हैं। तेरा घर तो कामियो का वासस्थान है। मार्ग की लता के समान तू जनता-जनार्दन की सपत्ति है। तू तो रूप का सौदा करती है। जो पैसा दे दे, वही तुझे खरीद सकता है। तेरे लिए तो प्रिय अप्रिय समान ही हैं।[2] मृच्छकटिक के उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि उस समय भी वेश्याओ का जीवन कितना गिरा हुआ था और किस तरह वे समाज में घृणित दृष्टि से देखी जाती थी।

जो वेश्यायें वृद्ध हो जाती थी, उनका रूप-व्यापार समाप्त हो जाता था। अतएव वे कुट्टनी का काम करना प्रारम्भ कर देती थी। वे एक तरह से नई वेश्याओ के लिए मार्ग-दर्शक का काम करने लगती थी और उसके लिए उनकी आमदनी मे हिस्सा लेती थी। दयनीय दशा में पडी युवतियो को गणिका-वृत्ति सिखा देना और उनके लिए युवको को फाँस लेना उनका काम था। कुट्टनियो के हथकडो और उनकी जीवन-वृत्ति के ऊपर हमारे दो प्राचीन ग्रन्थो से प्रकाश पडता है—एक तो 'कुट्टनीमतम्' और दूसरा 'दूतीकर्मप्रकाश'। कुट्टनीमतम् की रचना दामोदरगुप्त ने की थी, जो आठवी शताब्दी के एक काश्मीरी कवि थे। इस ग्रन्थ में वाराणसी की विकराला नामक एक कुट्टनी का उल्लेख मिलता है जो मालती नामक एक लावण्यमयी युवती को सफल वेश्यावृत्ति के दाँव-पेच सिखाने की चेष्टा करती है।

पेशेवर कुट्टनियो के अतिरिक्त कुछ और भी तरह की कुट्टनियाँ होती थी। 'दूती-

---

१. "आर्य ! गणिका तव मित्रम्" वही, अक ९।

२ वाप्या स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधम ।
फुल्ला नाम्यति वायसोऽपि हि लता या नामिता बर्हिणा ॥
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा त एवेतरे ।
त्व वापीव लतेव नौरिव जन वेश्यासि सर्वं भज ॥
मृच्छकटिक, अंक १, ३१।

उधर महारानी भी परिचारिकाओ एव दल-बल सहित उद्यान में आईं। सद्य स्नान करने के कारण उनमे एक नई कान्ति आ गई थी। लाल रग की साडी पहने काम-पूजा के लिए उद्यत, वे लगती थी, मानो नव पल्लवो से युक्त वृक्ष की लता हो। महाराज के साथ उन्होने आसन ग्रहण किया और पूजा-सामग्री के साथ अशोक-वृक्ष के नीचे कामदेव की अर्चना की। इस बीच सन्ध्या हो गई और वैतालिक द्वारा इसकी सूचना पाते ही महाराज देवी के साथ शयन-गृह में पधारे। रत्नावली नाटिका के इस वर्णन से लगता है कि इस उत्सव के दो पक्ष थे, वैयक्तिक तथा सामूहिक। जहाँ तक वैयक्तिक पक्ष था, महिलाएँ अपने पतियो सहित इस समय कामदेव की पूजा करती थी। यही कारण है कि इसका नाम 'मदन-महोत्सव' पड गया। इस उत्सव का सामूहिक महत्त्व था—नागरिको का स्नेहमिलन एवं पारस्परिक मनोविनोद। इस अवसर पर रग, अबीर और गुलाल खूब चलता था। आज का होलिकोत्सव इसी का परिवर्तित रूप सा लगता है।

गोष्ठियाँ उस समय भी होती थी, जिनमें नागरिक विचार-विनिमय करते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में गोष्ठी शब्द का उल्लेख हुआ है। इनमें चर्चा के विषय विविध थे। काव्य की कोई समस्या दे दी जाती थी और लोग उसकी तत्क्षण पूर्ति की चेष्टा करते थे। इसके अतिरिक्त कला-समस्याओ पर भी वहाँ विचार होता था। विभिन्न भाषाओ के ज्ञान का परिचय, स्वरचित कविताओ का पाठ तथा मनोरजक कथा-कहानियो का सुनाना आदि इनमे खूब चला करता था। शिष्ट कोटि की हँसी और मजाक करने वाले लोग भी वहाँ आदर पाते थे (गोष्ठीषु पेशलतया परिहासशील)। वात्स्यायन लिखते हैं कि गोष्ठी में भरसक ऐसी भाषा बोली जाय जिसे साधारण साक्षर भी समझ ले। वह न तो आलकारिक या क्लिष्ट हो और न तो गँवारू ही हो (नात्यन्त सस्कृतेनैव नात्यन्त देशभाषया)। वहाँ जो लोग शुद्ध और सर्वसुलभ भाषा का प्रयोग करते थे, उनका बडा यश हो जाता था। गोष्ठी में आदर पाने के लिए कोई आवश्यक नही था कि पाण्डित्य उच्च कोटि का हो। वात्स्यायन के अनुसार कला-प्रेमी नागरिक शास्त्रीय ज्ञान के सीमित होने पर भी अपने मधुर वार्तालाप, आकर्षक चाल-ढाल तथा समयोचित प्रसग को छेडने तथा उन पर प्रकाश डालने की रीति द्वारा मित्र-मडली को मुग्ध कर देते थे।[1]

चौपड और शतरज का खेल भी एक प्राचीन भारतीय परम्परा है। वात्स्यायन लिखते हैं कि नागरिकों को चाहिए कि वे शतरज या चौपड के खेल के सामान सर्वदा अपने बैठक या शयनगृह मे रखे। शतरज की महीन चालो द्वारा वे अपनी कुशाग्रता का परिचय तो दे ही, साथ ही साथ इष्ट मित्र एव प्रियजनो की मडली में इस खेल से वे अपना मनोविनोद भी करे। इस समय उनकी मेज पर स्वागत के लिए पान की डिबया भी पडी हो और सुविधा के लिए

---

१ "ब्रुवन्नप्यन्यशास्त्राणि चतुःषष्टिविवर्जित
विद्वत्ससदि तात्पर्थं कथासु परिपूज्यते।
वर्जितोऽप्यन्यविज्ञानैरेतया यस्त्वलकृत
स गोष्ठ्या नरनारीणा कथास्वग्रं विगाह्यते॥"

कामसूत्र, पृष्ठ १८२, सूत्र ४०-५१।

फर्श पर एक पीकदान भी होना चाहिए।[1] अत्यन्त प्रारम्भिक काल से ही हमारे देश में जुआ खेला जाता था। कौरवो एव पाडवो के जूए का खेल तो प्रसिद्ध ही है। विशिष्ट पुर-भागो में जुआघर (द्यूतगृह) वने हुए थे, जिनकी सरकारी लिखा-पढी की जाती थी। इनके सचालक हुआ करते थे, जिनको 'समिक' कहा जाता था। उसे द्यूतगृह स्थापित करने के लिए राज्य को कर देना पडता था। जूआघरो की देख-रेख के लिए राजकीय कर्मचारी भी हुआ करते थे। इसी तरह के पदाधिकारी को कौटिल्य ने 'द्यूताध्यक्ष' कहा है।

मृच्छकटिक द्वारा जुआडियो के खेल पर अच्छा प्रकाश पडता है। इस ग्रन्थ में एक जुआढी इसकी प्रशसा करता हुआ कहता है कि अजी, इस खेल का जायका तो विना ताज की वादशाहत की तरह है (द्यूत हि नाम पुरुपस्यासिहासन राज्यम्)। इसके चमत्कार को तो कुछ पूछो नही। जो चाहो इससे वही मिल जाय। सुन्दरी, महल, कुवेर की सपत्ति या दिल की कोई भी मुराद इससे पूरी हो सकती है।[3] इस ग्रन्थ में एक हारे जुआडी की दयनीय दशा का वडा अच्छा वर्णन मिलता है। जुए में सव कुछ लुटा देने के कारण वह प्रतिज्ञा करता है कि अव वह आइन्दा इस तरह के खेल या दाँव-पेच के चक्कर में कभी नही आएगा। पर, ज्योही कौडियो की आवाज उसे सुनाई देती है उसका मन इसे खेलने के लिए ललच उठता है। वह अत्यन्त खेद प्रकट करते हुए कहता है कि जिस तरह युद्ध के लिए पुकार करता हुआ नगाडे का शब्द या तुरही की आवाज हारे हुए राजा के मन को लडाई लडने के लिए ललचा देती है, उसी तरह 'कत्ता-शब्द' (कौडियो की आवाज) मेरे मन को लुभा दे रहा है।[4] मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि जुए का खेल उसी तरह वर्वादी की जड है जिस तरह सुमेरु पर्वत की चोटी से फिसल कर चूर-चूर हो जाना, तव भी पासे का शब्द मुझे आज अपनी ओर वरवस खीच रहा है।[5] मैं अपने मन को इससे हटाने में असमर्थ पा रहा हूँ। जैसे गदही कामुक गदहे को अपने पैरो के प्रहार से घायल कर देती है और तव भी वह उसका साथ नही छोडता, वैसे ही इस जुए रूपी गर्दभी की चोट वरावर खा कर भी मैं इसकी ओर ललच उठता हूँ। जिस प्रकार महाभारत की लडाई में अगराज कर्ण की शक्ति से घटोत्कच वुरी तरह घायल हो गया था, उसी तरह इस जूए रूपी शक्ति के प्रहार से मैं पूर्ण रूप से धराशायी हो गया हूँ।[6]

---

२. 'देखिए, मेरा ग्रन्थ' हमारे पुराने नगर, पृष्ठ ११८।

१ देखिए, मेरा गन्थ 'हमारे पुराने नगर', पृष्ठ ११८।

२ "द्रव्य लव्ध द्यूतेनैव दारामित्र द्यूतेनैव" मृच्छकटिक, अक २।

३ "ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराजस्य।
जानामि न क्रीडिष्यामि कत्ताशब्दो मनो हरति॥ वही, अक २

४ "जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसन्निभ द्यूतम्।
तथापि खलु कोकिलमधुर कत्ताशब्दो मनो हरति॥ वही, अक २

५ नवबन्धनमुक्तयेव गर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या।
अंगराजमुक्तयेव हा शक्त्या घटोत्कच इव पातितोऽस्मि शक्त्या॥" वही, अक २

मृच्छकटिक के वर्णन से लगता है कि जुए की शर्तों का पालन बडी कडाई के साथ करना पडता था। यह आवश्यक था कि दांव पर जो सपत्ति रखी जाय या कोई वादा किया जाय, उसे विना किसी हिचक के अदा कर दिया जाय। जुए के खेल में उज्जयिनी का एक हारा हुआ जुआडी, हारी हुई रकम को देने में अपने को असमर्थ पाता है। फिर तो उसके ऊपर चारो ओर से बौछारे पडने लगती है। जीता हुआ जुआडी उससे कहता है कि इस समय तू कही भी भाग कर नही जा सकता। अगर तू स्वर्ग-लोक या पाताल-लोक मे भी शरण लेना चाहे तव भी तेरी खैरियत नही है। पैसा तो मुझे देना ही पडेगा। यदि तेरे पास कुछ भी नही है, तो तू अपने शरीर को बेच कर इसे पूरा कर, नही तो तुझे अपनी जिन्दगी से हाथ धोना पडेगा। इसी बीच वसन्तसेना आ जाती है। वह उसे धिक्कारती हुई कहती है—तू तो वडा ही गया बीता है रे, केवल थोडे से ठिकरो के लिए पचेन्द्रियो से वनी हुई ईश्वर की अनुपम रचना को मार डालना चाहता है। भला, तेरा कल्याण होने वाला है। अवश्य ही तेरा विनाश होगा।[1] वडी कठिनाई से वह उसे उन्मुक्त करा पाती है।

यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि प्राचीन नगर-जीवन का एक दूपित पक्ष भी था जिसमे वेश्याएँ, कुट्टनी एव चोर आदि आते थे। इन्ही के जीवन को लक्ष्य में रख कर पाणिनि वे अपनी सुप्रसिद्ध रचना अष्टाध्यायी मे पुरसमाज के 'कुत्सित वर्ग' का उल्लेख किया है। इसके विपरीत 'प्रावीण्य वर्ग' था जिसमें शिष्ट, सुशिक्षित एव सुसस्कृत नागरिक आते थे (नगरात्कुत्स्नप्रावीण्ययो)[2]। मृच्छकटिक तथा दशकुमारचरित आदि ग्रन्थो में दुष्ट वेश्याओ के काले कारनामो के उल्लेख मिलते हैं। मृच्छकटिक में कहा गया है—अजी इन मायाविनी वेश्याओ का तो कुछ पूछो नही। भला, उनका कोई भरोसा हो सकता है। ये झूठा प्रेम दिखा कर युवको को फांस लेती हैं और अन्त में उन्हें चौपट करके ही छोडती हैं। सन्ध्याकालीन लाली की भाँति वे क्षणिक राग वाली होती हैं। वे सागर की लहरो से भी चचल होती हैं और पुरुप का सारा धन चूस कर उसे अलक्तक की भाँति निचोड डालती हैं। हृदय से तो वे अन्य किसी पुरुप से प्रेम करती है, पर लोभ के पीछे ऊपरी प्रेम और ही से दिखाती है (अन्य शरीरेण च कामयन्ते)। उनका विश्वास करना खतरे से खाली नही है, क्योकि उनका सारा व्यवहार छल-प्रपच से भरा होता है। जैसे खेत मे फेका हुआ जो धान नही हो सकता या गधे घोडे का काम नही कर सकते अथवा कमलिनी पर्वत की चोटी पर नही उग सकती, वैसे ही वेश्या का आचरण पवित्र नही हो सकता (न देशजाता शुचयस्तथागना)। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह उसका परित्याग उसी तरह कर दे, जिस प्रकार श्मशान-भूमि पर पडा हुआ सुन्दर पुष्प अस्पृश्य समझ कर छोड दिया जाता है।[3]

इस नाटक मे विदूपक एक हितैपी के रूप में चारुदत्त से कहता है—मैं ब्राह्मण हो

---

१. "दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात्।
पचेन्द्रियसमायुक्तो नर व्यापाद्यते त्वया॥"

२ देखिये, मेरा ग्रन्थ 'स्टडीज इन ऐण्शेट इडियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर' प्रस्तावना।

३. "तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्या श्मशानसुमना इव वर्जनीया॥" वही, अक ४,१४।

कर आपके पैरो पर गिर कर कहता हूँ कि आप वेश्या का साथ छोड दे। गणिका तो जूते में पडी किंकिणी के समान है, जो एक बार घुसने के बाद बडी कठिनाई के साथ निकाली जाती है (गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दु खेन पुर्निराक्रियन्ते)। मित्र ! अधिक क्या कहूँ, जहाँ वेश्या रहती है वहाँ बुरे आदमी भी नही जाते, सज्जनो का तो कहना ही क्या ? उनके इन्द्रजाल से भगवान् ही बचाये। वे धन के लिए क्षण में हँसती है और क्षण में ही रोती भी है (एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो) बाहर से वे पुरुषो को विश्वास दिखाती हैं पर उनका दिल प्रवचना से भरा होता है। उज्जयिनी का न्यायाधीश विस्मित हो कर चारुदत्त से पूछता है—आर्य ! क्या यह सच है कि आपकी मित्रता किसी गणिका से है। चारुदत्त इसको स्वीकार करने में शर्माता है।[1]

राजश्याल शकार उज्जयिनी-वेश्या वसन्तसेना के रूप पर लट्टू है, पर वह उससे नफरत करती है। जब वह शकार के फदे में नही आती, तब वह उसे धिक्कारता हुआ कहता है—अरे ! तुझे किस बात का घमड है ? तू तो उस बावडी की तरह है जिसमें पढा-लिखा पडित, मूर्ख और अछूत सभी नहाते हैं। तेरी दशा तो उस लता की तरह है जिस पर मोर, कौवे सभी बैठते है। तू उस नौका की तरह है जिस पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी बैठते है। तेरा घर तो कामियो का वासस्थान है। मार्ग की लता के समान तू जनता-जनार्दन की सपत्ति है। तू तो रूप का सौदा करती है। जो पैसा दे दे, वही तुझे खरीद सकता है। तेरे लिए तो प्रिय अप्रिय समान ही हैं।[2] मृच्छकटिक के उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि उस समय भी वेश्याओ का जीवन कितना गिरा हुआ था और किस तरह वे समाज मे घृणित दृष्टि से देखी जाती थी।

जो वेश्याये वृद्ध हो जाती थी, उनका रूप-व्यापार समाप्त हो जाता था। अतएव वे कुट्टनी का काम करना प्रारम्भ कर देती थी। वे एक तरह से नई वेश्याओ के लिए मार्गदर्शक का काम करने लगती थी और उसके लिए उनकी आमदनी मे हिस्सा लेती थी। दयनीय दशा मे पडी युवतियो को गणिका-वृत्ति सिखा देना और उनके लिए युवको को फांस लेना उनका काम था। कुट्टनियो के हथकडो और उनकी जीवन-वृत्ति के ऊपर हमारे दो प्राचीन ग्रन्थो से प्रकाश पडता है—एक तो 'कुट्टनीमतम्' और दूसरा 'दूतीकर्मप्रकाश'। कुट्टनीमतम् की रचना दामोदरगुप्त ने की थी, जो आठवी शताब्दी के एक काश्मीरी कवि थे। इस ग्रन्थ में वाराणसी की विकराला नामक एक कुट्टनी का उल्लेख मिलता है जो मालती नामक एक लावण्यमयी युवती को सफल वेश्यावृत्ति के दाँव-पेंच सिखाने की चेष्टा करती है।

पेशेवर कुट्टनियो के अतिरिक्त कुछ और भी तरह की कुट्टनियाँ होती थी। 'दूती-

---

१. "आर्य ! गणिका तव मित्रम्" वही, अक ९।

२ वाप्या स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधम।
फुल्ला नाम्यति वायसोऽपि हि लता या नामिता बर्हिणा॥
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा त एवेतरे।
त्व वापीव लतेव नौरिव जन वेश्यासि सर्व भज॥

मृच्छकटिक, अक १, ३१।

कर्मप्रकाश' नामक ग्रन्थ में इक्कीस तरह की कुट्टनियो का वर्णन हुआ है। इनमे धोबिन, दर्जिन, दाई, नाइन तथा मनिहारिन खास थी। वे भी नायक और नायिका के बीच लगाने-बुझाने में एक छँटी होती थी। उपर्युक्त रचना का लेखक उनके छल-प्रपञ्च पर प्रकाश डालता हुआ लिखता है कि इनके चरित को भगवान् ब्रह्मा भी नही समझ सकते, मनुष्य की तो बात ही छोड दो।[1] कुट्टनियो और उनकी पुछलगी गणिकाओ ने उज्जयिनी, वाराणसी और पाटलिपुत्र सरीखे प्राचीन भारतीय नगरो में शृगार-हाट खोल रखा था, जहाँ रूप की सौदागीरी होती थी।[2] यदि इस परपरा को देखना हो तो आज की काशी नगरी को देखिए। वहाँ यदि एक ओर बाबा विश्वनाथ या सकटमोचन की पवित्र गली है, तो दूसरी ओर छिनाल-पतुरिया और गुमाश्तो की भी गली खुली हुई है।

उस समय के चोर-बदमाश भी बडे ही मँजे खिलाडी हुआ करते थे। उनके कार्य-कलापो की ठीक जानकारी के लिए मृच्छकटिक और दशकुमार-चरित को पढना चाहिए। मृच्छकटिक में चोरी-विद्या (चौर विज्ञान) के एक विद्यार्थी का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि चालबाज उस्ताद अपने ही तरह घुप्पलबाज चेलो को पैंतरेबाजी सिखाते थे। वे लोग सेंध मारने की कला, घर के भीतर घुस कर बडी ही सफाई के साथ सामान गायब कर देना और जरूरत पडने पर चकमा देकर खिसक जाना आदि चोरी से सम्बन्धित तरह-तरह की बारीकियो को माँजते थे। इस ग्रन्थ मे एक चोर दूसरे से कहता है कि अजी, चोरी करना कौन बुरी बात है? यह काम तो बडे-बडे महापुरुषो ने भी किया है। अश्वत्थामा ने भी तो चोरी के ही साथ अपने शत्रुओ का वध किया था?[3] दूसरी बात यह है कि यह जीविका का एक स्वतन्त्र पेशा है। इसमें कोई नौकरी थोडे ही बजानी है।[4] जब वह सेंध मारने जाता है, तो देवताओ की पहले वन्दना करता है—हे खटपट महाराज! जरा आप शान्त रहिएगा और हे रात्रियो में विचरण करने वाले गण! आप लोगो को भी मैं नमस्कार करता हूँ। मेरे ऊपर कृपया कल्याण कीजिएगा ताकि मेरा बाल भी बाँका न हो सके।[5] जब राजमार्ग पर वह पहरेदार को देखता है, तो उसके प्राण सूख जाते है। पर वह बडी ही

---

१ 'तच्चरित्रमिति ज्ञातु ब्रह्मणापि न शक्यते'

काव्यमाला, गुच्छक १३ (दूतीकर्म प्रकाश), श्लोक ५

२ 'कुट्टनीमतम्' के रचयिता दामोदरगुप्त के मन में सन्देह था कि उनकी रचना का, अपरिपक्व विचारो वाले लोगो के मस्तिष्क पर कही प्रतिकूल प्रभाव न पड जाय और वे गलत रास्ता न पकड ले। अतएव वे अपने पाठको को अन्त में सावधान करते हुए कहते हैं कि इस ग्रन्थ के गूढ अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिए। जो व्यक्ति विट, धूर्त, वेश्या एव कुट्टनी के चगुल में न पडेंगे, उनका जीवन हर तरह से सुखी रहेगा—

"काव्यमिद य शृणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ।
नो वच्यते कदाचिद्विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभीरिति॥" श्लोक १०१८

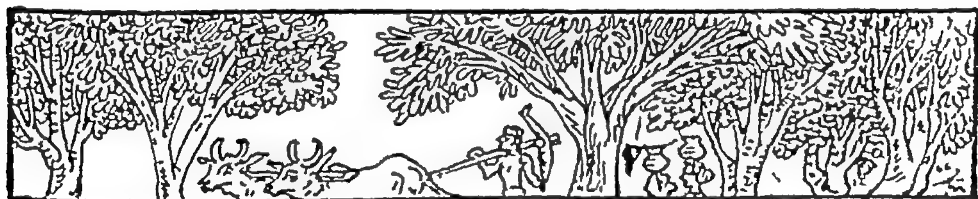
३. "मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना" मृच्छकटिक, अक ३।

४ "स्वाधीना वचनीयतापि तु वर बद्धो न सेवाञ्जलि" मृच्छकटिक, अक ३।

५ "नम खटपटाय नमो रात्रिगोचरेभ्यो देवेभ्य चारुदत्त, अक ३।

वारीकी के साथ उसकी आँख बचा कर चम्पत हो जाता है। फिर तो वह छलप्रतारणा पर अपनी विलक्षण दखल और दूसरो को चकमा देने वाली नाज पर डीग मारता हुआ फूले न समाता है।[1]

गणिका, कुट्टनी तथा धूर्त एव प्रवचको के जीवन मे सहसा इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना कि नगर गदगी के घर थे, ठीक न होगा। इसका स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है कि भारतीय नागरिको का चरित्र-सगठन उच्च कोटि का था। मृच्छकटिक के नायक चारुदत को ही लीजिए। यद्यपि उसका सवध वेश्या के साथ हो गया था तथापि उसके अन्य गुण श्लाधनीय थे। इस ग्रन्थ के लेखक के शब्दो में वह सद्‌गुणो का केन्द्र, गरीवो का साथी और रोगियो के लिए औषधि के तुल्य था। पडोसी लोग तो उसे घर के ही सदस्य की तरह समझते थे।[2] जिस समय न्यायाधीश ने उसे फाँसी की गलत सजा दे दी और जव वह राजपुरुषो द्वारा शूली पर चढाने के लिए ले जाया जाने लगा, उस समय पुरवासियो की आँखो से आँसू के परनाले वहने लगे। वे ईश्वर से वार वार प्रार्थना करने लगे कि सज्जनो का कुटुम्वी, सव प्रकार से निर्दोष चारुदत्त छूट जाय।[3] यह इस वात का प्रमाण है कि सदाशय नागरिक लोकप्रिय हुआ करता था। भाईचारे की यह भावना पुरवासियो की विशाल-हृदयता का परिचय देती है। यही कारण है कि विदेशी यात्रियो ने भारतीय नागरिको के दिल और दिमाग की विशेषताओ की ऊँची प्रशसा की है।



१ देखिए, मेरा ग्रन्थ "हमारे पुराने नगर", पृष्ठ १२४

२ मृच्छकटिक, अक १।

३ "एता पुनर्हर्म्यगता स्त्रियो मा वातायनार्धनत्रिनि सृतास्या ।
हा चारुदत्तेत्यभिभापमाणा वाष्प प्रणालीभिरिवोत्सृजति ॥" मृच्छकटिक, अक १०

प्रस्तुत लेख मेरे शोध-प्रवन्धो "प्राचीन भारत मे नगर तथा नगर-जीवन" और "हमारे पुराने नगर" (प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहावाद) तथा "स्टडीज इन ऐंश्येंट इडियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर" (प्रकाशक लोक भारती प्रकाशन, इलाहावाद) पर मुख्यतया आश्रित है। इस विषय पर अधिक सूचनाओ के लिये कृपया उपर्युक्त ग्रन्थों को देखें।

पूर्व मध्ययुगीन भारतीय कला में समाज की झाँकियाँ

ब्रजनाथ सिंह यादव

कुछ विद्वानो[1] के मतानुसार, गुप्तोत्तरकाल की मध्यकालीन कला, वास्तविक जन-जीवन से वियुक्त थी। नि सन्देह, यह कुछ हद तक सही है कि समाज-चेतना के रूप में कला, सामाजिक प्राणी का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब नही है, इसमें रूढियाँ[2] और मुहावरे स्वभावत विकसित होते है, तथापि प्रत्येक युग की कला न्यूनाधिक मात्रा मे समाज की बिखरी-झाँकियाँ प्रस्तुत करती है। एव एतदनुसार पूर्व-युगो के विपरीत, इस युग[3] की वास्तु और मूर्त्तिकला का मुख्य लक्षण, सामान्य सजावट मे अलकरणप्रीति, रत्नाभूषण का बाहुल्य और भव्य अलकरण है, जो उस समय के अभिजात-तत्र और उनके विलासमय[4] दरबारी सस्कृति से सबधित था। पुनश्च, कला के क्षेत्र में स्फटिकीकरण और परम्परावादिता की प्रवृत्ति, समाज की सर्जनात्मक शक्ति के ह्रास[5] की सूचिका है।

परवर्ती गुप्तकालीन समाजोन्मुख राजनीतिक शक्तियाँ भी, जो उस युग की कुछ सामाजिक सस्थाओ का नियमन करती थी, कला में प्रतिफलित हुई है। ४५० से ७५० ई० के बीच की, अहिच्छत्र से प्राप्त कुछ मृण्मय लघु मूर्त्तियाँ (टेराकोटा फिगराइन्स्) हूण जैसे विदेशी बर्बरो का प्रभाव[6] प्रकट करती है, जो नि सन्देह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक तत्त्व है। इसके अतिरिक्त, गुप्तोत्तरकालीन तोमरो, चाहमानो, कन्नौज के राठौरो, बदायूँ के शासको

---

१ तुलनीय—मोतीचन्द्र—सम्मेलन पत्रिका—'लोक-सस्कृति-अक', वि० स० २०१०, पृ० ३२२।

२ पूर्व मध्ययुगीन कला में रूढियो और मुहावरो के लिए देखिए—के०डे०वी० कॉड्रिंगटन मेडिएवल इडियन स्कल्प्चर, पृ० १७, आर० पी० चन्द—एम० ए० एस० आई०, अक ४४, १९३०, पृ० २०।

३ तुलनीय—स्टेला क्रैमरिश—जर्नल ऑफ् दी इडियन सोसाइटी ऑफ् ऑरियन्टल आर्ट्, खण्ड XV, १९४७, पृ० १७८ और आगे, के० खण्डालवाला इडियन स्कल्पचर एन्ड पेंटिंग, पृ० ३१, स्टेला क्रैमरिश आर्ट् ऑफ् इडिया थ्रू दी एजेज्, फलक स० १३४, खजुराहो के मन्दिर, कोणार्क का सूर्य मन्दिर—ए० एस० आई० आर०, खण्ड ११।

४ तुलनीय—वासुदेवशरण अग्रवाल . कला और सस्कृति, पृ० २४१।

५ वही, पृ० २४२।

६. तुलनीय—वासुदेवशरण अग्रवाल एन्शॅन्ट् इण्डिया, स० ४, १९४७, ४८, पृ० १५५।

इत्यादि के ताँबे और कलधौत के सिक्को[1] पर बैठे हुए वृषभ और अश्वारोही में समान विधा का प्रकाश, एव राजपूत कुलो का अभ्युत्थान, एक ही समय में घटित होता है, जो एक वृहत् समाजोन्मुख राजनीतिक आन्दोलन[2] का द्योतक है। यह भी सकेत[3] किया गया है कि कला में चित्रित राजपूत अस्त्र और वस्त्र, तातार-सस्कृति-मिश्रण से भारत मे आगत शक जैसे विजातीय सनध का साक्ष्य वहन करते है।

उस युग की समाजोन्मुख राजनीतिक सरचना का मुख्य लक्षण सामन्त-प्रणाली था। यह कुछ अश तक कला में भी प्रतिबिम्बित हुआ है। 'अश्वरि-श्री-सामन्तराज' आलेख युक्त चाहमानो की मुद्राओ[4] पर हम एक विशिष्ट कवचधारी सामन्त-शूर को घोडे पर सवार देखते हैं। युद्धाश्व सहित सामन्त-शूर की प्रतिकृति वहन करते हुए उक्त शताब्दी की कुछ स्मारक-शिलाएँ, कश्मीर के वरमूला (वरामूला)[5] से पाई गई हैं, अविराम युद्ध-कर्म ही उस युग का सामान्य लक्षण था। खजुराहो[6] वर्ग के एक मन्दिर में हम योद्धाओ की शोभायात्रा और युद्ध के दृश्यो का साक्षात्कार करते हैं। उडीसा के १२-१३ वी शताब्दी मे निर्मित एक मन्दिर के तराश[7] में ढाल, तलवार सहित चार योद्धा चित्रित किए गए है। भिलसा से १२ वी शताब्दी की एक योद्धा[8] की आकृति (अव रायपुर, मध्यप्रदेश के सग्रहालय में) उपलब्ध हुई है। माउट आबू (राजस्थान) के देलवाडा मन्दिर (१२वी शताब्दी) में सूरमाओ[9] की शोभा-यात्रा उरेही गई है। खजुराहो[10] के आदिनाथ मन्दिर की कला में तत्कालीन युद्धास्त्रों का परिचय मिल सकता है। साहित्यिक स्रोतो से उद्घाटित रूढिगत शस्त्रो की सख्या छत्तीस थी। चित्तौड के उत्कीर्ण-चित्रो (रिलिफ स्कल्पचर) में भी युद्ध-दृश्य[11] प्रस्तुत किया गया है। यह उल्लेख योग्य है कि इन दृश्यो में सामान्यत तलवार और भाले ही दिखलाई पडते है, ऐसा प्रतीत होता है कि धनुष और तीर का प्रयोग प्राय अप्रचलित हो गया था। यह सैन्य-

---

१ द्रष्टव्य—कैटलॉग् ऑफ् कॉएन्स इन दी इण्डियन म्युजियम, कलकत्ता, खण्ड I, सप्लीमेंट्री कैटलॉग भी।

२ तुलनीय—सी० जे० ब्राउन काएन्स ऑफ् इण्डिया, पृ० ५०।

३ तुलनीय—आर० एस० पडित दी रिभर ऑफ किग्स, पृ० ६२६।

४ काएन्स ऑफ् मारवाड।

५ रीभर किग्स, फलक XVIII, वही, VIII ७२८।

६ तुलनीय—वी० एल० धम्म गाइड टु खजुराहो, पृ० १५, १६।

७ लेग् अस्टन द्वारा सपादित दी आर्ट आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० ६२।

८ स्तेला क्रैमरिश दी आर्ट आफ इण्डिया थ्रू दी एजेज, फलक १४८।

९ वही, फलक, १३८।

१० गाइड टु खजुराहो, पृ० २१, यू० अग्रवाल खजुराहो स्कल्पचर्स एण्ड देअर सिगनि-फिकेन्स, पृ० १९६ और आगे, शस्त्रास्त्र और कवच के लिए देखिए—आर० एस० पडित रीभर आफ किग्स, फलक, XX।

११ स्मिथ . हिस्ट्री आफ आर्ट इन इण्डिया एण्ड सिलोन, पृ० २०३।

विज्ञान में ह्रास का लक्षण है, जो साहित्यिक साक्ष्य[१] द्वारा भी पुष्ट होता है। जैसा कि कुछ विद्वानो की धारणा है, इन कलाकृतियो से स्पष्ट है कि हाथियो का व्यवहार भी कम होने लगा था। मुद्राकन-कला, उस समय की आर्थिक अवस्था एव समाज-सरचना पर और भी प्रकाश डालती है। आरम्भिक मध्ययुग के प्रथम पर्व में सिक्को का वेढगा और खोटापन,[२] साथ ही उनका अभाव, साधारणत व्यवसाय और वाणिज्य की अवनत अवस्था एव कृषि-प्रधान समाज के प्राधान्य की घोषणा करता है—सामन्तवादीय मनोवृत्ति की वृद्धि, वर्ण-व्यवस्था की कठोरता तथा अन्य सभी जो इनके दायभाग में मिले, इस अवस्था के मूल में थी। जो भी हो, कुछ विद्वानो[३] के विचारानुसार, आगे चलकर गुजरात-शैली की चित्रकला के आविर्भाव के साथ, समृद्ध वणिक्-वर्ग के अभ्युदय का सम्बन्ध है, जो उस समय व्रोच और काम्बे के बन्दरगाहो तक व्यापार करते थे। पाल-काल के अन्तर्गत वर्द्धित वणिक्-वर्ग के साथ बगाल-बिहार में विकसित मध्ययुगीन मूर्तिकला का भी सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सेनो के शासन-काल में इस वर्ग की सामाजिक मर्यादा के ह्रास होने के कारण, उक्त कला-स्कूल का भी १२वी शताब्दी के पश्चात् पतन[४] हो गया।

इस काल की कला आर्थिक जीवन के अन्य पहलुओ पर भी पर्याप्त प्रकाश डालती है। वयन शिल्प, काष्ठ-कला, रत्नाभूषण के काम,[५] कसीदाकारी आदि दक्षता की जिस ऊँचाई पर पहुँची थी, उसका प्रतिफलन उस युग की मूर्त्ति तथा वास्तुकला में हुआ है, जिससे यह ध्वनित होता है कि शिल्पी वंशानुक्रम के आधार पर श्रेणियो[६] में सघटित थे। समाज के काठिन्य की वृद्धि के साथ, इन श्रेणियो ने जाति का रूप धारण किया, विशिष्ट कला में आनुवशिक विशेषज्ञता से जहाँ उच्च शिल्प-दक्षता,[७] दुराधर्ष सामग्रियो पर प्रभुत्व और शैली[८] की एकरूपता हासिल हुई वही इसने कला में व्यष्टिपरक प्रवृत्तियो[९] को कुठित कर दिया। हम देख चुके हैं कि साहि-

---

१ एलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, एन् शेन्ट् हिस्ट्री सेक्सन, पृ० २३ और आगे।
२ तुलनीय—सी० जे० ब्राउन काएन्स आफ इण्डिया, अध्याय V।
३ तुलनीय—सर लेग अस्टन द्वारा स० दी आर्ट आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० ८७-८८, के० एम० मुंशी उद्धृत, वही, स्थान उल्लिखित, पर्सि ब्राउन इडियन आर्किटेक्चर, पृ० १३८।
४ तुलनीय—आर० डी० वैनर्जी ईस्टर्न स्कूल आफ मेडिएवल स्कल्पचर, दृ० ४१, वे ऐसा विचार पोषण करते हुए प्रतीत होते हैं कि इस कला-स्कूल के, जो ८वी शताब्दी से १२वी शताब्दी तक फूला-फला, पतन का कारण मुसलमान-विजय था (वही ४१)।
५. तुलनीय—ए० के० कुमारस्वामी हिस्ट्री आफ इडियन एण्ड इडोनेशियन आर्ट, पृ० १३३ और आगे।
६ तुलनीय—वैंजामिन रोलैंड दी आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इडिया, पृ० १६५।
७ तुलनीय—स्मिथ . दी हिस्ट्री आफ आर्ट इन इण्डिया एण्ड सिलोन, पृ० १८२।
८ तुलनीय—कार्ल खण्डलवाला, पूर्व उल्लिखित ग्रथ, पृ० ४३।
९ वही, उद्धृत सदर्भ।

त्यिक स्रोत भी श्रेणी-सघो पर कुछ प्रकाश डालते हैं। इस युग की भव्य और अतिशय अलकृत धार्मिक वास्तुकला भी व्यजित करती है कि समाज की सम्पत्ति राजाओ, उनके सामन्तो और कुछ श्रेष्ठी-कुमारो, जो निर्माता थे, की मुट्ठियो मे और मन्दिरो में भी वन्द थी।

उस युग के क्रीडा-कौतुक, आमोद-प्रमोद भी कला में प्रतिविंवित हुए है। खजुराहो के लक्ष्मण-[1]मन्दिर में चित्रित दृश्यो से आखेट-प्रियता, मल्ल-युद्ध, हस्ति-युद्ध और नृत्य-कला प्रकट होती है। चित्तौड[2] की मूर्त्तिकला (११ वी शताव्दी) में द्वद्व-युद्ध और सगीत-उत्सव के दृश्य देखने को मिलते है। कोणार्क के मन्दिर[3] (१२३८–१२६६ ई०) में दिव्य सगीतज्ञ को चित्रित किया गया है। इलाहावाद (अव इलाहावाद सग्रहालय मे) के समीप सिरसा से प्राप्त एक फलक (१२वी शताव्दी) में एक रमणी की कंदुक-क्रीडा[4] दिखाई गई है। अहिच्छत्र से उपलव्ध आकृतियो का एक समूह,[5] जो ८५० ई० से ११०० ई० के वीच के है, मल्ल-युद्ध[6], मुष्टि-युद्ध और भारी पत्थर[7], फेकने की क्रीडा की लोकप्रियता प्रकट करता है।

कला मे हमे शिक्षा-व्यवस्था की भी झलक मिलती है। खजुराहो-मन्दिर की कला में एक अध्यापक को शिष्यो के एक दल[8] के साथ चित्रित किया गया है। १२वी शताव्दी के उडीसा के एक मन्दिर में भी शिक्षण-दृश्य[9]प्रदर्शित किया गया है। उसमें हम तीन शिष्यो सहित एक वैष्णव गुरु का साक्षात्कार करते है। पलथी मारकर दाहिने छोर पर आचार्य को वैठा हुआ देखते है। उसके वायें हाथ मे पुस्तक है और दाहिना हाथ उठा हुआ—शिक्षण-कला की मुद्रा में है। एक शिष्य के श्मश्रु भी है। ऊपर सगतराशी हुई छप्पर का एक आधार है, जो स्पष्टत मन्दिर के मण्डप का प्रतिनिधित्व करता है। ये दृश्य इस तथ्य का उद्‌घाटन करते है कि मन्दिर-विद्यापीठ के रूप में विख्यात थे। भुवनेश्वर के एक मन्दिर में पत्र-लेखन मे व्यस्त एक नारी-आकृति अकित की गई है, जिससे विदित होता है कि अभिजात-परिवार की नारियो मे शिक्षा का प्रचलन था। इस युग की कला सामाजिक जीवन के कुछ अन्य पहलुओं को भी अभिव्यक्त करती है। अहिच्छत्र[10]से प्राप्त सती-सत्त फलक (८५०–११०० ई०) द्वारा सती-प्रथा के प्रचलन पर प्रकाश पडता है। इन फलको मे, पुरुप और स्त्री को उत्सर्ग

---

१ ए० एस० आई० आर०, खण्ड II, पृ० ४२४, 'गाइड टु खजुराहो' भी, पृ० १५।

२ स्मिथ हिस्ट्री ऑफ आर्ट इन इण्डिया एण्ड सिलोन, पृ० २०३.

३. स्टेला क्रैमरिश दी आर्ट् ऑफ इडिया थ्रू दी ऐजेज, पृ० १४५

४ अेनृटिक्विटी स० ए मी|२९५४.

५ तुलनीय—वासुदेवशरण अगवाल अेनशेन्ट इडिया' म० ४, १९४७-४८, पृ० १७६

६ देखिए—यू० अग्रवाल खजुराहो स्काल्पचर्स एण्ड देयर सिगनिफिकेन्स् पृ० १४७ फुटनोट।

७ हेमचन्द्र ने भी इस क्रीडा का उल्लेख किया है (अभिदान-चिंतामणि, III. ३५३)।

८ गाइड टु खजुराहो, पृ० १५–१६।

९. दी आर्ट् आफ् इडिया एड पाकिस्तान, पृ० ६१–६२।

१० तुलनीय—वासुदेवशरण अग्रवाल, पूर्व उल्लिखित सदर्भ पृ० १७६।

के निमित्त, सती-प्रस्तर के समीप एक साथ खडा दिखलाया गया है। ढाका-सग्रहालय[1] में सुरक्षित प्राक् मुगल कालीन कुछ मूर्तिकला कृतियो में बाल्य-विवाह-प्रथा के प्रचलन का आभास मिलता है। ढाका-सग्रहालय की इन प्राक् यवनकालीन (१०००–१२०० ई०)[2] हिंदू-बौद्ध मूर्तिकलाओ के अध्ययन से यह बात उजागर होती है कि घडा[3] फूलदान[4], पलग[5]-पखा[6], छाता[7], रत्नपेटी, टोकरी[8] इत्यादि चीजे साधारणत व्यवहार की जाती थी। वाद्य-यत्रो में वीणा[9] लोकप्रिय थी। यह उल्लेखनीय है कि नित्यप्रति सामान्य पूजा-उपकरण के रूप में व्यवहृत धूपदान सहित वगाल के वल्लाल सेन के शासन काल के ग्यारहवें वर्ष में जारी किया गया एक ताम्र दान-पत्र नालन्दा में प्राप्त हुआ है।[10] इस धूपदान का आकार, अग्रेजी अक्षर 's' के अल्प परिवर्तित रूप से मिलता-जुलता है। धातु की बनी दो कटोरेनुमा चकतियों पर यह आधारित है। 's' के पतले भाग से उठती हुई थूनी एक सुघड लघु पात्र (प्याला)[11] को सँभाले हुए है। इसमे फुलवारी उरेही गई है। एक अन्य कम कलात्मक धूपदान[12] (१००० ई०) राजस्थान से प्राप्त हुआ है। नालन्दा में दो लघु शख-खोल[13] पाए गए हैं, जो आधुनिक पानी-शख (पाणि-शख) से मिलते हैं। वंगाल के पुजारियो द्वारा आज भी[14] व्यवहृत ताम्र-कुण्ड की तरह और एक पूजा करने का उपकरण ताँबे का पात्र है।

लोगो की वेष-भूषा और सज-धज के सम्बन्ध में भी हमें विस्तृत विवरण मिलता है। पूर्वी कलम की मध्ययुगीन मूर्तिकलाओ[15] से प्रकट होता है कि औरते कम चौडी धोती और

---

१ एन० के० भट्टासाली आइकोनोग्राफी ऑफ् बुद्धिस्ट एण्ड ब्राह्मिनिकल् स्कल्पचर्स इन दी ढाका म्युजिअँम, फलक, XXXVI

२ रुपम, अप्रिल जुलाई-अक्तूवर १९३०, पृ० १९

३ आइकोनोग्राफी आँफ् बुद्धिस्ट एण्ड ब्राहमिनिकल् स्कल्प्चर्स इन दी ढाका म्युजिअँम-फलक VII—ए, XI—डी, VXXII—वी और VXXXII—ए

४ वही, फलक XXI

५ वही, फलक VIV—वी

६ वही, फलक VIII—वी

७ वही, फलक XVVII—वी, XVVII—ए, XVIX

८ वही, फलक XXXVI

९ वही, पूर्व उल्लिखित सदर्भ

१० इस्टर्न स्कूल आॅफ् मेडीइवॅल स्कल्प्चर्, पृ० १४३

११ वही, VXXIII—ए

१२ के० डे० वी० काॅड्रिग्टन मीडईवॅल इण्डियन स्कल्प्चर् फलक X

१३ इम्टर्न स्कूल ऑफ् मीडईवॅल स्कल्प्चर्, फलक VXII—ई और VXIX—डी

१४ वही, पृ० १४३

१५ आइकोनोगाफी ऑफ् बुस्द्धिट एण्ड ब्राह्मिनिकल् स्कल्प्चर्स इत्यादि, फलक—XXIX—XXXII—XXXIII

साडियाँ[१] पहना करती थी, काछा का भी इस्तेमाल होता था। घाघरे[२] की तरह भी साडियोंके पहनने का रिवाज था। स्त्री-पुरुष दोनो ही वर्ग के लोग नाभि के नीचे कपडे पहना करते थे।

उत्तरीय का भी व्यवहार स्त्री-पुरुष दोनो में होता था। स्त्रियाँ इसका प्रयोग बाये पयोधर को एकान्त रूप से और दाहिने पयोधर को आशिक रूप से ढांकने के लिए करती थी। फल और रेखा-अभिकल्प सामान्य प्रतिमान थे। शखाकार मुकुट, भुजवन्द, ककण, मजीर इत्यादि अलकार नर नारी दोनो ही पहनते थे। केश-प्रसाधन[३] की विभिन्न शैलियो को भी हम गया से उपलब्ध अवलोकितेश्वर-प्रतिमा (११ वी शताब्दी ई०) मे उत्कृष्ट केश-विन्यास[४] का हम दर्शन करते हैं। भुवनेश्वर के मन्दिर मे एक रमणी[५] को, बाये हाथ मे दर्पण धारण कर, श्रृंगार में रत देखते हैं। वह चित्रित चोली, मणिका खचित मेखला और हार तथा अन्य रत्नाभूषण पहने है। अहिच्छत्र से प्राप्त सत्ती-सत्त फलक मे वनिताओ का लहँगा[७] पहनना भी प्रकट होता है। खजुराहो[६] मन्दिर में अकित नारी आकृतियाँ चोली, रत्नजटित करधनी और कण्ठहार पहने दिखती है। उत्तर वग मे प्राप्त अप्सरा[८] की आकृतियो (१२ वी शताब्दी ई०) में, कमल-कोरक-दल के शीर्ष-भागो में मौक्तिक वन्दनवार, दीर्घ कवरी के दाहिने मोती की लडो सहित झूलती नजर आती है। कमल-फूलो सहित दीर्घ वर्तुलाकार मणिकाभूषित कर्णफूल, एक कण्ठाभरण तथा पयोधरो को स्पर्श करते हुए एक लम्बे हार को हम देखते है, जो शाल की सलवटो से आवृत है।

उस युग का धार्मिक जीवन कला में सबसे अधिक अभिव्यक्त हुआ है। विभिन्न धार्मिक मतो एव सम्प्रदायो की लोकप्रियता और उनके प्रचलन-क्षेत्रो की जानकारी देने मे मन्दिर एव मूर्तिकला की विविध कृतियो के प्राप्ति-स्थान, हमे सहायता पहुँचाते है। अधिकाश हिन्दू वास्तु और मूर्तिकला, गुप्तोत्तर काल मे बौद्ध धर्म के पतन और पौराणिक नव हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान[९] का साक्ष्य वहन करती हुई दिखाई पडती है। उत्तर भारत के प्रमुख राजपूत वशो द्वारा मुद्राओ में वृषभ-चिन्ह का प्रयोग, शैवमत का व्यापक प्रचार-प्रसार, विशेष-कर शासक अभिजात-वर्ग में, प्रकट करता है। वगाल के पालकालीन[१०] कुछ चित्रो (९ वी से

१ सिरसा से उपलब्ध नारी आकृतियो (जो १२वी शताब्दी ई० की है, नारियो मे साडी पहनने की भी चलन थी, यह प्रदर्शित करती है। इलाहाबाद म्युजियम्, ऐन्टिक्विटी स० ए सो/२९५४)।

२ रूपम, अप्रिल-जुलाई-अक्तूबर, १९३०, पृ० २०

३ बुद्धिस्ट एड ब्राह्मिनिकल् स्कल्प्चर्स आदि फलक VXIII, XXVII, इलाहाबाद सग्रहालय मे खजुराहो-फाटक भी देखिए।

४ दी आर्ट ऑफ् इंडिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० ५९।

५ वही, पृ० ५६।

६ ऐन्शियेन्ट इंडिया, स० ४।

७ इलाहाबाद सग्रहालय में खजुराहो-फाटक, दी आर्ट ऑफ् इंडिया एण्ड पाकिस्तान पृ० ५७

८ दी आर्ट् ऑफ् इंडिया थ्रू दी एजेज, पृ० १४३।

९ तुलनीय—बैंजामिन रोलैंड, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १६३

१० इंडियन आर्ट् थ्रू दी एजेज, पृ० ७, दी मिनिस्ट्री ऑफ् इन्फॉरमेशन एण्ड ब्रॉडकास्टिंग गवर्नमेंट ऑफ् इंडिया।

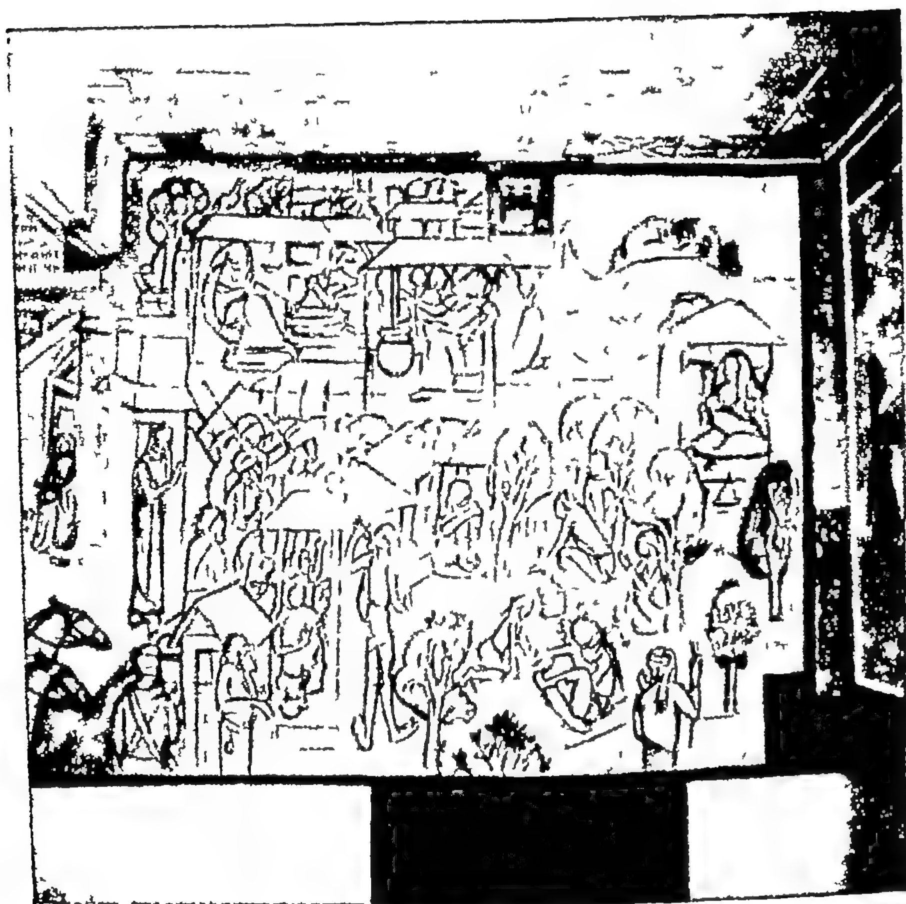
१२ वी शताब्दी ई०) एवं उडीसा[1] की मध्ययुगीन कुछ प्रतिमाओं में गम्भीर भक्ति-भावना की छाप, प्रसिद्ध भक्ति-आन्दोलन के अभ्युदय की सूचना देती है। हर्षोत्तर-काल मे तंत्रमत[2] का बढता हुआ प्रचार भी, कला मे प्रतिबिम्बित हुआ है। उस युग की मूर्ति और चित्रकला द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार तत्रमत बौद्धमत पर हावी हो गया। बगाल के पाल-स्कूल की ऐसी चित्रकलाकारी मे उल्लेख योग्य[3], नालन्दा में, रामपाल (१०९५ ई०) के शासन-काल में लिखित एक पाडुलिपि के काठ के ढक्कन पर की गई नक्काशी, अब प्रिंस ऑफ् वेल्स म्युजियम, बम्बई में सुरक्षित पाँच ताड-पत्रों[4] (१२ वी शताब्दी ई०) पर प्रज्ञा-पारमिता के निदर्शन चित्र तथा आशुतोष म्युजियम आफ् इडियन आर्ट के अन्य दो पाण्डु-लिपियों[5] पर किए गए निदर्शन-चित्र, हैं।

१२ वी शताब्दी के एक शैव साधु[6] की रोचक आकृति दक्षिण भारत से उपलब्ध हुई है। साधु को, यौगिक कुमारासन तथा व्याख्यान मुद्रा में बैठा हुआ, चित्रित किया गया है, जिसके दाहिने हाथ में रुद्राक्षमाला तथा बायें हाथ मे, जो घुटने पर टिका है, एक पुस्तक और एक फूल है। वह रुद्राक्ष का यज्ञोपवीत तथा मनको का भुज-बंध पहने हुए है तथा उसके बाये कधे पर एक कमण्डल दिखलाई पडता है।

तान्त्रिक प्रभावान्वित आरम्भिक मध्ययुगी खजुराहो मन्दिर की अश्लील नक्काशी, अंशत कलात्मक परम्परा के ह्रास एव अशत. शासक वर्ग के निम्नगामी रुचि की परिचा-यिका है। मन्दिरो में प्रचुर नर्तकियों[7] का चित्रण, देवदासी-प्रथा की सूचना देता है। उस युग का समाज-सघर्ष भी कला मे कुछ हद तक प्रतिबिम्बित हुआ है। मुख्यत समाज के निम्नस्तर से सबधित तान्त्रिक बौद्ध मत की एक शाखा वज्रयान के पुराणो में, हिन्दू देव-देवी—महेश्वर और गौरी, विष्णु, और लक्ष्मी का त्रैलोक्य-विजय[8] और वज्र ज्वालानलाकर[9] द्वारा क्रमश रौंदे जाने का, वर्णन किया गया है। नालन्दा और बौद्धगया से प्राप्त, त्रैलोक्य-विजय की दो प्रतिमाओं[10] मे उपर्युक्त धार्मिक विध-विधान प्रतिबिम्बित हुआ है। समाज-संघर्ष में उलझे बिना, धर्मदर्शन-सघर्ष ऐसा रूप ग्रहण नही कर सकता था।

---

१ तुलनीय—आर० पी० चन्दा, एम० ए० एस० आई०, अक ४४, १९३०, पृ० २०।
२. तुलनीय—वासुदेवशरण अग्रवाल, पूर्व उद्धृत गथ पृ० २४२, देखिए—मेजिक स्क्वेर्स इन ए टेम्पल ऑफ् खजुराहो, ए० एस० आई० आर०, खण्ड II, पृ० ४३४ ।
३. दी आर्ट् ऑफ् इडिया एड पाकिस्तान, पृ० ८७ ।
४ मोतीचन्द्र, दी जर्नल ऑफ् इडियन म्युजिअम्स, खड, VIII, १९५२, पृ० ९४।
५. जर्नल आफ् इडियन सोसाइटी आफ् आरिन्टल आर्ट्, खण्ड, XV पृ० ८९ और आये।
६ वही, पृ० १८१ ।
७ उदाहरणार्थ, इलाहाबाद संग्रहालय मे सुरक्षित खजुराहो-फाटक, उपरि-, भी
८ साधन-माला, खण्ड II, सं० २६२, बी० भट्टाचार्य इण्डियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी (द्वि० स०), पृ० १८४ और आगे।
९ साधन-माला, खण्ड, II, स० २६३, बी० भट्टा... ० १८३, १८४.
१० इंडियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी फलक XXXIX



लोक जीवन की झाँकी

शान्तिनिकेतन के हिन्दी भवन में भित्तिचित्र--मध्ययुगीन संतों का जीवन

—जया अप्पासामी

विनोद विहारी मुखर्जी, भित्ति-चित्र की विशिष्ट कला का अभ्यास करने वाले शान्ति-निकेतन-कलम के वरिष्ठ कलाकारों मे एक हैं। भित्तियो पर चित्रण, जिसका अभी हाल तक भारत में सुदीर्घ एव गौरवमय इतिहास बना रहा वस्तुत निर्वासित हो गया। विनोद विहारी के कार्य, हमलोगो की प्राचीन परम्परा में, शान्तिनिकेतन के अनुसधान के अग-रूप में विवेचित किए जा सकते हैं, किन्तु उससे अधिक महत्त्वपूर्ण, यह भारतीय भित्ति-चित्र मे एक नये अध्याय का सूत्रपात करता है, क्योकि यह मौलिक और आधुनिक है एव उनके वैयक्तिक उद्योग का अविच्छेद्य अग है।

नन्दलाल बोस के शिष्य के रूप में विनोद विहारी ने लगभग १९१९ मे अपने कलाकार जीवन का आरम्भ शान्तिनिकेतन में किया। नन्दलाल स्वयं एक ज्वलन्त परम्परावादी थे और शान्तिनिकेतन-कला-स्कूल के माध्यम से उन्होने देशज कलाओ को सजीवित करने एव उनके यथोचित मूल्याकन की अभिवृद्धि में योग दिया। उन्होंने आश्रम के विभिन्न भवनो के मण्डन को कला-भवन की कार्यसूची के रूप मे समाविष्ट किया तथा प्रोत्साहन दिया। भित्ति-चित्रो मे विनोद विहारी के सर्वप्रथम प्रयोग सन् १९२१ में आरम्भ हुए। तत्कालीन छात्रों ने कई एक दिलूहा-वन्दी के कार्य सम्पन्न किए, जो शिशु-विभाग की बाहरी दीवारों पर गहरे ताखो में जडे हुए हैं। प्रथम पर्व का प्रतिनिधित्व करते हुए, उनमे से आज भी कुछ वहाँ मौजूद हैं, जिनमे परम्परा का प्रभूत प्रभाव लक्षणीय है। शान्तिनिकेतन में और भी कई दर्शनीय भित्ति-चित्र हैं, जो अनुमानत १९२१ से १९४८ के बीच निष्पन्न हुए हैं। ये विविध शिल्प पद्धतियो में हैं। जयपुर शैली में लाइब्रेरी बरामदे की सजावट और श्रीनिकेतन की एक दीवाल पर हलकर्षण का भित्तिचित्र, दो अविस्मरणीय कृत्य हैं। भित्ति-चित्रो की प्राचीन प्रतिकृतियो मे सबसे न्यारा प्रतिरूप बाघ का है, जो १९४१ ई० में पुराने [illegible] के स्टुडियो की दीवाल पर उत्कीर्ण किया गया था। ऊपर जिन कार्यों का उल्लेख किया गया, वे सभी नन्दलाल बोस और उनके छात्रो द्वारा सम्पन्न हुए थे। इनका उद्धरण, सिर्फ यह दर्शाने के लिए दे रही हू कि भित्ति-चित्रो के पुनरुद्धार की सामान्य अभिरुचि क्रियाशील थी।

विनोद विहारी भित्ति-चित्रो मे बहुधा प्रयोग किया करते थे। उन्होंने नानाविध विधाएँ अपनायी, जिनमें [illegible], 'एँग् टेम्परा' और 'फ्रेस्को बुओनो' हैं। उन्होंने [illegible] भित्ति-चित्रण भी आजमाया। उनकी याद की महत्त्वपूर्ण कृतियों में, [illegible] छात्रावास (बरामदे की दीवार और छत) और चीन-भवन की पहली मंजिल की दीवारों के चित्र हैं।

हिन्दी-भवन के भित्ति-चित्र, उनके भित्ति-चित्रण कार्य के शिखर के रूप में, अलग खड़े दिखते हैं, एक तरह से ये उनकी कला के निष्कर्ष हैं।

सामान्य चित्रण की अपेक्षा भित्ति-चित्रण को भिन्न रूप से स्वीकृति देनी चाहिए। प्रथम स्थान में, भित्ति-चित्र दीवाल के अंग हैं, इसका कार्य स्थापत्य को सवारना होता है और मण्डन के माध्यम से भवन को और भी अधिक अर्थपूर्ण बनाना। उसके धरातल के साथ जँचने लायक उपकरणों का चुनाव करते हुए और उस स्थान-विशेष मे सार्थक कृति की सृष्टि के लिए कलाकार को सस्थिति में काम करना पड़ता है। जब तक वह अपनी तकनीक की पूरी दक्षता प्राप्त नही कर लेता है, प्रक्रिया ही उसे निमग्न और सीमाबद्ध करने के लिए तत्पर रहती है, सिर्फ तभी, जब उसने प्रक्रिया पर अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह स्वतंत्रता पूर्वक कार्य कर सकता है एव किसी सौन्दर्य-परिणाम तक पहुँचने के लिए अपनी सीमाओ का उपयोग, यहाँ तक कि उनसे लाभ भी उठा सकता है। तब भित्ति-चित्र, कलाकृति बनने के लिए संश्लिष्ट सारूप्य बोध और क्रिया की दृष्टि से, शिल्प-कौशल की सीमाओं को पार कर जाता है, यह अपने आप मे एक इकाई है किन्तु वृहत् अखंड का भी अंश है, यह अपने विषय-वस्तु को तो व्यक्त करता ही है, साथ ही चित्रकार के मानस को भी। इसकी शानदार और बहुमुखी अभिव्यक्ति जिस गृह को अलंकृत करती है, वह चिरस्थायी गौरव का विषय बन जाता है एव तब हम लोगो को प्राचीन मन्दिरों तथा यूरोप के गिरजाघरो के भित्ति-चित्रों का स्मरण हो आता है कि इस प्रकार के कार्य सम्पन्न किए जा सकते हैं। किन्तु आधुनिक युग मे ऐसा कर पाना और भी कठिन है, अतः इसलिए कि कोई एकरूप रुचि या शैली हमारे युग पर छायी हुई नही है। प्रत्येक कलाकार बेजोड होता है, यद्यपि वह सहयोगियो का चयन कर सकता है, सरचना एव अभिव्यक्ति का भार उस पर ही अधिक रहता है। स्वय वही परिणाम के लिये उत्तरदायी होता है।

हिन्दी-भवन, शान्ति निकेतन के भित्ति-चित्र, केन्द्रीय ग्रन्थागार-कक्ष के तीन तरफ से चित्रित किए गए है। दीवालो के उत्तरार्द्ध पर भित्तिचित्र, दरवाजों और खिड़कियों के ऊपरी सिरों से छत तक, विस्तीर्ण हैं। गेरुए रंग में रंगी पतली किनारी के सिवा इसमे कोई चौखट (फ्रेम) नही है, इसकी प्रशस्त नयनरंजक चित्रयवनिका (टेपस्ट्रि) बीच की सारी जगह को किसी प्राचीन किमखाब की तरह भरती है। इसकी छतगीरी अनलंकृत है, सिवा तीन फीट चौड़ी एक पट्टी के, जो उन्ही नयनाभिराम रंगो द्वारा चित्रित बरबस ध्यान को न आकृष्ट करने वाले अपरूप अभिकल्पों (डिजाइन्स) में है। शान्ति निकेतन में हिन्दी-भवन एक सस्था है, जो शोध में निरत है। इसका सामान्य पर्यावरण शान्त है, वृक्षों के बीच स्थित यह भवन, उस प्राचीन आश्रम-परम्परा का निर्वाह करता हुआ दिखता है, जिसका उद्देश्य 'सादा जीवन, उच्च विचार' था।

इन भित्ति-चित्र का विषय 'मध्यकालीन सतो का जीवन' है। विस्तारपूर्ण चर्चा करने के लिए यहाँ यह विषय रूप से अधिक व्यापक है, यहाँ सिर्फ यह देखना महत्वपूर्ण है कि कलाकार ने अपने विषय-वस्तु का कैसा प्रतिपादन किया है। भारत के मुक्त तान्त्रिक, माग- सिद्ध और गुरु थे, जिनके भाव और संगीत ने हमारे आध्यात्मिक विचारों को मधुर बनाया है,



काशी-गंगाघाट पर कीर्तन—नानक के अनुयायी रबाब बजाते हुए।



काशी गंगा में नौकारूढ भजन कीर्तन मण्डली ।

आह्लादपूर्ण समर्पण द्वारा जिनका जीवन एक निर्दिष्ट जीवन पद्धति का दृष्टान्त था। उनमें से अधिकाश गृहविहीन—उस महापथ के तीर्थ यात्री थे, जिन्हे अन्वेषण मे परमानन्द की प्राप्ति होती थी, विराग ही ईश्वर की उपलब्धि का साधन था और प्रेम ही उनका एक मात्र पुरस्कार था।

भित्ति-चित्र की सरचना अखण्ड एव महाकाव्यात्मक है। यह जनाकीर्ण या रूपो से स्फीत कहा जा सकता है। फनदार आकार, छतो के ऋजुरेखीय गलियारे एव स्थापत्य विशेषरूप से मनोहारी होते हैं। प्रत्येक आकार को किसी सशक्त, चिरस्थायी एव स्पष्ट इकाई मे सरलीकृत किया जाता है और ये बलिष्ठ बिम्ब सन्निकट, ग्रथित और परस्पर सम्बद्ध होते है, वे पूर्ण अखण्ड यथार्थ के अश रूप मे प्रतिभात होते हैं। भू-दृश्य, गृह, वृक्ष और आकृतियो के अवस्थान रूपात्मक आकारो के लघुतम हर मे परिवर्तित किए जाते है तथा भारी कूची से इस प्रकार चिह्नित किए जाते हैं कि प्रत्येक आकृति का वर्णन करते हुए उसे जीवन-दान करते है। आकार एक दूसरे मे विलीन होते चले जाते है, पल्लवगुच्छ स्थापत्य पर, आकृतियो, भू-दृश्य पर ढुलकते-फिसलते अविछिन्न रूप से दृष्टि को ज्वार भाटे की गति से सामने की ओर ले जाती हैं। विलाना और उभरना, नीरवता और मुखरता, समग्र चित्रात्मक कृति एक पल भर में जीवन की शोभायात्रा बन जाती है, ऐसी है इसकी सक्षिप्तता और सार्वभौमिकता। एक उदाम ग्रेगरीय (पोप ग्रेगरी का) लय इसके दूरत्व को मापता हुआ प्रतीत होता है।

इस बृहत् सयोजन के रग मटियाले और रागात्मकता रहित है। भगवा, मटियाला लाल और हाजा पत्थर (टेराभरट) रग प्रधान हैं, पाडु फलक पर पारदर्शी रग की झलक बिखेर दी गई है जब कि श्यामवर्ण का व्यवहार सूक्ष्म विवरण के प्रस्फुटन तथा रगाभास की विविधता द्वारा आकृतियो के स्वरूप दान मे हुआ है। रगो का पुट हल्का सफेद से लेकर लाल है, किन्तु रगो को गहराई कही भी नही है। गहराई और सकोचन सोचे गए है, रगे नही गए है। आकृतियो की गति द्वारा दृष्टि कभी भीतर और कभी बाहर की ओर परिचालित होती है, श्वेत आकार या वस्त्ररूपो के स्थल भी न तो प्रकाशमान हैं और न आवश्यक रूप से अगपरिगर। रग समग्र भाव से, कठिन वैराग्य, अनुशासन और उस विषय के पक्षपोषको के अपरिग्रह से भी सामजस्य रखता हुआ चलता है। यहा हम हर प्रकार के धार्मिकतत्त्वान्वेषको का समावेश देखते है, जिन्होने आत्म-सिद्धि के लिए ससार का परित्याग कर दिया है। उनमें से कुछ बाल-सुलभ भोलापन लिए हुए आश्चर्य-मिश्रित आनन्द में समाधिस्थ है, कुछ प्रशान्त और सन्तुलित, दूसरे उपदेश देते या सेवा-भाव लिए हुए, किन्तु सब में प्रत्याहार, आत्म-सतोष, जागरूकता और गहन चिन्तन की सत्यता का तत्त्व निहित है। यहां जिस जीवन का अकन किया गया वह सिर्फ सन्तो का ही नही, उन लोगो का भी है, जो उनके इर्द गिर्द है, एव वह विशेष भू-विग्रह जो उनका ही परिवेश है। हम उन साधको को उनके अभीष्ट तीर्थों और पहाड़ी-आश्रयो में देखते है, हम उन गावो को भी देखते है, जहां के लोग श्रद्धा-पोषण करते है एव उनके सम्मान को समझते है। ग्रामीण भारत का एक पृष्ठाधार—वीरभूम की यह अपनी निराली 'राङा माटी' (लाल मिट्टी) उनको सजाए हुए है। यह सामान्य जीवन के अनेक रेखाचित्रो से उजागर की गयी है, गलियो मे घरेलू कार्यों मे, हाट की हलचल से नदियो के घाटो मे, नीरव हुए प्रान्तो मे। साधक इनके निकट सहित निर-

लाई पडते है या ईश्वर का गुणगान करते हुए सगीतज्ञो के साथ या उपदेश देते हुए अथवा एकान्तवास करते हुए परिलक्षित होते हैं। वे महिमा मे अकेले (अद्वितीय) है, किन्तु एकाकी नही। वे लीला से सम्वद्ध हैं, उस परम्परा के है, जिसने उन्हें उद्‌भासित किया है। नाम और स्थान को त्यागकर सारे जगत् को घर और आकाश को आश्रय के रूप मे ग्रहण करने वाले ये रमते योगी उस विश्वास-धारा के अश है, जिसने इस धरती को पुष्ट किया है।

विनोद विहारी मुखर्जी का अकन यहाँ मचीय तत्त्वो से आवेष्टित दिखलाई पडता है। उनकी वर्षो मे सिद्धहस्तता-प्राप्त सक्षिप्त और सुगठित रैखिक भाषा कूची द्वारा उनके सुपरिचित जीवन के भावचित्र सरलतम रूप से और भावावेश रहित उभारती है। यह भाषा अपने उत्तर काल मे सुलेखीय और अमूर्त्तप्राय हो गई है। उनकी चित्र कलाकारी और रेखाकृतियों में इनका प्रकारात्मक प्रकाश देखा जा सकता है। प्रथमत उनकी संरचनाएँ रगो की स्थूल रेखाओ की वनी होती हैं या स्थापत्य द्वारा प्रसार-क्षेत्र की। ये आकृति एव आकारो द्वारा प्रभावहीन कर दी जाती है, सूक्ष्म काली-कूची की रेखाओ द्वारा चिह्नित की जाती है, जो कुचित किन्तु तीव्र होती हैं, रग क्षेत्र वाह्य रेखाओ से मेल नही खाते हैं पर स्वच्छन्दता से उनकी सीमाएँ लाघ जाते है। भित्ति-चित्रो मे यही तत्त्व वृहत् एवं चिरस्थायी रूप से रेखाकित है। आकृतियो या वृक्षो या गृहो की इकाइयाँ स्फटकीय प्रस्फुटन मे एक साथ मिल जाती हैं। कभी-कभी आकृतियो मे, जैसे सन्तो का, पूर्ण विवरण अकित किया जाता है, वे आभ्यन्तरिक प्राण-वायु से युक्त प्रतीत होते हैं, गौण आकृतियो मे, मुख्य खडी आकृतियो की ऊर्ध्वता प्राय दोहराई गई है। वर्ण सरलीकृत रेखण का अनुसरण करता है, यह समतल नही है किन्तु स्पष्ट क्रम-विन्यास द्वारा आकारो को स्वरूप देता है। आकृतियाँ विस्तार-रहित हैं तथापि विविधता और व्यक्ति वैचित्र्य-रहित नही हैं। यहाँ अनेक प्रतिरूपो, जैसे—श्मश्रुवहुल से लेकर मुडे हुए सिरो का, स्थूलकाय से लेकर क्षीणकाय, नग्न से लेकर वस्त्राच्छादित शरीरो का निदर्शन मिलता है। आकृतियाँ भी आशिक रूप मे दिखलाई पडती हैं, स्थापत्य के उभाडो के वीच और आर-पार सिर्फ उत्तरार्द्ध प्रकट या ओझल होता हुआ लगता है। अकन भरी नाव को पानी के पार कराता है, दूर मे हम देखते हैं कि नाव घाट पर लग चुकी है। दूसरी दीवार पर एक औपचारिक शोभायात्रा देखते हैं, घोडे और सैनिक एक दाढ़ी-धारी आरोही के साथ चले जा रहे हैं।

सेलिनी द्वारा वर्णित 'फ्रेस्को बुउनो' शिल्पविधि को, जिसे सामान्यत आर्द्र-प्रक्रिया (वेट प्रोसेस) कहा जाता है, कलाकार ने अपनाया है। जैसा पहले उल्लेख किया गया था कि विनोद विहारी शान्ति निकेतन की दूसरी दीवारो पर इस पद्धति का प्रयोग कर चुके थे, इस परिचित रीति से हटकर उन्होने पलस्तर की और एक परत लगायी। एक के वाद दूसरी परत लगायी गयी, आधी चूने की आधी वालू की। चूना के असार अश को जमाने के लिए भारतीय प्रयोग-पद्धति के अनुसार इसे दही के साथ मिला दिया जाता है। जव यह चौरस और निविड रूप से ठोस हो जाता है तव इसका सामान्य धरातल रेशमी पाडु रग का होता है, यह खुरदरा होता है किन्तु इसका विन्यास टसर की तरह होता है। किरमिज या नील द्वारा अपने स्थायी विषय की सीमा निर्धारित कर चित्रकार तूलिका से भीगी दीवाल पर कार्य आरम्भ कर देता है। इसके स्थान और आकृतियो को प्रत्यक्ष रीति से न्यास करते हुए वह सरचना को



कवीर और अनुयायी. दाहिने कोने मे ऊपर महाप्रभु वल्लभाचाय

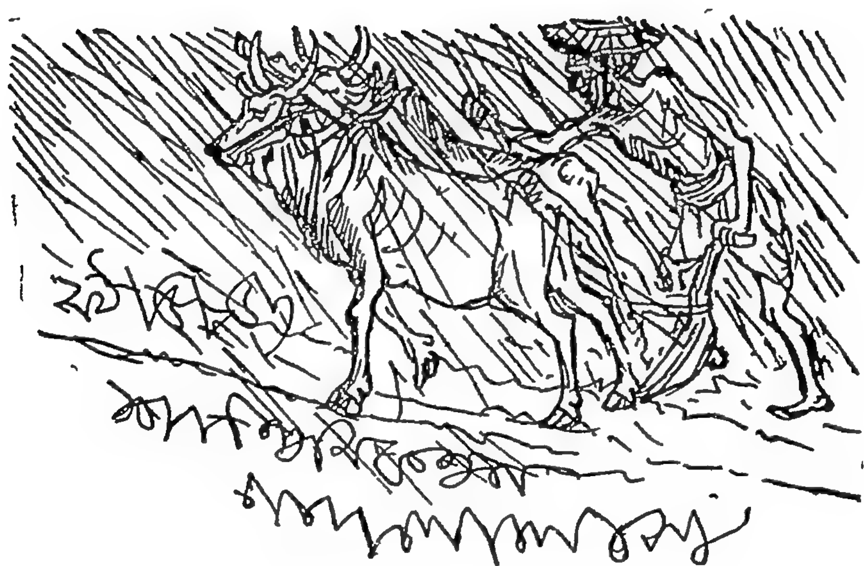
रूपरेखा प्रस्तुत करता है। यह प्रारम्भिक स्थापन कतिपय घण्टों में ही वाष्पित हो कर अदृश्य हो जाता है और इसके उपरान्त ही शीघ्रता से रगो का कार्य आरम्भ होता है। लगाने के बाद रग पारदर्शक हो जाते हैं, भले ही छूने में घने और चिकने लगते हो। केवल खनिज रगो का व्यवहार होता है—जैसे, हरमुजी, हाजापत्थर, भगवा और काला, नीले रग का सर्वथा अभाव उल्लेख योग्य है। रेखाएँ और कूची की लकीरे सुधारी या सँवारी नही जा सकती है, हालांकि गहरे रगो को तीव्र और घना करने के लिए पुन चित्रण की आवश्यकता पडती है, रग सम्पुटक के अन्दर सूखते हैं और स्थायी हो जाते हैं। बाद मे दीवाल की सतह, बहुत सख्त होने के पहले, बोतल की रगड के सहारे चमकायी जाती है। तकनीक, जैसा हम अवलोकन करते हैं, माध्यम के द्रुत और दक्ष निर्वाह पर निर्भर करती है, इसमें मृदु सूक्ष्माचार वर्जित है किन्तु स्पष्ट असदिग्ध निरूपण की अपेक्षा रहती है। वस्तुत कलाकार को अपने अन्त करण में सरचना करनी पडती है, उसके पास उसे आरोपित करने का ही समय रहता है। यह शिल्प-विधि, इसके वृहत् आयोजन, वितरित स्वराकन और विस्तार लाघव सहित, सम्भवत विनोद विहारी मुखर्जी की प्रतिभा के सर्वथा उपयुक्त और स्वाभाविक है।

समग्र भित्ति-चित्र एक अखण्ड दृश्य होता है, फिर भी इसका सवध सिर्फ आँखो से नही होता, मन से भी होता है। मध्ययुगीन सन्तोके भव्य समारोह को सजीव करते समय यह, कलाकार के विचारो उसके उद्देश्यो और अभिरुचियो तथा उनकी सिद्धि को भी व्यक्त करता है। यहाँ जो चीजे अकित की जाती हैं, उनकी भावनाओ के प्रति एक दृढ किन्तु मूलभूत विश्वास रहता है। इसका विरोधाभास ऐसा है कि जब तक विषय कला तथा संवेदनात्मक अनुभूति के जगत् के माध्यम से व्यक्त होता है, 'सौन्दर्य' की बहुत ही कम छूट होती है। साधक की तरह कलाकार की अभिप्रेत जीवन-विधि होती है। उसके सयोजन का रचनामूलक गठन बहुस्तरीय होता है तथा कृति की तरह ही सर्वग्राही, इसके माध्यम से ही शाश्वत सौन्दर्य की तलाश जारी रहती है। मध्ययुगीन सन्तो का ध्येय और इस कला का लक्ष्य, समातर है। उसके सदृश, कलाकार जगत् में रह कर भी जगत् का नही है, यद्यपि मानवीय परिस्थिति के वशीभूत वह भूमा का रसानुभव करता है।

विनोद विहारी के भित्ति-चित्र, उसकी कला और दर्शन के, समवेत भाष्य माने जा सकते है। यह एक कला है, उस तीर्थयात्री की तरह, जो सत्य की खोज के लिए उद्विग्न है। अमूर्त्त मूलक सौन्दर्य के लिए वे वर्णन और भावावेश को अग्राह्य करते है, जिस नयम के फल-स्वरूप सौष्ठव और भावसाम्य की उपलब्धि हुई। जब हम विनोद विहारी के उद्योग का, उसके काल और परिवेश की पृष्ठभूमि में अध्ययन करते है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी देन, बौद्धिक और रूपात्मक कला की ओर अधिक है। बगाल स्कूल की रागात्मकता को, गुरु गम्भीरता से पूर्ण विश्लेषणात्मक रचना की निकटता दिखायी। उन्होंने दैनदिन जीवन के विषयो को गरिमा और वास्तविकता लक्षणो की अपरिहार्यता प्रदान की। उनकी अतीत की कथात्मकता के विपरीत उनकी गद्यात्मकता ने नया आयाम दिया और उनकी विश्लेषणात्मक पद्धति ने, भविष्य के अमूर्त्तीकरण का सफलता ने नेतृत्व किया।

हिन्दी-भवन का भित्ति-चित्र न केवल सौन्दर्यबोध द्वारा [illegible] किया है, वह

अनेक शक्तियो का विराट् समन्वय है, क्योकि यह भाव और रूप, विषय और अभिव्यक्ति, कला और परिवेश का—जो एक दूसरे में अन्तर्लीन और निर्भरशील है, एक साथ उपस्थापन है। इन सबके ऊपर कलाकार विराग की भावना के साथ तादात्म्य सबध स्थापित कर लेता है, जिसका यह स्वय भाष्यकार है। हमारे युग के चित्रकार की भाषा में यह हम लोगो के समक्ष सन्तो का सन्देश प्रस्तुत करता है।





रामानद और उनके अनुयायी

हरियाणा खण्ड

•

यौधेयों का ऐतिहासिक अध्ययन

सुरेन्द्रनाथ चोपड़ा

मौर्यों के पतन से लेकर गुप्तो के उत्थान तक का काल हरियाणा के इतिहास में एक अत्यन्त रोचक पर्व है। इस युग की प्रमुख विशेषता यौधेयो में अदम्य शक्ति का आविर्भाव है, जिन्होने यमुना और सतलज के मध्यवर्ती एव सीमावर्ती अचलो के राजनीतिक, धार्मिक एवं सास्कृतिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

अराजकता के कारण मौर्यो की सर्वोच्च सत्ता ई० पू० १८७ मे ढह गई और उत्तरी भारत का अधिकाश भू-भाग विदेशी आक्रमणकारियो—हिन्दू ग्रीक, पार्थव, शक एव यूह्-चियो के अधीन हो गया। यद्यपि उन्होने तीन शताब्दियो से अधिक काल तक क्रमानुसार शासन किया, फिर भी यहाँ की मिट्टी में वे जड नही जमा सके, लोग उन्हें विदेशी ही समझते रहे। महान् सम्राट् कनिष्क ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, किन्तु उसके उत्तराधिकारी उसे अधिक दिनो तक अक्षुण्ण न रख सके। जव उन्हे देश से निकाल वाहर करने के संकल्प से अनेक गणतन्त्र जातियाँ एव राजतन्त्र सघटित आन्दोलन मे प्रवृत्त हुए तो राजनीतिक मच से कुषाण सदा के लिए अन्तर्धान हो गए। कुषाणो को जड से उखाड फेंकने में यौधेयो ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया और विजयोल्लास के उपलक्ष्य में "यौधेय गण की जय हो" अकित कर मुद्राएँ चालू की। उन्होने न केवल देश को दासता से मुक्त किया, वल्कि कुषाण-शक्ति के तिरोधान से उत्पन्न शून्यता को जनप्रिय तत्र की स्थापना द्वारा पूर्ण कर राजनीतिक और आर्थिक दोनो दृष्टियो से स्थायित्व प्रदान किया।

हरियाणा से यौधेयो का सम्बन्ध इतना गहरा और पुराना है कि यह सूत्र महाभारत[1]-काल तक चला जाता है। यौधेयो का उल्लेख हरिवश[2] पुराण में भी मिलता है और साथ ही अन्य नौ पुराणो में, यथा, वायु, विष्णु, मत्स्य, भागवत, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, ब्रह्म, अग्नि और गरुड, इन सभी मे इनके सम्बन्ध मे एक ही प्रकार का विवरण उपलब्ध है। श्यामिलक[3] द्वारा प्रणीत सस्कृत नाटक 'पदताडितक', जिसकी रचना उत्तरकालीन गुप्त युग में हुई थी, में रोहतक के गवैयो द्वारा यौधेय देश के गीत गाने का वर्णन है।

---

१ युधिष्ठिर के पुत्र के रूप में यौधेय का उल्लेख हुआ है—महाभारत, I ९५ ७६ (गोरख-पुर सस्करण), तुलनीय वाकाटक गुप्त युग, पृ० २९।

२ हरिवश पुराण में तथापि यह वर्णन मिलता है कि यौधेय अनु-वंश के नृपति नृग की संतति थी। तुलनीय पार्जिटर : एन्शेन्ट् हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृ० १०९। यौधेय राजपूतो के वंशधर थे—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ४७६, और भी देखिए, जे० आर० ए० एस०, १८९७, पृ० ८८७।

३ पदताडितक, पृ० १६८ म० मोतीचन्द्र और वासुदेवशरण अग्रवाल।

महाभारत में यौधेय और रोहितको[१] (आधुनिक रोहतक निवासियो) को अभिन्न समझा गया है। महान् ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने, जो छठवी शताब्दी में हुए थे, भारतीय भूगोल का वर्णन करते हुए यौधेयो के भारत के उत्तराखण्ड[२] में वसने की वात लिखी है। रोहतक नगर के समीप खोखरकोट नामक स्तूप से यौधेयो[३] के सिक्का-ढलाई के वहुत से साँचे पाए गए हैं। इनमें 'यौधेयाना वहुधान्यक' आलेख उत्कीर्ण है। अत यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रोहतक के इर्द-गिर्द का इलाका यौधेयो का राज्य वहुधान्यक था, जो उस समय न केवल शासन का अधिष्ठान था वल्कि टकशाल नगर भी था। अतएव यह कहना युक्तिसगत होगा कि उस समय हरियाणा[४] का ही दूसरा नाम वहुधान्यक था। वहुधान्यक नाम का अर्थ ही ऐसे प्रदेश से है, जहाँ शस्य उत्पादन प्रचुर परिमाण में होता हो एव इससे यह भी ध्वनित होता है कि यौधेयो की आर्थिक समृद्धि की रीढ कृषि-सम्पत्ति ही थी। यौधेय लोग महान् योद्धा थे। वे जिस निपुणता के साथ तलवार चलाते थे उसी तरह हल भी। महाभारत-काल से अपने पराक्रम और साहस के कार्यों के लिए वे विख्यात थे। उल्लेख मिलता है कि भारत के उस महासमर में वे कौरवो के समवर्गी थे, जिसमें उनके वडे-वडे सूरमा युद्धक्षेत्र[५] में खेत रहे। कई वार उनके योद्धाओ को अर्जुन, भीम और युधिष्ठिर[६] से जूझने का अवसर मिला था। महावैयाकरण पाणिनि ने उनके साहसिक कार्यों की पुनरावृत्ति, ई० पू० पाँचवी शताव्दी मे अपने विश्रुत ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में की है। पाणिनि ने उन्हें 'रणकुशल राजा'[७] और 'रणकुशल जाति'[८] के रूप में स्मरण किया है। यौधेयो की सर्वाधिक विलक्षण विशेषता सम्भवत उनकी युद्धप्रियता थी। उन्होने इस प्राणशक्ति को धार्मिक जीवन में भी पूर्णरूपेण सजीवित किया, यहाँ तक कि वे पौरुष और पराक्रम के प्रतीक देवता कार्त्तिकेय, जिनकी ख्याति युद्ध-देवता के रूप में है, के महाभक्त थे। कार्तिकेय के प्रिय प्रदेश के रूप में रोहितक का वर्णन महाभारत में हुआ है। अपने राज्य को महान् युद्ध-देवता के नाम समर्पण करते हुए, वर्छाधारी युद्ध सज्जा से सज्जित कार्तिकेय या कुमार के प्रतीक उनकी मुद्राओ[९] में उत्कृष्ट रूप से उत्कीर्ण हैं।

गणतत्रवादी शासन उनकी सम्यता की मुख्य विशेषता थी। इस क्षेत्र में गणराज्य के

---

१ महाभारत, II ४२, ४–६।

२ वृहत् सहिता—XIV २८।

३ तुलनीय, वी० वी० साहनी दी टेक्नीक आफ कास्टिंग काएन्स इन एनशेन्ट इण्डिया।

४ एस० चट्टोपाध्याय अर्लि हिस्ट्री आफ नार्थ इण्डिया, दृ० ५२।

५ महाभारत, VIII ५ ४७

६ वही, VII १९ १६, VII १६१ ५, VII १५७ ३०

७ IV १ १७८

८ V १ ११७

९ देखिए, एलन कै 'टैलॉग ऑफ दी काएँन्स ऑफ एन्' शेन्ट इडिया इन दी ब्रिटिश म्युजिअम, पृ० २७० से आगे। जे० एन० वनर्जी डेवलॅपमेंन्ट ऑफ हिन्दू आइकनाग्राफि, पृ० १४२।

कायम होने का उल्लेख सर्व प्रथम पाणिनि[1] ने किया है, उन्होने इस प्रसग मे वाहिक प्रदेश, जिसकी व्याख्या नदियों का देश अर्थात् पजाब[2] थी, के और भी कई एक गणतत्रो (सघो) का स्थान निर्धारित किया है। सिकन्दर के इतिहासकारो ने भी, यहाँ के लोगो के सम्बन्ध मे नामोल्लेख न करते हुए, अप्रत्यक्ष रूप से सकेत किया है कि ये हाइफासिस अर्थात् व्यास नदी के उस पार अत्यन्त उर्वर प्रदेश के रहने वाले थे। वहाँ के निवासी समृद्ध कृषक और युद्ध-वीर थे। वे उत्कृष्ट आन्तरिक शासन-प्रणाली में वसते थे और शासक कुलीन नेता भी उन पर न्याय और मध्यम-मार्ग (नरमी)[3] से राज करते थे। मेगास्थनीज[4] ने सिर्फ उन गण-राज्यो का विवरण दिया है, जो मौर्यो की केन्द्रीय शक्ति के अधीन थे। इस प्रकार के गणतत्रो की स्थिति से अच्छी तरह अवगत रहते हुए भी कौटिल्य ने अपने समय के गणतन्त्र के नामो का उल्लेख नही किया है। जिस नाम से वहाँ के लोग परिचित थे, उसका उल्लेख किए विना वह उन्हें वार्त्ताशस्त्रोपजीविन[5] कहता है। इन गणराज्यो के सम्बन्ध मे अच्छी धारणा पोषण नही करने के कारण, उनके यथाशीघ्र उच्छेद के लिए वह राजा को परामर्श देता है।

महान् प्रतापी राजा नन्दो के पाटलिपुत्र के साथ, ग्रीक इतिहासकारो द्वारा वर्णित गणराज्य का सादृश्य स्थापित नही किया जा सकता सिर्फ इसलिए कि उस समय वहाँ राज-तन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का प्रचलन था। कौटिल्य के विवरण समेत इन उच्चकोटि (क्ला-सिकल) के विवरणो मे प्रमाणो का अभाव है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि पूर्वोक्त अज्ञातनामा गणराज्य यौधेय गणराज्य से भिन्न था। इसके विपरीत यदि हम व्यास नदी के उस पार वसने वाले लोगो के गुणो, स्थानीय शासन-प्रणाली एव भौगोलिक परिपार्श्व पर विचार करे तो यह मानना पडेगा कि ये वही लोग है, जो यौधेय नाम से प्रसिद्ध थे।

मौर्यो के पतन से ले कर कुषाणो के अन्तिम रूप से श्रीहीन होने तक, जो १७६ ई०[6] के लगभग घटित हुआ, यौधेयो के अस्तित्व के लिए कठिन सघर्ष का काल रहा है, इसमें उन्हे अपरिसीम वलिदान देना पडा। उनके इतिहास मे इसे अस्थिरता का युग कहा जायेगा, उस वीच उन्हें विदेशी घुमक्कड दलो से, जो इस इलाके में शासन करते थे, लगातार सामना करना पडा। जब कभी उन्हें अवसर मिला, इन विदेशी शासको के विरुद्ध उन्होने सशस्त्र बगावत का

१ IV १ १६८

२ के० पी० जायसवाल हिन्दू पालिटि, परिच्छेद १४।

३ जे० डब्ल्यु० मैक्क्रिण्डल एनशेन्ट इंडिया ऐज् डिस्क्राइब्ड् बाइ मेगास्थनीज ऐण्ड एरियन पृ० ८३, २१२, दिओदरस्–II ४१, एरियन—XII।

४ वही, इन्वेजन आफ् अलेक्जण्डर दी ग्रेट, पृ० १२१ फुट नोट, एरियन—V २५, स्त्राबो (XV ३५) के अनुसार गणतन्त्र में पाँच हजार पार्षद थे, प्रत्येक ने राजा को एक एक हाथी भेट दिया।

५ इससे संकेत मिलता है कि प्रजा के हाथ मे उद्योग, व्यवसाय और युद्ध कर्म था।

६ भारतीय भूमि से प्राप्त सबसे अन्तिम मुद्राएँ, जो कनिष्क संवत् ९८ की हैं, इससे मेल खाती हैं।

झडा खडा किया। वास्तव में वह स्वतन्त्रता-प्रिय जाति थी, तब तक उन्हे शान्ति नही मिली जब तक उन्होने विदेशी सत्ता से अपने देश को मुक्त न किया।

इतिहास के विभिन्न कालो में शक्ति के लिए यौधेयो ने जो सघर्ष किया है, उनकी मुद्राओ के अध्ययन से यह पता चलता है। यौधेयो[1] द्वारा जारी की गई तीन विशिष्ट प्रकार की मुद्राएँ, तीन विभिन्न कालो की द्योतक है। प्रथम वर्ग की मुद्राएँ, जिनमें 'वृषभ और गज' के प्रतीक[2] अकित हैं, ई० पू० द्वितीय और प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध की हो सकती है। द्वितीय वर्ग की अधिकाश मुद्राएँ, जिनमें छह सिरो वाले कात्तिकेय की अनुकृति है एव 'ब्रह्मण्य-देवस्य भ'[3] या 'भागवत स्वामिनो ब्रह्मण्य (देव) यौधेय'[4] आलेख है, द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध की हो सकती है। तृतीय वर्ग की मुद्राएँ, जिनमे यौधेय (योधेय) गणस्य जय'[5] आलेख है, तीसरी और चौथी शताब्दी की है।

प्रथम वर्ग की मुद्राएँ पुष्यमित्र शुगोत्तरकालीन है, जब यौधेयों ने शुगो की छद्म मौर्य-शक्ति से अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। यह स्वतन्त्रता किन्तु क्षणस्थायी रही और यौधेय लोग विदेशी आक्रमणकारियो—जैसे, हिन्दू, ग्रीक, पार्थव और शको द्वारा अवश्य ही पराजित किए गए होगे। द्वितीय वर्ग की मुद्राएँ अल्पकालिक हैं, जब उनकी भाग्यलक्ष्मी ने करवट ली और थोडे समय के लिए उन्होने आजादी हासिल की। जब ये मुद्राएँ चालू की गई, खूब सम्भव है, शको ने यौधेयो को कुछ हद तक आभ्यन्तरिक स्वायत्त शासन प्रदान किया होगा। किन्तु इतिहास का सबसे अन्धकारमय युग कुपाण-शासनकाल है, जब सारी सत्ता केंद्रित कर ली गई और वे सिक्के चलाने के अधिकार से वचित कर दिए गए। किन्तु इस काल में भी, पश्चिमी शक क्षत्रप राजा रुद्रदामन्, जो उत्तर भारत का विजयोत्सव मनाने के लिए आया था,

---

१ विस्तृत विवरण के लिए देखिए—एलन पूर्व उद्धृत ग्रन्थ—CL11—111

२ वी० ए० स्मिथ कैटॅलॉग ऑफ् दी काएँन्स इन इडियन म्युजिअॅम कलकत्ता, पृ० १८०, रैप्सन इडियन काएँन्स, पृ० १५

३ वी० ए० स्मिथ पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८१, क्र० सं० ८, फलक XX। १५

४ एलक पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ७८, फलक V। ११

५ वी० ए० स्मिथ, (पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० १८२, क्र० स० २१, फलक XX। १८) मुद्रा के सम्बन्ध में इस प्रकार वर्णन करता है सीधा—राजा या देवता की आकृति सामने की ओर मुँह किए खडी, जिसके दाहिने हाथ में वर्छी है और वायाँ हाथ कटिप्रदेश पर, वायी ओर वायें पैर के समीप मयूर है। ब्राह्मी लिपि में सुन्दर रूप से अंकित है, यौधेय (योधेय) गणस्य जय, 'यौधेय-गण की जय हो।' उल्टा—कुपाण मुद्राओ पर उत्कीर्ण मीरो की तरह, वायी ओर मुडती हुई वस्त्राच्छादित पुरुषाकृति, दायाँ हाथ फैला हुआ और हाथ कटिप्रदेश पर विन्दुकित वृत। यह युग मृण्मय मुहर या मन्नत फलको का भी है, जो लुधियाना के समीप 'सुनेत' से पाए गए हैं (हॉर्नले, जर्नल एसियाटिक सोसाइटी बगाल, १८८४, पृ० १३८–४०), जिनमें लिखा है 'यौधयन जयन्त्रधरन। और भी देखिए—अल्तेकर प्रॅसीडिंग्स ऑफ् दी इण्डिया ऑरियेन्टेल कॉन्फेरेन्स् वनारस, १९४३, पृ० ५१३ से आगे।

के गिरनार के अभिलेखो[1] (१५० ई०) मे यौधेयो के भव्य पराक्रम की गाथा प्रोज्ज्वल है, जिसमें उन्हें 'स्वाभिमानी' कहा गया है एव जो अपनी उपाधि सभी क्षत्रियो में श्रेष्ठ घोषित करते है,

तृतीय वर्ग की मुद्राएँ, जो क्रम में अन्तिम है, उस समय जारी की गई थी जब यौधेय पौरुष के चरम सीमा पर थे और कुषाणो के साथ उनके कठोर युद्ध का अन्त हो चुका था। इन सिक्कों के प्रचलन के साथ गुप्तों के आधिपत्य स्थापना के पूर्व, एक ऐसे युग का सूत्रपात हुआ जिसमे करीब १५० वर्षो तक, हरियाणा और उसके निकटवर्ती[2] अचलो मे यौधेय एक दुर्जेय शक्ति के रूप मे परिणत हो गए। विदेशी दासता से मुक्त करने के, स्वतन्त्रता के उस महासग्राम में, जिन स्वतन्त्रताप्रिय एव पराक्रमी यौधेयो ने अपने प्राणो की आहुति दी थी, 'योद्धा' या 'विजय' के प्रतीकात्मक ये मुद्राये, उनके उपयुक्त स्मारक है। महत्ता और मात्रा की दृष्टि से राजनीतिक क्षेत्र में उनकी देन अद्वितीय है। कहने का तात्पर्य है, यदि चन्द्रगुप्त देश को यवनो की जजीरो से मुक्ति दिलाकर प्रसिद्ध हुए तो यौधेय कुषाणो के भीषण आक्रमणो से देश की रक्षा कर सूरमा बन गए।



१ अेपिग्राफिका इडिका, VIII पृ० ४२ से आगे—'सर्व क्षत्राविष्कृतवीर शब्दजातोत्सेकाविधेयाना। तुलनीय-एलन पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २७६, कॉम्प्रिहेन्सिव् हिस्ट्री ऑफ् इडिया, पृ० २५५

२ कनिंघम के अनुसार यौधेय लोग भवालपुर की सीमा पर जो जोहियावार कहलाता है, सतलज के दोनों तटो पर बसते थे। (ए एस आर, खण्ड XIV तुलनीय—CII. III पृ० २५१, जे आर ए एस १८९७, पृ० ८८७ से आगे)।

महाभारत एवं पुराणकालीन हरियाणा

विष्णुदत्त भरद्वाज

वैदिक साहित्य मे कुरुक्षेत्र (हरियाणा) का उल्लेख

हरियाणा वह प्रदेश है जिसकी पावन भूमि पर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था। वैदिक साहित्य में अर्थात् वेद[1], ब्राह्मण[2], आरण्यक[3], उपनिषद्[4], सूत्र[5], मे हरियाणा के लिए कुरुक्षेत्र शब्द मिलता है। इसके अतिरिक्त अर्वाचीन, उपनिषद्, महाभारत, पुराण तथा ऐतिहासिक ग्रथो में हरियाणा के लिए कुरुक्षेत्र और कुरुजागल शब्दो के प्रयोग मिलते हैं। ऋग्वेद में कुरुक्षेत्र (हरियाणा) की सरस्वती नदी और उसकी सात सहायक नदियो का भी उल्लेख है। यजुर्वेद में कुरुक्षेत्र (हरियाणा) को इन्द्र, विष्णु और शिव की यज्ञभूमि कहा है।

महाभारत मे कुरुक्षेत्र का उल्लेख

महाभारत में कुरुक्षेत्र का सविस्तार वर्णन मिलता है। सूर्य कन्या तपती के गर्भ से सम्राट् सवरण द्वारा उत्पन्न कुरु राजा थे। (आदि० ९४।४८) इनके द्वारा वाहिनी के गर्भ से अश्ववान्, अभिष्यन्त, चैत्ररथ, मुनि एव जनमेजय का जन्म हुआ। इनके नाम से कुरुक्षेत्र एव कुरुजागल प्रदेश की प्रसिद्धि हुई। इनकी तपस्या से कुरुक्षेत्र पवित्र हुआ। (आदि० ९४,५०-५१) कुरुक्षेत्र मे इनके यज्ञ करते समय सरस्वती नदी 'सुरेणु' नाम से प्रकट हुई थी।

कुरु का क्षेत्र कुरुक्षेत्र कहलाता है। यह सरस्वती एव दृषद्वती नामक नदी का मध्यवर्ती क्षेत्र है। इसमें निवास का विशेष माहात्म्य है। (वन० ८३।४।२०४-२०५) कुरु ने तपस्या से इस क्षेत्र को पवित्र बनाया था। (आदि० ९४,५०)। वनयात्रा के समय पाण्डवो का यहाँ आगमन हुआ (वन० ५-१। कुरुक्षेत्र की सीमा मे मान्धाता यज्ञस्थल के

---

१ (क) ऋग्वेद ९।६५।२२ घ—ऋग्वेद ७ २।८
(ख) ऋग्वेद ९।११३।१ ङ—ऋग्वेद ७।३६।६
(ग) ऋग्वेद ८।७।२९ च—ऋग्वेद ७।९५।१ तथा ७।५६।१

२ शतपथब्राह्मण—"कुरुक्षेत्र वै देवाना देवयजनमास"

३ तैत्तिरीय आरण्यक ५।१।१ (यहाँ कुरुक्षेत्र (हरियाणा) की सीमा का उल्लेख है।)

४ (क) छान्दोग्योपनिषद् १।१०।१
(ख) छागलेयोयनिषद् ३।१
(ग) जावालदर्शनोपनिषद् ४।४१

५ (क) वौद्धायन श्रौ० १८।४५।
(ख) कात्यायन श्रौ० २६।६, ३०-३२।

अवशेष चुलकाणा ग्राम से निकट है, ऐसी लोकप्रथा है। मुद्गल ऋषि कुरुक्षेत्र में ही रहते थे (वन० २६०।३)। भीष्म और परशुराम का युद्ध कुरुक्षेत्र में हुआ था (उद्योग १७८-२२)। कौरव और पाण्डव युद्ध के लिए कुरुक्षेत्र में ही एकत्र हुए थे। और वही श्री कृष्ण के मुख से अर्जुन को गीता का उपदेश मिला था। भीष्म० २५ अ० से ४२ अ० तक) महाभारत युद्ध का मैदान कुरुक्षेत्र ही था (भीष्म पर्व से शल्य पर्व तक) इसी क्षेत्र मे भीष्मजी शर शय्या पर पडे थे (भीष्म ११९।९२) कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी ओघवती के रूप में प्रकट हुई थी (शल्य ३८।३-४।) पहले कुरुक्षेत्र समन्तपचक क्षेत्र था।

महाराज कुरु के समय से इसका नाम कुरुक्षेत्र पडा। इसकी सीमा का निर्धारण और महिमा शल्य पर्व अ० ५३ मे दी हुई है।

कुरुक्षेत्र की सीमाः—रामपूर्वतापनि-उपनिपद् मे कुरुद्वयम् का उल्लेख है। लोक परम्परा में भी हरियाणा के दो भाग देवधरती (देवधरित्री, स०) तथा अटक (अटक स०) का प्रयोग मिलता है। लोक में देवधरती कुरुक्षेत्र भूमि को कहते हैं। कुरुजागल के लिए लोक में अडक शब्द प्रयुक्त होता है।

हरियाणा के लिए हरियाणक और हरिवाणक का उल्लेख अर्वाचीन ग्रथो तथा शिलालेखो में मिलता है। अत हरियाणक और हरिवाणक कुरुक्षेत्र और कुरुजागल या देवधरती और अटक के पर्याय है। वामनपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।[1] पृथूदक (पहेवा ग्राम) हरियाणा में है। कुरुक्षेत्र (हरियाणा) की सीमा का उल्लेख वामन पुराण २०-७० में देखा जा सकता है। महाभारत के आरण्यक पर्व में कुरुक्षेत्र सीमा का इस प्रकार वर्णन है — 'तरन्तुकारान्तुकयोर्यदन्तर रामह्रदाना मचक्रूकस्य च एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपचक पिता महस्योत्तरवेदिरुच्यते।'[2]

हरियाणा का नामकरण —अब प्रश्न यह उठता है कि कुरुक्षेत्र का नाम हरियाणा कैसे पडा। इस विषय में कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित है, जो महाभारत-कालीन कृष्ण, परशुराम (जिन्हें हरि भी कहते है) से सम्बद्ध है। वस्तुत हरियाणा महाभारतकालीन ही नहीं यह वैदिककालीन है। हरियाणा की सस्कृति, धर्म, तीर्थस्थान इत्यादि के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् मेरा यह विनम्र कथन है कि 'हरियाणा' या 'हरियाणक' शब्द हरि और यान से बना है। हरि (विष्णु, सूर्य) का पर्याय है। हरियान = हरियाणा वैदिक काल में सूर्योपासक क्षेत्र रहा है और यह पौराणिककाल में चतुर्भुज विष्णु का उपासना-क्षेत्र बन गया। अनन्तकाल से कुरुक्षेत्र मे जो मेला लगता है वह सूर्यग्रहण पर ही लगता है। इसके अतिरिक्त कुरुक्षेत्र में विभिन्न तीर्थों पर सूर्य कुण्डो की विद्यमानता इस बात को पुष्टि करती है कि यह क्षेत्र सूर्योपासक क्षेत्र है। जनश्रुति के आधार पर यह क्षेत्र पक्षिराज गरुड की तपोभूमि है। यहाँ पर चतुर्भुज विष्णु ने गरुड को हरियान पद प्रदान कर इस क्षेत्र को हरियाणक नाम से अभिहित किया। पौराणिक युग के पश्चात् यहाँ शैव सम्प्रदाय का बोलबाला हो गया। अत हरियाणा हरयाण (शिवोपासक) बन गया।

---

१ वामन १२।४५

२ आरण्यकपर्व ८३–१०८

महाभारत का हरियाणा—महाभारत में कुरुवन एक प्रसिद्ध प्रदेश था। आधुनिक हरियाणा कुरुवन का वह भूभाग है जो कौरवो ने पाण्डवो को दिया था। इस प्रदेश में पाणिप्रस्थ (पानीपथ), श्रोणिप्रस्थ (सोनीपत) इत्यादि है। महाभारत काल में हरियाणा में एक अश्वमेध यज्ञ किया गया था जिसमें उग्रसेन सम्मिलित हुए थे। यज्ञोपरान्त यज्ञस्थल का अगराहो (अगरवा) नाम रखा गया। अगरोहा हिसार के समीप है। यहाँ से अग्रवाल वैश्य जाति की उत्पत्ति मानी जाती है। अगरोहा का ध्वमावशेष 'थेह' कहलाता है। यहाँ राजा उग्रसेन के काल के सिक्के तथा प्राचीन नगर निर्माण योजना के ध्वस रूप मिलते हैं। हयहय वंशी राजाओ का गढ हांसी से २०-२५ मील दूर राखीगढी है। परशुराम ने जिस स्थल पर पितृतर्पण किया था वह स्थल रामह्रद या रामश कहलाता है।

महाभारत के बाद का हरियाणा—पार्श्वनाथचरितपुराण के निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होता है कि हरियाणा की प्रसिद्ध नगरी दिल्ली थी।

"हरियाणए देसे असख गाम गामियणा,
जणि अणवरभ काम परचक्क
विहट्टणु सिरि सघट्टणु जो सुखइणा
परिगणिय। रिउरुति रावट्टणु विउलु
पवट्टणु दिल्ली नामेण जिमिणिय।
जहि असिवर तोडिउ रिउ कपालु।
णरणाहु प्रसिद्ध अणग वालु,
णिरुदलवड्ढिय हम्मीर वीरु
वहियणविद पवियण्य चीरू।"

(कवि श्रीधर रचित पार्श्वनाथ चरितपुराण)

(असख्य गाँववाले हरियापा देश में दिल्ली नामक एक नगर था। वह सुदृढ आकार वाले उच्च गोपुरो, आनन्ददायक मदिरो और सुन्दर उपवनो से अलकृत था। उसमें असख्य घोडे, हाथी और सैनिक थे। वह अनेक नाटको और प्रेक्षागृहो से सम्पन्न था। वहाँ उत्तम तलवारो से शत्रुकलापो को भग्न करने वाला, अगपाल नामक एक राजा था। उसने हमीर दल को वढाया था और वन्दीजनो को वस्त्र प्रदान किए थे।)

हिसार जिले का इतिहास (अमीनकृत) से ज्ञात होता है कि अगपाल के पुत्र का नाम जाटू था। उसने जाटोहा साढा वसाया। और जाटू के भाई हरपाल ने राजली, गुराणा ग्रामो को हिसार जिले मे वसाया। हांसी और हिसार भी पृथ्वीराज की राजधानी रहे थे। इन नगरो का उल्लेख पृथ्वीराज रासो मे मिलता है। जाटू की सतान ने वलियाली, मगाली, हाजमपुर, जमालपुर ग्राम हिसार जिले मे वसाए। जाटू की सतान मुसलमान हो गई थी। इसीलिए वे रांघड (राजपूत मुसलमान) वन गए थे। १९४७ में जाटू की सतान पाकिस्तान चली गयी। हांसी मे एक सूफी फकीर की कब्र है जिसकी अव भी वडी मान्यता है। सुलतान मुहम्मद विन तुगलक के एक शिलालेख में लिखा है—'देशोऽस्ति हरियानाख्य।' अन्यत्र हरियाणा के विपय में निम्नलिखित श्लोक मिलते है :—

"अभोजितोमरैरादी चौहाणैस्तदनंतरम् ।
हरिवाणभूरेपा शकेन्द्रै शास्यतेऽधुना ॥"
(अखण्ड प्रकाश, प० वरनीवर हांसी)

"प्रालवग्रामपूर्वे तु कुशुभग्रामपश्चिमे ।
हरिवाण भूरेपा सर्वसस्यावर्द्धिनी ॥"

ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर कहा जा सकता है कि यह यौधेय वीरो का जनपद रहा है। यौधेयो की प्रभूत विभूति का वर्णन अपभ्रंश कवि पुष्पदत ने किया है। रोहतक यौधेयो की राजधानी रहा है। महाभारत में नकुल दिग्विजय में आता है कि नकुल दिल्ली के पश्चिम की ओर बढा और वह रोहतक होता हुआ मेहम (महित्यम्) और सिरसा (शैरीक) तक गया है।

हरियाणा के वैदिक, महाभारत-कालीन और अद्यतन रूप से परिचय प्राप्त करने के पश्चात् हम महाभारत, नारद और वामन पुराण मे दी हुई हरियाणा की तीर्थयात्राक्रम का परम्परा से चले आते तीर्थक्रम से मिलान कर इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि हरियाणा के अधिकाश ग्राम महाभारतकालीन ग्रामो के अपभ्रश रूप है।

कुरुक्षेत्र की सीमा—कुरुक्षेत्र किसी नगर विशेष का ही नाम नही, अपितु लगभग चालीस कोस के एक विशाल भूभाग को कुरुक्षेत्र कहते है जिसके ईषाण कोण में पीपली (कुरुक्षेत्र) के निकट अरन्तुक यक्ष (रतन या रन्तुक यक्ष ह०), पूर्वदक्षिण कोण मे सीख ग्राम के निकट तरन्तुक यक्ष (ररखू ह०), पश्चिम दक्षिण कोण मे रामहृद (रागग ह०) के पास कपिल यक्ष तथा उत्तर पश्चिम कोण में बहर के पास मचक्रुक यक्ष है। सत्ययुग में कुरुक्षेत्र का नाम 'ब्रह्मावर्त' और त्रेता मे परशुराम तीर्थ या स्यमत पचक, द्वापर तथा कलि में 'कुरुक्षेत्र' है। यह क्षेत्र दृषद्वती और सरस्वती नदियो का मध्यवर्ती भाग है।

कुरुवन की सीमा—हिसार जिले में सिसार, हांसी, भिवाणी, फतेहबाद, सरसा, डबवाली तथा टोहाणा तहसीले हैं। सरसा, हिसार तथा फतेहबाद की तहसीलो का अधिकाश 'बागड क्षेत्र की 'बागडी' कहलाती है। हांसी, भिवाणी और हिसार की तहसीलो को 'बागर' या 'चकहरियाणा' कहते है बांगर की बोली 'बांगरू' 'हरियाणी', 'जाट्टू' 'देसवाली' कहलाती है। खादर में जमुना नदी के समीप लगता हुआ सोनीपत, पानीपत तहसीलो का भूभाग है। गोहाना और रोहतक तहसीलो का अधिकाश भूभाग 'बागर' में है। जींद या गंगीपवर्ती क्षेत्र (गिरदा, द०) जिसे बोली में 'गधारवाल' कहते है, बागर का भाग है। पटियाला और नाभा का भी कुछ भाग 'बागर' कहलाता है जिसे निनाण[1] कहते है। विनाण में बावन गांव है। कुरुक्षेत्र की भूमि नरदक, खादर, बागर, बेट और टेर नाम से बोली जाती है। राजेंद

---

१. विनाण के ग्राम—करमगढ, धरोदी, धमताण, लौन, अलगा, गुन्त वाला, अमरगढ़, दणोदा, लोताणी, सैन्पली, बालवा, गाल, विनाआला, मूर्रआला, गाज्जूखाना, विठमरा, महीरगढ।
'ह०' हरियाणी शब्द का द्योतक है।

से फरल और करनाल से कुरुक्षेत्र के बीच के भूभाग को 'नरदक' कहते हैं। राजोद से फरल २५ मील है और कुरुक्षेत्र से करनाल २५ मील है। छातर, ठूआ, अलेवा, वरसौला, खटकड, कसूण, कुचराया, लोधार, मटोर, कलाथ, वालूवात्ता, साधण के पास के गांव और जीद के निकट के सफीदम, सीख, रामरा, पिण्डारा, ईक्कस, पाकेरीखेडी, 'वागर' में सम्मिलित हैं। जिस क्षेत्र में सरस्वती और घग्घर के नाले वहते है उसे 'नाली' कहते हैं। नाली में क्योंडक, अरणाय, वावालदाणा, मालखेडी आदि गांव है। थानेश्वर के भूभाग को मारकण्डे वेट और लाडवे का ग्रेर कहते हैं। थानेश्वर से शाहावाद तक, थानेश्वर से पेहवा तक मुरताजपुर से इसलामावाद तक के भूभाग को 'मारकन्डे का वेट' कहते हैं। क्योकि वरसात में मारकण्डा नदी इस भूभाग के खेतो को लहराती है। मारकण्डे के वेट के उत्तर-पश्चिम में शाहावाद, पश्चिम में पेहवा, पश्चिन दक्षिण में वीवीपुर उत्तरपश्चिम में इसलामावाद है। लाडवे के ढेर का पूर्वदक्षिण का पाया खुर्दन घरौना, पश्चिम दक्षिण का पाया उभरी, पूर्वोत्तर का पाया (सीमा) रादौर और उत्तरपश्चिम का पाया लण्डी हैं।

कुरुक्षेत्र के तीर्थ स्थान—थानेश्वर नगर से ईषाण कोण में दो कोस की दूरी पर (अरन्तुक यक्षा, स०) 'रत्नक[1] यक्ष' है। इस यक्ष से उत्तर में प्राची सरस्वती के तट पर 'कोटि तीर्थ' है। कोटितीर्थ से दो कोस की दूरी पर गोवर्धनपुर में 'मानसी गगा' है। रतनक यक्ष से चार कोस 'अमीण' ग्राम है जिसके पास महाभारत काल में 'अदितिवन'[2] था। अमीण के ईशाण कोण में 'अदितिकु ड' है। अदितिकुण्ड के दक्षिण में 'वामनकुण्ड' है। वन-मालि ने वामनकुण्ड को यहाँ अप्रमाणित माना हैं। इस कुण्ड के दक्षिण 'भचकुक कुन्ड' है। इससे दो कोस पर वडगल ग्राम है। वडगल से चार कोस पर सोखडा है। सोखडा अमीण से छ कोस पर 'सगा' ग्राम है, जिसके ईपाण कोण में विष्णु का स्थान 'विमल'[3] है। यहाँ भगवान् विष्णु से विमल ऋपि के निमित्त पैर मार कर जल निकाला था। यहाँ पर श्रीकृष्ण और वलदेव को एक आसन पर विराजमान देखकर मनुष्य समस्त पापो से मुक्त हो जाता है। सगा से दो कोस भलोलपुर (वहलोलपुर) है जिसके ईपाण कोण में 'परिप्लव तीर्थ'[४] है। यहाँ महर्पि पाराशर ने घोर तपस्या की थी। इस तीर्थ पर फाल्गुन शुक्ल एकादशी को वडा भारी मेला लगता हैं। भलोलपुर से दो कोस पर वालू ग्राम है। इस ग्राम के वायु कोण में 'पृथिवी तीर्थ[५] है जिसे लोक मे 'चामसर' कहते हैं। वालू से तीन कोस औंगद (औगध) हैं। इसके दक्षिण 'आगप्रतीर्थ' है। रामचन्द्र-श्रीपाद ने यहाँ तीन तीर्थ प्रमाणित किये हैं— १—पुण्यकवास, २—दशरथ तीर्थ (जसरा), ३—अगम तीर्थ। औगद से पांच कोस की दूरी पर 'दाचौर' है। यहाँ चिनग नदी में दक्षेश्वर[६] तीर्थ है। यहाँ दक्ष प्रजापति ने तप किया

---

१ नारदपुराण, २५, ४२।

२ वही, ४३, ४४।

३ वही, ४५, ४६, ४७ तथा महाभा० वन० तीर्थ ४३ वां अध्याय १०, ११।

१ नारद० ४८ तथा ४९। एव महा० व० ती० ८३ अ० ११-१२।

२ नारद० ५०, ५१। एवं महा० व० ती० ८३ अ० १३।

३. नारद० ५२।

था। दाचर से तीन कोस पर 'लावला' में 'लवतीर्थ' है। लावला से दो कोस पर 'कुडलण' ग्राम में 'कुशतीर्थ' है। दाचार से लगभग आठ कोस पर 'साल्वण' ग्राम है, जहाँ 'शालूकिनी'[1] तीर्थ है। महाभारत मे यहाँ पर दशाश्वमेव तीर्थ का उल्लेख है। यहाँ ब्रह्मा ने देवताओं के साथ दशाश्वमेधयज्ञ किया है। सालवण से एक कोस पर रसालुवा के दक्षिण ब्रह्म तीर्थ (कच्चाजोहडा) है। रसालवा से दो कोस भीमणवाद तथा भीमणवाद से एक कोस साहणपुर है। सोहनपुर से छह कोस पर 'सफीदम' है। सफीदम के दक्षिण में 'सप्ततीर्थ'[2] और पश्चिम मे आस्तिक मुनि का आश्रम है। सफीदम मे राजा जनमेजय ने अपने पिता परीक्षित के डसने का बदला लेने की इच्छा से सर्पदमन यज्ञ किया था। सफीदम से पाँच कोस 'सीख' ग्राम है। सीख गाव से आधा कोस पर दक्षिण दिशा के आग्नेय कोण में 'तरन्तुक यज्ञ'[4] (तरावू) है।

सीख से दो कोस पर हाट के वायव्यकोण पर 'पच नदी तीर्थ'[5] (पचनीढाव, ह०) कोटितीर्थ तथा उत्तर मे 'हाटकेश्वर' तीर्थ है। पचनद तीर्थ पर भगवान् शकर ने असुरो को भयभीत करने के लिए पाच नाद किए थे। 'कोटितीर्थ'[6] में भगवान् शकर ने करोड तीर्थों को एकत्रित किया था। यहाँ पर कोटीश्वर (वृहत् पिण्डी) महादेव है। श्रावण शुक्ल पक्ष के अन्तिम रविवार को यहाँ भारी मेला लगता है। हठकेश्वर पर अर्जुन ने अश्वत्थामा को मारने का हठ किया था पर श्रीकृष्ण और द्रौपदी के कहने पर मणि निकाल कर छोड दिया। उसी समय से इस तीर्थ को 'हठकेश्वर' कहते हैं। यही पर तीसरा तीर्थ 'वामन'[7] है। यहाँ पर भगवान् वामन को सभी देवो ने स्थापित किया था। हाट से साढे तीन कोस पर 'चौंसठ योगिनी तीर्थ' कलौती मे है। कलौती से दो कोस कालवा के पूर्व मे 'ययातिकुड' है। कालवा से आठ कोस पर 'आसण'[8] ग्राम के पश्चिम मे 'अश्विनीकुमार तीर्थ' है। यहाँ अश्विनीकुमार ने राजा शर्याती की पुत्री सुकन्या के पातिव्रत्य से प्रसन्न होकर उस के वृद्धपति च्यवन को इस तीर्थ में स्नान करवा कर वृद्ध से युवा बनाया था। आसन से दो कोस पर 'वराह'[9] है, जिसके दक्षिण मे 'वराहतीर्थ' है। भगवान् वराह यही पर अवतरित हुए थे, जिन्होंने हिरण्याक्ष को मारकर पृथ्वी का उद्धार किया। वराह से तीन कोस पर 'पिण्डारा' के उत्तर मे 'पिंडारक' सोम तीर्थ[10] है। महर्षि कण्व सत्ययुग मे सोमतीर्थ पर स्नान करने आये थे। सोम-

---

१ नारद० ५३ एव महा० व० ती० ८३ प्र० १३-१४।
२ नारद० ५४ एव महा० ती० ८३, प्र० १५।
३ महा० व० ती० ८३ अ० १५।
४ नारद० ५६-५७ एव महा० व० ती० ८३ अ० १६।
५ नारद० ५६। ५७। तथा महा० व० ती० ८३ अ० १६।
६ महा० व० ती० ८३ अ ५८, ५९, १७।
७ नारद० ६०।
८ नारद० ६१ तथा महा० व० ती० ८३ अ० १७।
९ नारद० ६२ तथा महा० व० ती० ८३ अ० १८ तथा १९।
१० नारद० ६३।

वती अमावस्या पर यहाँ बहुत बडा मेला लगता है। पिंडारक से तीन कोस पर 'जींद'[1] है जिसके उत्तर में 'सोमतीर्थ' (सोमेश्वर) है, पूर्व में भूतेश्वर तीर्थ, वायव्य कोण में ज्वालमालेश्वर, दक्षिण में वनखडी महादेव, अग्निकोण मे शठारी (ठठारी), पश्चिम में जयन्ती देवी मदिर है। जींद मे दो कोस पर 'इक्कस'[1] मे, दक्षिण दिशा में 'एक हस' तीर्थ है जिसे 'ढुँढू' कहते हैं। महाभारत युद्ध के अन्त मे भयभीत दुर्योधन इस तीर्थ में छिप गया था, ढूँढने पर वह यहाँ मिला। फिर यही पर युद्ध करता हुआ भीमसेन द्वारा मारा गया। ढुंढू के निकट ही कृतशौच (पुन पुन) तीर्थ है, जिसे 'नृसिंह ढाव' भी कहते है। 'भगवान् नृसिंह ने हिरण्यकशिपु को मार कर यहाँ रक्त पूर्ण हाथ बारबार धोया था। कृत शौच के उत्तर में 'मूजवट'[3] तीर्थ है। यही पर महाग्राहिणी यक्षिणी ह्रद है। यहाँ से लगभग दो कोस पोहकरखेडी है, जिसके पश्चिम में 'पुष्कर तीर्थ[4] है। पोकरखेड़ी से एक कोस की दूरी पर 'रामरा' है। रामरा (रामह्रद)[5] के पूर्व मे 'यक्षकुण्ड' कपिलयक्ष तथा उसकी पत्नी उलूखलमेखला है। कपिल यक्ष के उत्तर में सन्निहित और रामह्रद तीर्थ है।

रामरा से पाँच कोस पर वरसोला ग्राम है जिसके दक्षिण में 'वशमूलतीर्थ'[6] है। खटकड से दो कोस 'कसूण' के पूर्व मे 'कायशोधतीर्थ'[7] है। कसूण से दो कोस घोघडिया है। घोघडिया से तीन कोस 'कर सिंधु' है। करसिंधु से एक कोस 'अलीपुर' है। अलीपुर से ८ कोस पर 'लोहवार'[8] क उत्तर 'लोकोद्धार' तीर्थ ६ है। लोहवार से एक कोस पर मटोर है जिसके पूर्व मृकण्डेश्वर (मुकटेश्वर) तीर्थ है। लोहवार से दो कोस 'कसाण' के उत्तर 'श्रीतीर्थ'[9] और शालिग्रम तार्थ है। कसाण से तान कोस की दूरी पर 'कलायत'[10] है, जिसके दक्षिण कपिला ह्रद तीर्थ है। कलायत से चार कोस वालू म 'वालखिल्य तीर्थ' है। वालू से तोन कोस 'वाता' मे 'मरुद्गण' तोर्थ है। कलायत से आठ कोस सजूमा[11] क पश्चिम सूर्यतीर्थ है। सूर्यवन भी इसी ग्राम के निकट है। 'सजूमा' से दो कोस 'गुहणा' है जिसके पश्चिमोत्तर में 'गोमवन'[12] तीर्थ है। यहाँ भाद्रपद की चतुर्थी को गो मेला लगता है। गुहणा से दो कोस

१. महा० व० ती० ८३ अ० १९ तथा २० और नारद० ६४।
२ नारद० ६५ तथा महा० व० ती० ८३ अ० २०, २१।
३. नारद० ६६, ६७ तथा महा० व० ती० ८३ अ० २२ तथा २३।
४ नारद० ६८ तथा महा० व० ती० ८३ अ० २४,२५।
५ नारद० ७०,८० तथा महा० व० ती० ८३ अ० ७२,२६।
६ नारद० ७२ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ४१,४२।
७ महा० व० ती० ८३ अ० ४२,४३।
८ नारद० ७४ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ४४,४५।
९ नारद० ७५ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ४६।
१० नारद० ७६,७७,४७।
११ नारद० ७८, तथा महा० व० ती० ८३ अ० ४८,४९।
१२. नारद० ७९ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ५०।

'साघण' के पूर्व 'शखिनी देवी तीर्थ'[1] है तथा उत्तर 'ब्रह्मावर्त तीर्थ' है। साघण से चार कोस पर वहर ग्राम के उत्तर सरस्वती के तट पर 'यक्षतीर्थ'[2] है।

वहर से दो कोस पर वमरोत है जिसके वायुकोण में ब्रह्मावर्ती तीर्थ[3] है। वमरौत से तीन कोस पर सोमथा के ईशाण कोण में 'सुतीर्थ'[4] है। सोमथा से एक कोस पर पोलडथा में सरस्वती में इक्षुमती और 'अशुमति सगम' है, जहाँ भव नामक महादेव के पूजन का विधान है। पोलडथा से चार कोस 'कक्योर' मे कामेश्वर तीर्थ'[5] है। कक्योर से चार कोस ववारतन से पश्चिम मे कायरत्न तीर्थ है। ववारतन से एक कोस माडी के पूर्व सप्तमातृकातीर्थ है। 'रसूलपुर' के पूर्व 'मातृगया'[6] तीर्थ है।

रसूलपुर से तीन कोस की दूरी पर सीवण (सीतावन)[7] है, जिसके पश्चिमोत्तर में स्वानुलोमा पहतीर्थ (साल्लोकी, लोक प्रसिद्ध नाम), के पूर्व 'केशाग्य' और दक्षिण 'दशाश्वमेध तीर्थ है। सीवण के वायु कोण मे 'ऋणमोचन तीर्थ' है। सीवण से तीन कोस माणस के पूर्व 'मानुप'[8] तीर्थ है। मानस से दो कोस गादली के पूर्व 'आपगा'[9] नदी है। गादली से एक कोस शीलाखेडी के वायु कोण में 'ब्रह्मोदुम्बर तीर्थ'[10] है, वही डोभी मे सप्तर्षि कुण्ड[11] है। सिल्होखेडी से एक कोस कैथल से आधे कोस पर किरमिच के उत्तर 'कुलपुनीते'[12] तीर्थ है। (कुलोत्तारण तीर्थ)। किरमिच से तीन कोस पवणावा ग्राम के पूर्व पवनह्लद[13] है। पवणावा से दो कोस पर 'वदलाणा' है जिसके दक्षिण में 'अमृततीर्थ'[14] है। वदलाणा से एक कोस पर 'कोल' की ईषाणाश्रित पूर्व दिशा मे कुलोत्तारण तीर्थ (कलणहार ह०) है। कौल से आठ कोस पर 'सारसा' के अग्निकोण मे 'शालिहोत्र' तीर्थ[15] है। सारसा से एक कोस पर व्यासखेडी के ईषाण में व्यासह्लद तीर्थ है। व्यासखेडी के पश्चिम में 'पुनह' 'तापनतीर्थ' है। व्यासखेडी से ढाई कोस पर सधोली है जिससे चार कोस की दूरी पर गुमयला है। गुमयला

---

१. महा० व० ती० ८३ अ० ५१।
२ नारद ८१।
३ महा० व० ती० ८३ अ० ५३।
४ महा० व० ती० ८३ अ० ५४,५५।
५ महा० व० ती० ८३ अ० ५७ तथा नारद० ८०।
६ महा० व० ती० ८३ अ० अ० ५८ तथा नारद० ८१।
७ महा० व० ती० ८३ अ० ५९–६४ तथा नारद० ८२–८३।
८ नारद० ८४ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ६५,६६।
९ नारद० ८५ तथा ८६ एव महा० व० ती० ८३ अ० ६७–६९–७०
१० नारद० ८८।
११ महा० व० ती० ८३ अ०।
१२ कुलम्पुने नर स्नात्वा पुनाति स्वकुल तत ।
१३ नारद० १२१ तथा महा० १०५।
१४ महा ८३ १०६।
१५ शालिहोत्रस्य राजर्षे ।

के पश्चिम में एक कोस पर 'मालधन खेडी' है। मालधन खेडी के पूर्व 'दिगतापन तीर्थ' है। मालधन खेडी से चार कोस पर 'न्यावच' (नीच) है। न्यावच से डेढ कोस पर कक्योर है। यहाँ कामेश्वर तीर्थ दक्षिणोत्तर तीर पर है। न्यावच से डेढ कोस पर 'बाणपुर'[१] (श्रीतीर्थ) है। वानपुर मे श्रीकुजतीर्थ (कुजविहारी) है। वानपुर से लगभग चौथाई कोस की दूरी पर न्यावच (विहार तीर्थ) हैं जिसके ईशान मे 'नैमिष' तीर्थ है। न्यावच से दो कोस पर 'वेलवती' है जिसके नैऋत्य कोण मे वेदतीर्थ (विलौती, ह०) है। विलौंती से डेढ कोस पर 'स्थाणा'[२] ग्राम के वायव्याश्रित पश्चिम दिशा में ब्रह्मतीर्थ है। थाणा से तीन कोस पर 'गुथकला' है जिसके पूर्व सोमतीर्थ[3] है। गुमथला से दो कोस पर 'मकण' (मागण, ह०) ग्राम है। मागण ग्राम मे सप्तसारस्वत तीर्थ[४] है। (वृद्धकेदार शिव स०) 'विधक्यार'[५] तोर्थ है। कैथल से एक कोस कलसी ढावर है, जिसमें कलसीतीर्थ[६] है। कलसी से एक कोस शेरगड के उत्तर में शरकतीर्थ[७] तथा पश्चिम मे भय कोटिह्द्रकूप (रुद्रकोटीश्वर) है। कलसी के उत्तर में[८] किंदान'[९] 'किंजप्य'[१०] तीर्थ है। किंजप्य से एक कोस पर सर्गखेडी या ड्योढ खेडी है। ड्योढखेडी के उत्तर मे एक कोस पर 'धन्यजन्मा'[११] तीर्थ है। ड्योढ खेडी से लगभग दस कोस पर 'पण्ड्री' के ईशान मे पुण्डरीक तीर्थ[१२] है पुडरी से दो कोस पर मोहणा के ईशान में मधुवन तीर्थ[१३] है। यहाँ दृपद्वती और कौशिकी का सगम है।

ट्योठा से दो कोस पर 'साकरा' के पश्चिम मे शक्रवर्त तीर्थ[१४] है। साकरा से पांच कोस पर फलगू[१५] (फलकी वन स०) है। रसोणा से दो कोस 'वस्तली'[१६] (व्यासस्थली

---

१ महा० ८३।१०८
२ नारद० १२४, तथा महा० ११२
३ नारद० १२४ तथा महा० ११४
४ नारद० १२५,१२६
५ नारद० ८९ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ७३,७४
६ नारद० ९०
७ नारद० ९१ तथा महा० व० ती० ८३ अ० ७५।
८. महा० व० ती० ८३ अ०।७७
९ महा० व० ती० अ० ८३।७८,७९
१० महा० व० ती० अ० ८३।७९
११ महा० व० ती० अ० ८३।९७,९८,८१।
१२ महा० व० ती० अ० ८३।८३
१३ नारद० १०९
१४ नारद० १०१
१५ नारद० १०३,१०५,८६,९०
१६. नारद० १११,११२

सं०) है। वस्तली मे तीन कोस 'नीगग' के पश्चिम 'मिश्रक तीर्थ'[१] है। नीशग मे दो कोम 'वरास'[२] (व्यास वन) के पूर्व मनोजव तीर्थ[३] उत्तर में कोटि तीर्थ, ईशान में चम्पक तीर्थ, पूर्व मे तिलोत्तमा तीर्थ तथा दक्षिण में श्रीपद तीर्थ में लिंगमणिशद्र हैं। वरास से दो कोस पर सीतामढी मे 'वेदीतीर्थ'[४] है। तदनन्तर निगधू ग्राम में 'आह्न' मुदित' तीर्थ है। निगधू से तीन कोस पर वरसाणा में 'वामनक' तीर्थ है। निगधू मे तीन कोस पर वौडस्याम (वरसाल) है, जिसके दक्षिण ज्येष्ठाश्रम[६] तीर्थ है। वोडस्याक मागणा (मकण) से दो कोम पर सतौडा है। सतौडा के उत्तर 'औज्ञनम तीर्थ, शुक्र तीर्थ, कपालमोचन तीर्थ है। सतौडा से एक कोस पर गलेठवा गाँव मे 'अग्नि तीर्थ' है। गलेठवा से लगभग एक कोम पर पृथूदक (पिहोवा, ह०) है, जिसके अन्तर्गत 'आर्ष्टिषेण तीर्थ, 'देवापितीर्थ, 'कपालमोचन' विश्वामित्र हैं। १. ब्रह्मयोनि, २ अवाकीर्ण, ३ वृहस्पति, ४ पापान्त, ५ वृतश्रवा, ६ दुग्धश्रवा, ७ मधुश्रवा, ८. कुरुपावन तीर्थ, ९ विश्वामित्राश्रम, १० वाशिष्ठोपवाह, ११. क्रुदमकूप, १२. अरुणासगम, १३ समुद्र चतुष्टय, १४ शतमहस्र, १५ शातकतीर्थ, १६ सोमतीर्थ, १७. रेणुका तीर्थ, १८ प्रतिग्रमोचन तीर्थ १९ ओजसर उसके अन्तर्गत हैं।[७]

चन्द्रसमुद्र, सूर्यसमुद्र नामक तीर्थ स्थान हैं। अरुणा से एक कोम 'सहसा' है। यहाँ (शुक्रजोहडी) शातिक तीर्थ है और शतसाहस्त्रिक तीर्थ महसा के पश्चिम 'सोमतीर्थ'[८] है। यहाँ से साढे चार कोस 'रणायचा' के नैऋत्यकोण में रेणुकाश्रम[९] है। रणायचा मे चार कोम मुरतजापुर है। मुरतजापुर मे डेढ कोस भूरिश्रवा (भोर) है। भोर से दो कोम कमोधा है जहाँ महाभारत काल में काम्यकवन धाम था। कमोधा से तीन कोस 'जोमर' है जिसके दक्षिण में ज्योतिसर है। ज्योतिसर से दो कोस थानेश्वर है।

थानेश्वर[१०]

कालका लाइन से दक्षिण और कैथल ब्राच के उत्तर में स्थित है। इस नगर के उत्तर मे स्थाणुतीर्थ है। स्थाण्वीश्वर महादेव के पश्चिम में कुलेशगण है, कुलेश के दक्षिण रुद्रकर है, उत्तर की तरफ रावणेश्वर है। रावणेश्वर के निकट ही कुमारेश्वर, विभीषणेश्वर है। दक्षिण मे हस्तिश्वर, ककालेश्वर, सिद्धेश्वर स्थानेश्वर महादेव के आस-पास है। पूर्वोक्त लिंगो के

१. नारद० १०७, तथा महा० व० ती० ८३ अ० ९१,९२
२ नारद० ९३
३ नारद० ९३
४ महा० व० ती० अ० ८३।९९,१०१,१०२
५ महा० व० ती० अ० ८३।१००
६ नारद० ११५,११८,११९
७ इन तीर्थों के विशेष विवरण के लिए नारद० १२८-१३७ द्रष्टव्य।
८ नारद० १३३।
९. नारद० १३८।
१० नारद० १३८-१४२।

दर्शन के पश्चात् सन्निहित तीर्थ (सनेत) स्थान है। फिर करवालारुद्रकूप स्थान है। 'कपारुद्र-ह्लद' 'वायुकुण्ड' की प्रदक्षिणा के पश्चात् पूर्व की तरफ दो कोस पर रत्नुकतीर्थ है।

कुरुक्षेत्र (हरियाणा) के वन—कुरुक्षेत्र में प्राचीन काल मे सात वन[1] थे, जहाँ पर उन्ही वनो के नाम से आज गाँव बसे हुए हैं। काम्यक वन (धाम) के स्थान पर 'कमोधा' ग्राम है। यह ज्योतिसर से लगभग तीन मील दूर है। अदितिवन की जगह 'अमीण' वसा हुआ है। यह कुरुक्षेत्र से पाँच मील दूर दिल्ली-अम्बाला रेलवे-लाइन पर एक स्टेशन भी है। व्यास-वन के स्थान पर वरास है जो करनाल से कैथल जाने वाली सडक पर है। फलथीवन के स्थान पर 'फरल' ग्राम है। यहाँ फल्गु का मेला लगता है। सूर्यवन के पास सजूमा ग्राम है। मधु-वन के स्थान पर मोहणा ग्राम है। यह करनाल से कैथल जाने वाली सडक पर स्थित है। सीतावन' स्यूण' ग्राम है जो कैथल तहसील मे है।

कुरुक्षेत्र में सात नदियाँ हैं। ये नदियाँ सरस्वती और दृपद्वती के बीच वर्षाकाल मे वहती हैं। इन नदियो के नाम निम्नलिखित हैं—सरस्वती, वैतरणी, गगामदाकिनी, मधुस्रवा, दृप-द्वती, कौशिकी और हैरण्यवती।

कुरुजाँगल (हरियाणा) प्रदेश के वन, नदी, पर्वत और नगर—हिसार का समीपवर्ती सघन वन 'वीड ववरान' के नाम से प्रसिद्ध है। सुना जाता है कि यह वीड महा-भारतकालीन वभ्रुवाहन के नाम से 'ववरान' जाना जाता है। हिसार दिल्ली से १०२ मील की दूरी पर स्थित है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कुरु जनपद में इसुकार या इषुकार नामक समृद्ध, सुन्दर और स्फीत नगर था। फतेहावाद और सरसा के भूभाग में 'घाघर' नदी वहती है। भिवाणी तहसील में भिवानी से लगभग १५ मील की दूरी पर 'तोषाम' का पहाड है जिस पर सिद्ध 'मूँगीपा' की समाधि है तथा 'पचतीर्थी' तालाव है।

जिस प्रकार हाँसी का पुराना नाम आसिका था (भंडारकर के लेख की सूची, सस्या ३२९) उसी प्रकार हिसार का प्राचीन नाम 'ऐपुकारि' ज्ञात होता है, यद्यपि कुछ लोग उसका संवध अरवी हिसार से लगाते हैं 'दे० वासु० पा० पृ० ८६)। जनपदीय वोली में हिसार को 'हँसार' और हाँसी को 'आस्शो' कहते हैं। हाँसी के चोपटा वाजार में एक विष्णु प्रतिमा है जिसे चन्द्रवशी राजाओ मे सवधित वताया जाता है। सरसा का सस्कृत नाम शैरीपक है। नकुल दिग्विजय में यह पडता है। नकुल दिल्ली से पश्चिम दिशा में वढा और रोहतक होता हुआ मेहम (स० महित्थम्) और सिरसा (स० शैरीषक) तक गया है। रोहतक (सं० रोहितिक) दिल्ली से ४'१ मील दूर है। प्राचीन काल में योवेयो ने रोहतक को अपनी राज-धानी वनाया था। उस समय इस प्रदेश का नाम 'बहुधान्यक'[2] प्रसिद्ध था।

सक्षेप में हरियाणा अर्थात् आर्यावर्त आर्य सस्कृति का केन्द्र रहा है। महाभारत मे आए कुरुक्षेत्र के स्थानो के सस्कृत नाम कोष्ठक में दिए जा रहे हैं—सालवण (शालूकिनी), सफीदो (सर्पदधि सर्पदमन), सोमतीर्थ (पिण्डतारक), पिण्डारा रामरा (रामह्लद), पुडरी (पुण्ड्रीक), फल्गू (फलकीवन), वस्तली (व्यासस्थली), पेहवा (पृथूदक), सोनीपत

१. नारद० ३८

२ हरियाणी लो० पृ० ५३

(श्रोणिप्रस्थ), पानीपत (पाणिप्रस्थ), हिसार (इषुकार), हांसी (आसिका), सिरसा (शौरीपक), रोहतक (रोहितक), मेहम (महित्थम)। अत मे महाभारत कालीन हरियाणा के स्थानो का ऐतिहासिक विवरण महाभारत के आधार पर दिया जा रहा है।

पिण्डतारका (पिण्डरा) हरियाणा में एक तीर्थ स्थान है। जो व्यक्ति पिण्डतारक तीर्थ में स्नान करके वहाँ एक रात निवास करता है, वह प्रात लाल होते ही पवित्र हो कर अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त कर लेता है (अनुशासनपर्व २५-५७)। रामह्रद (रामरा) कुरुक्षेत्र (हरियाणा) की सीमानिर्धारक एक ह्रद है (शल्य० ५३·२५), इसमें काशिराज की कन्या अम्बा ने स्नान किया था (उद्योग पर्व १८६-२८) परशुरामजी ने पितृतर्पण यही किया था।

पृथूदका (पेहवा) में एक ऋषि रुषगु थे जिनके आश्रम पर आर्ष्टिषेण मुनि ने घोर तपस्या की थी और विश्वामित्र को यही ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हुई थी। (शल्य० ३५/२३-३४) रोहतक = रोहितक (रोहितकारण्य) पश्चिम दिग्विजय के समय नकुल यहाँ हो कर आगे गए थे (सभा० ३२/४-५)। रोहतक का निकटवर्ती वन रोहितकारण्य है जो कौरवो की विशाल सेना से भर गया था (उद्योग० १९/३०-३१)। लोमश ऋषि का आश्रम लुहार माजरा में था। वे इन्द्र और अर्जुन का सदेश लेकर काम्यकवन (कमोवा) मे गए थे (वन० ९१/१०-१४)।

व्यासस्थली (वसतली) हरियाणा का एक प्राचीन तीर्थ है, जहाँ व्यास ने पुत्रशोक मे सतप्त हो कर शरीर त्याग का विचार किया था। शखतीर्थ (साघण) सरस्वतीतटवर्ती एक प्राचीन तीर्थ है, इसका विशेष वर्णन (शल्य० ३७/१९-२६) मिलता है। सर्पतीर्थ (सफीदो) मे श्वेतकेतु ऋषि जनमेजय के सर्पसत्र के सदस्य वने थे (आदि० ५३/७)। ये उद्दालक के पुत्र हैं।

सप्तसारस्वत (मागणा) मे मकण ऋषि को सिद्धि प्राप्त हुई थी। यह सरस्वती तीर्थ में सवमे श्रेष्ठ तीर्थ है। समन्तपचक (रामरा, रामह्रद) में है। यहाँ परशुराम ने रक्त के पांच सरोवर वनाए थे। और उन्ही मे रक्ताजलि द्वारा अपने पितरो का तर्पण किया था (आदि० २/४-५)। कौरवो और पाण्डवो का महाभारत युद्ध यही हुआ था। इसी क्षेत्र में ह्रद (इयकम) सरोवर मे दुर्योधन का निधन हुआ (शल्य० ३९/४०) था।

हरियाणा में सरस्वती नामक एक नदी है। पाडवो ने वन यात्रा के समय इसे पार किया था (वन० ५|२)। काम्यवन (कमोधा) का भूभाग सरस्वती के तट पर है। दधीचि का आश्रम सरस्वती नदी के उस पार था (वन० १००/१३) हिरण्यवती कुरुक्षेत्र में एक नदी है जहाँ पर कृष्ण ने पाडव-सेना का पडाव डाला था।

पैल (पीलणी ग्राम) में एक ऋषि थे, जो व्यास जी के शिष्य थे। द्वैतवन (देवता) एक वन और सरोवर है, जहाँ वनवास के समय पाडवो ने निवास किया (वन० २४/१३)। खाण्डववन यमुना के किनारे स्थित एक वन है जिसे श्रीकृष्ण और अर्जुन की सहायता से अग्नि ने जलाया था।

महाभारत कालीन हरियाणा के स्थान भारतीय सभ्यता और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं। इन स्थानो के नामो का तुलनात्मक परिचय देना ही लेखक का विनम्र लघु प्रयास है, जिनके लिए लेखक को लगभग छह मास तक हरियाणा के प्राचीन स्थान-नामो के ध्रुवीकरण के लिए भागीरथ प्रयास करना पडा है।

हरियाणा में पुरातात्विक अन्वेषण

मदनलाल वर्मा

पुराविदो का साहस दर्शनीय होता है । वे अनेक दुर्गम वीहड स्थलो पर जाकर जब पुराने ध्वसावशेपो के उत्खनन का कार्य प्रारम्भ करते हैं, तो उनके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ, वाधाएँ और विघ्न आ टपकते हैं, पर वे निरुत्साहित कदापि नही होते । कभी-कभी तो ऐसा होता है कि सतत परिश्रम करने पर भी उन्हें कुछ विशेप तत्त्वो की उपलब्धि नही होती, पर कभी-कभी कुछ विचित्र एव निरुपम कलात्मक वस्तुओ के मिलने पर उनकी वाछे खिल जाती हैं । वे उस विशिष्ट स्थल के तत्वो का अ वेपण कर अपना अहोभाग्य समझते है और यह सोच कर उन्हे मानसिक तुष्टि का आनन्द अनुभव होता है, कि उन्होने मानवेतिहास मे एक नया अध्याय जोड दिया है। अत 'पुरातत्व का अभिमानपूर्ण दावा है, कि उसने समस्त ससार मे मानव की प्रगति के इतिहास में नये अध्याय जोडे है'[1] ।

आधुनिकयुगीन भारत मे पुरातत्त्वो के अन्वेपण की प्रेरणा हमें वस्तुत पाश्चात्य विद्वानो के द्वारा ही मिली । इस देश की प्राचीन सस्कृति, कला आदि की अनेको विशेपताएँ इन्ही पुरातत्त्वो के फलस्वरूप प्रकाश में आई । परन्तु अभी इसके लिए हमारे देश में अन्य देशो की अपेक्षा थोडा कार्य हुआ है, क्योकि भारत के अनेक प्रान्तो में अभी भी पुरातत्त्व का कार्य उपेक्षणीय पडा है ।

तीन चार वर्प पूर्व नवम्बर, १९६६ मे हरियाणा को एक पृथक् प्रान्त के रूप में घोपित किया गया । इस प्रान्त मे अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ पुरातत्त्वीय उत्खनन की महती आवश्यकता है ।

यह प्रान्त वीरो की धरती है । इस धरती पर यौधेयो का राज्य हजारो वर्पों तक रहा है । अत इसको यौधेय भूमि भी कहा जाता है । इसके निम्नलिखित स्थानो का पुरातत्त्वीय निरीक्षण अनिवार्य है —

१ खोखरा कोट (रोहतक) ।
२ दौलत पुर (महम, जिला रोहतक) ।
३ अगरोहा (हिसार) ।
४. तौगाम (भिवानी, जिला हिसार) ।
५. गुडगाव ।
६ झज्जर (रोहतक) ।
७ हासी (हिसार) ।

---

१ सर लियोनार्ड वूले उत्खनित इतिहास (हिन्दी अनुवाद-रमेश वर्मा), १९६९ सस्करण, आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली पृष्ठ १० ।

८ अस्थलवोहर (रोहतक) ।

९ कुरुक्षेत्र (करनाल) ।

इनमे से पहले आठ स्थानो का सकेत श्री आर० एस्० शर्मा ने भी अपनी एक पुस्तक मे किया है[1] ।

अधुनापर्यन्त हमारे ज्ञान के अनुसार हरियाणा के पुरातत्वो में जो सामग्री उत्खनन द्वारा उपलब्ध हुई है, उसमे विशेप रूप मे परिगणनीय वस्तुओ के नाम निम्नलिखित है —

१ यौवेयगण की मुद्राएँ ।
२ यौधेयगण की मोहरे ।
३ शिलालेख ।
४ वर्तन ।
५ इटे ।
६ अस्थिपजर (ममीज) ।
७ आटा पीसने की चक्कियाँ ।
८ मूर्तियाँ, चित्र आदि ।

इनमे से कुछ वस्तुओ का सग्रह हरियाणा प्रान्तीय-पुरातत्त्व-सग्रहालय गुरुकुल झज्जर, जिला रोहतक, हरियाणा (भारत) मे श्री आचार्य भगवान् देव की अध्यक्षता में हुआ है। इस सग्रहालय में हजारो की सख्या मे सिक्के (मुद्राएँ) पडे है। सैकडो की सख्या में वर्तन है। अनेको मोहरें हैं। ईंटे पडी है। मोहरो की पेटियाँ है। कुछेक ममोज (अस्थिपजर) भी पडे है। इसी प्रकार अनेको अन्य वस्तुएँ पडी है, जिनमे उल्लेखनीय है—आटा पीसने की चक्कियाँ ।

अभी दो तीन वर्प पूर्व खोखरा कोट में एक ऐसी मूर्ति मिली है, जिसमे एक द्विमुखी सिंह है, जिसके साथ एक देव और एक देवी भी है। इनका सकेत श्री आर० एस्० शर्मा ने

---

१ दी फालोइग प्लेसिज आर इन नीड आफ आरक्यालोजिकल सर्वे इन हरयाणा (यहाँ प्रथम आठ स्थानो का नाम है) ।

देअर इज एवरी पासिबिलिटी दैट म्यूज़ आफ एन्शियण्ट सिविलाइजेशन मे काम टू लाइट वाई दी एक्सकेवेशन आफ दीज प्लेसिज ।

मोरओवर दी एक्सकेवेशन आफ दी फालोइग प्लेसिज मे ब्रिग टू लाइट मिडीवल सिविलाइजेशन —

१ पानीपत ।
२ तरावडी ।
३ सोनीपत ।
४. फतेहाबाद ।

(हरयाणा डायरेक्टरी एण्ड हूज हू, १९६७-६८ । एडीटिड बाई आर० एस० शर्मा, पब्लिश्ड बाई इण्डियन बुक डिपो एजेन्सी, अम्बाला कैण्ट पेज १९३ ।

भी किया है[1]।

इन सभी उपलब्ध पुरातत्त्वो का विवरण यहाँ अपेक्षित है,। अत अव यहाँ क्रमश इन का वर्णन अपने ज्ञान के अनुसार किया जाता है।

१ यौधेयगण की मुद्राएँ

(क) यौधेयों की प्रथम प्रकार की मुद्राएँ —ये मुद्राएं प्रिन्सप, थोमस और कर्विघम आदि विदेशी इतिहासकारो को उपलब्ध हुई है। उनमें से छ मुद्राओ के चित्र तथा विवरण जोहन ऐलेन ने ब्रिटिश म्यूजियम के केटेलाग विवरण पुस्तिका में दिए हैं। उन सभी पर एक वाड वाले वृक्ष का चित्र अकित है। तीन मुद्राओ पर उज्जैनी के समान छोटा चिन्ह अकित है। दो मुद्राओ पर एक विशिष्ट आयुध का चित्र भी है। एक मुद्रा पर अन्य आयुध का चित्र है। उस आयुध का चित्र प्राय उन प्रथम प्रकार की यौधेयो की मुद्राओ पर है, जो हरियाणे के—रोहतक, हासी, हिसार आदि विभिन्न स्थानो से प्राप्त हुई है। यह चिन्ह ऐसी सभी मुद्राओ पर है[2]।

(ख) दूसरी प्रकार की मुद्राएँ —ये मुद्राएँ हरियाणा के रोहतक, सुनेत, हिसार, हासी, भिवानी, दादरी, भालोठ, भगवतो पुर, अगरोहा और रैया आदि स्थानो से उपलब्ध हुई हैं। इन पर एक ओर शिवजी महाराज नन्दी के साथ खडे हैं। शिवजी का एक हाथ बैल की ककुद पर तथा दूसरा हाथ पीठ के पिछले भाग पर रखा दिखाया गया है। दूसरी ओर योधेयगण के आयुध अर्थात् शस्त्रों—त्रिशूल, वज्र, चक्र, परशु आदि के चित्र हैं। एक चित्र जो प्राय इन सभी मुद्राओ पर अकित है, उन सबकी आकृति एक जैसी है[3]।

(ग) तीसरी प्रकार की प्रसिद्ध मुद्राएँ —इन मुद्राओ के ठप्पे-साँचे रोहतक के खोखराकोट की खुदाई में स्वर्गीय डा० वीरवल साहनी द्वारा उपलब्ध हुए है। ये मुद्राएँ हासी, हिसार, भिवासी, दादरी, वामला आदि से प्राप्त हुई है। आचार्य भगवान् देव के सग्रहालय में ऐसी मुद्राएं पाँच सौ से अधिक सख्या में है। इनके प्रथम पक्ष पर ब्राह्मी लिपि मे 'यौधेयानाम् वहुधान्यके' अकित है। इन अक्षरो के वीच नन्दी वैल का चित्र है। इन मुद्राओ में यज्ञ के यूप का चिन्ह किसी-किसी मुद्रा पर विपरीत ढग का भी मिलता है। इन मुद्राओ पर दूसरी ओर हाथी का चित्र है[4]।

(घ) चतुर्थ प्रकार की मुद्राएँ —ये मुद्राएँ कनिघम आदि द्वारा प्राप्त हुई ताम्र और रजत धातुओ की हैं। इन पर एक ओर पणमुख कार्तिकेय हाथ में भाला (शक्ति) लिए खडा है। दूसरी ओर एक देवी है, जिस के वाएं भाग में कमल का फूल है। ताम्र मुद्राएं

---

१ एन आइडल आफ ए डवल फेस्ड लायन विद ए गाड एण्ड गाडेस्स हेज़ विन डिस्कवर्ड एट खोखरा कोट, रोहतक रिसैण्टली। (वही पुस्तक पृष्ठ १९३)।

२ द्रष्टव्य आचार्य भगवान देव वीरभूमि हरयाणा, नाम और सीमा (प्रथम वार, १ मार्च, १९६५ ई०) हरयाणा साहित्य सस्थान, गुरुकुल झज्जर, जिला रोहतक पृष्ठ १३२-१३३।

३ द्रष्टव्य वही पृष्ठ १३४-१३५।

४ द्रष्टव्य वही पृष्ठ १३५-१३६।

भी ऐसी ही हैं। यौधेयो की छोटी-छोटी अनेक प्रकार की मुद्राएँ हरियाणा के एक प्राचीन दुर्ग से आचार्य भगवान् देव को उपलब्ध हुई हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई बडी महत्त्वपूर्ण मुद्राएँ झज्जर के सग्रहालय में पडी हैं[१]।

(ग) यौधेयो की पाँचवें प्रकार मुद्राएँ —इन मुद्राओ पर ब्राह्मी लिपि तथा सस्कृत भाषा में 'यौधेयगणस्य जय' लिखा हैं। मध्य में कार्तिकेय अपनी शक्ति लिए खडा है। एक वर्तुलाकार मुद्रा पर देवी के चारो ओर बनी मणियो की माला यह व्यक्त करती है, कि यह अमूल्य रत्नो तथा धन धान्य से युक्त बहुधान्यक अर्थात् हरियाणा की मुद्रा हैं। यह मुद्रा सुनेत, करौंधा, अटायल, हासी, हिसार, भिवानी, दादरी, मल्हाणा आदि स्थानो से आचार्य भगवान् देव को मिली है और महम, सोनीपत, जयजयवन्ती आदि स्थानो पर भी कई लोगो को पर्याप्त सख्या में मिली है[२]।

एक अन्य मुद्रा ज़िला हिसार के यौधेय दुर्ग के खण्डहर नौरगाबाद बामले मे प्राप्त हुई है, जिस पर हरियाणा जाति का ककुद्वान बहुत रमणीक साड का चित्र दिया है। साड के ऊपर ब्राह्मी लिपि में—"यौधेयाना जय मन्त्रधराणाम्" लेख चिह्नित है[3]।

इन सभी उपलब्ध मुद्राओ के अतिरिक्त अभी सम्भावना की जाती है, कि भविष्य में होने वाले उत्खननो में हमें कुछ और भी मुद्राएँ प्राप्त होगी।

यौधियगण की मोहरे

हरियाणा प्रान्त के पुराने दुर्गों मे कई मिट्टी की मोहरे उपलब्ध हुई है। कुछ खण्डहर तो ऐसे हैं, जिनके उत्खनन से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हो सकती हैं।

इन मोहरो मे विशेष उल्लेखनीय दो प्रकार की मोहरें है। ये दोनो मृण्मयी है और बहुत ही रोचक हैं। एक मोहर की लम्बाई २-३ इन्च और चौडाई १ ८ इन्च है। यह गोलाकार सो है। इसे पकडने के लिए मूठ भी बनी हुई है, जो ऊपर से कुछ पतली है। पूरी मोहर पर निर्माता की हस्तरेखाएँ भी स्पष्ट दीख पडती हैं। इस पर चार पक्तियो का एक लेख है। ऊपर की पक्ति में एक विशेष चिह्न है। लगता है, जैसे यह चिह्न यज्ञीय यूप का हो। आगे इसी पक्ति मे ब्राह्मी अक्षरो में 'रफ्त' लिखा है। अक्षर कुछ कटे-से गए है। दूसरी पक्ति में "यौधेय जन" यह लेख है। तीसरी पक्ति के आरम्भ मे 'द' अक्षर है। इसी पक्ति में जो लेख है, वह 'प्रकृतानाक' पढा जाता है, जो प्राकृत भाषा में है। अन्तिम और चौथी पंक्ति में 'नगर' पढा जाता है।[४]

दूसरी मोहर की लम्बाई १ ५ इच और चौडाई १ २ इन्च है। यह चतुष्कोणीय है। इसके ऊपर भी पकडने के लिए मूठ बनी हुई है, जो ऊपर से पहली के विपरीत गोलाई पर

१ द्रष्टव्य वही पृष्ठ १३८-१४०।

२. द्रष्टव्य वही पृष्ठ १४०-१४१।

३ आचार्य भगवान् देव : हरयाणा की सस्कृति - भाषा विभाग, हरयाणा की वार्षिक गोष्ठी (१९६७—१९६८) पृष्ठ १६।

४ विशेष द्रष्टव्य वीर भूमि हरयाणाः वही पृष्ठ १४३-१५१।

है। इस पर ब्राह्मी अक्षरो में और प्राकृत भाषा में 'भत्ति निकाय' लिखा है। वर्गाकार सी इस मोहर पर चार ऊपर के भाग में और एक अन्तिम 'य' अक्षर मोहर के बाए भाग में उल्लिखित है। अक्षरो के नीचे एक विशेष चिन्ह है, जो शायद किसी आयुध का प्रतीत होता है। इसके मूल में पहुँचने के लिए अभी पर्याप्त अन्वेषण की आवश्यकता है। इस तरह की अनेक महत्त्वपूर्ण मोहरे हरयाणा प्रान्तीय पुरातत्व सग्रहालय गुरुकुल झज्जर में सुरक्षित हैं[1]।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य मोहरें भी उपलब्ध हुई है, जिन पर सिंह का चित्र है[2]।

(३) शिला-लेख

हरियाणा प्रान्त का सबसे प्राचीन उपलब्ध शिलालेख तोशाम (तहसील भिवानी, जिला हिसार) का है। यह स्थान भिवानी से उत्तर-पश्चिम में लगभग चौदह मील की दूरी पर है। इस ग्राम के पश्चिम में एक पहाडी है, जिसकी ऊँचाई लगभग ८०० फीट है। इस पहाडी के पूर्वी भाग में यह लेख चट्टान पर खुदा हुआ है। लिपि के आधार पर इसे ईस्वी सम्वत् की चौथी या पाचवी शताब्दी का माना जा सकता है[3]।

इस लेख के अनन्तर प्रतिहार वश के महाराजाधिराज भोज आदिवराह के राज्यकाल का एक प्रस्तर लेख पहवा गरीबनाथ के मन्दिर से उपलब्ध हुआ है। इस लेख की तिथि २७६ हर्ष सम्वत् अर्थात् ९३९ विक्रम सवत् है[4]।

तृतीय शिलालेख भी पेहवा से उपलब्ध हुआ है। यह प्रतिहारवशी महाराजाधिराज महेन्द्रपाल के गाज्यकाल का है, जिसकी ज्ञात तिथियाँ विक्रम सवत् ९५० से विक्रम सवत् ९६४ तक हैं[5]।

चौथा शिलालेख जिला अम्बाला की तहसील जगाधरी के तोपरा नामक ग्राम में स्थापित अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण किया गया था। इस स्तम्भ को तुगलकवशी बादशाह फीरोजशाह दिल्ली ले आया था और अब यह दिल्ली में कोटला फीरोजशाह नाम से प्रख्यात पुराने राजप्रासादो के खडहरो के मध्य एक भवन की दूसरी मजिल की छत पर परिस्थापित है। इस स्तम्भ पर अशोक के सात स्तम्भ लेखो के अतिरिक्त एक लेख विक्रम सवत् १२०० का है, जो कि बीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ की प्रशस्ति है[6]।

पाँचवाँ शिलालेख जिला हिसार के नगर हाँसी से उपलब्ध हुआ था। अब यह शिला ऐडनबरा (स्काटलैण्ड) के रायल स्कौटिश म्यूजियम में सुरक्षित है। यह लेख सम्राट् पृथ्वीराज द्वितीय के राज्यकाल का है। इसकी तिथि विक्रम १२२४ है[7]।

---

१ द्रष्यव्य वही पृष्ठ १५१–१५५।

२ द्रष्टव्य आचार्य भगवान् देव हरयाणा की सस्कृति वही पृष्ठ ९३।

३ प्रो० जगन्नाथ अग्रवाल हरियाणा के कुछ शिलालेख सप्तसिन्धु पत्रिका, (उप भाषा विशेषाक), १९६५–६६, हिन्दी विभाग, पजाब, पटियाला . पृष्ठ ४४५।

४ वही पृष्ठ ४४५।

५ वही लेख पृष्ठ ४४६।

६ वही पृष्ठ ४४६।

७ वही पृष्ठ ४४७।

छठा लेख रोहतक नगर के समीप अस्थल वोहर नामक ग्राम से उपलब्ध हुआ है। इस लेख की तिथि विक्रम सवत् १३३७ है। इस लेख में हरियाणा शब्द का रूप हरियानक है[1]।

इसके अनन्तर दिल्ली के लाल किले के संग्रहालय मे सुरक्षित विक्रम सवत् १३८५ का एक शिलालेख वर्णनीय है, जिसमे लिखा है, कि हरियाना नाम का एक देश है, जो धरा पर स्वर्गसदृश है[2]।

इन शिलालेखो के अतिरिक्त महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार अभिलेख में जो शक संवत् ७२ में लिखा गया, यौद्धो के पराक्रम को इन शब्दो में स्वीकार किया गया है—"सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकविधेयाना यौधेयानाम्[3]।" अत हरियाणा के वैशिष्ट्य मे इसका उल्लेख करना भी आवश्यक है।

सम्भव है, इस प्रान्त के अछूते खडहरो के उत्खनन से हमें कुछ और भी शिलालेख उपलब्ध हो, परन्तु अभी तक विशेप रूप से उपर्युक्त शिलालेखो की उपलब्धि हुई है। वैसे अन्य कई छोटे मोटे शिलालेख भी सम्भवत किसी और को मिले हो। हमें उनका ज्ञान नही है। सक्षेप में इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि हरियाणा के शिलालेख बहुत अधिक पुराने नही है, जिनसे सिन्धु घाटी सभ्यता के विपय में कुछ और ज्ञान की अभिवृद्धि हो सके।

(४) बर्तन

हरियाणा प्रान्त में उत्खनन से प्राप्त होने वाले बर्तनो में हमें जिनका पता लग सका है, उनमे सुराहियां विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सुराहियो के चारो ओर चित्रकला का सौन्दर्य अवलोकनीय है। इन पर अनेक प्रकार के वेल बूटे तथा क्रीडासक्त दम्पती के चित्र ही देखे जाते है, जिन्हें देख कर अजन्ता के चित्रो की की याद आ जाती है।

(५) ईंटें

विभिन्न प्रकार की पुरानी ईंटो का सग्रह हरयाणा प्रान्तीय पुरातत्त्व सग्रहालय गुरुकुल झज्जर में सुरक्षित है। यद्यपि सास्कृतिक दृष्टि से इनका इतना अधिक महत्त्व नही, तथापि इनसे प्राचीन काल का निर्माण-शक्ति की आधुनिक शक्ति से पृथक्ता अवश्य बोधित होती है। अत पुरातात्त्विक अन्वेपण में इनका उल्लेख करना अनुचित नही।

(६) अस्थिपजर (ममीज़)

कुछ अस्थिपंजर झज्जर के सग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त आज से कुछ वर्प पूर्व कुरुक्षेत्र के गीता भवन के पास एक खंडहर के उत्खनन मे एक मानव का अस्थिपजर उपलब्ध हुआ था। यह अस्थिपजर मैंने स्वय देखा था। उसे देख कर प्रतीत होता था, कि किसी तपस्यालीन साधु ने बैठे बैठे प्राणत्याग दिए हो। वैसे कुरुक्षेत्र सरोवर के

---

१ द्रष्टव्य जनरल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बगाल खण्ड ४३ (पुरातन क्रम सख्या) पृष्ठ १०८।

२ द्रष्टव्य प्रो० जगन्नाथ का वही लेख पृष्ठ ४४४।

३ उद्धृत गद्यसौरभम् (सम्पादक-दुर्गादत्त मेनन) प्रथम सस्करण, १९६० पजाब यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, चण्डीगढ पृष्ठ २९।

पश्चिमी तट पर तथा नाभि कमल मन्दिर के समीप जो काफी ऊँचे खडहर है, मेरे विचार में यदि उनका उत्खनन किया जाए, तो हमें विभिन्न अस्थिपजर तथा अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हो सकती हैं। पर सबसे बडा प्रश्न तो यह है, कि इस कार्य के लिए कौन अपना साहस प्रदर्शित करे।

(७) आटा पीसने की चक्कियाँ

इस प्रकार की कुछ पुरानी चक्कियाँ झज्जर के सग्रहालय में पडी हैं, जो देखने योग्य हैं।

(८) मूर्तियाँ, चित्र आदि

यौधेयगण की मुद्राओ और मोहरो पर अकित तथा वर्तनो पर अकित अनेको चित्र दर्शनीय है। उपलब्ध चित्रो में शिव, बैल तथा आयुधो के चित्र अधिक सख्या में है। मूर्तियो मे मृण्मूर्तियाँ तथा प्रस्तर-मूर्तियाँ मिली हैं।

एक विशिष्ट मूर्ति का उल्लेख आवश्यक होगा। यह मृण्मूर्ति यौधेयो के एक प्राचीन दुर्ग नौरङ्गाबाद से उपलब्ध हुई हैं। इस पर यौधेय जाति का एक योद्धा या सेनापति सिंह के ऊपर आरूढ है। इसके हाथ में वज्र हैं। इस मूर्ति के दूसरी ओर शान्ति के द्योतक कमल पुष्प का अभिराम चित्र है[१]।

इनके अतिरिक्त मिलने वाली मूर्तियो और चित्रो में उल्लेखनीय हैं—कुषाणकालीन सिंहनिहन्ता सैनिक, गणेश (ढोलवाह), आठवी शती ई० की बुद्ध प्रतिमा, मध्ययुगीन वामन अवतार विष्णु, मध्यस्था नारी के आगे पीछे दो नर, कलायत के मन्दिर में कपिल मुनि की प्राचीन मूर्ति इत्यादि।

आचार्य भगवान् देव को भी साबी ग्राम से महात्मा बुद्ध की एक प्रस्तर मूर्ति मिली है[२]। एक शिवमूर्त्ति ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ' को मिली है। यह मूर्ति जो सिरसा के थेड में खोदी गई थी, ८ वी सदी की है[3]।

उपर्युक्त उपलब्ध सामग्री के अतिरिक्त पुरातत्त्वीय दृष्टि से कुछ अन्य उल्लेखनीय वस्तुओ के नाम निम्नलिखित हैं —

(१) यज्ञ की भस्म (राख)। इस भस्म के लिए आचार्य भगवान् देव ने लिखा है —जिला रोहतक मे बेरी से ५–६ मील की दूरी पर दूबलधन ग्राम में महर्षि दुर्वासा रहते थे। यहा उन्होने एक बृहद्यज्ञ अनेक वर्षों तक किया था, उस स्थान पर उन्ही के नाम पर लोगो ने दुर्वासाश्रम बना रक्खा है। यहा के ग्रामीण लोग जब आश्रम के लिए कुआ

---

१ द्रष्टव्य आचार्य भगवान् देव हरियाणा की सस्कृति वही पृष्ठ १९।

२. द्रष्टव्य वही : पृष्ट ३१।

३ द्रष्टव्य ' जैमिनी कौशिक 'बरुआ' की पुस्तक तूर्य के नाद, शख का स्वर १९६६ सस्करण जैमिनी प्रकाशन, कमरा न० १२१, माधो भवन, ११६।१, महात्मा गाँधी रोड, कलकत्ता—७।

खोदने लगे, तो ३५ हाथ नीचे तक हवन की भस्म-राख ही निकलती चली गई। हो सकता है, वह वृहद्यज्ञ सत्र, जिसे पौराणिक भाई कहते हैं, कि ८० हजार वर्ष तक महर्षि दुर्वासा यहा यज्ञ करते रहे, वह स्थान यही हो और ८० सहस्र वर्ष के स्थान पर ८० वर्ष तक अथवा इससे अधिक लम्बा यह यज्ञ यहाँ चलता रहा होगा। खुदाई में निकली हुई यज्ञ की भस्म (राख) इसके लिए साक्षी है[1]।

(२) प्राचीन ध्वस्त मन्दिर —इन में कुछ मन्दिरो के खण्डहर कुरुक्षेत्र तथा पेहवा मे अवलोकनीय है।

(३) महम (रोहतक) की ऐतिहासिक बावली।

(४) कलायत में दुर्गा का मन्दिर।

(५) भूतेश्वर जीन्द।

(६) चन्दन की लकडी का बनाया हुआ बादाम।

(७) प्रसिद्ध क्रान्तिकारी अमर शहीद श्री रामप्रसाद बिस्मिल का हवन कुण्ड।

(८) हरियाना की सर्वखाप पचायत का ताम्रपत्र।

(९) शिरस्त्राण इत्यादि।

इस वस्तुओ में से अनेको के चित्र सप्तसिन्धु मासिक हिन्दी पत्रिका के उपभाषा विशेषाक (१९६५–१९६६) में निरूपणीय है।

उक्त विवेचन द्वारा अन्तत हम कह सकते हैं, कि पुरातन काल मे हरियाणा प्रदेश सभ्यता और सस्कृति के उच्च शिखर पर पहुँचा हुआ था। इस प्रान्त की प्राचीन कला सम्पूर्ण भारत की कला है, क्योकि हमारी भारतीय रचनाओ मे ". बाह्य सौन्दर्य दिखाने की बजाय आन्तरिक भावो के अकन को बहुत महत्व दिया गया है[2]"।

अत हमारी प्राचीन कला की मुख्यतम विशेषताएं है—भावव्यजता की प्रधानता, धर्मत्व की मुख्यता तथा अनामता[3]। ये सब विशेषताएँ हमारे प्राचीन स्तूपो, स्तम्भो, गुफाओ, राज प्रासादो, चित्रो तथा मूर्तियो आदि में देखी जा सकती है, क्योकि–"जातियो, की महत्ता का एक मानदण्ड कलाकृतिया भी है[4]" इस प्रकार पुरातत्त्वो के अन्वेपण मे तथा उनकी ओर रुचि दिखाने में किसी राष्ट्र की सस्कृति का एक विशिष्ट मार्ग प्रशस्त होता है। हमें आशा करनी चाहिए, कि भारत सरकार तथा हरियाणा सरकार इस कार्य की ओर उन्नत पग उठाने का अवश्य प्रयास करेगी।



१ वही आचार्य भगवान् देव की पुस्तक पृष्ठ ११।

२ श्री हरिदत्त वेदालकार भारतीय सस्कृति का सक्षिप्त इतिहास १९५५ · सस्करण०

३ द्रष्टव्य . वही।

४ वही पृष्ठ १६२।

मध्यकालीन हरियाणा और दक्खिनी हिंदी के विकास में हरियानी का योगदान

छविनाथ त्रिपाठी

वैदिक साहित्य से लेकर स्मृतियो तथा पुराणो तक हरियाना के वर्तमान क्षेत्र की प्रचुर प्रशस्ति गाई गई है। इस क्षेत्र के प्रतिष्ठापक हर (शिव या रुद्र) की महिमा के वर्णन से सारा श्वेताश्वतर उपनिषद् भरा हुआ है। मनुस्मृति में सरस्वती और दृषद्वती[1] के बीच के क्षेत्र को देव निर्मित देश ब्रह्मावर्त कहा गया है।[2] दृषद्वती को कुछ विद्वान् वर्तमान घग्घर नदी कहते है। ब्रह्मावर्त में प्रचलित आचार ही सदाचार माना गया है।[3] मनुस्मृति-काल में जिन क्षेत्रो को ब्रह्मर्षि देश कहा गया है, उनमें कुरुक्षेत्र की गणना सर्वप्रथम की गई है। कुरुक्षेत्र के दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र और ब्रह्मावर्त को मिलाकर ही वर्तमान हरियाना राज्य का निर्माण हुआ है। मनु स्मृति के अनुसार यह 'यज्ञिय' देश है क्योकि यहाँ कृष्ण सार मृग स्वच्छन्द विचरण करते थे।[4] वर्तमान हरयाणा और राजस्थान की सीमा से लगते क्षेत्र में इन कृष्ण-मृगो का दर्शन आज भी किया जा सकता है।

हरयाणा या हरियाना के सास्कृतिक इतिहास के अध्ययन के लिए वैदिक साहित्य, स्मृतिया, सूत्रग्रन्थ, महाभारत, हरिवश, स्कन्दपुराण तथा विष्णुपुराण आदि उतने ही महत्त्वपूर्ण है जितने यौधेय गणतन्त्र, गुप्त एव वर्धनवश मे सम्बद्ध इतिहास ग्रन्थ। पौराणिक युग के प्रारम्भ का हरियाना सतलज (शतद्रु) घाटी से लेकर कैलाश पर्वत तक फैला हुआ था। कार्तिकेय और परशुराम की शक्ति-परीक्षा तथा कार्तिकेय और तारकासुर के युद्ध का क्षेत्र यही था। अन्धकवृष्णि युग में श्रीकृष्ण के प्रभाव क्षेत्र के कारण ही हरयाणा, हरियाणा भी कहा जाने लगा। आभीर युग में इस प्रदेश का दक्षिणी भाग 'हरि' नाम से भी पुकारा जाता था।

आठवी सदी के अपभ्रश महाकवि स्वयम्भू ने इस क्षेत्र के प्रदेशों के प्रचलित नामो का उल्लेख किया है—

मरु-कण्णाट-लाट-जालधर। टक्क-हीर-कोर-खस-वव्वर। पउम चरिउ ३०।२।

---

१ दृषद्वती का उल्लेख ऋक् ३।२३।४ और १०।५३।८ में है।

२ मनुस्मृति २।१७

३. वही २।१८

४ कुरुक्षेत्र च मत्स्याश्च पाचाला शूरसेनका।
एव ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनतर ॥ मनु० २।१९ ॥

५ कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वाभावत।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वत पर ॥ मनु० २।२३।

सक-सूर सेण-मरु-पत्थिवावि । पउम चरिउ ८२।६ ।

दसवी सदी के कवि पुष्पदन्त ने भी विविध प्रदेशो का उल्लेख किया है । उन्होंने 'हरि' को 'आहीर' नाम दिया है, किन्तु एक स्थान पर प्राचीन प्रचलित नाम 'हरि-कुरु' भी लिखा है—

आहीर-कीर-गधार-गउड-णेवाल-चोड ।

कोकण-केरल-कुरु-कामरुव-सिहल-पहूय ।। आदि पुराण पृष्ठ २३०-२३१

मागह-जह भोट्ट-णेवालवि । उड्ड-पुड-हरिकुरु-भगालवि । आदि पु० पृ० ८८

आठवी से दसवी शताब्दी तक वर्तमान हरियाणा के तीन प्रमुख क्षेत्र थे—आहीर (हीर) कीर और जट्ठ, तथा समग्र रूप मे यह 'हरि कुरु' या यौधेय भूमि के नाम से पुकारा जाता था । महा कवि पुष्पदन्त ने इस यौधेय-भूमि का विस्तृत एव मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है--

वित्थिण्णए जवु दीवि भरहे । रवर-किरण-करावलि-भूरि-भरहे ।
जोहेयउ णामि अत्थि देसु । ण धरणिए धरियउ दिव्व वेसु ।
जहि चलइँ जलाइँ स विब्भमाइँ । ण महि कामिणि णव जोव्वणाइँ ।
गोवाल—मुहालुखिय—फलाइँ । जहि महुरडँ ण सुक यहो फलाइँ ।
मथर--रोमथण-चलिय- गड । जहि सुहि णिसिण्ण गो-महिसि-सड ।
जँह उच्छु वणइँ रस दसिराइँ । ण पवण-वसेउ पणच्चिराइँ ।
जँह कण भर पणविय पक्क सालि । जहि दीसइ सयदलु सदलु सालि ।
जहि कणिसु-कीर रिछोलि-चुणइ । गहवड-सुयाहि पठियणु भणइ ।
छोक्करण-राव-रजिम मणेण । पहि पउ ण दिण्ण पथिय जणेण ।
जहि दिण्णु कण्णु वणि मयउलेण । गोवाल गेय रजिय मणेण ।
जहि जण-धण-कण परिपुण्ण गाम । पुर-णयर सुमीमाराम साम ।

घत्ता राय उरु मणोहरू रयण चिय भरु, ताहि पुरवरु पवणुद्धयहि ।
चल चिंधहि मिलियहि णहयलि घुलियहि, लिवइ व सग्गु सयभुयहि ।।

ज छण्णउ सरसहि उववणेहि । ण विद्धउँ-वम्मह-मग्गणेहि ।
कय सद्दहि कण्ण सुहावएहि । कण इ' व मुर हर पारावएहि ।
गयवरदाणोल्लिय थाहियालि । जहि सोहइ चिरु पवसिय पियालि ।
सर हसई जहि णेउर-सेण । मउ चिक्कमनि जुवई-पहेण ।
ज णिय भुयासि वर णिम्मलेण । अण्णुवि दुग्गउ परिहा-जलेण ।
पडि खलिय-चडरि-तोमर-असेण । पडुर पायारि ण ज्सेण ।
ण वेढिउ वहु सोहग्ग भाम । ण पुजीकय ससार णाम ।
जहि विलुलिय मरगय तोरणाइँ । गउदारइँ ण पउरागाणाइँ ।
जहि धवल-मगलुच्छव सराइँ । दु-ति-पंच-सत्त भोमइँ पराइँ ।
णव कुंकुम रस छड्यारणाइँ । विलिसत्त दिन मोत्तिय फलाइँ ।
गुरु देव पाय पणय वनाइँ । जहि नच्चइँ दिच्चइँ माणसाइँ ।
मिरिमनइँ मतइँ सुणियाइँ । जहि तहि जिन भोगहि सुपियाइँ ।।

पाय चरिउ—पृ० ४१५

विस्तीर्ण जम्बू द्वीप के भरत खड में सूर्य की प्रचुर तीक्ष्ण किरणो से भरा हुआ यौधेय नाम का देश है। वहाँ की धरती ने मानो दिव्य वेश धारण किया है। जहाँ आवर्तयुक्त जल धारायें इस प्रकार चलती हैं मानो विभ्रम-विलास से युक्त कामिनी-कुल हो। जहाँ भृगो के घर कुकविता के समान फैले हुए हैं। जहाँ नील कमल सदृश नेत्रो की स्निग्धता है, जहाँ के फूले-फले उपवनो में भूमि रूपी कामिनी नव-यौवन-सम्पन्न हो गई है। जहाँ के ग्वाले ऐसे फल चुनते है मानो वे मधुर-पुण्य-फल हो। जहाँ गाय-भैंस और साँढ धीरे-धीरे जुगाली करते है जिससे उनके कपोल चचल दिखाई पडते हैं। जहाँ के ईखो के वन में रस इस प्रकार भरा है जैसे बाँसो के वन में पवन। जहाँ दानो से भरी हुई, पके धान की बालियाँ झुक गई हैं और उनके आस पास कमल खिले हुए है। तोतो की पक्तियाँ मजरियाँ चुनती है और गृह-पतियो की कन्याएँ उन्हें प्रतिवचन कहती है। छोकडो (बच्चो) के समूह मन ही मन मग्न हैं। पथिक जन मार्ग पर पग बढाते हैं। जहाँ कर्ण-वन मृगो से भरे हुए है और गोपाल अनु-राग भरे मन से गीत गाते है। जहाँ के गाँव जन'धन और अन्न से परिपूर्ण है। पुर और नगरो की सीमाएँ बगीचो से श्यामल दिखाई पडती है।

इस यौधेय देश मे रत्न-जटित मनोहर घरो से मुक्त 'राकनगर' है। इस श्रेष्ठ नगर की पताकाएँ, पवन से-हिलाई हुई, आकाश में फहरा रही है, वे मानो स्वर्ग को छू रही हो। यह नगर चारो ओर से सरोवरो और उपवनो से घिरा हुआ है, ऐसा लगता है मानो ये काम के बाण हो, जिनसे सारा नगर विध गया हो। यहाँ के देव-मन्दिरो से आता हुआ पारावतो का कलरव कानो को सुखदायी लग रहा है। यहाँ मद-प्रवाह करती गज-पक्तियाँ है जिन पर भ्रमर मडरा रहे है। ऐसा प्रतित होता है मानो चिर-प्रवसित-प्रिय से मिलन हो गया हो। नूपुर के सदृश कलरव करते सरोवरो के हस, युवती के सौंदर्य की आभा से सुशोभित माला के समान ही निर्मल है।

दुर्ग की परिखाएँ जल से भरी हुई है। भुजाओ की शक्ति के समान ही उनका जल निर्मल है। उनमें मछलियाँ ऐसी प्रतीत होती है मानो शत्रु के गिरे हुए तोमर हो। उनके प्राकार यश के समान श्वेत है। ये दुर्ग-प्राकार अत्यधिक सौभाग्य भार से अचल है। ससार का सार मानो वही पूजीभूत हो गया हो। चचल एव हिलती हुई मरकत मणि के समान तोरण है। नगर के चारो द्वार नगरवासियो के मुख के समान ही भव्य है। जहाँ दो-तीन, चार और पाँच तथा सात मजिलो के घर है। ये साक्षात् मंगलोत्सवो के समान श्वेत लगते है। नये बिखरे कुकुम-रस की छटा सदृश उनमें अरुणिमा है। उनमें मुक्ता कणो की दीप्ति बिखर रही है। यहाँ के सभी मनुष्य दिव्य हैं तथा गुरु और देवता के चरण कमलो के वशी-भूत है। वे श्रीमत, सत, एव सुस्थित हैं। कही भी दु स्थिति (अकाल आदि) नही दिखाई पडती।

मध्यकाल की हरियानी भाषा का स्वरूप

मध्यकाल की हरियानी भाषा की कृतियाँ उपलब्ध नही हैं। इस क्षेत्र मे मध्यकाल की जो कृतियाँ मिलती हैं वे दो प्रकार की हैं। प्रथम प्रकार की वे रचनाएँ हैं जो अपभ्रश परंपरा से अधिक प्रभावित हैं। ऐसी एक कृति बल्ह कवि रचित 'कूकडा-मजारी चउपई'

श्री अगरचन्द नाहटा ने 'जन-साहित्य'[1] में प्रकाशित करवायी है। इसकी हस्तलिखित प्रति १६०५ ई० की है, अत इसका वास्तविक रचनाकाल इससे कुछ और पूर्व हो सकता है। इसकी भाषा निश्चित रूप से अपभ्रश प्रभावित हरियानी है। उदाहरण के लिए कुछ पक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

भणई मजारी निसुणि कूकुडा तिया काजि मनि वडा किज्जइ।
घरि आया आपणइ, उठि महत आदर दिज्जइ ॥ २२ ॥

भणइ, निसुणि, किज्जइ, आपणइ, दिज्जइ, अपभ्रश के पद हैं। इस रचना के कुछ शब्द—सारदै, विनाइक, कूकडा, मूरिख, स्याणा, मुकच आदि तथा परसर्ग या विभक्तियाँ सर्वनाम एव योजक तत्कालीन हरियानी के ही हैं—

जे परवति स्याँ आवहि भाइ ॥ २८ ॥
वयर विरोध करउ तुझ सेती। ३१।
मइ आनी मूसा कारना। ९।
अर पूजइ हर देव। ३२।

इसके क्रिया-रूप मिश्रित हैं और 'ण' के वहुल-प्रयोग की प्रवृत्ति भी रचना मे दिखाई पडती है। यह नीति-परक रचना है।

द्वितीय प्रकार की रचनाएँ नाथ-पथ और संत-सप्रदाय की है। इनकी भाषा हरियानी का रूप प्रस्तुत न कर तत्कालीन प्रचलित अवधी भाषा का स्वरूप ही प्रगट करती है—

'देखि भूमि उज्ज्वल सुघराई। वन जगल सोभा सुघराई ॥ मस्तनाथ चरित्र

हरियानी का लोक-साहित्य समृद्ध है, पर उसकी भाषा मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, अत उसके आधार पर किसी काल-विशेष की हरियानी भाषा के स्वरूप का स्पष्टीकरण सभव नही है।

हरियानी भाषा के मध्यकालीन स्वरूप की खोज में दक्खिनी-हिन्दी सर्वाधिक सहायक हो सकती है। चौदहवी शताब्दी के पूर्वार्ध में दिल्ली के सुल्तानो ने दिल्ली, हरियाना और कुरु-प्रदेश के लोगो को ले जाकर दौलताबाद और उसके आस-पास के क्षेत्र में बसाया था। ये लोग अपने साथ अपनी भाषा भी ले गये और निरन्तर उसका प्रयोग करते रहे। इसमें कई कवि भी थे। दक्षिण में गुलवर्गा, बीजापुर, गोलकुंडा, बीदर और बरार नाम से पाँच स्वतन्त्र राज्य बने, जहाँ उन कवियो को प्रश्रय मिला। औरगजेब द्वारा इन पाँचो राज्यो को विनष्ट कर देने के बाद हैदराबाद में स्वतत्र निजाम राज्य की स्थापना १७२३ ई० में हुई। यहाँ के कवि और लेखक अपनी भाषा को हिन्दी या हिन्दवी कहते आ रहे हैं। हिंदी-साहित्य के इतिहासकारो ने इसे 'दक्खिनी-हिन्दी' नाम दिया। इस दक्खिनी-हिन्दी के प्राय सभी लेखक और कवि मुसलमान हैं, जिनका झुकाव अपनी रचना में अरबी फारसी के शब्दो के समावेश की ओर अधिक रहा। यद्यपि इस प्रवृत्ति के विरोध में क्षीण स्वर भी सुनाई पडते है और कुछ ने अरबी फारसी के शब्दो को पृथक् रखने का प्रयत्न किया, पर यह प्रयत्न सफल न हुआ और अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में अरबी-फारसी की पदावली से बोझिल, उर्दू

१. जन साहित्य—लोकसाहित्य विशेषांक अक्तूबर-नवम्बर १९६५ पृ० ३६७-३७०

ने साहित्य तथा प्रशासन में अपना सुदृढ स्थान बना लिया। इस क्रम में चार सौ वर्ष लगे। इन चार सौ वर्षो मे भाषा का जो रूप ढलता रहा उसका साँचा तो उन्होंने दिया था जो चौदहवी शताब्दी मे दिल्ली से जाकर दौलताबाद बसे थे।

उत्तरी भारत के अमीर खुसरो की पहेलियो और मुकरियो की भाषा खडी बोली हिन्दी कही जाती है, पर उनके मौलिक रूप की उपलब्धि में सन्देह है। इंशा अल्ला खाँ की 'हिन्दवी छुट' वाली 'रानी केतकी की कहानी' सन् १७९८ और १८०३ ई० के मध्य लिखी गई। यही वह समय था जब हिन्दी और उर्दू ने अपना पृथक् पृथक् मार्ग चुन लिया था। इससे पूर्व की हिन्दी रचनाओं के लिए दखिनी-हिन्दी के साहित्य का महत्त्व बढ जाता है, जिसमें चार सौ वर्ष पूर्व से ही हिन्दी की रचनाएँ मिलने लगती है। ये रचनाएँ गद्य और पद्य दोनो में हैं।

मुस्लिम दरबारी वातावरण के कारण अरबी-फारसी के शब्द इसमें आरम्भ से ही मिलते हैं, परन्तु इसकी आधारभूत बोली के कुछ उद्धरण अपने मौलिक रूप में यहाँ उपलब्ध हो जाते हैं। इन्हे कौरवी कह कर भाषा-वैज्ञानिको और हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने छुट्टी पा ली है। उर्दू-साहित्य मे उसे देहलवी बोली कहा जाता रहा है, जिस पर उर्दू ने आकार प्राप्त किया। दिल्ली, खडी बोली या कौरवी का क्षेत्र नही अपितु हरियानी का क्षेत्र है। हरियानी के समीपस्थ मुजफ्फर नगर, सहारनपुर और मेरठ का कुछ क्षेत्र खडी बोली या कौरवी का है, परन्तु कौरवि का शेष क्षेत्र हरियानी से सलग्न नही है। अत दखिनी-हिन्दी की आधारभूत बोली हरियानी ही है। कुरु प्रदेश की बोली का भी यत्किचित् योगदान हो सकता है क्योकि दिल्ली और हरियाना के कुछ सलग्न क्षेत्रो मे वह बोली जाती है और उसका कुछ प्रभाव दखिनी हिन्दी पर दिखाई भी पडता है। इस क्षेत्र के कुछ लोग भी दक्षिण गये होगे। दखिनी-हिन्दी की आधारभूत बोली मे हरियानी की खोज से यह निष्कर्ष सहज ही निकल सकता है कि वर्तमान उच्च हिन्दी के निर्माण में उसका उल्लेखनीय योगदान है।

हरियानी और कौरवी की अधिकाश शब्दावली समान है। वाक्य-रचना की प्रक्रिया भी समान है। इन दोनो के मौलिक अन्तरो की खोज प्राथमिक आवश्यकता है, जिनके आधार पर कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय किए जा सकते है। हरियानी और कौरवी के ध्वनिग्राम समान हैं। दखिनी-हिन्दी की आधारभूत बोली की खोज मे एक कठिनाई यह भी है कि उसकी सभी रचनाये फारसी लिपि मे प्रस्तुत की गई हैं, जिसमें द्वित्व वर्णों को भी एक ही वर्ण द्वारा व्यक्त किया गया है जैसे 'आट्टा' का 'आटा'। पढते समय छन्द के आग्रह से सयुक्त ध्वनियो का आभास मिलता है। दखिनी हिन्दी मे 'ण' के स्थान पर 'न' ही मिलता है, विकास और फारसी लिपि दोनो ही इसके लिए उत्तरदायी हैं। इन कठिनाइयो के होते हुए भी इन चार सौ वर्षो मे लिखी गई रचनाओं से कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं, जो तत्कालीन हरियानी के हैं और वर्तमान हरियानी के निकटतम या सदृश हैं। मोटे टाइप के अश द्रष्टव्य हैं—

१ ख्वाजा बदा नेवाज (१३२८ ई०-१३८६ ई०) दिल्ली से दौलताबाद गये थे। इनकी 'मेराजनामा' एक गद्य-रचना है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—'अगर उसमें ते एक पर्दा उठ जावे तो उसकी आँच ते मैं जलूँ। होर एक वक्त ऐसा होता है, समझो

और देखो, बेपर्वा अँधेरे के उजियाले के आरिफान[1] पर है।

२ शाह मीराजी (मृत्यु १४८४ ई०) ने 'सबरस' गद्य मे लिखा। इसकी कुछ पंक्तियाँ हैं—

इसका काम उस पर नही खुल्या, सो तुझपर क्या खोलेगा। तू क्या समझ कर भूल्या है? बहुत सिखेगा तो इधर-उधर कियाँ दो चार हिकायताँ। इन हिकायताँ सो क्या हासिल ?।

३ अशरफ ने १५०३ ई० मे अपना काव्य 'नौसिर हार' लिखा। नानक और सूरदास के बीच के काल में विद्यमान इस कवि ने अपनी काव्य-भाषा को हिंदवी कहा है—

नजम लिखूँ सब मौजू आन। यो मैं हिंदवी कर आसान। इस समय अरबी-फारसी शब्दावली से बोझिल हिन्दी या हिंदवी कठिन समझी जाती होगी।

४ फीरोज (१५६४ ई०) ने 'तौसीफनामा' में कहा है—

मेरा पीर मखदुम जी जग मने। मँगुँ न्यामता (मैं सदा) उसवशे।
वही फूल जिस फूल की बास तूँ। वही जीव जिस जीव की बास तूँ।

५ साहबुरहानुद्दीन (जन्म १५४३ ई०, रचना काल १५८२ ई०) ने अपनी भाषा को हिंदवी न कह कर हिन्दी कहा और उसकी प्रशसा की—

यह सब बोलू हिन्दी बोल। पन तूँ अनभौ सेती खोल।
ऐब न राखे हिन्दी बोल। माने तू चख देखे खोल।
हिन्दी बोलो किया बखान। जेकर फसाद अथामुंज ज्ञान।
तूने देख्या आप स आप। वे घड्या यह तुज पाप॥

६ महाराष्ट्र के महात्मा एकनाथ (१५४८-१५९९ ई०) भी अपने गुरु जनार्दन स्वामी के पास बारह वर्ष तक देवगिरि (दौलताबाद) रहे। उनकी हिन्दी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

डख मारा वे डख मारा। सो वडे-वडे कू नहो उतारा।
ग्यानी कू ग्यान लगाऊँ। लोभे आँधे कूँ उडाऊँ॥

७ शाहअली (मृत्यु १५६६ ई०) सूफी सन्त थे।

हासिल सब कुरान का है इतना जानो।
वहम दुइ का दूर करो होर मुजे पछानो।

८ वजही (१६०९ ई०) की 'कुतुब मुश्तरी' में दो हजार शेर है। इनमे से कुछ तो विशुद्ध हरियानी के है। निम्नलिखित पंक्तियो में हरियानी के द्वित्व व्यंजन शब्द के आग्रह से स्वय स्पष्ट हो जाते है —

जिता चोरी कर चोर अपे नाव होय। दगाबाज उचक्के कूँ माने [illegible]।
चुरा कर चुराता न कह जोर कोय। यो बाँता समजने को है होर कोय॥
जे कुच तुज कू होना सो हाजिर है नन। उजानां जो भरता को तूँ [illegible]।
दुनियां के सो लोगों में वका दीसना नै। [illegible]॥

1. ज्ञानी लोग।

वजही के गद्य-काव्य 'सवरस' (समाप्तिकाल १६३५ ई०) को राहुलजी ने हिन्दी का प्रथम गद्य काव्य माना है। तुलसीदास की मृत्यु के बारह वर्ष बाद इस ग्रन्थ की समाप्ति हुई। इसकी सैंकडो गद्य-पक्तियाँ हरियानी की है। उदाहरणार्थ कुछ पक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

योवी एक चोरी है, योवी एक हरामखोरो है ॥
वहा के लोका कू पूछया कि 'इस जागा कू क्या कते (कत्ते = कहते) हैं ॥
कै तुजे कुछ काम मुश्किल पडे, तो यो बाल आग पर जाल ॥
यो बोल वोल लट भौत लम्बी भौत वडी, वहाँ ते पेचा खाते खाते कमर पर चडी ॥
खुश्बोई की डौरी छुटी, चौधर बास की महकार उठी। दो चार प्याले शराव
कता हू सुनो कान धर लोग हो। कहावत मने बात जो आये सो।
परख देके तूँ काँच होर पाव कूँ। वरावर न कर दूद होर छाच कू ॥
पिये, दुनियाँ में जो कुछ करते सो गये ॥

९. मुहम्मद कुली कुतुव (१५८०-१६१२ ई०) गोलकुडा का वादहाश था। इसके काव्य में वर्ण्य-विषयो की वहुविधता है। इसने लिखा हैं—

हरचा शीशा हरचा प्याला, हरचा कसवत,[1] हरचा जोवन।
हरचा ज्वानी, हरघाली में न या मोत्या के हारा कर ॥
तेरी बाता, तेरी घाता तेरी रीता अहै वहु घात ॥[2]
'सख्या सब ग्वाही हैं ॥' 'कि पुत्ल्या म्याने दिस्ती है ॥' आदि।

१० अब्दुल (१६०३ ई०) ने चौदह विषयो का वर्णन किया है। वह अपनी भाषा को देहलवी कहता हैं—

जवा हिंदवी मुजसो होर देहलवी। न जानूँ अरव होर अजम मस्नवी[3] ॥

११ अमीन (१६२० ई०) में 'वहराम-हुस्नवानू' की कथा लिखी है। इसकी कुछ पक्तिया हैं—

'सहेल्या जो थ्या तीन उसके सँगात।'
'वहु सुन शाह वा सेती आया बहार।

१२ गौवासी (१६२० ई०) दक्खिनी-हिन्दी के तीन प्रभुख महाकवियो में से एक है। वह गोलकुडा का राज कवि था।

'जे कुच ख्वास्त तेरा है सव उस पे छोड'। दुन्या के इलाके ते तू दिलकू तोड।
'मुज हाल उस ठार पैदा हुआ।'
'पिरोने लग्या बैस[4] आप हात सो। रँगा रँग हारा बहुत भाँत सो।'

---

१ परिधान, खिसक जाना
२ प्रकृति, ढग
३ फारसी
४. माला

'पड्या था अकेला दु.खी वेकरार ।'
'कमर में ते वै अपने खजर कू काड । गया आपना पेट लेने कू फाड ॥'
'पिछान्या कि साअद वफादार है ।'
'हवा पर चल्या दौड पँख मार-मार । रख्या मुजकू ल्याकर सो इस ठार उतारा।'
'यकेला अपे काड ल्याया अथा । सो मां वाप सो ल्या मिलाया अथा ।'
'वडा रन पड्या सख्त रगडा हुआ ।'
बुढा ढोंदा था सो हुआ फिर जवान ।'
'जधा ते जो तू लेव कर वो गया । तधा ते खलल वर तरफ हो गया ।'
'कह्या तू क्यो इस ठार आया कना।'[1]

१३ मुकीमी ने (१६२७ ई०) 'चन्द्रवदन-महियार' प्रेम कथा लिखी है। इसकी एक पक्ति है—

'कया जा उसे 'ए दिवाने वशर ।[2] कहा सू तु आया चल्या है किधर ।'

१४. कुतुवी (१६३४ ई०) ने शेख युसुफ देहलवी की धार्मिक पुस्तक 'तोहफ्तुन्नमाह्य का दक्खिनी हिन्दी में पद्यवद्ध अनुवाद किया है—

यू पर जो वारी ज्वाब दे दायम रहे सर वाव कर ।

१५ सनअती (१६४५ ई०) के समय अरवी-फारसी शव्दावली का इतना अधिक प्रयोग होने लगा था कि हरियानी और कौरवी की उपेक्षा होने लगी । सनअती ने 'दखनी जवां' को आसान कहा—

जिसे फारसी का न कुल ज्ञान है । सो दखनी जवा उनकू आसान है ।'

यह 'दखनी-जवा' हरियानी पर आश्रित है—

'न तुज सारखा रग कोई रग सके ।'
पडेयक पे यक रन मैं कै ठाट-ठाट । सु वोले सुटे ताड के झाड काट ।

१६ खुशनूद (१६४६ ई०) की पक्तियाँ हैं—

'दिस्या मुज एक ठार ओ ऊँट आया । वहाँ के शाख-पात वो तोड खाया ।'
'जुगाल उसका पड्या था एक किनारे । वहुत पाता झडे थे उनमें मारे ।'

१७. रुस्तमी (१६४९ ई०) के 'खावरनामा' प्रेम कथा की एक पक्ति है—

'न देख्या किसी मर्द इस सात मे ।'

१८ निशानी (१६५६ ई०) की रचना 'फूल वन' में अरवी-फारसी शब्दों की भरमार है, परन्तु जो पक्ति ऐसी शव्दावली से मुक्त है उनमें हरियानी की झलक देखी जा सकती है—

'पिरित का धड होर वाग[3] लग्या मो ।
'है सात्रा सो पे दो वीस आर[4] (१७४४) वेता ।'

---

१ कहना
२ आदमी
३ वर्षा
४ चार (च्यार-आर)

१९ नस्रती का स्थान सारे दक्खिनी कवियो मे ऊँचा है। इनकी शब्दावली है—

'सोने मगे तो घरम दुक ना तन में उपरी ल्हो छिटक।'

'ऊनों क्यां सख्यां चूँकि सौ साथ थ्या। इनो के कने भी इसी घात थ्या।

'यो सब सच कती हूँन को जान झूट।'

'तेरी सिफत सब थाकई बोल्या हुँ आपे जोड मे।'

'कता हूँ एता फौज देहली की बात। चौघेर ते यो चिगियाँ उडियाँ।

यकत ठार खातिर में चल्या यक तरफ। वठ्या मिल के दोनो अधिक घर शरफ॥'

२० तबई (१६७० ई०) ने 'बहरानो-गुलनन्दाम' केवल चालीस दिनो में लिखा था जिसमे १३४० शेर हैं—

'कता हूँ सुनो कान घर लोग हो। महाबत मने बात हो आप यो।'

२१. इस्रती (१६६२ ई०) बसरा में पैदा हुए थे। १२ साल की उम्र मे बीजापुर आये और 'चित लगन' 'नेह दर्पन' तथा 'दीपक पतग' की रचना उन्होने की।

'समज सच तु दो दिन के बिछडे का रोग। मु ज आशिक उपर जिन सुट्या प्यास भूक।'

'जलेब्या के निछल शीरी पे रख आख। झजरसे पट्टियाँ के शहद रहे झाक।'

२२ जईफी (१६८९ ई०) अपनी रचना 'हिदायत-हिन्दी' का काल बतलाते हैं—

'सदी बारहवी का लग्या था बरस।'

२३. मुहम्मद अमीन (१६९७ ई०) में 'यूसुफ-जुलेखा' लिखा।

'इग्यारा सौ उपर जब नौ गुजरे।'

२४ वल्दी (१७०३ ई०) ने 'पछी बाचा' लिखा। उनकी पक्ति है—

के पडे है इस बजा गफलत मने। कुफ्र है जो मुल्क होर मिल्लत मने।'

२५ वली दकनी (१७०५ ई०) की भाषा ने पूर्णत उर्दू के निजी स्वरूप की विशेपताएँ स्थापित कर ली। वृन्द, लाल, घनानन्द, नागरीदास आदि हिन्दी कवि इनके समकालिक हैं।

'ऐ यारे मन बहला हैगा। बीच उस्के बहुत जफा होगा।'

२६ वली के बाद भी हरियानी प्रभाव के दर्शन हाशिम अली (१७३७ ई०) की कविताओं में होते हैं—

'क्योकर पिछानू मुझकूँ बता जाओ कुछ निशाँ।'

'ल्हो मरा क्यो तेरा चदरमुख है।'

२७ बाकर आगाह (१७४५-१८०५ ई०) की सत्रह कृतियाँ हैं। वे दक्खिनी में कहते हैं—

'थे बारा सो के ऊपर छ बरस जब।'

'मुसाफिर कु पौचाने जाता था वो।'

२८ तुराब दखिनी (१८४० ई०) ने अपनी रचना का नाम ही 'बारा बहार' रखा है। कुछ पक्तिया है—

'न समजी ओ हुआ सो देख वेहाल।'
'भौत आलम मे है स्याने–दिवाने।'
तुम का गये थे खत लिखने की खातिर।'

ऊपर दिये गये उद्धरण[1] दक्खिनी हिन्दी के है। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए कि ये सभी लेखक मुसलमान हैं, मुसलमानी दरवारो मे सम्बन्धित है तथा अरवी-फारसी के साहित्यिक-वातावरण से प्रभावित हैं, इन उद्धरणो तथा इनकी कृतियो मे प्राप्त हरियानी के अन्य उद्धरणो का विश्लेपण अधिक उपयुक्त होगा। भापा मे 'ण' की प्रचुरता अपभ्रंश काल से ही चली आ रही है, जिसका प्रचुर प्रयोग राजस्थानी और हरियानी मे अव भी होना है और यह 'न' का स्थानापन्न है। उच्च हिन्दी मे 'न' का प्रयोग होता है, जैसे जाणा' के स्थान पर 'जाना'। 'भू' धातु' का 'हू' मे परिवर्तन पालि-काल मे ही हो चुका था। वर्तमान हरियानी में 'हू' और 'सू' दोनो का प्रयोग प्रचलित है। उच्च हिन्दी मे 'सू' का प्रयोग नही होता। ल' का परिवर्तन हिन्दी की अन्य वोलियो मे ड' 'र' और 'स' के रूप मे उपलब्ध होता है। जैसे 'निकलना' का निकडना, निकरना, निकसना आदि, पर आदि 'न' का 'ल' मे परिवर्तन हरियानी के कुछ शव्दो म मिलता है, पर इनका प्रयोग कम हो गया है जैसे—लिकडना। हरियानी की 'नै' विभक्ति हिन्दी में 'ने' ही प्रयुक्त होती है। हरियानी के उच्च हिन्दी में परिवर्तन की इस प्रक्रिया में ये तथ्य मोड की स्थिति के सूचक हैं। हरियानी की शेप विशेपताओ के दर्शन ऊपर के उद्धरणो में किये जा सकते हैं।

परसर्ग—

ऊपर के उद्धरणो में कर्त्ता के परसर्ग०, नै और ने मिल जाते है। कर्म के परसर्ग०, कू, कु और नै, दिखाई पडते हैं। 'कू' का प्रयोग 'को' के अर्थ मे कौरवी के भी सभी क्षेत्रो में उपलव्ध नही होता। इसका प्रयोग जिला मुजफरनगर तथा मेरठ के मवाना तहसील के क्षेत्रो मे ही होता है, जो हरियाना के सलग्न क्षेत्र है। करण के–सों, ते, सने, सेत्ती और सेती मे अन्तिम दो हरियानी के विशेप परसर्ग है। सप्रदान के परसर्गों में–की खातिर, की त्या और 'की खात्तिर' के रूपान्तर 'की आसते (वास्ते)' दखिनी हिन्दी मे प्रयुक्त हुए है। अपादान मे—ते, सू, सो, स, घोर ते—का प्रयोग मिलता है। घोर, घोरें, घोरें ते, का प्रयोग आज भी हरियानी मे अधिक मिलता है। सम्वन्ध मे—कर, का, किया (स्त्रीलिंग की), के, की, रा, रे, री—मे किया उल्लेखनीय है। अधिकरण में प्रयुक्त परसर्ग है—मे, मैं, म्यानें मने, पर, पे, ऊपर आदि। इनमे मे, मैं का परिवर्तित रूप है। सम्बोधन के लिए—ऐ, हो, रे, र, वे का प्रयोग हुआ है। हो और वे का प्रयोग वर्तमान हरियानी मे भी होता है। शेप सम्बोधन उच्च हिन्दी में भी मिलते है।

हरियानी में दो कारकों के परसर्गों का प्रयोग एक साथ बहुत दिखाई पड़ता है, हिंदी मे ऐसे प्रयोग केवल उन अव्ययों के साथ ही मिलते हैं जो परसर्गों की भांति प्रयुक्त होते हैं। दखिनी हिन्दी में हरियानी भाषा की प्रवृत्ति के अनुसार हो–के ने, पर सों, साथ में (साथ

---

१ देखिए—दखिनी हिन्दी काव्यधारा-राहुल सांकृत्यायन

में), के ऊपर, पास ते, उपराल, भीतर, वहार (वाहर) और घोरे के साथ अन्य परसर्ग मिला कर प्रयुक्त हुए हैं।

सर्वनामो—मे उत्तम पुरुष एक वचन के रूप–मैं, में, मुज, मुजे, मुझे, मेरा तथा बहुवचन मे 'हमन' मिलते हैं। यह हरियानी के प्राचीन रूप 'म्हानै' और वर्तमान रूप 'हमनै' के लिए प्रयुक्त हुआ है। मध्यम पुरुष के—तुज, तुझ, तू, तू, तुमन-रूप मिलते हैं। अन्य पुरुष सर्वनाम के रूप हरियानी के अधिक समीप हैं—उस, इस, सौ, यह, यो, वो (वह) ओ तथा बहुवचन रूप उन, इन, (स्त्री०) या—प्रयुक्त हुए हैं। तिर्यक्‌रूप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—हिन्दी इन्होने, उन्होने के स्थान पर इन्नै, उन्नै तथा इनन, उनन का प्रयोग हरियानी का है। स्त्रीलिंग का उनो क्या भी हरियानी का है। अन्य प्रकार के सर्वनामो मे—क्या, किस, जिस, जे, जेकर, जो, इतना, जिता (जित्ता) कैं, वा, जा, कौन, कुछ, कुच, कैसे क्योकर, कोई, वैं, तन (तिन) को एता (एत्ता), जिन, जेते, केतक, जँधा, तँधा, अव, कधी, कही, इधर-उधर आसपास—आदि कुछ उच्च हिन्दी के, कुछ कौरवी और हरियानी दोनो के और कुछ केवल हरियानी के हैं।

निपेध वाचको में—नही, नैं, न और ना हैं, जिनमें 'ना' का प्रयोग हरियानी में अधिक होता है।

विशेपणो मे—ऐसा, वडे-वडे, वडी, लम्वी, थोडे, हरचा सभी हरियानी में प्रयुक्त होते हैं पर हरचा (हरा) विशेष उल्लेखनीय हैं।

सख्यावाची—एक, दो, तीन, चार, आर, छ, नौ, इग्यारा (ग्यारा), वार, वारा सत्रा, वीस, सो, सौ, हजार, दुई, दोनो, वारवी और वार सौ में से कुछ ऊपर के उद्धरणों में भी प्रयुक्त हुए है। ये सभी वर्तमान हरियानी मे भी इसी रूप में मिलते है।

योजको में—कैं, तो, ज्यो-त्यो, यो जिव (ज्यू), होर, ओर, वी (भी), कि आदि कुछ हिन्दी रूप ग्रहण कर चुके हैं, कुछ फारसी लिपि के कारण भिन्न प्रतीत होते हुए भी हरियानी के है जैसे—जिव (ज्यू)।

क्रियापदो के रूप—कौरवी की अपेक्षा हरियानी के अधिक सदृश है। वर्तमान रूपो में मूल क्रिया के रूप हरियानी के ही हैं—

(क) जानूं, मगू, मगु, वोलू, रखू, लगाऊँ, पिछानू, जलू ।
(ख) जावे, माने, रहे, सके, समजते ।
(ग) वार मूँ, हार सूं, लग्या से।
(घ) वोल्या हूँ, रया है, कता हू, दिस्ती है, दिसता, भरता (होना सहायक क्रिया से युक्त या रहित रूप)।

इनमें मे प्रथम तीन वर्ग की क्रियाएँ हरियानी की हैं। चतुर्थ वर्ग की क्रियाओ में सहायक 'हू' धातु का रूप मात्र हिन्दी का है।

भूत काल के रूपो में यह थोडा अन्तर भी दिखाई नही पडता। जैसे—किया, कह्या कया, कै (कहे), सुल्या, घड्या, चडी, चल्या, छुटी, झडे, जोड्या, तोड्या, देख्या, दीखे

दिस्या, दिया, पड्या, पाड्या, पडे, पीये, पिछान्या, पूछ्या, फुग्या, बोले, बठ्या, बिछडे, भूल्या, मगे, मारा, मिले (मिल्ले), सोते (सोये पडे थे), रख्या, लग्या, ल्यायी आदि ।

भविष्य काल के रूपों में भी खोलेगा, गया, जीवैंगा, सिखेगा, हैंगी, आदि हरियानी के उपलब्ध होते हैं ।

संभाव्य—करते, होता दिसे, तथा आज्ञा रूप कर, करो, काट, काड, खोल, छोड, जाओ, जानो, जाल, (डाल), तोड, देख, पछानो, पिछान, बोलो, समज, सुनो और विध्यर्थ जाय, टाल्या जावे, देके (देखे) संभाले आदि रूप विशुद्ध हरियानी है ।

वाक्य-विन्यास और वाक्य-रचना की प्रक्रिया हिन्दी, कौरवी और हरियानी में एक समान है । कौरवी में बहुवचन बनाने की रीति हिन्दी के समान है । बहुवचन शब्द एकारान्त या ओकारान्त होते हैं । हरियानी के बहुवचन रूप आकारान्त या आंकारान्त होते हैं । दक्खिनी हिन्दी की प्रक्रिया हरियानी के सदृश है, कौरवी के सदृश नहीं । निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं—आँख—आँख्याँ, उसासा, चिंगियाँ, गोतियाँ, जलेब्याँ, दुनिया दुन्या, दावा, न्यामता नाजुकिया, पेचाँ, पुतली-पुत्ल्याँ, बाता, बिजल्या, बेता, बुस्ता, मोत्या, रीता, लोक-लोग, लोका लोगा, स्वाद भरियाँ, सख्या, सहेल्या, हिकायता, हारा आदि ।

लुप्त-विभक्तिक पदो के प्रयोग भी हरियानी के सदृश हैं । जैसे—इसी साथ (इसी के साथ), किसी (किसी ने) आदि ।

उपसर्गों—में 'बे' का प्रयोग जितना हरियानी ने अपनाया है, उतना उच्च हिन्दी ने नहीं । दक्खिनी हिन्दी में तो अरबी-फारसी पदावली के कारण इसका प्रयोग अधिक हुआ ही है ।

हरियानी की महाप्राण ध्वनियाँ—रह, ल्ह, क्ह, व्ह, ब्ह, न्ह, ण्ह, म्ह—हैं । ल्ह और और र्ह का प्रचुर प्रयोग दक्खिनी हिन्दी में मिलता है । दो से अधिक स्वरों के साथ-साथ पृथक् प्रयोग भी हरियानी और दक्खिनी हिन्दी में समान हैं, जैसे—आइयाँ, पाइयाँ, भरियाँ, उडाऊँ आदि ।

शब्द-भण्डार—की दृष्टि से हरियानी और दक्खिनी हिन्दी में प्रवृत्ति-भेद के कारण भिन्नता है । एक जनभाषा है और दूसरी का झुकाव अरबी-फारसी के शब्द-चयन की ओर अधिक है, फिर भी ऐसे शब्दो की विस्तृत सूची प्रस्तुत की जा सकती है जिनका प्रयोग दोनों में उपलब्ध हो जाता है—

अकास, अँधारे, आसान, अनभी, औंधे, आशिक, आँच, आग, अकल, अजब, अधिक, इलाके, इश्क, उचक्के, ऊँट, एकट, ऐब, ऐन, औरत, कमर, कोठरी, ख्याल, खियाल, ख्यान्त ग्यान, ग्यानी, गवाही, गफलत, चरा, चोर, चोरी, चुराता, चतुर, चोधर, चोधेर, चदरमुख, छान, छबीला, जीव (जी), जोडा, जोट, जागा (जगह), जनाने, जीवां, जवो, ज्वान, ज्वाब, ज्वानी, जोवन, जफा, झाड, झूट, झजर, टुक, ठौं, टार-टार, टाट-टाट, डंक, डग, डोरी, डुंगर, तन, तख्त, तोता, ताड, धुन, धाना, दद, दीया, दिवाने, नजर, नगीण, निपट, निबल, नवें, निकल, निशा, पर्वा, बेपर्वा, पर्दा फसाद, फरिन्द, फिकर, फिकि, पगा, दोन,

वाल्, वास, वाग, वेखवर, वेटी-वेट्टा, वुढा-ढोढा, वारी, वुलवुल, वरस, भीत, भँवर, भांत, भरी, मुश्किल, मर्द, मस्ती, मती, माँ-वाप, मुसाफिर, मूँ, यकायक, यकत, यकेला, यार, रगे-रग, रोज, वजा (वजह), वले (भले), स्याने, सख्त, सरै, सारखा, सच, सर्सरी, सुन्ना (सोना), सुगड, शौ (शौहर), शाख-पात, हासिल, हाजिर, हात (हात) हरयाली, हाली, हाल, हरामखोरी, हिन्दी आदि सज्ञार्थक प्रयुक्त क्रिया रूप—होना, खेलनै, पतियाना, पोंचाने, समान है। पूर्वकालिक क्रिया के रूप 'कै' और 'कर' के साथ भी प्रयुक्त हुए है और इनके विना भी; जैसे—जाकै, काड कर, दे वोली, आन, सुन, काड, मार-मार, ढूढती, ल्याकर आदि। ये प्रयोग हरियानी और दक्खिनी हिन्दी में एक समान हैं।

सयुक्त क्रियाओ के रूप में सर्वाधिक साम्य है—काड ल्याया था, ल्या मिलाया था, कना समाया (कहना पल्ले पडा), सो रह्या, पड्या था, खोल देखन लग्या, तोढ खाया, पिरोने लग्या, दौढ चल्या, सभाल्या जाये आदि।

कानधर, दगदगे में पाड, (सन्देह में डालना), के पडे है, ल्हो मरा, ढूढ काढूं, चड वैठा है, प्यास-भूक सुटचा, आंखे खोल देखे, दौड चल्या, रन पड्या, रगडा हुआ, हँस वड्या, छद वद, स्याने-दिवाने—जैसे हरियानी के लाक्षणिक प्रयोग भी दक्खिनी हिन्दी में मिलते हैं।

ऊपर गद्य-पद्य दोनो के उद्धरण दिये गये हैं। पद्यात्मक उद्धरणो का अन्वय करके या उन्हें गद्य-रूप दे कर पढने से वर्तमान हरियानी के साथ उनका सादृश्य और अधिक स्पष्ट हो जायेगा। जो अन्तर दिखाई पडते हैं, वे काल-भेद के कारण प्रतीत होते हैं। और अधिक अनुसधान के लिए उद्धृत कवियो की रचनाओ का गम्भीर एव भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है। हिन्दी के वर्तमान रूप के विशेषत दक्खिनी हिन्दी के निर्माण के आधार रूप में हरियानी का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।



हरियाणा के आधुनिक संस्कृत साहित्यकार

सत्यव्रत शास्त्री

अनेक शताब्दियो से मौलिक सस्कृत साहित्य की सर्जना भारत में होती है। अनेक कवियो, लेखको व गवेषकों ने इस पवित्र भूमि को अलकृत किया है। हरियाणा की भूमि तो इस दिशा से और भी उर्वर रही है। इसी के परमपावन कुरुजागल प्रदेश एव सरस्वती और दृषद्वती नदियो के बीच बसे ब्रह्मावर्त में सृष्टि के प्रथम चरण में नाना ऋषियो की ऋचाएँ उच्चरित हुई हैं, उनके आश्रमो में ऋषिकण्ठो से उद्गीत वेदमन्त्रो से दिशाएँ अनुनादित हुई हैं, यज्ञकुण्डो से उद्गत धूम ने नभोमण्डल को आच्छादित किया है। न जाने कितने ऋषियो, महर्षियो, सन्तो, महात्माओ व समाज-सुधारको की यह साधना भूमि रही है।

समय सदा एक-सा नही रहता। साधना-भूमि युद्ध-भूमि में परिणत हुई। तपःप्रवृत्ति में विघ्न पडा, चिन्तन की गति अवरुद्ध हुई, मानस-मन्थन को भला अब अवकाश कहाँ! शस्त्र खनखनाए, घोडो की टापें गूँजी, योद्धाओं की ललकार सुनाई दी और दिनो, सप्ताहो और महीनो युद्ध चला। रक्त की नदी बह चली और उसी में ही बह गई तप साधना और साहित्य सृष्टि।

समय फिर बदला। उसके बदलते ही तपः साधना और साहित्य सृष्टि पुन लौट आई। यही है सक्षेप में हरियाणा की साहित्यिक गतिविधि का इतिहास—रुकता, ठिठकता, बल खाता इतिहास।

साहित्य सृष्टि के लौटते ही इस देश की आदि भाषा संस्कृत में भी ग्रन्थ रचना होने लगी। गत शताब्दी के अन्तिम अथवा वर्तमान के प्रथम चरण में सस्कृत में जो नवीन साहित्य धारा प्रवाहित होनी प्रारम्भ हुई सो अब तक चली आ रही है। अनेक साहित्यस्रष्टाओं ने अपने साहित्य जल से इसे समृद्ध किया है।

इन साहित्यस्रष्टाओं में विशेष उल्लेखनीय है भिवानी के स्वर्गीय विद्यामार्तण्ड पण्डित सीताराम शास्त्री जिनका वैदुष्य दूर-दूर तक विख्यात है। इनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है यास्क कृत निरुक्त की सरल एवं सुबोध शैली में हिन्दी में व्याख्या। यह व्याख्या तीन खण्डों में प्रकाशित हुई है। द्वितीय खण्ड के आदि में विस्तृत भूमिका भी है जिसमें निरुक्त सम्बन्धी प्रश्नो पर गहन विचार किया गया है। पण्डितजी की निरुक्त की इस व्याख्या का विद्वत्समाज में बहुत स्वागत हुआ है।

पण्डित जी ने हिन्दी में श्रीमद्भगवद्गीता की एक भक्तिप्रधान व्याख्या भी लिखी है, जिसका शीर्षक उन्होंने श्रीगीताभगवद्भक्तिमीमांसा दिया है। ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"इस सम्पूर्ण गीता-शास्त्र में सब स्थानों में एक भक्ति-तत्त्व का ही प्राधान्य से उपदेश है। इससे हम यही निर्णय करते हैं कि यह गीता श्रीमद्भगवद्भक्तिगीता ही है।"

इन पक्तियो में उन्होने अपना मत स्पष्ट कर दिया है। उनकी दृष्टि में श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्भगवद्भक्तिगीता ही है।

पण्डितजी ने साहित्यशास्त्र पर दो ग्रन्थ भी लिखे हैं। एक साहित्योद्देश नाम से सस्कृत में प्रतिपादित सिद्धान्तो की हिन्दी में सविस्तर व्याख्या प्रस्तुत करता है। साहित्योद्देश के निर्माण में विद्यार्थियों को सरल से सरल उपाय द्वारा साहित्यशास्त्र का ज्ञान कराना पण्डितजी का प्रेरक रहा है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिये गये चार श्लोको में उन्होने इस अभिप्राय को स्पष्ट भी कर दिया है। उन्होने कहा है—

त्वरया पारमिच्छूना गन्तु भिन्नार्थभासिनाम्।
शास्त्राब्धीनामनायास छात्राणा गृहगामिनाम्॥
कीदृङ्निवन्धसङ्घाना निर्माण - कार्यमृद्धये।
कालेऽन्तरायसङ्कीर्णे विद्वद्भिरुपकारिभि ॥
तन्निदर्शनमेतन्मे पण्डिताना समर्हणम्।

ग्रन्थ में कतिपय मानचित्र भी दिये गये हैं जिनसे विद्यार्थी को विपय सुगमता से समझ में आ सकता है और उसे स्मरण रखने में भी सहायता मिल सकती है। शास्त्री जी ने साहित्य-शास्त्रीय सिद्धान्तो का प्रतिपादन काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण एव दशरूपक इन सुप्रसिद्ध साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थो के आधार पर किया है। पण्डितजी ने इन सभी ग्रन्थो से सहायता ली है। इतने अश में उनके ग्रन्थो में मौलिकता नही है। उनकी विशेष मौलिकता है विपयो के वर्गीकरण में एवंच मानचित्रादि के माध्यम से उनके स्पष्टीकरण मे। अपने ग्रन्थ (साहित्योद्देश) को पण्डित जी ने तीन भागो मे विभक्त किया है—प्रथम पदार्थोद्देश में काव्य, शब्द, अर्थ, वृत्ति आदि त्रयोदश काव्य-शास्त्रीय पदार्थों का निरूपण है, द्वितीय काव्यभेद में साहित्य दर्पण के पष्ठ परिच्छेद के अनुसार दृश्य और श्रव्य काव्यो का वर्णन है, तृतीय नाट्यपदार्थावभास में दशरूपक के अनुसार नाट्यपदार्थों का वर्णन है। ग्रन्थ के अन्त में कतिपय परिशिष्ट दिये गये हैं जिनसे इसकी उपयोगिता वहुत वढ गई है।

पण्डित जी ने सांख्यदर्शन की हिन्दी में एक व्याख्या भी लिखी है जो कि विपय के स्पष्टीकरण की दृष्टि से वेजोड है। पण्डितजी वेद के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे (यद्यपि इस दिशा में लिखा उन्होंने विशेप नही है)। नाना विपयो में उनकी गति थी। उनकी अगाध विद्वत्ता से अभिभूत हो कर ही महामहोपाध्याय पण्डित छज्जूराम शास्त्री ने उनके विषय में कहा था—

'लोके प्रसिद्धनामा सीमाऽऽचारस्य वेदमर्मज्ञ।
जयति भिवानीधामा सीतारामाभिध शास्त्री॥'[1]

तहसील जीद के रिटोली ग्राम के उपरिनिर्दिष्ट महामहोपाध्याय पण्डित छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर स्वय भी वहुत वडे सस्कृत साहित्यकार हैं। साहित्य की विभिन्न विधाओ में इन्होंने रचनाएँ लिखी हैं। ये नैयायिक भी हैं और कवि भी। अपने व्यक्तित्व में इन दो विभिन्न तत्त्वो के सम्मिश्रण से उत्पन्न विलक्षणता के प्रति ये जागरूक हैं। दुर्गाभ्युदय नाटक में अपनी यह विलक्षणता इन्होने इन शब्दो में व्यक्त की है—

---

१ साहित्यविन्दु, तृतीय विन्दु, पृष्ठ १००।

कर्कशे तर्कविपये कोमले काव्यवस्तुनि ।
सम लीलायते यस्य छज्जूरामस्य भारती ॥[1]

"जिस छज्जूराम की वाणी तर्क के कर्कश विपय मे एवच मनोहर काव्य रचना मे एक समान क्रीडा करती है ।"

पण्डित जी की सबसे पहली रचना पचसर्गात्मक सुलतानचरितम् नामक एक काव्य थी जो कि पण्डित जी ने स्वय देहरादून से सवत् १९६७ में प्रकाशित की थी। इस काव्य में चित्तौडगढ के राजा महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल की कथा वर्णित है। महीपाल का एक दूसरा नाम सुरतान भी था। इसी सुरतान का उच्चारण ही वदलते वदलते सुलतान हो गया था। इस सुलतानचरितम् का सस्करण कभी का समाप्त हो चुका है। अब यह ग्रन्थ दुर्लभ ग्रथो की कोटि में है। इसके बाद की पण्डित जी की रचना है सात अको का दुर्गाभ्युदय नाटक। इसमें भगवती दुर्गा के महिपासुर के साथ सग्राम एव उसके वध के पौराणिक कथानक का वर्णन है। पण्डित जी ने छज्जूरामायणम् नामक एक अन्य नाटक भी लिखा है जो कि अद्यावधि अप्रकाशित है। शास्त्रीय ग्रन्थो में विशेप उल्लेखनीय है पडित जी का अलकार-शास्त्र का ग्रथ साहित्यविन्दु जिसका प्रमुख उद्देश्य है छात्रो को सरल रीति से साहित्य शास्त्र का ज्ञान कराना, अलकारादि के भेद-प्रभेदो की उलझन से बचाना, परिष्कृत सस्कृत द्वारा वाद-युग की प्राचीन पद्धति में प्रवृत्त कराना एवच साहित्य-शास्त्र को प्रौढ विद्या न मानने वाले मत का निराकरण करते हुए उसे (साहित्य शास्त्र को) सब शास्त्रो का सार सिद्ध करना। इस ग्रन्थ की विशेपता को पण्डित जी के सुपुत्र श्री जीवनराम शास्त्री ने इन शब्दो में व्यक्त किया है— "यद्यपि यह ग्रन्थ अल्पकाय है तथापि काव्यशास्त्रवत् नाटकादि भेदो से विरहित नही, साहित्यदर्पणवत् विपयविवेचनादरिद्र नही, प्रमेयाश को परिष्कृत करता हुआ भी रसगगाधरवत् दुष्प्रघर्ष्य नही, अलकारकौस्तुभवत् अनुपयुक्त-विस्तार-बहुल नही, चन्द्रालोकसाहित्यसारवत् केवल पद्यबद्ध नही।" इस ग्रन्थ की एक यह भी विशेपता है कि इसमें नब्बे प्रतिशत उदाहरण ग्रन्थकार के ही हैं। पण्डितजी के जो ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित हैं उनसे भी इसमें उदाहरण है। यथा मुनिविपयक प्रीति के उदाहरण के प्रसग मे छज्जूरामायण से निम्नलिखित श्लोक यहाँ उद्धृत किया गया है—

श्रवणाञ्जलिपुटपेय चक्रे रामायणाख्यममृत य ।
मुनिवर्यं कविधुर्यं वन्दे वाल्मीकिं भक्त्या ॥[2]

"मैं कविशिरोमणि मुनिवर श्रीवाल्मीकि को भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ जिन्होंने श्रोत्राञ्जलिपुट द्वारा पातव्य रामायण नाम के अमृत की सृष्टि की थी।"

इस प्रकार सुलतानचरित काव्य से जो सम्प्रति सुतरा दुर्लभ है निम्नलिखित श्लोक विप्रलम्भ शृगार के उदाहरण के प्रसग में प्रस्तुत ग्रन्थ में पाया जाता है। इस श्लोक में सुलतान को रानी निहालीदेवी उससे कहती है—

---

१ अङ्क १, श्लोक २, पृष्ठ ३।
२. द्वितीय विन्दु, पृष्ठ ८५

अभिनयनयने निमीलिताक्ष
कृतकसमाधिरयं तव प्रतीत ।
अलमलघुतयाऽद्य मामनङ्ग-
ज्वरदवधुं स्ववधू कुरुष्व कण्ठे ॥[१]

"हे व्यर्थ ही नयनो को मीचे हुए भद्र पुरुष, यह तेरी कपटसमाधि है यह मैं जानती हूँ। देर मत करो। मुझ कामज्वरोपतप्त अपनी पत्नी को तुम गले लगाओ।"

साहित्यबिन्दु विशेषत उल्लेखनीय इसलिये भी है कि इसमें पण्डित जी ने एक विशेष प्रयोग किया है। उन्होंने सभी के सभी काव्य दोषो के उदाहरण अकेले श्रीहर्ष कृत नैषधीयचरित से ही दिखा दिये हैं। इसमें उन्हें प्रेरणा उस किंवदन्ती से मिली है जिसके अनुसार श्रीमम्मट ने श्रीहर्ष के नैषधीयचरित को अनेकदोपदूषित बताया था। उनका कहना है कि नैषध जिसे कि 'विद्वदौषध' कहा गया है, ही सर्वाधिक दोषयुक्त एवच गुणयुक्त काव्य सस्कृत वाङ्मय मे है—

काव्यस्य गुणदोपाणामाकर कथ्यते बुधै ।
नैषध तत्र तेऽस्माभि प्रदर्श्यन्ते यथामति ॥[२]

पण्डित जी के कतिपय अन्य लघु ग्रन्थ भी है जिनमें कुरुक्षेत्रमाहात्म्यम् और कर्मकाण्डपद्धति का उल्लेख किया जा सकता है।

पण्डित जी ने सस्कृत वाङ्मय के कतिपय प्रमुख ग्रन्थो पर टीकाएँ भी रची हैं जिसमें विशेष उल्लेखनीय हैं न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पर मूलचन्द्रिका, न्यायदर्शन पर सरला, वेदान्तसार पर सारबोधिनी, महाभाष्य प्रथम आह्निकद्वय पर परीक्षा, निरुक्त के पाच अध्यायो पर सारबोधिनी, लघुसिद्धान्त-कौमुदी पर साधना, काव्यप्रकाश पर परीक्षा अथवा विद्यासागरी। कुछ समय पूर्व ही पण्डित जी की एक अन्य रचना प्रकाशित हुई है—विबुधरत्नावली। श्लोको में निबद्ध सस्कृत साहित्य का यह इदम्प्रथम इतिहास है। पण्डित जी ने इसे आठ अध्यायो में विभक्त किया है। विषय का अति सक्षेप में इसमें निरूपण है। यद्यपि लेखक का कहना है कि उन्होने वैदिक वाङ्मय के इतिहास का इसमें निरूपण किया है तो भी इसे इतिहास तो नाममात्र में ही कहा जा सकता है। बहुत अशो में तो यह सस्कृत वाङ्मय के प्रमुख ग्रन्थो का सूचीपत्र मात्र ही है। उदाहरणार्थ सस्कृत नाटको के इतिहास के प्रसंग में ग्रन्थकार ने कतिपय नाटको एव उनके लेखको के उल्लेख भर करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली है—

कुन्दमाला धीरनाग क्षेमेश चण्डकौशिकम् ।
व्यधुस्तथा शङ्खधर कविर्लटकमेलाकम् ॥
बालरामायणं बालभारत राजशेखरः।
विद्धशालभञ्जिका च कृतवान् कविशेखर ॥[३]

१ द्वितीय बिन्दु, पृष्ठ ६७
२ तृतीय बिन्दु, पृष्ठ ९१ (टीका)
३. अध्याय ६, श्लोक ४८–४९.

इस प्रकार एक ही श्लोक में अनेक साहित्यकारो और उनकी कृतियो का उल्लेख लेखक ने किया है। प्रख्याततम साहित्यकारो के लिये उन्होने एक या कभी-कभी दो श्लोको का भी उपयोग किया है। उनमें पहिले में कवि और उसकी कृतियो का उल्लेख है, जबकि दूसरे में काव्यात्मक ढग से उसपर टिप्पणी है जिसमें भाषा सौष्ठव भी है और यमकादि अलकार का पुट भी। उदाहरण के लिये सुप्रसिद्ध नाठककार श्रीहर्ष का उल्लेख करते हुए पण्डित जी कहते हैं—

नागानन्द हर्षदेव स्थाण्वीश्वरमहीपति ।
रत्नावली च कृतवान् तथैव प्रियदर्शिकाम् ॥
कारण हि कवित्वस्य न ब्रह्मकुलसम्भव ।
क्षत्रिया अपि हर्षाद्या कस्य हर्षाय नाभवन् ॥

यहाँ हर्षाद्या कस्य हर्षाय नाभवन् में अवश्यमेव चमत्कार है। इसी प्रकार का चमत्कार है पण्डित जी द्वारा बाण की वाणी के 'गैर्वाणी स्त्री' कहने में—

हर्षदेवसभारत्न गद्यकाव्यमहाकवि ।
बाण कादम्बरी चक्रे तथा हर्षचरित्रकम् ॥
अलौकिक कविर्बाण सोऽपि कोविदसत्तमा ।
गैर्वाणी स्त्रीव यद्वाणी सर्वस्य हरते मन ॥

पण्डित जी ने प्रत्यक्षज्यौतिषम् नाम से ज्योतिष पर भी एक ग्रन्थ लिखा है जो कि अद्यावधि अप्रकाशित है।

काव्यो में पण्डितजी की नूतनतम कृति है—द्वादशसर्गात्मक परशुरामदिग्विजय महाकाव्य। भगवान् के दशावतारो में परशुराम षष्ठ अवतार है। जबकि मत्स्य, कूर्मादि अन्य अवतारो का पुराणादि मे सविस्तर वर्णन है, भगवान् परशुराम का ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्डादि पुराणो में अति-सक्षिप्त वर्णन है। उन सभी पुराणो मे उपलब्ध सामग्री को एकत्रित कर पण्डित जी ने प्रस्तुत महाकाव्य में उपस्थापित किया है। भगवान् परशुराम जी का समस्त वर्णन प्रामाणिक है, कल्पित नही है। इसे ग्रन्थकार ने स्वय उद्घोषित किया है—

यत् किमप्यत्र वृत्त तत्प्रमाणित न कल्पितम् ।

पर यह ग्रन्थ केवल इतिवृत्त ही नही है, महाकाव्य भी है। इसलिये काव्य की आवश्यकताओ के अनुसार इसमें (परशुराम के कथानक में) कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन करना भी आवश्यक हो गया—

पुराणवृत्त सक्षिप्य परिवर्त्य च किञ्चन ।
चरित परशुरामस्य लिखित कृतिना कृते ॥

पर इससे ग्रन्थ की शोभा बढी ही है, घटी नही—

यत्किञ्चिदपि नूत्नत्व भूषण तन्न दूषणम् ।

ग्रन्थकार का यह चौदहवा ग्रन्थ है। इसीलिये प्रत्येक सर्ग के अन्त के पद्य में उसने इसे त्रयोदश प्रबन्धो का भ्राता कहा है—

त्रयोदशप्रबन्धाना भ्रातु चैतस्य [illegible] ।

समस्त महाकाव्य एक ही छन्द, अनुष्टुभ् में लिखा गया है यहाँ तक कि सर्गान्त में भी छन्द नही बदला है। अनुष्टुभ् पण्डित जी का परमप्रिय छन्द है। काव्य के प्रारम्भ में प्राक्कथन में पडित जी के सुपुत्र श्री जीवनराम शास्त्री ने कविरत्न अखिलानन्द जी के एक पद्य को उद्धृत करते हुए पडित जी के अनुष्टुभ् वृत्त में नैपुण्य का उल्लेख किया है और कहा है कि अमर कवि कालिदास, कवि अभिनद और छज्जूराम अनुष्टुभ् छन्द मे तो निपुण हैं पर अन्य छन्दो में कृपण हैं—

कविरमर कालिदास कविरभिनन्दश्च छज्जुरामश्च ।
वृत्तेऽनुष्टुभि निपुणा कृपणा अन्येषु वृत्तेषु ॥

समूचे काव्य में कुल मिलाकर ६२१ पद्य हैं। शैली सरल एव सरस है। मगलाचरण, ग्रन्थकार-परिचयादि के बाद पचम श्लोक से काव्य-कथानक प्रारम्भ होता है। इसी पचम श्लोक से ही काव्यच्छटा का आस्वादन होने लगता है। माहिष्मती नगरी का वर्णन इसमें कवि ने किया है—

पुरन्दरपुरस्पर्धिन्यभवद् भूमिभूषणम् ।
माहिष्मतीति नगरी शर्मदानर्मदान्तिके ॥

'इन्द्र की नगरी की स्पर्धा करने वाली, पृथ्वी की अलंकारभूत माहिष्मती नाम की नगरी कल्याणदा नर्मदा नदी के किनारे स्थित थी।'

इस मनोरम शैली में जो कथानक प्रारम्भ होता है तो अन्त तक इसी में चलता जाता है। कवि की कोमलकान्त पदावली काव्य को चार चांद लगा देती।

इतने विशाल सस्कृत वाङ्मय के रचयिता पडित जी लेखनी के धनी है, यह कहने की आवश्यकता नही। सस्कृत भाषा पर आपका असाधारण अधिकार है। पदशय्या मनमोहक हैं। अनुप्रास एव यमक का पुट उसमें अनायास ही आ जाता है। पडित जी अपनी रचना के इस गुण को पहचानते हैं। इसीलिये इन्होने यह गर्वोक्ति की है—

अनुप्रासिनि सन्दर्भे छज्जूरामसमोऽद्य क ।
पुराप्यासन्न वेदासन् द्वित्रा एव कवीश्वरा ॥[1]

"अनुप्रासयुक्त रचना में छज्जूराम के बराबर आज कौन है ? पहिले भी शायद कोई कवि शिरोमणि रहे होगे और यदि रहे भी हो तो शायद दो तीन ही रहे होगे।"

पडित जी की रचना में कही-कही तो अनुप्रास की झडी-सी लग जाती है। उदाहरण के लिये दो सन्दर्भ नीचे उपस्थित किये जा रहे हैं—

(क) अस्ति काचन सर्वजनतोषा अपरेव ।
सितपक्षदोषा स्त्रीमात्रकान्तिमोषा योषा ।[2]

(ख) भगवतीशुम्भयो सिंहनाद श्रुत्वा
समागतानेकमातङ्गकुरङ्गहर्यक्षऋक्ष-

१. दुर्गाभ्युदय, अङ्क १, पृष्ठ ४
२ वही, अङ्क ५, पृष्ठ ४९

शृगालकोलकोलाहलाहूतपूतवेताल-
चक्रवालकठनालप्रकटीभवद्धोरचीत्कार-
चमत्कारयुक्तेय समरभूमिरवलोक्यते ।
तयोरेव सक्रोधपादन्यासप्रभूतकम्पेन
च सालरसालप्रियालतमालहिन्तालसुर-
दारकोविदारकर्णिकारनिम्वकदम्व-
वकुलनिचुलकर्पूरवीजपुरमधूकवन्धूक-
कपित्थाश्वत्थवृक्षा परिपतन्ति ।[1]

उत्प्रेक्षादि अर्थालकारो के प्रयोग में भी उनकी असाधारण निपुणता है । मास के एक पक्ष में चन्द्रमा वढता है और दूसरे में घटता है, इस वैज्ञानिक तथ्य पर अपनी कल्पना शक्ति को आधारित करते हुए उन्होने कहा है—

इम कर्त्तु चन्द्रमस तद्वक्त्रसदृश विधि ।
पक्षद्वितयभेदेन करोति विकरोति च ॥[2]

"विधाता इस चन्द्रमा को उसके (देवी के) मुख के सदृश वनाना चाहते थे । इस लिए कभी उसे वनाते हैं, कभी विगाडते हैं, एक पक्ष में वनाते है और (फिर जव पाते हैं कि वह अच्छा नही वना) तो दूसरे पक्ष में उसे मिटाते हैं । इसी प्रकार उसे वनाते और मिटाते रहते हैं ।" (पर कभी वह वैसा वन पाया है क्या ?)

पण्डित जी ने अपनी कृतियो के पद्यो के वारे में ठीक ही कहा है—

छज्जूरामकृतौ नैक स श्लोक परिदृश्यते ।
अल्पानल्पाथवा काचिद्यत्र नैव चमत्कृति ॥[3]

"छज्जूराम की रचनाओ में एक भी ऐसा श्लोक नही है जिसमे थोडा वहुत चमत्कार नही है ।"

कवि अपने वारे मे अनेक वार गर्वोक्ति करते है । ऊपर उनकी दो एक गर्वोक्तियाँ उद्धृत भी की जा चुकी है । सम्भवत इस दिशा में वे मध्ययुगीन सुप्रसिद्ध कवि एव साहित्य-शास्त्री पण्डितराज जगन्नाथ से प्रभावित हुए है । साहित्यबिन्दु के उपान्त्य श्लोक में तो उन्होने कविता को सम्वोधित करते हुए उनका उल्लेख भी किया है । वे कविता से कहते है कि हे कविते ! क्या तू पण्डितराज जगन्नाथ के स्वर्ग सिधार जाने पर व्याकुल है, तुझे कुछ सूना-सूना सा लगता है क्या ? अरी इस ग्रथकार को देख, कुछ सन्तोष का अनुभव कर, यही तो इसकी प्रतिभा है, यही सूक्तियो मे रस है, यही नवीनता है, यही भव्यता है—

श्रीमत्पण्डितराजपण्डितजगन्नाथे प्रयाते दिव
किं शून्याऽसि किमाकुलाऽसि कविते साहित्यवाग्देवते ।

१. वही, अङ्क ७, पृष्ठ ६७
२ वही, अङ्क ५, पृष्ठ ४९
३. वही, अङ्क १, पृष्ठ ३

एत ग्रन्थकृत निभाल्य कमपि प्रासादमासादय[१]
सैवाऽस्य प्रतिभा स सूक्तिपु रस सा नव्यता भव्यता ॥[२]

एवमेव इसी साहित्यविन्दु में पण्डित्यवीर के उदाहरण में उन्होने निम्नलिखित स्वरचित श्लोक उपस्थित किया है—

मयि कुर्वति शास्त्रार्थं चार्वाकस्तु भवत्यवाक् ।
जैन. श्रयति मौनत्व[३] बौद्धो बुद्धि विमुञ्चति ॥[४]

"जव मैं शास्त्रार्थ करता हू तो चार्वाक् की वोलती वन्द हो जाती है, जैन चुप पड जाता है और बौद्ध बुद्धिहीन हो जाता है ।"

उनकी नवीनतम काव्यकृति परशुरामदिग्विजय में भी एक गर्वोक्ति पाई जाती है जो कि पण्डितराज जगन्नाथ की गर्वोक्तियो को भी मात दे सकती हैं । पण्डित जी कहते हैं कि कुरुक्षेत्र से वढकर पवित्र तीर्थ और कोई नही है, सप्तसमुद्रवेष्टित पृथ्वी का दान करनेवाले परशुराम से वढकर कोई दानी नही रहा है । छज्जूराम के समान कोई और समस्त विषयो का ज्ञाता नही है—

नान्यत्पुण्यतम समस्तजगति क्षेत्र कुरुक्षेत्रतो
नासीत्सप्तसमुद्रमुद्रितमहीदाता च रामात्पर ।
छज्जूरामसदृक् समस्तविषयज्ञाताऽस्ति नान्य सुधी–
रित्येपा जयतात् त्रयी स्वयशसा यावत् क्षितौ जाह्नवी ॥[५]

पडित जी भिन्न-भिन्न विद्वानो द्वारा उनके वारे में कहे गये स्तुति वचनो को भी यत्र तत्र उद्धृत करते हैं । साहित्यबिन्दु में ही कम से कम दो विद्वानो के इस प्रकार के वचन पाये जाते हैं । प्रथम सहोक्ति के उदाहरण के प्रसग मे श्री दुर्गादत्त कवि का है—

शब्दे न्याये च साहित्ये कवित्वे दर्शनेपु च ।
सम लीलायते वाणी छज्जूरामस्य मद्गुरो ॥[६]

(स्पष्ट ही यह श्लोक पूर्वोद्धृत पडित छज्जूराम कृत पद्य 'कर्कशे तर्कविपये कोमले काव्यवस्तुनि सम लीलायये यस्य छज्जूरामस्य भारती' का छाया मात्र है) । दूसरा छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास के उदाहरणो के प्रसंग में कविरत्न अखिलानन्द सरस्वती का है—

दार्शनिकी यत्प्रतिभा प्रतिभासम्पन्नचेतसा पुसाम् ।
रमयति मानसमाराच्छज्जूराम. स विश्रुत शास्त्री ॥

---

१ छन्दोऽनुरोघात् पडितजी महाप्रसाद के स्थान पर प्रासाद का प्रयोग कर गये हैं—अपि-माष मप कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिरम् ।

२ पृष्ठ २३०

३ मौनत्वम् में त्व प्रत्यय अनर्थक है ।

४. द्वितीय बिन्दु, पृष्ठ ७४

५ श्लोक १०८, पृस्ठ ११२.

६. पञ्चम विन्दु, पृष्ठ १८७

यन्मुखपद्मविनि सृतकाव्यकलाप प्रतिक्षण लोके ।
काव्यकलारसिकाना मनासि सद्य प्रमोदयति ॥[1]

पडित जी की अभिनवतम कृति है महर्षि पतञ्जलि कृत योग दर्शन पर योगमञ्जरी नामक हिन्दी वृत्ति । योगदर्शन पर व्यास भाष्य भोजवृत्ति माठरवृत्ति आदि अनेक प्राचीन व्याख्याएँ है । उन सभी का सार ग्रहण कर पडितजी ने यह अभिनव हिन्दी वृत्ति रची है । इसकी सहायता से योगसूत्रो का अन्वयपूर्वक मूलार्थ बहुत अच्छी तरह जाना जा सकता है । यही इसकी विशेषता है । श्रुति-स्मृति के प्रमाणो से भरपूर होने से यह विद्वानो और विद्यार्थियो दोनो के लिये एक समान उपयोगी है ।

जिला करनाल की कैथल तहसील के कौल ग्राम के शास्त्रार्थमहारथी प० माधवाचार्य शास्त्री की अर्वाचीन सस्कृत साहित्य को देन भी सुतरा प्रशसनीय है । अब तक इनके तीन काव्य टुडेस्मृति, कबीरचरितम् एव कथाशतकम् प्रकाशित हो चुके हैं । टुडेस्मृति. एक छोटी सी हास्य कृति है । इसमें भारत में बढती आधुनिकता की प्रवृत्ति पर गहरी चोट है । बीच-बीच में अग्रेज़ी और हिन्दी शब्दो के प्रयोग से कथ्य विषय का प्रभाव और भी बढ गया है । उदाहरण के लिये खद्दरधारी काग्रेसियो पर चुटकी लेते हुए लेखक कहते हैं—

ये श्वेतखद्दरधरा नोकीली कैपधारिण ।
मुण्डितश्मश्रुकूर्चा ये टमाटर-निभानना ॥[2]

जिस प्रकार गीता-पुराणादि में भगवान् अपनी विभूतियो का वर्णन करते हैं इसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में कलियुग भी अपनी विभूतियो का वर्णन करते हैं । प्रस्तुत पद्यो को पढते ही हँसी फूट निकलती है । कलि कहते हैं—

शिरोम्बराणा कैपोऽस्मि हैटोऽस्मि रौबवाससाम् ।
चायोऽस्मि पेयद्रव्याणा भोज्याना बिस्कुटोऽस्म्यहम् ॥
रोटीना डबलरोटी घृतानामस्मि डालडा ।
टमाटरोऽस्मि शाकाना रस्याना लशुन तथा ॥[3]

शास्त्रार्थमहारथी जी के कबीरचरितम् में सुप्रसिद्ध सन्त कबीर के चरित का सरल सरस शैली में वर्णन है । प्रस्तावना का श्लोक ही लीजिये । कितनी प्राजल सुबोध भाषा है इसकी । सामान्य सस्कृत जानने वाला व्यक्ति भी इसे आसानी से समझ सकता है—

वाराणसीतीर्थनिवासभूमी
रहस्यवादी कविसार्वभौम ।
हिन्दीमहात्मा यवनस्य पीर
आसीत्पुरा भक्तवर कबीर ॥[4]

---

१ पञ्चम सिन्धु, पृष्ठ १४८
२ श्लोक ५१, पृष्ठ १६ ।
३ श्लोक ६२-६३, पृष्ठ १९ ।
४ श्लोक २, पृष्ठ ९ ।

हिन्दू-मुस्लिम समन्वय सन्त कवीर के जीवन का परम ध्येय था। अपनी वाणी में उन्होंने अनेक स्थानो पर कहा है कि राम और रहीम, कृष्ण और करीम एक ही हैं—

य एव राम स मतो रहीमो
य एव कृष्ण स मत करीम ।[१]

कही-कही तो शास्त्रार्थमहारथी जी ने कवीर के दोहो को ही सस्कृत-रूपान्तर प्रदान कर दिया है। कवीर का सुप्रसिद्ध दोहा है—

पाथर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।
चक्की क्यो नही पूजिये पिसा खाय संसार॥

इसी को सस्कृत में शास्त्रार्थ महारथी जी ने इन शब्दो में कहा है—

चेल्लभ्यते प्रस्तरपूजया हरि—
रभ्यर्चये पर्वतमन्वह न्वहम्।
ततोऽधिका पूज्यतमाऽस्ति चक्रिका
यत् पिष्टमश्नन् मनुजोऽत्र जीवति॥[२]

इसी प्रकार कवीर के दोहे—

ककर पत्थर जोड कर मसजिद लई वनाय।
ता चढि मुल्ला वांग दे क्या वहरा हुआ खुदाय॥

को शास्त्रार्थमहारथी जी सस्कृत में इन शब्दो मे प्रस्तुत करते हैं—

लोष्टानि चित्वा रचिता नु मस्जिद्
तद् यूपमारुह्य विरौति मुल्ला
स. सर्वग सर्वगुणप्रसूति
स दूरवर्ती वधिरः खुदा किम्॥[३]

शास्त्रार्थ महारथी जी का कथाशतकम् अपने ढग का एक अनूठा ही ग्रन्थ है। इसमें भारत के पौराणिक एवञ्च मीरा, धन्ना, रविदास आदि ऐतिहासिक महापुरुषो के जीवन चरित्र से सम्वद्ध सौ कथाओ का ललित एव मनोहर शैली में वर्णन है।

शास्त्रार्थ महारथी जी का अन्तिम उल्लेखनीय ग्रन्थ है पचविंशति पृष्ठात्मक परतत्त्व-दिग्दर्शनम्। यह षड्दर्शनो की सूत्र शैली में लिखा गया है। इसका भाष्य स्वय उन्होंने ही लिखा है। कुल मिलाकर इसमें २७ सूत्र हैं जो अर्वाचीन होते हुए भी प्राचीनता का आभास देते हैं। दिग्दर्शनार्थ चार पांच सूत्र नीचे उपस्थित किये जा रहे हैं—

गुणातीतः सर्वगुणनिलयो हि पर पुमान् (सूत्र १७)।
एकैकगुणानुरोधेन स एव ब्रह्मविष्णुरुद्राख्या भजते (सूत्र १८)।
नामसु प्रणवस्य मुख्यता सर्वशास्त्रसिद्धा (सूत्र २०)।

---

१ श्लोक १९४, पृष्ठ ५९।
२. श्लोक १३४, पृष्ठ ६२।
३. श्लोक १३५, पृष्ठ ६३।

हरिहरौ विशिष्य परस्परात्मानौ परस्परनुतिप्रियौ वरदौ मोक्षदौ च (सूत्र २४)।
ईशस्यापि नटवत् लीलाभिनयो भक्तानुग्रहार्थं (सूत्र २५)।

सूत्रभाष्य में शास्त्रार्थ महारथी जी ने सूत्र प्रतिपादित विपय की पुष्टि मे महाभारत-पुराणादि से अनेकानेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता और भी बढ गई है। शास्त्रार्थ महारथी जी ने सूत्रो और सूत्रभाष्य मे यही सिद्ध किया है कि परतत्त्व, संसार की नियामिका सर्वोच्च शक्ति, एक है। वेदपुराणादि शास्त्रो का मथितार्थ ही, जैसाकि उन्होने ग्रन्थ के मुख पृष्ट पर ही लिखा है, प्रस्तुत पुस्तक मे उपस्थापित किया गया है।

शास्त्रार्थ महारथी जी के बाद विशेप उल्लेखनीय नाम है—जिला करनाल की पानीपत तहशील के सुझाना गाव के पण्डित विद्यानिधि शास्त्री का, जोकि नाना विपयो के आचार्य भी है और सुमधुर कवि भी। दुर्भाग्य से इनकी बहुत कम रचनाएँ प्रकाशित हो पाई है। प्रकाशित ग्रन्थो में इनके चार ग्रन्थ हैं—(१) व्यवहारभानु (जोकि महर्पि दयानन्दकृत हिन्दी-भापोपनिबद्ध व्यवहारभानु का सस्कृत पद्यानुवाद है), (२) मैत्रायणीसूक्तिसङ्ग्रह, (३) सक्षिप्त रामायणम्, (४) सक्षिप्त महाभारतम्। इनमें सिवाय प्रथम के शेप तीन सङ्ग्रहात्मक या सक्षेपात्मक हैं। प्रथम यद्यपि अनुवाद है, तथापि रुचिर पद्य रचना के कारण स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही प्रतीति देता है। भापा मे इतनी उदात्तता है कि ऐसा लगता है कि मानो कोई प्राचीन कवि लिख रहा हो। लाल बुझक्कड की कहानी में जब एक बालक खम्भे को पकड लेता है और छोडता नही तो उसके माता पिता रोने बिलखने लगते है, वे समझते है कि उनके पुत्र को खम्भे ने पकड लिया है। पडोसी भी आसपास से आ जाते हैं। उन्हे रोते देख वे भी रोने लगते है। चारो ओर कुहराम मच जाता है। इस दृश्य का कितना सुन्दर वर्णन कवि ने किया है—

अन्येऽपि प्रतिवेशिन समुदिता ह्याकर्ण्य तत्क्रन्दित
द्राक् प्राक्रमत रोदितु प्रतिगृह साराविण बह्वभूत्।
स्तम्भो डिम्भममु न मुञ्चति करग्राह निगृह्णन्नमो
हा हन्तेति समन्तत सविधुर ग्राम्या गिर प्रावृतन्।[1]

स्थान-स्थान पर भापा की प्राजलता और गरिमा बरबस ध्यान आकर्पित कर लेती है। शिक्षा क्या है? इसका लक्षण क्या है? (का शिक्षेत्युच्यते स्पष्ट लक्षणेनाभिधीयताम्) इस पर पडित जी कहते हैं—

दोपानविद्याप्रमुखान्विहाय
यया पर सौख्यमुपैति लोक ।
पुण्याश्च विद्यादिगुणानधीते
सा नाम शिक्षेत्यवबोधनीयम् ॥[2]

"अविद्यादि दोषो का परिहार कर जिससे लोग परम सुख प्राप्त करते है और पवित्र विद्यादि गुणो का अभ्यास करते हैं, उसे शिक्षा समझना चाहिए।"

१ श्लोक २२१, पृष्ठ ९९
२. श्लोक ६९, पृष्ठ १६

इस प्रकार के श्लोको की पूरे ग्रन्थ में भरमार है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ को चार खडो में विभक्त किया है जिन्हें कि उसने मयूख (=किरण) सज्ञा दी है जो कि ग्रथ के भानु (=सूर्य) होने के कारण उचित ही थी। मूल ग्रथ की प्रश्नोत्तर-शैली को रूपान्तर में भी तदवस्थ रखा गया है। ग्रन्थ मे सामान्य अनुष्टुप् इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति आदि छन्दो के साथ-साथ क्लिष्ट वैतालीय, पुष्पिताग्रा, शालिनी, शिखरिणी, भुजगप्रयात, रथोद्धता आदि छन्दो का भी प्रयोग किया गया है। कई वेद और उपनिषद्वाक्यो को श्लोको में और वह भी क्लिष्ट छन्दो में लिखे गये श्लोको में सग्रथित करने का अभिनन्दनीय प्रयास भी किया गया है। यथा पुष्पिताग्रा छन्द में यजुर्वेद का 'इदमहमनृतात्‌ ‍त्यमुपैमि' वचन लगभग उसी रूप मे रख दिया गया है—

इदमहमनृतादुपैमि सत्य
वचनमिद यजुष प्रमाणमत्र[१]।

कभी-कभी वेद के अथवा उपनिषद् के समूचे मन्त्र को शब्दान्तर में उपस्थापित कर दिया गया है। यथा मुण्डकोपनिषद् के मन्त्र।

सत्यमेव जयति नानृत सत्येन पन्था विततो देवयान ।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परम निधानम् ॥

को ग्रन्थकार ने इन शब्दो में उपस्थापित किया है—

सत्य जयेन्नानृतमाशुलभ्य
सत्येन पन्था विततो देवयान ।
क्राम्यन्ति येन प्रतिपन्नकामा
ब्रह्मर्षयस्तत्परम निधानम् ॥[२]

ग्रन्थकार वैयाकरण हैं इसलिये स्थान-स्थान पर क्लिष्ट प्रयोग भी करते हैं जिन्हें वे पादटिप्पणियों में समझा भी देते हैं। उनका कोष-ज्ञान भी बहुत विस्तृत है। अनेक स्थानो पर वे अप्रसिद्ध शब्दो का प्रयोग भी करते हैं। यथा——भाग्यहीन के लिये दौर्भागिनेय, कामुक के अनुक, प्रत्युपकार के लिये प्रतिशोर्षक, कूपपतन के लिये कौपीन, हाथी के लिये पद्मी आदि।

व्यवहारभानु के अतिरिक्त पण्डित जी ने अनेक कविताएं भी लिखी हैं जोकि समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित होती रहती हैं। १०० से ऊपर उनकी सस्कृत और हिन्दी कविताएँ अप्रकाशित पडी हैं। उनकी दो काव्य कृतियाँ महर्षिदयानन्दचरितम् और भक्तफूलसिंहचरितम् सम्प्रति मुद्रणयन्त्रस्थ है।

काव्य कृतियो के अतिरिक्त पडित जी ने सामवेद का हिन्दी पद्यानुवाद भी किया है जोकि अजमेर की पत्रिका 'सविता' में क्रमश प्रकाशित होता रहा है। अब तक वहाँ इसके ३५० पद्य प्रकाशित हो चुके हैं। वैसे स्वतन्त्र रूप से भी यह प्रकाशित हो रहा है।

अनुप्रास एव यमकछटा पडित जी की कविता का विशेष गुण रहा है। उदाहरणार्थ

---

१ श्लोक २३५, पृष्ठ १०४।
२ श्लोक २३७, पृष्ठ १०४।

महात्मा गाधी शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित हुई उनकी कविता श्रीगान्धिमहोदयजन्माभिनन्दनम् के निम्नलिखित पद्य उपस्थित किये जा सकते हैं—

रुचिर-कृदिमि कृतिभि कृतिभि
म महान् नृपु गान्धिवर' प्रथित ।
हृदये स्मृतिभि स्थिरता गमित'
स्तुतिसत्कुसुमाञ्जलिभिर्ग्रथित ॥
अचकात्स चमत्कृतिभाक् परित
स्वयश सुयशा विविध विबुध ।
स्पृहणीयचरित्रतयाऽत्र जग-
त्यविगीतनिपीतसुनीतिसुध ॥[1]

आज से लगभग दो वर्ष पूर्व पडित जी की एक कविता आर्यसमाजमहोत्सवगीति भारतोदय[2] गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर) में प्रकाशित हुई थी। वह भी पूर्व निर्दिष्ट कविता के समान तोटक छन्द में ही है। लय एवं थिरकन इसका अपना विशेष गुण है। कविता मे ११ पद्य हैं। प्रत्येक के अन्त में 'महयाम्यहमार्यसमाजमहम्' आता है। अनुप्रास एव यमक की झंकार यहाँ भी है—

कृपिणाऽद्यदयालुतया पिहिता
सुधियाऽभ्युदय पदवीयमिता ।
उदिता मुदिता सुखिता सखिता
महयाम्यहमार्यसमाजमहम् ॥
उपमारहिताऽपि न मा रहिता
नियमावलिरस्य कुमारहिता ।
भुवि वृद्धिमुपैतु सदा सुखदा
महयाम्यहमार्यसमाजमहम् ॥

पण्डितजी की नूतनतम कृति श्रीगन्धिचरितामृतम् नामक महाकाव्य है जो कि पूर्वोक्त भारतोदय[3] में ही क्रमश प्रकाशित हो रही है। अब तक इसके दो अश प्रकाशित हुए हैं जिसमें प्रथम सर्ग भी अभी पूर्ण नही हुआ है। पडित जी का श्रीगान्धिचरितामृतम् अपने आध्यात्मिक गुरु पडित चारुदेव शास्त्रीजी की गद्य कृति श्रीगान्धिचरितम्[4] से सुतरा प्रभावित है। अब तक के प्रकाशित अश मे ऐसा लगता है कि पडित विद्यानिधि का श्रीगान्धिचरितामृतम् पण्डित चारुदेव शास्त्री के श्रीगान्धिचरितम् का रूपान्तर ही है। शास्त्रीजी ने अपनी गद्य कृति की पूर्वपीठिका के रूप मे दस श्लोक दिये हैं जिनमें प्रत्येक के अन्त में 'स वाचा विषयोऽस्ति न' आता है। पण्डितजी ने भी इसी प्रकार के ग्यारह श्लोक दिये हैं जिनमे

१. गुरुकुल पत्रिका, गुरुकुल कांगडी।
२. मार्च १९६९।
३ जनवरी-फरवरी, १९७० और जुलाई, १९७०
४ लाहौर, सवत् १९८७.

प्रत्येक के अन्त में 'स एव वाचा विषयो ममास्ते' आता है जो कि 'स वाचा विषयोऽस्ति न' का ही रूपान्तर है। इसी प्रकार का साम्य प्रत्येक श्लोक में दीख जाता है। उदाहरणार्थ—

श्री गान्धि चरितम् का पद्य
महितो यश्च लोकस्य महतोऽमहतोऽपि च।
आकुमार यशो यस्य स वाचा विषयोऽस्ति न.॥

एवच श्रीगान्धिचरितामृतम् का पद्य—
य पूजनीयो महता जनाना
लोके बभूवामहतामपीह।
यशोऽस्ति यस्योर्जितमाकुमार
स एव वाचा विषयो ममास्ते॥

अथवा श्रीगान्धिचरितम् का पद्य—
ब्रह्मक्षत्रे विशश्शूद्रा अन्त्यजाः श्वपचा अपि।
आत्मैवाभून्मुनेरस्य स वाचा विषयोऽस्ति न॥

एवच श्रीगान्धिचरितामृतम् का पद्य—
क्षत्रं तथा ब्रह्मविशश्च शूद्रा
मन्त्यन्त्यजा ये श्वपचा विगर्ह्या।
अभून्मुनेर्यस्य समे स्व आत्मा
स एव वाचा विषयो ममास्ते॥

शब्दो के हेरफेर मे एक ही है। न केवल पद्यो की ही, गद्य की भी यही स्थिति है। शास्त्रीजी का गद्य वाक्य है—

अस्ति सुराष्ट्रदेशे पोरबन्दरमिति ख्यातमपृथुल
सामिस्वायत्त राज्यम्। एतद्धि हनुमद्वशीया बाहुजाः प्रशासति।

इसी को ही पद्य रूप प्रदान करते हुए पण्डितजी ने लिखा है—
सुराष्ट्रदेशे किल पोरबन्दर
चकास्ति राज्य प्रियकीर्तिसुन्दरम्।
प्रशासन यत्र पुरा प्रचक्रिरे
हनूमतो वशभवा हि बाहुजा॥

सम्भवतः पण्डितजी ने शास्त्रीजी के श्रीगान्धिचरितम् को आदर्श ग्रन्थ के रूप में सामने रख लिया है और उसके आधार पर अपनी काव्यरचना प्रारम्भ की है।

सिरसा खेडी (ज़िला जीन्द) के निवासी महामहोपाध्याय पडित विद्याधर शास्त्री वेदाचार्य का वेद विषयक साहित्य सुतरा ख्यात है। इन्होने कात्यायनश्रौतसूत्रवृत्ति, शुल्व सूत्रवृत्ति एव पारस्करगृह्यसूत्र वृत्ति नामक तीन ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें पदे पदे उनकी विद्वत्ता का पता चलता है। इन्ही के सुपुत्र श्री वेणीराम गौड वेदाचार्य ने कर्मकाण्डमीमासा नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें वैदिक कर्मकाड का सविस्तार निरूपण है। श्री वेणीरामजी सम्प्रति काशी मे कार्य कर रहे हैं।

परीक्षोपयोगी ग्रन्थ लेखक के रूप में जुलाना मडी के पडित हरिपुष्प न्यायरत्न का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके तीन परीक्षोपयोगी ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं—न्यायमुक्तावल्यादर्श', निरुक्तलतिका एव काव्यप्रकाशसार ।

भिवानी के पडित सत्यदेव वासिष्ठ की सस्कृत मे तीन रचनाएँ है—सत्याग्रहनीतिकाव्यम् शीर्षक से एक काव्य, चार भागो में विभक्त विष्णुसहस्रनाम पर सत्यभाष्यम् नाम से एक भाष्य एव नाडीतत्त्वदर्शनम् नाम से आयुर्वेद का एक ग्रन्थ। सत्याग्रहनीतिकाव्यम् प० रुद्रदेव त्रिपाठी कृत हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थकार ने इस पर सक्षिप्त टिप्पण भी लिखा है जिसका नाम उसने अनन्तवृत्ति दिया है। ग्रथ के आदि में लेखक ने आत्मनिवेदन रूप १२ श्लोक दिये हैं। तत्पश्चात् प० रुद्रदेव त्रिपाठी की सस्कृत में विस्तृत भूमिका है। तदनन्तर काव्य प्रारम्भ होता है। यहाँ भी पहिले ११ श्लोको में काव्यहेतु का निरूपण किया है। इसमे उन्होने सत्य की महिमा का गान किया है—

त्व पापनाशक सत्य भववारिधितारकम् ।
पाहि मा भवभीष्माब्धेस्त्वैवाग्रहमागतम् ॥

"हे सत्य तू ही पापनाशक है, तू ही भवसागर से पार करने वाला है। ससाररूपी इस घोर समुद्र में गिरा हुआ मैं तेरे ही आग्रह शरण मे आया हूँ।"

एतदनन्तर काव्य का प्रारम्भ होता है। सम्पूर्ण काव्य को पडितजी ने चार-चार पादो के पाँच अध्यायो में विभक्त किया है। प्रत्येक पाद का उन्होने शीर्षक दिया है। ये शीर्षक इस प्रकार है—दुर्जनगर्हा, सुजन-प्रशसा, क्षुत्क्षामीय, अहिंसाव्रतमाहात्मीय, राष्ट्रपतनोत्थानीय, त्रिविधराजभेदीय, स्वराज्यमहिमवर्णनीय, सदैवमृद्धीय, वारिपट्टनीय, आदर्शकर्मवर्णनीय उद्बोधनीय, षड्ऋतुवर्णनीय, नानावर्पगणीय, सन्मित्रमानश्रयीय, आसविधीय, धर्म, सत्यविभूति परमायुपीय, ऋतुचर्या, स्वातन्त्र्यीय। ग्रथ में कुल मिलाकर ७०७ श्लोक हैं। पडितजी की रचना बहुत प्राञ्जल एव मार्मिक है। अपने हृदय की गहराइयो में से उन्होने इसे लिखा है, स्वानुभूति को उन्होने मूर्तरूप दिया है। पडित जी स्वय सत्याग्रही रहे है। सत्याग्रही के धैर्य को वे पहिचानते है। कितने भी कष्ट आयें, कितनी भी पीडा हो, सत्याग्रही कभी भी पाव पीछे नही हटाता—

प्रपीडितैर्नैकविधैर्विघातै
पद न पश्चात् कुरुते मनस्वी ।
विवर्धित कि मृगराड् बलिष्ठ
विलोक्य नाग प्रतियाति पृष्ठे ॥
कुर्वन्तु कुशला स्तुवन्तु बहु वा प्राणा प्रणश्यन्तु वा
न्याय्यार्थ समरे प्रदत्तचरणो धीरो न पश्चाद् व्रजेत् ।
निर्दोषं परिषद् व्यवस्यति तु य त मनुमातिष्ठो
विच्छेदोत्सवग जन तरणाद् गालेय लभ्या भुवम् ॥[1]

---

१ अध्याय ३, पाद ३, श्लोक २६–२७, पृ० ८५

सत्याग्रहियो को किस-किस प्रकार की यातना दी जाती थी, इसका नग्न चित्र कवि ने इन श्लोको मे उपस्थित किया है—

रुग्णे वर्ष्मणि भूरिलोहनिगड नानाविव प्रोह्यते
तीव्रैर्वेतसयष्टिकादिककृतैर्घातर्मुहुश्चोद्यते ।
यूथ कीटकुलान्वित चरनिशान्तस्थ समुत्थाप्यते
प्राय पेपणिकाऽपि भोजनकृते चूर्णाय सञ्चाल्यते ॥
कोष्ठे चैव तमोमयेऽतिरजसाऽऽच्छन्ने कुतोऽप्युप्यते
जीर्णेनान्नचयेन नीरसमयेनैवोदरं पुष्यते ।
शाणीयेन वपुश्छदेन कथमप्येतद् वपुर्भूष्यते
हा हा तर्ह्यपि धर्मशत्रुभिरल रक्त[1] सता चूष्यते ॥[2]

"सत्याग्रही के रुग्ण शरीर पर लोहे की हथकडी और वेडियाँ जकड दी जाती हैं। फिर हण्टर और वेतो से उन्हें पीटा जाता है, मामूली राज-चरो के घर का मल उठवाया जाता है, कैदियो के खाने के लिये या राजचरो के भोजनार्थ सत्याग्रहियो से चक्कियाँ चलवाई जाती है, अन्धेरे और गन्दे कमरो में उन्हें रखा जाता है, खाने लिये उन्हें सडा-गला और सत्वहीन अन्न दिया जाता है, केवल टाट के दो-एक टुकडे तन ढँकने के लिये उन्हें दिये जाते है। वडे दु ख की वात है कि इतनी दुर्दशा करने पर भी उन धर्मशत्रुओ द्वारा उनका खून चूसा जाता है।

पर कोई कितना भी कष्ट क्यो न दे, कितना भी क्यों न सताये, सत्याग्रहियो ने जो मार्ग एक वार अपना लिया उस पर वे अडिग रहते है—

नो यान्ति सत्यनिभृते पथि दण्डभीता
गत्वाऽपि विघ्नविहता प्रतियान्ति मध्या ।
दण्डैरनेकविवकै प्रतिहन्यमाना
गन्तव्यमार्यपुरुषा न परित्यजन्ति ॥[3]

काव्य की भाषा प्राय सरल है पर यदाकदा कवि अपनी व्याकरणनैपुणीप्रदर्शनार्थ इसमें कठिन शब्दो का प्रयोग भी करते है। उदाहरणार्थ निम्न श्लोक उपस्थित किया जा सकता है—

जञ्जमीति च मा मृत्युर्जरीहर्ति च काञ्चनम् ।
दरीदर्शिम च सत्य त्वा दिक्षु सर्वासु रक्षकम् ॥

"हे सत्य मृत्यु मुझे वार-वार भोज्य वना रहा है, मेरे पास जो भी जमा पूँजी है, उसका अपहरण कर रहा है। किन्तु फिर भी सर्वदिशाओ में एकमात्र तुझे ही मैं अपना रक्षक देख पा रहा हूँ।"

---

१ नपुसकलिङ्ग रक्त का पुलिङ्ग में यहाँ प्रयोग चिन्त्य है।
२. अध्याय १, पाद ३, श्लोक ९–१०, पृष्ठ ३९–४०।
३ अध्याय १, पाद २, श्लोक ४५, पृष्ठ ३५

कहीं कहीं यमक और अनुप्रास की अपूर्व छटा भी ध्यान बरबस आकर्षित कर लेती है। तृतीयाध्याय के चतुर्थ पाद के प्रथम श्लोक में वसन्त का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं—

वीरुद्वृक्षवरप्रतानविभवा पुष्यन्त्यहो माधवे
हृद्य कोकिलकण्ठज मधुरुत वायु पुनानो दिश ।
नानाभावविभावभावितनृणा भावा विकासोन्मुखा
सोल्लास सहकारमञ्जरिरपि[1] स्वागन्तुमातिष्ठते ॥

"वसन्त ऋतु के आगमन पर लता और सुन्दर वृक्षों का विस्तृत वैभव विकसित होता है। मनोहर कोकिलकण्ठ-कूजन तथा दिशाओं को पवित्र करता हुआ पवन विकास की ओर अग्रसर होने वाले विविध विचारो से परिपूर्ण मनुष्यों के भाव एव फूटती हुई आम्र मञ्जरियाँ उल्लासपूर्वक वसन्त का स्वागत करने को उपस्थित है।"

विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में पण्डित जी का वैदुष्य पदे पदे अवभासित होता है। एक एक नाम की उन्होंने विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। सबसे पहिले व्याकरणप्रक्रिया से रूप सिद्धि प्रदर्शित की है। तदनन्तर वेद से मन्त्रलिङ्ग उपस्थित किया है। सबसे अन्त में स्वरचित श्लोक द्वारा नाम-विशेष का विशेष अभिप्राय स्पष्ट किया है। उदाहरण के लिये स्थालीपुलाक न्याय से भगवान् के ६२५वे नाम सर्वतश्चक्षु की व्याख्या उपस्थित की जा सकती है—

सर्वत इति सर्वशब्दात् 'आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति पा० ५।४।४४ सूत्रस्थवार्तिकेन सार्वविभक्तिकस्तसि- प्रत्यय ।

चक्षु —चक्षिङ् व्यक्ताया वाचि धातुर्दर्शनेऽपि, अत्र च दर्शनार्थक एव । इदितोऽप्यस्य नुम् न । अन्ते दि इति व्याख्यानात् (द० क्षीरतरङ्गिणी २।८) चक्षे शिच्च इत्युणादिना (२।११९) उसिप्रत्ययस्तस्य च शिद्वदतिदेश , येन शित्वात् तिङ्शित् सार्वधातुकम् (पा० ३।४।११३), सूत्रेण सार्वधातुकत्वात् ख्याञादेशाभाव , चक्षुरिति। सर्वत पश्यतीति सर्वतश्चक्षु

अत्र मन्त्रलिङ्ग—
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुख (ऋक् १०।८१।३)
यजु (१७।१९)
विश्वतश्चर्षणिरुत विश्वतोमुख (अथर्व १३।२।२६)

भवति चात्रास्माकम्—
स सर्वतश्चक्षुरिहास्ति विष्णु
स निरन्तर पश्यति विश्वमेतत् ।
स विश्वबाहु स च विश्वतस्पात्
तमेव गायन्ति नमन्ति धीरा ॥

---

[1] स्वागतं व्याहर्तुम् अथवा स्वागतं कर्तुम् के स्थान पर स्वागन्तुम् प्रयोग चमत्कारी है। इसका अर्थ होगा अच्छी तरह आने के लिये जो कि यहाँ पर अभीष्ट नहीं है। दूसरे मञ्जरी शब्द का हुस्वान्त एकवचन रूप में प्रयोग भी खटकता है।

३३० पृष्ठ का नाडीतत्त्वदर्शनम् पण्डित जी का नाडीतत्त्व पर अपूर्व समीक्षात्मक ग्रन्थ है। पण्डित जी आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान् हैं, उनकी इस विद्वत्ता का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ से चलता है। आयुर्वेद के अध्येताओं और अध्यापको के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

अर्वाचीन संस्कृत साहित्य सर्जना में पुरानी पीढी का ही केवल योगदान नही है। युवा पीढी भी इस दिशा में प्रयत्नशील है। भिवानी (हिसार) के श्री विश्वनारायण शास्त्री (प्राध्यापक सस्कृत विभाग, किरोडीमल कालेज, दिल्ली) इसी प्रकार के युवा पीढी के साहित्यकार हैं। शास्त्रीय विषयो पर सस्कृत में इनके अनेक लेख विश्वसस्कृतम् आदि पत्रिकाओ में प्रकाशित होते रहते है। ये बहुत परिमार्जित और प्राजल सस्कृत लिखते है। हिन्दी में भी सस्कृत सम्बन्धी अनेक विषयो पर इन्होने लिखा है। अभी हाल ही में इनकी कृति निरुक्तमीमासा प्रकाशित हुई है जिसकी विद्वानो ने भूरि-भूरि प्रशसा की है।

पूर्वोल्लिखित विद्वान् शास्त्रार्थ महारथी पण्डित माधवाचार्य जी के सुपुत्र पडित प्रेमाचार्य शास्त्री भी इसी युवा पीढी के सस्कृत साहित्यकार हैं। शास्त्रार्थमहारथी जी के ग्रन्थ परतत्त्वदिग्दर्शनम् के अन्त में नाना छन्दो में विरचित १११ श्लोको का परतत्त्वविषयकभ्रान्तिनिरसनात्मक एक परिशिष्ट दिया हुआ है जो कि प्रेमाचार्यजी का लिखा है। भाषा में इनकी बहुत प्रौढि है, पदशय्या में एक उदात्तता है जो प्राचीन सस्कृत का स्मरण दिला देती है। परिशिष्ट के प्रथम तीन श्लोक मगलाचरण के हैं। उन्ही में से एक नीचे उद्धृत किया जा रहा है। इससे पता चल सकता है कि श्री प्रेमाचार्यजी का सस्कृत पर कितना अधिकार है। इस श्लोक में श्लेष भी है, सभी विशेषण विष्णु, शिव, और लेखक के पिता माधवाचार्य इन तीनो के पक्ष में समान रूप से घटते हैं—

यस्त्रय्यागविभूषितान्धककुल. ख्यातो यशोदानतो
य प्राहुर्विबुधा महारथमिति प्रेक्ष्य स्थित सगरे।
नीतो येन विपञ्चता स्वमहसाऽनङ्गो विदग्ध क्षणात्
सत्याश्लेपरसप्लुतो विजयतेऽसौ सर्वदो माधव ॥

सर्वदो माधव का तीन प्रकार के अर्थ किया जा सकता। सर्वद + माधव —सब कुछ देने वाले विष्णु, सर्वदा + उमाधव —शिव जी सदैव। सर्वद + माधव—सभी को देने वाले माधव (माधवाचार्य)।

विष्णु के पक्ष मे श्लोकार्थ—वेदवाणो में जिसकी यह ख्याति है कि इसने अन्धकवश को सुशोभित किया है, जो अपनी माता यशोदा को प्रणाम करता है। युद्ध में स्थित जिसे देख विद्वान् महारथी कहते हैं, जिसने अपने तेज से दग्ध अनग (कामदेव) को क्षण में ही सशरीर बना दिया (अनग ने ही प्रद्युम्न नामक उनके पुत्र के रूप में जन्म लिया था, यह पुराणो में प्रसिद्ध है), सत्या अर्थात् पत्नी सत्यभामा के आलिंगन रस से आनन्दित उस सब कुछ देनेवाले विष्णु की जय हो।

शिव के पक्ष मे श्लोकार्थ—जिसने अन्धकासुर के कुल को धराशायी (भूमिशायी, भू + उषित + अन्धककुल) बना दिया, यश एवच दान देने के कारण (यश + दानत) जिसकी वेदवाणी में प्रसिद्धि है, युद्ध में स्थित जिसे देख देवता (रथक्षोणीयन्ता इत्यादि स्तुतियो

के माध्यम से) महारथी कहते है, जिसने अनग को अपने तेज से क्षण भर में जलाकर शरीर-हीन कर दिया, अपनी पत्नी सती के आलिगन रस से आनन्दित (सती+आश्लेपरसप्लुत) उस शिव की (सर्वदा+उमाधव) जय हो।

माधवाचार्य के पक्ष मे श्लोकार्थ—वैदिक विपयो में जिसने अन्वकुकुल स्वामी दयानन्द के गुरु जन्मान्ध (अन्वक) स्वामी विरजानन्द के कुल आर्यममाज नामक सस्था को धराशायी (भू + उपित) कर दिया, जो (स्वसस्था सनातनधर्म को) यशस्वी बनाने के कारण (यशोदानत) सुप्रसिद्ध है, युद्ध अर्थात् वाग्युद्ध (शास्त्रार्थ) मे स्थित जिसे देख विद्वान् महारथी की उपाधि देते हैं (पण्डित जी शास्त्रार्थमहारथी नाम से विख्यात है), जिसने अनङ्ग अर्थात् अण्णाङ्गराचार्य को स्वपक्षसाधक पचावयव वाक्यशून्य वना दिया (दक्षिण के पण्डित अण्णङ्गराचार्य से शास्त्रार्थ महारथी जी का वादविवाद वहुत देर तक चला था। उसमें शास्त्रार्थ महारथी जी ने उसे निरुत्तर कर दिया था), इस प्रकार के सभी को कुछ न कुछ देनेवाले सत्य के आश्रयण द्वारा (सत्य + आश्रयण) रसात्मक ब्रह्म में समासक्त माधवाचार्य की जय हो।

मङ्गलाचरण के पश्चात् ६ श्लोकका प्रसङ्गावतार है। तदनन्तर ६ श्लोको में परिशिष्टकार ने अपनी कुल परम्परा का परिचय दिया है। तत्पश्चात् प्रकृतविपय का निरूपण किया है। शास्त्रार्थ महारथी जी ने हिन्दी में 'क्यो' नामक एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी—

आलम्व्य संस्कृतसमन्वयपद्धतिं ता
ग्रन्थाश्च तातचरणैर्वहव प्रणीता ।
तेष्वेव विस्तृततम श्रुतिसारहृद्य
'क्यो' नामकोऽखिलसुविज्ञमत प्रवन्ध ॥[1]

उसमे शास्त्रार्थमहारथी जी ने समन्वय पक्ष को प्रतिपादित किया था। उन्होंने कहा था कि शैव वैष्णवो से भिन्न नही है और वैष्णव शैवों से भिन्न नही है—

वैष्णवाश्चापि नाशैवाश्शाङ्करा नाप्यवैष्णवा ।
राद्धान्त एव वहुभि प्रमाणैस्तत्र साधित ॥[2]

यह शास्त्रार्थ महारथी जी की दृढ मान्यता थी। बरेली के प० राघवाचार्य ने श्रीवैष्णव-सम्मेलन नामक अपनी पत्रिका में इस मान्यता की आलोचना की। विवाद दक्षिण भारत तक भी पहुँचा। काञ्चीनिवासी पडित सम्पत्कुमाराचार्य जी ने वैदिक मनोहरा पत्रिका में शास्त्रार्थ महारथी जी के मत के विरोध में एक विस्तृत लेख लिखा जिसका उत्तर उन्होंने (शास्त्रार्थ महारथी जी ने) अपनी पत्रिका लोकालोक के माध्यम से दिया। इस पर सम्पत्कुमाराचार्य जी तो चुप हो गये पर उनके श्वसुर जगदाचार्य स्वामी अण्णङ्गराचार्य ने एक कठोर चोट शास्त्रार्थ महारथी जी पर की। विनीत पुत्र प्रेमाचार्य से यह न सहा गया, उसने इस चोट का उत्तर इन १११ श्लोकों के माध्यम से दिया। शास्त्रार्थ महारथी जी के समन्वयवाद के राघवाचार्य कृत प्रतिवाद को दही से भरे पात्र पर ढेला मारने के समान कहा है—रुक्षे दधिभरिते महा-

१ श्लोक १६, पृष्ठ २९।
२ श्लोक १७, पृ० २९।

भाजने लोष्टपातम्। दाक्षिणात्यों ने उनके पिता पर चोट की थी इसलिये।उन पर उनका रोष स्वाभाविक ही था। दक्षिणात्यो को उन्होंने उच्चासन के मत्कुण (= खटमल) कहा है उनके मत में उत्तर के लोग ही शास्त्र के वचन का पालन करते हैं—

पालयन्त्युत्तरस्यास्तु चैतच्छास्त्रानुशासनम्।
दाक्षिणात्यास्तु दृश्यन्ते उत्तुङ्गासनमत्कुणा ॥[१]

उन पर और गहरी चोट करते हुए वे कहते हैं कि यह आवश्यक नही कि जो ऊँचे हो उनको पूजा ही हो, गाय, गगा, पीपल का पेड ये सव भूमि पर होने पर भी पूजे जाते हैं जवकि धुआँ, कौव्वा, और राहु ऊँचे होने पर भी नही पूजे जाते—

भूमिस्था अपि पूज्यन्ते गोगङ्गाश्वत्थपादपा।
उत्तुङ्गा अपि नेज्यन्ते धूमध्वाङ्क्षविधुन्तुदा ॥[२]

कही-कही तो यह रोष वहुत उग्र रूप धारण कर लेता है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्वा जीवनादपि।
यैर्विज्ञैर्यावदायुष्यं स्वधर्मो नोज्झितो मनाक् ॥
तान् हि काकणिकालुब्धान् लिखता 'भवता' कर।
न कम्पितो न रुद्धो वा ह्येषोऽस्ति महिमा कले ॥[3]

"जिन विद्वानो ने काम, भय, लोभ, और प्राणों की रक्षा के कारण भी जीवन भर तनिक भी स्वधर्म नहीं छोडा, उनका कौडियो के लोभी लिखते हुए आप लोगो का हाथ काँपा या रुका नहीं। यही है कलि युग की महिमा।"

श्री प्रेमाचार्य जी को तनिक भी सन्देह नही है कि माधव और उमाधव दोनो एक ही है। श्रुति ने भी इसी तथ्य को प्रतिपादित किया—

माधवोमाधवाभ्या या वर्तते श्रुतिसम्मता।
तादात्म्यरूपता नात्र विचिकित्सालवाणिमा ॥[४]

श्री प्रेमाचार्य की वाणी से अपार आत्मविश्वास टपकता है। पितृभक्त पुत्र वीर घोषणा करते हुए कहते है—

शास्त्रार्थो न विभीषिका पितृकुले नोद्वेजको वाऽप्यसौ
वादेष्वेव हि वद्धकक्षवपुषा यात वयो नोऽखिलम्।
किन्त्वद्यावधि वेदधर्मरिपव सर्मार्दिता प्रायशो
हहो सम्प्रति सम्प्रदायगुरवोऽभ्यर्च्या विपक्षाऽऽश्रिता ॥[५]

"मेरे पिताश्री के लिये शास्त्रार्थ कोई विभीषिका नही है, न ही उससे उन्हें उद्वेग होता

---

१ श्लोक ४९, पृष्ठ ३३।
२ श्लोक ५०, पृष्ठ ३३।
३ श्लोक ८८–८५, पृष्ठ ३५।
४. श्लोक १०५, पृष्ठ ३८।
५. श्लोक ९२, पृष्ठ ३६।

है। हमने तो कमर कम रखी है। हमारी तो सारी आयु ही शास्त्रार्थ में बीती है। किन्तु अब तक प्राय: हमने वेदधर्म के विरोधियो का ही मर्दन किया है पर वाह रे! आज प्रतिपक्षी बने सम्प्रदायाचार्यो की भी हमे 'पूजा' करनी होगी।

श्री अण्णङ्गराचार्य के नाम को सस्कृत में अनगारि रूप में रखते हुए श्री प्रेमाचार्य ने बहुत ही साहित्यिक ढग से उन पर चुटकी ली है। उन्होने कहा है कि आपके रग-ढंग से आपकी वैष्णवता प्रकट नही होती, आप तो अनगारि शिव लगते है, कालकूट के कारण शिव नीलकठ है, आशीर्ष उनका शरीर सर्पो से भरा है, मस्तक पर अनग को भस्म करने के लिये निकली हुई अग्नि की ज्वाला है, सो आपका कण्ठ भी शिवद्वेषी वचनो के कारण मलिन (नील) है। दुर्दप रूप सर्पो से आपका शरीर भी भरा है। दुर्दाम मात्सर्य रूपी अग्नि की ज्वाला आपके सिर पर भी धू-धू कर जल रही है—

शर्वद्वेपवचोगरेण मलिना कण्ठोपकण्ठप्रभा
[1]आचूड कवलीकृता तनुरहो दुर्दपकुम्भीनसै ।
मौलौ दुर्धरमत्सरानलशिखा यावत्समुज्जृम्भते
तावद्वैष्णवता न, किन्तु भवता जागर्त्यनगारिता ।

यद्यपि हरियाणा एक बहुत छोटा-सा राज्य है तो भी जैसा कि प्रस्तुत सक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है, अर्वाचीन सस्कृत साहित्य को इसकी देन सुतरा अभिनन्दनीय है। हरियाणा का संस्कृत साहित्यकार अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक है। अनेक विपम परिस्थितियो में भी वह साहित्य सर्जना में जुटा है। यह शुभ लक्षण है और उज्ज्वलतर भविष्य का परिचायक है।



---

१. कण्ठोपकण्ठप्रभा एव आचूडं में गुम्फभाव चिन्त्य है।

हरियाणावी

कैलाश चन्द्र भाटिया

यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से भारतवर्ष के मानचित्र पर हिन्दी भाषा-भाषी राज्यो में 'हरियाणा' राज्य की स्थापना अभी कुछ वर्ष पूर्व ही हुई है, पर सास्कृतिक एव भाषिक दृष्टि से 'हरियाणा' का महत्त्व अत्यन्त प्राचीन है। हरियाणा का सीधा संबध प्राचीन 'कुरु' जनपद से है। डा० धीरेन्द्र वर्मा[1] ने प्राचीन जनपद के आधार पर इस प्रकार सम्वन्ध स्थापित किया है :

प्राचीन जनपद	महाभारत के आधार पर	कुरु
महाजनपद	बुद्ध भगवान् के समय में मध्यदेश	कुरु
मध्यकाल के राज्य	मुख्य चीनी यात्री ह्वानसाग के आधार पर	स्थानेश्वर
सूबे और राज्य	मुसलमान काल में। अकवर।	दिल्ली
वर्तमान बोलियाँ	वर्तमान स्थिति में	खड़ीवोली तथा बाँगरू[2]

हरियाणवी का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। प्राचीनकाल का कुरुक्षेत्र ही आज इसकी सीमाएँ बनाता है। ग्रियर्सन[3] के अनुसार यमुना के पश्चिम की ओर दिल्ली के उत्तर तथा पश्चिम के क्षेत्र और दक्षिण-पूर्वी पजाव[4] में यह बोली प्रयुक्त होती है। ऊपरी दोआव की यह स्थानीय हिन्दोस्तानी है जिसमे पजावी और राजस्थानी का अधिक मिश्रण है। खडीबोली, अहीरवाटी, मारवाडी तथा पजावी से घिरा हुआ यह क्षेत्र पटियाला, नाभा, जीद से चलकर करनाल रोहतक होता हुआ दिल्ली तक फैला हुआ है। जिला रोहतक केन्द्र माना गया है जिसके पूर्व में खाद्दर, दक्षिण में अहीरवाटी, दक्षिण-पश्चिम में शेखावटी, पश्चिम उत्तर में पछाद्धा और उत्तर तथा पूर्व में बाँगर क्षेत्र है। जैसा कहा जा चुका है यमुना नदी इसकी पूर्वी सीमा बनाती है यही कारण है कि बादली और नरेला तक वस्तुत हरियाणवी ही है यद्यपि ये क्षेत्र हरियाणा राज्य में नही हैं यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'हलवासिया' जी का जन्म स्थान 'भिवाणी' (भिवानी) 'हरियाणवी' की सीमा पर स्थित है जिसके पूर्व में हरियाणवी है तो पश्चिम में शेखावटी।

यमुना के साथ-साथ वाले प्रदेश को खाद्दर (खादर) कहते हैं, समीपवर्ती बरसाती जल से भरा हुआ भूमि खड 'डाव्वर' कहा जाता है। करनाल के समीप भूमि ऊँची-नीची है

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा-हिन्दी की बोलियाँ तथा प्राचीन जनपद, विचारधारा, १९५६ पृष्ठ २५।
२ 'बाँगरू' हरियाणवी का ही उपरूप है और कुछ भाषाविद् इसका पर्याय मानते हैं।
३ भारतका भाषा सर्वेक्षण, ग्रियर्सन, भाग ९, पृष्ठ १४९।
४ आजकल पृथक् 'हरियाणा' राज्य है।

और यही क्षेत्र 'बांगर' कहलाता है, बांगर विशेष प्रकार की कुछ ऊँची भूमि को कहा जाता है जो बरसात में नदी की बाढ में भी न डूबे। इसके अनुसार यह स्थान 'बांगर' कहलाया जिसके आधार पर ही यहाँ की भाषा 'बांगरू' कहलायी। डा० अम्बा प्रसाद सुमन[१] के अनुसार 'जो भूमि बैंगन की भांति ऊँची उठी हुई मालूम पड़ती थी, उसे 'बांगड' नाम मिल गया होगा, क्योंकि देशज शब्द 'वग' का अर्थ वैंगन ही है। देशीनाममाला (७।२९) में लिखा हुआ है—'वग वृन्ताकम्' यही 'वग' शब्द स्वार्थ 'ड' प्रत्यय के योग से 'वगड' हुआ और फिर वगड बांगड-बांगर रूप में विकसित हुआ। अत उस बांगर प्रदेश की बोली 'बांगरू' कहलाई।'

करनाल तथा निखन (पटियाला) के आस-पास के स्थान इसके प्रमुख क्षेत्र हैं। पंजाबी का विशेष प्रभाव है जिसके फलस्वरूप 'अम्बाला'[२] की बोली भिन्न हो जाती है। जाटों की बोली होने के कारण 'जाटू'[३] नाम से भी अभिहित की जाती है। 'हरियाणवी' नाम हरियाणा के आधार पर पड़ा है। 'हरियाना' को 'हरियान', 'हरिण्यारण्य', हर्यरण्य (हरावन), हर्‍या (उद्दण्ड पशु) से व्युत्पन्न किया जाता है लेकिन डा० बाहरी[४] के मत से इसका विकास 'अहीर' से जिसे इस बोली में 'हीर' कहते हैं, हुआ है। आना का अर्थ स्थान या प्रदेश है जैसे राजपूताना, तलिंगाना है। 'हीराना' अहीरों का प्रदेश से हरियाना सिद्ध होता है। अहीर या जाट इस प्रदेश में हैं भी सबसे अधिक।'

यह बात भी नहीं भुला देनी चाहिए कि किसी राज्य की सीमाओं के साथ आवश्यक नहीं है कि तत्सवर्ती किसी भाषा की भी सीमा वही हो। वस्तुत ब्रज तथा राजस्थान के उत्तर में छछरौली, अम्बाला, माडवी के दक्षिण की ओर जो लम्बा और चौडा समतल मैदान ही 'हरियाणा'[५] है जिसको पश्चिम में सतलज और पूर्व में यमुना घेरे हुए हैं।

यह भी उल्लेख है कि खड़ीबोली (कौरवी) हरियाणवी की सीमावर्ती बोली है। दोनों बोलियाँ पश्चिमी हिन्दी की उपभाषाएँ हैं, जाटों का बाहुल्य दोनों क्षेत्रों में है अतएव

---

१. हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप, पृष्ठ ११९।

२ अम्बाला की बोली पृथक् हो जाने के कारण 'अम्बालवी' नाम से अभिहित की गई है। जनसंख्या की दृष्टि से 'बांगरू' के बाद इसका ही नम्बर आता है। यह पश्चिम में पंजाबी, उत्तर से पहाडी, पूर्व में सहारनपुर की खडी तथा दक्षिण में बांगरू से घिरा हुआ क्षेत्र है। अम्बाला तथा पटियाला जिलों में घग्गर नदी के पूर्व में तथा करनाल की थानेसर तहसील में बोली जाती है। इस बोली के विशेष अध्ययन के लिए डा० कृष्ण स्वामी का 'शोध प्रबंध-अम्बालवी', पंजाब वि० वि० द्रष्टव्य है।

३ ई० जोजेफ की पुस्तक 'जाटू', बीइंग सम प्रैक्टिकल नोट्स एण्ड ग्रामरी अव् द लैंग्वेज अव् द 'रोहतक जाट्स' का उल्लेख ग्रियर्सन ने किया है।

४ ग्रामीण हिन्दी बोलियाँ, सन् १९६६, पृष्ठ ५८।

५ "हरियाणा" राज्य घोषित किये जाने पर इसको कुछ राजनैतिक सीमाओं में बाँधा गया है पर इधर चंडीगढ़ को लेकर पुन उग्र विवाद खड़ा हुआ और कमीशन निर्णय से चंडीगढ़ के स्थान पर पंजाब का कुछ भू-भाग हरियाणा को प्राप्त हुआ है।

दोनो भाषाओ की 'सीमावर्ती बोली'[1] में जहाँ एक ओर हरियाणवी का रूप विद्यमान है, वहाँ खडी का भी है ।

प्रो० स्थाणुदत्त शर्मा[2] ने हरियाणवी बोली का विस्तार हरियाणा प्रदेश की सीमाओ से परे भी इस प्रकार स्वीकार किया है "पूर्व की ओर वह यमुना नदी को पार करके मेरठ जिले में अपना स्थान बना चुकी है । वहाँ पर विशेष रूप से जाटो के परिवारो मे, हमें शुद्ध हरियाणई सुनने को मिलती है । इस भाषा का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध हरियाण प्रदेश से है सभवत उतना ही जाट लोगो से भी । यदि इस भाषा का परिचय यो दिया जाय कि जिला रोहतक तथा उसके आसपास के जाटो की भाषा को हरियाणई कहते हैं तो सभवत ठीक मान लिया जाएगा । दिल्ली से दक्षिण पश्चिम की ओर नागलोई, में तथा इससे भी और आगे तक रहनेवाले जाट लोगो में बैठने पर शुद्ध हरियाणई सुनने को मिलेगी । पश्चिम दिशा में तोशाम की पहाडी तक तथा इससे भी आगे तक एव उत्तर की ओर जिला करनाल के अन्तर्गत अरोड लोगो के ग्रामो तक यही भाषा सुनने को मिलती है ।"

इस प्रकार हरियाणवी का केन्द्र विन्दु 'रोहतक' ही ठहरता है । यह सयोग ही है, कि अब तक किये गये कार्यों में सबसे उल्लेखनीय कार्य कुरुक्षेत्र वि० विद्यालय के भाषा शास्त्र विभाग के अध्यक्ष डा० जगदेव सिंह का 'कागरू'[3] पर किया गया कार्य है । प्रो० जगदेवसिंह का सम्बन्ध भगवतीपुर से (रोहतक) है । लेखक ने अपनी भाषा को ही आदर्श भाषा मानकर शोधकार्य पूरा किया है ।

हरियाणवी का इतना प्राचीन सास्कृतिक महत्त्व होते हुए इस भाषा में साहित्य रचना नही की गई । जो कुछ भी लोक साहित्य मिलता है उसका कोई सग्रह नही किया गया है । थोडे वहुत जो छोटे-छोटे गीत सग्रह मिलते भी है तो उनकी भाषा का स्वरूप ही बदल दिया गया है । आवश्यकता इस बात की है कि हरियाणवी में प्राप्त साधु-सन्तो की वाणियो तथा स्त्रियो के विविध प्रकार के गीत—जच्चा, चैतो, गणपत, सुहाग, जकडी, बनडा, खोडिया' सठजे आदि तथा साग-संगीतो को सग्रहीत किया जाय ।

ध्वनिग्रामीय दृष्टि से 'हरियाणवी' की कुछ विशेषताएं है । सामान्य वातो की ओर यहाँ ध्यान नही दिया जा रहा है ।

खडीवोली के दीर्घ स्वर—आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, के दो रूप हरियाणवी मे

---

१ अभी तक सीमावर्ती क्षेत्र का सर्वेक्षण तथा शोधकार्य नही हुआ है । इस प्रकार के सर्वेक्षण महत्त्वपूर्ण होते है साथ में रोचक भी । व्रज तथा खडीवोली के सीमावर्ती क्षेत्र का सर्वेक्षण डा० मनोहरलाल गौड ने किया है और अवधी तथा भोजपुरी क्षेत्र का डा० अमरवहादुर सिंह ने किया है ।

२ हरियाणे की भाषा, सप्तसिंधु, १९६५-६६, पृष्ट ११३ ।

३ डा० जगदेवसिंह ने यह कार्य सयुक्त राज अमेरिका मे रहकर सम्पन्न किया है और पी-एच० डी० को उपाधि मिली है । इसके कुछ अंश (अनुवादित) सप्तसिंधु के कुछ अको में प्रकाशित हो चुके हैं ।

मिलते हैं—दीर्घ तथा किंचित् दीर्घ। सामान्यत स्वतन्त्र रूप से इन स्वरो का उच्चारण दीर्घ है, पर सयुक्त व्यजनो से पूर्व कम दीर्घ रह जाता है

आँद्दर,

वैँस्सकणा, भैँसा

कोँट्ठा, गोँव्वर,

यहां यह उल्लेखनीय है कि कुछ क्षेत्रो में द्वित्व तथा दो व्यंजनो के युग्म से पूर्व स्वर ह्रस्व हो जाते हैं, अट्टा, अद्धा, भुक्का, भित्तर, गड्डी, पुच्छा, आदि, पर हरियाणवी में ये स्वर ह्रस्व तथा दीर्घ के मध्य बने रहते हैं। हरियाणवी की इस विशेषता पर यान्त्रिक प्रणाली से कार्य होना चाहिए। तब ह्रस्व, दीर्घ तथा दीर्घतर रूप स्थिर हो सकेंगे, साथ मे भौगोलिक सीमाएँ भी स्थिर करनी होगी। किस क्षेत्र मे किस प्रकार का उच्चारण मान्य समझा जाता है इसके भाषिक भूगोल के आधार पर मानचित्रो का निर्माण करना होगा।

ह्रस्व स्वरो के भी ह्रस्व तथा ह्रस्वतर भेद हो सकते हैं क्योंकि द्वित्व से पूर्व स्वर और अधिक ह्रस्व हो जाते है, जैसे इँक्का, कुँप्पा, आदि।

द्वितीय अक्षर पर बलाघात के कारण पर शब्द की आदि स्थिति मे ह्रस्व स्वरो का लोप भी हो जाता है।

व्यजनो में मूर्द्धन्य 'ळ' विशिष्ट व्यजन है जैसे, बादळ, काळा, पीळा, फळ, फळटा बाळटी, चाळीस, ताळा, आदि। इस विशिष्ट ध्वनि के अर्थभेदक युग्म भी मिलते हैं।

खाल = चमडा

खाळ = बडी खाई

लाली = रक्तिमा

ळाळी = भूसी

गाल = मुँह का दाया-बाया भाग

गाळ = गाली

प्रो० श्यामदत्त शर्मा[1] ने 'हाह्ल, गाह्ल, मे ह्ल' एक विशिष्ट ध्वनि की ओर भी सकेत किया है।

'ण' का प्रयोग व्यापक रूप में होता है, जैसे, गण, माणी, फूण, छाल्णी, सोणा उठणा, बैठणा आदि। 'ड' 'ढ' के साथ 'ड़' 'ढ़' भी प्रयुक्त होते है पर [illegible] भिन्न रूप मे। सभी व्यजनो के महाप्राण रूप मिलते है, रह, [illegible] आदि।

अल्पप्राणीकरण की प्रवृत्ति भी पायी जाती है, जैसे [illegible]। [illegible]।

'ड' से पूर्व 'र' का आगम भी कुछ शब्दो में मिलता है जैसे, [illegible]। [illegible]। [illegible]। सडक।

---

१. प्रो० शर्मा ने इन विशिष्ट ध्वनियों के प्रकाश में 'हरियाणवी' के लिए भिन्न लिपि की जोरदार मांग उठायी है। भिन्न लिपि के स्थान पर आवश्यकतानुसार [illegible] प्रचलित [illegible] नागरी लिपि में ही [illegible] जा सकता है। [illegible]।

'ह्' ध्वनि के भिन्न उच्चारण विभिन्न क्षेत्रो तथा स्थितियो में मिलते हैं। अक्षर के आदि में तो यह व्यजन है, किन्तु मध्य तथा अन्य स्थिति में उच्चावरोही सुर मात्र है, जैसे ग्याह् रा, चौह् धा। डा० जगदेवसिह ने इसके घोप तथा अघोप दो उपरूप स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार पद के आदि में स्वर के पूर्व तथा घोप वर्णों के वीच 'घोष' रूप आता है, अन्यत्र अघोप, जैसे

हार, राही—घोप
गोह पत्होर—अघोप

प्रो० स्थाणगुप्त शर्मा ने इसके क्षेत्रीय उच्चारणो की ओर भी ध्यान दिया है। उनके मतानुसार,

'हरियाणे के सबसे उत्तरीय तथा सबसे दक्षिणीय भागो में इसकी आवाज कुछ नुकीली सी एव सवृत कंठ से निकलती हुई प्रतीत होती है। फिर ज्यो-ज्यो केन्द्रीय हरियाणे की ओर आते जाते हैं, त्यो त्यो उसका नुकीलापन कम होता जाता है और साथ ही कठ भी सवृत से शनै शनै विवृत होता चला जाता है। एक वार अम्वाला, राजपुरा के पास वाले देहात का उच्चारण सुनिये, फिर कथेल, नरवाणे के आसपास का उच्चारण सुनिये और उसके अनन्तर रोहतक, महस, हासी, के समीप पहुँचिये तव यह भेद स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो जाएगा। इसी प्रकार रेवाडी से दादरी और फिर हासी, हिसार की ओर आने पर यह भेद देखा जा सकेगा। केंद्रीय हरियाणे में पहुचने पर 'कहदो' 'हली' आदि शब्दो के हकार की ध्वनि कम होते होते 'कहॅ्दी' 'सहॅ्ली' जैसी रह जाती है। इसीको हमने औरस्य ध्वनि कहा है।"

हरियाणवी के लोक साहित्य का अध्ययन किया जा चुका है। हरियाणवी की सास्कृतिक शब्दावली पर भी शोध प्रवन्ध स्वीकृत हो चुका है। आवश्यकता इस वात की है कि 'लोक साहित्य' का टेप पर सकलन किया जाय और उसे साहित्य को उच्चारणगत विशेपताओ को ध्यान में रखते हुए विभिन्न चिन्हो की सहायता से लिपिवद्ध किया जाय। हरियाणा वहुत प्राचीन जनपद से सम्वद्ध है अतएव यहाँ की विशिष्ट लोक सास्कृतिक शब्दावली का एक सचित्र कोश तैयार किया जाय। ये सव कार्य अव सम्भव है क्योकि हरियाणा को पृथक् राज्य का स्थान प्राप्त हो चुका है।

●

१. डा० शंकर लाल यादव, हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य, हि० एकेडेमी, इलाहावाद।

हरियाणवी कवियों की हिन्दी साहित्य को देन

देवेन्द्र सिंह 'विद्यार्थी'

हिन्दी साहित्य के विकास तथा सवर्धन में हरियाणा का जो अमित योगदान रहा है उसका सामयिक अवलोकन अभी तक उपेक्षित-सा रहा है। इस लेख के माध्यम से मैं इस योगदान की महत्ता एव व्यापकता का सक्षिप्त-सा परिचय प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास कर रहा हूँ।

१ जैन कवि

यह सर्व विदित है कि आदि कालीन हिन्दी काव्य का उद्गम अपभ्रंश के माध्यम से हुआ। अपभ्रंश काव्य में जैनधर्मा कवियो की गति विशेष थी। अत हम नि संकोच यह कह सकते है कि हरियाणा के प्राचीनतम कवि जिन्होंने हिन्दी साहित्य को समुन्नत किया वे जैनधर्मी थे।

इतिहास ग्रथो में जिन आदिकालीन कवियो का उल्लेख हुआ है। उनमें कवि पुष्प या पुष्पदत का नाम आता है। जैन मतावलम्बी कवि पुष्पदत रोहतक के किसी निकट-वर्ती गांव में पैदा हुए थे। इन की अब तक तीन रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी है। 'तिसठि महा पुरिस गुणालकार" बम्बई से श्री पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित होकर "श्रीमाणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रथमाला" में छप चुकी है। इसी ग्रथमाला मे इनकी दूसरी रचना "जसहर चरिउ" भी छपी है। तीसरी रचना "नाय कुमार चरिउ" का सम्पादन श्री हीरालाल जी ने करके इसे "देवेन्द्र जैन ग्रथमाला" में प्रकाशित किया है।

कवि पुष्प की गणना राज्याश्रयी कवियो के अतर्गत की जाती है। किन्तु यह चाटुकार बिल्कुल नही थे। इसके विपरीत इनकी ख्याति "अभिमान मेरु" के रूप मे पाई जाती है। स्वाभाविक है कि हरियाणावासी होने के नाते कुछ अधिक आत्मसम्मानावलम्बी हो। जीविका के दामो के बदले अपनी स्वतत्रता बेचना इन्हें न रुचा होगा और इनके सत्सम्मान जीवन को देखकर दूसरे राज्याश्रयी कवियो ने इन्हें अभिमानी मान लिया होगा।

कवि पुष्प की रचना में ललित तत्त्व की प्रचुरता बताई गई है। यह उनके स्वभाव की सहृदयता का प्रमाण है। उनकी रचना में विरह का वर्णन अति सुन्दर हुआ है, ऐसा आलोचकों का मत है। इस से उनके कवि-चित्त की सूक्ष्मान्वीक्षणता तथा आर्द्र एवं [illegible] कल्पना का पता चलता है। यह गुण उन्हें महाकवियो की श्रेणी में ला खड़ा करता है।

कवि पुष्प का रचना काल ९९५-९७२ ई० माना गया है। यह [illegible] के सम कालीन कहे जाते हैं। शुक्ल जी ने इन्हें सम्वत् १०२९ में उपस्थित माना है।

कवि पुष्प के बाद जिन कवियों का हमें पता चल पाता है उनमें [illegible]

वूचराज काफी प्रसिद्ध हैं। डा० प्रेम सागर जैन ने अपने ग्रन्थ "हिन्दी जैन-भक्ति-काव्य और कवि" मे वूचराज की रचनाओ का विवरण इस प्रकार दिया है

१ "मयणा जुझ" मे, कामदेव और श्री ऋपभदेव का युद्ध वर्णन किया गया है। ऋपभदेव आत्म-सयम से उसका मुकावला करते हैं। अन्त में जीत सयमी ऋपभदेव की होती है।

२ दूसरी रचना है "संतोप जय तिलक"। इस ग्रन्थ की रचना १५५१ के चौमासा में हिसार नगर में की गई थी, इस तथ्य का उल्लेख ग्रन्थ में किया गया है।

"सतोपहुं जय तिलउ पपिउ हिसार नयर मझ में" ।। १२० ।।

३. तीसरी रचना है "चेतन पुद्गल ढमाल"। इस रचना में १३६ पद हैं। इस रचना द्वारा चेतन को विविध प्रकार से सावधान कर पुद्गल की सगति से हटा कर चिदानन्द की भक्ति की प्रेरणा दी गई है।

४ चौथी रचना है "टाडाणा गीत"। यह वणजारा जाति के लोक गीतो के ढग की रचना है।

५ पाचवी रचना है "नेमि नाथ वसंतु" जिन में श्री नेमिनाथ के अकस्मात् वैराग्य लेने पर, प्रथम वसन्त आगमन के समम उनकी विरहिनी पत्नी राजोमती की मनोदशा का वर्णन है। इसी ग्रन्थ में लिखा है कि कवि वूचराज मूल सघ के भट्टारक पद्मनन्द की परम्परा में हुए थे।

६, छठी रचना का नाम है "नेमीश्वर का वारह मासा"। यह राजोमती की विरहावस्था का वर्णन है।

७ सातवी और अतिम रचना कवि के स्फुट पदों का सग्रह है।

कवि वूचराज के समान ही एक और जैन कवि हैं रूप चन्द पाण्डे। कवि रूप चन्द का समय १६८० से १६९४ तक रचना काल के रूप में दिया गया है। यह कुरु प्रदेश मे सलेमपुर नाम के गाँव में उत्पन्न हुए थे, ऐसा इनकी रचनाओ में उपलब्ध अन्त साक्ष्य से सिद्ध होता है। इनके पिता का नाम भगवान दास वताया गया है। यह जाति के अग्रवाल वनिया थे।

इनकी रचनाओ के निर्माण काल का सुस्पष्ट उल्लेख उपलव्व प्रतियो के अधार पर निश्चित कर सकना सम्भव नही। इन्होने अपने जीवन-वृत्त के विपय में भी कुछ अधिक सूचना नही दी।

उपलव्ध रचनाओ के नाम इस प्रकार दिये गये है —

परमार्थी दोहा शतक (अन्य नाम रूप चन्द शतक), गीत परमार्थी, मगल गीत प्रवन्ध, नेमिनाथ रासा, लघु, मगल, खटोलना का गीत, सोलह स्वप्न फल, जिन स्तुति।

इसी शताब्दी के एक कवि आनन्दघन का भी उल्लेख मिला है। कवि आनन्दघन का दूसरा नाम लाभानन्द भी वताया गया है। इनका जीवन-वृत्त सुलभ नही। किन्तु यह १६८० से १७४५ सम्वत् तक विद्यमान रहे ऐसा इनकी रचना के आधार पर अनुमान किया

गया है। यह सिरसा के आसपास-पास किसी गाव के थे। यह भी अग्रवाल जाति के बनिया ही थे।

कवि लाभानन्द अथवा आनन्दघन ने जैन तीर्थङ्करो के स्तवन मे एक ग्रन्थ "आनन्द घन बहत्तरी स्तवावली" लिखा था।

बूडिया के बासल गोत्रीय अग्रवाल कवि भगवतो दास ने २५ काव्य ग्रन्थ रचे थे। यह भट्टारक महेन्द्र सेन के शिष्य थे।

मुनि हेम विजय रचित "पद नेमि नाथ" के तथा "भट्टारक रत्नकीर्ति" के भी फुटकर पदो के सग्रह मिल जाते हैं। यह भी इसी प्रदेश के सुपुत्र कहे जाते हैं। मुनि आत्माराम, कवि नरयमल्ल तथा कवि डेढराज भी जैन कवि परम्परा से ही सम्बन्धित कहे जाते हैं।

२ सूफी कवि

हरियाणा मे बहुत से सूफी कवि भी हुए हैं। उन में सब से पहले १३वी शताब्दी के प्रमुख सूफी कवि फरीद का नाम सामने आता है। फरीद साधारणत पजाबी की उपभाषा लहदा के कवि माने जाते है, किन्तु उन्होने हिन्दी को भी अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनाया था। शेख फरीद के दीक्षा गुरु दिल्ली के ख्वाजा कुतुबुद्दीन कहे जाते है। ख्वाजा साहब ने शेख फरीद को कुछ समय के लिए सिरसा हासी की पीरी की वलायत पर नियुक्त किया था। ख्वाजा साहब का वसाल जिस समय हुआ था शेख फरीद उस समय हासी में ही उपस्थित थे। यहा के लोगो को अपने में अधिक अनुरक्ति देख कर, इस भय से कि कही उपासको की अतिरजित रागात्मक भावना उन्हें अहमन्यता का शिकार न कर दे, आप पाकपटन आ गये थे।

शेख जी की हिन्दी रचनाएँ सम्भवत उनके सिरसा, हासी और दिल्ली वास के दिनो की ही कृतिया है। गुरु ग्रथ साहब मे शेख फरीद के दो पद भी है। जहा फरीद जी के श्लोक लहदा भाषा मे है वहा पदो की भाषा पर हिन्दी की छाप स्पष्ट है। कुछ अन्य सग्रहो मे फरीद की हिन्दी प्रधान कृतियाँ भी मिलती है। किन्तु इन रचनाओं की प्रामाणिकता अभी सदेह का विषय है और स्वतन्त्रान्वीक्षण की अपेक्षा रखती है।

शेख फरीद के बाद हरियाणा के सूफी फकीरो में दूसरा प्रमुख नाम शेख शरफुद्दीन पानीपती का है। यह हजरत शेख बू अली शाह कलन्दर के नाम से प्रसिद्ध थे। शेख शरफुद्दीन बू अली शाह कलन्दर के पूर्वज ईरान से आकर पानीपत में बसे थे। इनके घराने की भाषा फारसी थी। भारत के जन्म जात होने से शेख जी को नित्य प्रति के प्रयोग हिन्दी भाषा का व्यावहारिक ज्ञान हो गया था, अत फारसी के साथ साथ आप हिन्दी में भी कविता करते थे।

लोक मे इनके अनेक दोहे प्रसिद्ध है। किन्तु अभी तक [illegible] कोई ग्रथ देखने मे नहीं आया और न ही आप के दोहों का कोई सग्रह ही मिल पाया है। [illegible] रचना का निश्चित सूत्र तथा [illegible] यदि कोई सग्रह प्रस्तुत किया जा सके तो तत्कालीन भाषा विज्ञान तथा भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप का अध्ययन करने वालों के लिए

वडे महत्त्व की वस्तु सिद्ध होगा। दिल्ली के वादशाह गयासुद्दीन तुगलक को आप पर वहुत श्रद्धा थी। उसने अपने पुत्र शाहजादा मुवारक को शिक्षा-दीक्षा पाने के लिए इनकी सेवा में भेजा था।

शेख वू अली शाह कलन्दर के पीछे इसी इलाके में बसने वाले एक दूसरे मुसलमान फकीर शेख जमालुद्दीन हासवी थे। यह भी नसल से ईरानी थे। शेख जमाल अपनी रचना में उस प्रकार हिन्दी को रचा नही पाए जिस प्रकार कि शेख वू अली कलन्दर। सम्भवत इनका जन्म और लालन-पालन भारत में नही हुआ था अत हिन्दी इन्होंने माँ के दूध साथ नही प्राप्त की थी। इनको रचना मे हिन्दी और फारसी की शव्दावली अलग अलग एक ही छन्द के एक ही चरण मे कन्धा से कन्धा जुटा कर चलती दिखाई देती है। तुक का पहला आधा हिस्सा तो फारसी में मिलता है और अन्त का आधा अश हिन्दी में। तुकात का अनुप्रास तो सर्वत्र हिन्दी मे प्रयोग किया मिलता है। यह ढग भारतीय मुसलमान लेखको को अमीर खुसरो की देन समझा जाता है।

शेख जमालुद्दीन अपनी काव्य-छाप 'जमाली' करते थे। इनका रचा कोई ग्रथ अथवा कोई सपादित सग्रह नही मिला है। जहाँ तहाँ पुराने घरानो में सग्रहीत सूफी कवियो की वाणी के साथ साथ इनके भी कतिपय छन्द मिल जाते हैं। इनकी रचना का छन्द विधान गजल की परम्परा के अनुसार है। शेख जमाली वादशाह हुमायूँ के समकालीन बताये जाते है।

इनके वाद कवि मुहम्मद अफजल कादरी का नाम आता है। अफजल कादरी ने दक्खन के किसी मीरा शाह मारुफ से सम्पर्क किया और सूफी पथ में आ गए। यह मीरा शाह मारूग कोन्ही महीउद्दीन कादरी के वेटे या खलीफे थे और इन्होने मुहम्मद अफजल की सपुर्दगी अपने एक खलीफा मुहम्मद सुलतान को सौंपी थी। यह समाचार हमको मुहम्मद अफजल की दक्खिनी मे लिखी रचना 'महीउद्दीन नामा' से प्राप्त होते हैं। 'महीउद्दीन नामा' की एक प्रति हैदरावाद के अदारा-ए-अदवियाते उर्दू के सग्रह में सुलभ है। उनकी रचना 'विकट कहानी' (१७२० ई०) की एक प्रति जो ११०३ हिजरी की लिखी है एडनवरा विश्वविद्यालय के संग्रहालय में है तथा दूसरी प्रति फारसी लिपी में लिखी हुई हैदरावाद के पूर्वोक्त सग्रहालय में है। 'महीउद्दीन नामा' का पता पहली वार यूरूप में ही मिला था। व्रिटिश म्यूजियम तथा इण्डिया आफिस मे इस रचना की प्रतियाँ सुरक्षित है। वलूमहार्ट की सूची में पहली वार इस रचना का उल्लेख हुआ था। अफजल रचित मर्सियो का पता "यूरोप में दक्खिनी मखतूतात" नाम को रचना में दर्ज है।

इनके अतिरिक्त हरियाणा में सूफी कवियो की एक खासी अच्छी परम्परा चली आयी है। किन्तु इन लोगों की न तो रचनाएँ ही सुलभ हैं और न इनके जीवन वृत्त ही मिलते हैं। तो भी इनका कुछ न कुछ उल्लेख कतिपय ग्रन्थो में मिल ही जाता है। ऐसे एक कवि है शेख वहाउद्दीन चिश्ती। वे ऐसे वजुर्गों में से थे जो जीवन भर कही एक जगह के होकर नही रहते वल्कि घूम फिर कर मानवता का शुभ सन्देश सव तक पहुँचाना अपना आदर्श रखते है। यह सरहिन्द, हासी, हिसार, रोहतक पानीपत आदि शहरो में वर्षो रह कर एकता तथा

सौन्दर्योपासना का प्रचार करते रहे थे। रोहतक के मुल्ला अनवर तथा पानीपत के शेख अल्ला दाद इनके गुरु थे। शेख बहाउद्दीन कुछ दिन उत्तर प्रदेश, विहार, गुजरात तथा दक्खिन मे भी रहे थे। इन्हे रागविद्या से प्रेम था। कव्वाली की महफिले, यह जहां भी जाते, जमती ही रहती थी। आप भी भारतीय सगीत विद्या मे निपुण थे। इनकी रचना राग-रागनी के ही पदो के अन्तर्गत मिलती है।

रोहतक के शेख गुलाम कादर जीलानी इस पीढी के अन्तिम प्रसिद्ध सूफी कवियो में थे जिनकी लडी शेख फरीद तथा शेख बू अली कलन्दर से आरम्भ हुई थी। बचपन इनका अपने मामा के यहां बीता जो कि धार्मिक प्रवृत्तियो के बजुर्ग थे। अत बालक गुलाम कादर के मन पर उनके साधु-स्वभाव की गहरी छाप पडी। युवावस्था मे, कुछ दिन जीवन यापन की दृष्टि मे गुलाम कादर ने शाही फौज मे नौकरी कर ली थी किन्तु नौकरी का बन्धन उस से बहुत दिनो निभाया न गया और वह फकीर हो गया।

फकीर हो कर गुलाम कादर जीलानी फिरके मे दीक्षित हुआ। फकीरी में इन्होने घोर तपस्या का मार्ग अपनाया। अल्पाहार की साधना मे अपना दैनिक आहार केवल ११ तोले भर अनाज तक घटा लिया था। लोगो मे इनके नाम के साथ अनेक सिद्धियां जुडी हुई हैं। किन्तु ये करामात दिखाना पसद नही करते थे। इनके प्रभाव में आकर बहुत लोगों ने इसलाम ग्रहण किया था तो भी यह गैरमुसलिमो को किसी प्रकार हेय या सकीर्ण दृष्टि से नही देखते थे। इन्होने दो बार हज यात्रा की थी।

इन की रचना का कोई ग्रन्थ विशेष देखने में नही आया, न कोई अच्छा सग्रह ही मिलता है। जहां तहां लोगो के घरो में मिलने वाले फुटकर सकलनो मे इन के रचे छन्द भी मिल जाते है। इनके छन्दो को लोग चौपाइयां कहते है किन्तु छन्द की दृष्टि से उन्हें किसी प्रकार भी चौपाई छन्द मे नही गिना जा सकता।

शेख मूसा, शेख नसीरुल्हनक आदि इस परम्परा की अन्तिम कडियां कही जा सकती है। इनके बाद सूफी कवियो की हिन्दी रचना कट्टरता की मरुभूमि मे खो गई।

३ सतनामी कवि

सूफी कवियो के अतिरिक्त सतनामी कवियो ने भी हिन्दी साहित्य को महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया है। सतनामियो ने १६७२ ई० में औरंगजेब की कट्टरपथी नीति के विरोध में सशस्त्र टक्कर ली थी। रणक्षेत्र मे इनके २,००० वीर खेत रहे थे।

सतनामी विचारधारा में न तो मूर्तिपूजा को स्थान है और न जातिगत भेद-भाव का ही चलन है। सभी सतनामी आपस मे भाई-भाई का सा व्यवहार करते है। सभी एक साथ खान पान कर सकते है और बिना किसी भेद भाव के रिश्ते-नाते बना सकते है। ये लोग सिर पर बाल या चोटी आदि चिह्न नही धारण करते अत इन सामान्य सदस्य भी कहे जाते हैं। जात-पात छोड इनके यहां हिन्दु-मुसलिम का भी कोई अन्तर नही किया जाता।

सतनामी पथ के केन्द्र दिल्ली, रोहतक, नारनौल, फर्रुखाबाद, आगरा और मिर्जापुर मे है। इस पथ के आदि प्रवर्तक बीरभान तथा इनके जगजीवनदास तथा दूलनदास माने जाते है।

इस पथ के प्रवर्तक श्री वीरभान का जन्म नारनौल में विजेसर ग्राम में, सम्वत् १६०० में हुआ था। ये दादू के समकालीन थे और सन्त रैदास की परम्परा में ऊधोदास के शिष्य थे। इसीलिए अपने को ऊधो का दास लिखते थे। इनकी वाणी पथ की धर्म पुस्तक "पोथी" में सग्रहीत है। पौथी को जुमलाधार या चौकी में सिक्खो के गुरु ग्रन्थ साहब के समान ही पूर्ण सत्कार के साथ रखा जाता हैं। चौकी पर से ही इसे पढा जाता है। इस पोथी की अनेक शिक्षाओ में १२ हुक्म प्रधान हैं जिन्हें "आदि उपदेश" की सज्ञा दी जाती है।

वीरभान जी के सहोदर जगजीवनराम भी उत्तम कवि थे। उनकी वाणी भी पोथी में शामिल मानी जाती हैं। इनका नाम कुछ लोग जोगीदास भी बताते हैं।

४ सत कवि

संत कवियो में सबसे प्रसिद्ध सत निश्चल दास हुए है। वे जिला हिसार के कूँगड ग्राम में एक जाट के घर पैदा हुये थे। बचपन में ही इनके मन में लालसा हुई कि वह सस्कृत सीख कर धर्म ग्रथो का अध्ययन करे। किन्तु जाट का बेटा था इसलिए ब्राह्मणो ने इन्हें पढानेसे इनकार कर दिया। बालक रगरूप से अब्राह्मण नही दीखता था अत उसने काशी जाकर अपने को ब्राह्मण का बेटा बता कर सस्कृत की शिक्षा प्राप्त की। और वह भी इस हद तक कि वह स्वयं अभिमान से कह उठा—

साख्य न्याय में श्रम कियो पढि व्याकरण अशेष।
पढे ग्रन्थ अद्वैत के रह्यो न एकौ शेष।
कठिन जो और निबन्ध हैं जिनमें मत के भेद।
श्रम ते अवगाहन कियो निश्चल दास सवेद॥

कहते है कि इनकी बुद्धिमता से प्रसन्न होकर एक ब्राह्मण ने इन्हें अपनी पुत्री का दान करना चाहा परन्तु निश्चल दास ने अपना रहस्य खोल दिया। ब्राह्मण देवता ने नाराज़ होकर शाप दिया कि तुम्हारी दो शादियाँ होगी।

गृहस्थी से कब और किस की प्रेरणा से यह दादू के पथ में प्रविष्ट हुए, इसका सप्रमाण कोई उल्लेख नही मिलता। अपने गाँव में ही रहकर यह वेदान्त का उपदेश देने लगे। बूँदी नरेश रामसिह जी इनसे दीक्षित हुए थे।

इनकी रचनाएँ 'विचार सागर', 'वृत्तिप्रभाकर' तथा 'मुक्ति प्रकाश' है। "विचार सागर" मराठी, बगला तथा अग्रेजी में अनूदित मिलता है। स्वामी विवेकानन्द ने 'विचार सागर' के विपय में कहा था कि 'यह भारत के अन्तर्गत गत तीन शताब्दियो मे लिखे गये किसी भो भाषा के ग्रन्थ से अधिक प्रभावशाली है।'

इनका जन्म १७६० मे तथा निधन १८२० में हुआ बताया जाता है। स्वर्गवास के समय आप किहडोली गाँव मे थे।

रोहतक ज़िले के छुडानी गाँव के साधारण जाट घराने में सम्वत् १७७४, वैशाख सुदी १५, को जन्में गरीबदास भी प्रसिद्ध कवि हुए हैं। उनकी शिक्षा दीक्षा औपचारिक ढग से कभी नही हुई। छोटी अवस्था में गाँव के अन्य समवयस्क बालको के समान यह भी ढोर चराने जाया करते थे। जहाँ कोई साधु सन्त मिलता यह बालक तन-मन से उनकी सेवा

करता था। कहते हैं कि ऐसे ही उमे एक दिन भक्त कबीर ने साक्षात दर्शन दे कर अपना शिष्य बना लिया। अपनी वाणी में गरीबदास कबीर को ही अपना गुरु मानते हैं।

"दास गरीब कबीर का चेरा, सत्तलोक अमरापुर डेरा।"

किन्तु शारीरिक रूप से तो कबीर का मिलन सम्भव नहीं हो सकता था, अवश्य यह भावना का मिलन होगा।

इनका रचना का नाम 'हिबर बोध' है। इसमें २४,००० पद कहे जाते थे किन्तु आज कल ७,००० से अधिक नही मिलते। उपलब्ध वाणी मे साखी, सवैया, रेखता, झूलना, अरिल्ल, बैंत, रमैनी, आरती और अनेक प्रकार के राग है। कबीर की रचना के ढग पर ही गरीबदास की रचना भी बहुमुखी हैं। भाषा के विषय मे भी इनके प्रयोग बहुरूपी है। अरबी फारसी, पजाबी, राजस्थानी बागरू आदि के शब्द उन्मुक्त भाव मे प्रयुक्त हुए है। अध्यात्म-वाद की दृष्टि से भी गरीबदास की वाणी कबीर की वाणी के बहुत निकट आ जाती है। 'सद्गुरु' और 'स्मरण' पर गरीबदास की वाणी में बहुत जोर दिया गया है।

गरीबदास सुखदेव मिश्र के शिष्य चरणदास के समकालीन थे। यह "घर ही माहि उदास" की विचारधारा के पक्षधर थे। इन्होने अपने गाँव ही में घर गृहस्थी का जीवन बिताते हुए अपने सिद्धान्तो का उपदेश दिया था। १८३५ में छुडाणी गाँव मे ही जीवन लीला समाप्त की। इनके जूते, लोटा, कटोरा तथा पलग आदि अभी तक मठ में सुरक्षित है। प्रति वर्ष इनकी स्मृति में मेला लगता है।

ऐसे ही एक सन्त सन्तदास जी के शिष्य सन्त चतुरदास हो गए हैं, जिन्होने अपने गुरु की आज्ञा से श्रीमद् भागवद्गीता के ग्यारहवे अध्याय तथा श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध का भाषानुवाद किया था। यह अनुवाद सम्वत् १६५२ में हुआ था।

५. निर्मला सत कवि

कुरुक्षेत्र निर्मला सन्तो का अच्छा खासा केन्द्र रहा है। इसी जगह पर एक माननीय सन्त मानसिंह थे। इनके शिष्य गुलाबसिंह का इस क्षेत्र के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विकास में पर्याप्त योगदान रहा है।

सन्त गुलाबसिंह का जन्म तो पजाब के सेंगो नाम के गाँव में हुआ था, किन्तु इनका कार्यस्थल कुरुक्षेत्र ही रहा, जहाँ इनके गुरु सन्त मानसिंह जी का निवास था। सन्त गुलाब सिंह की माता का नाम गौरी तथा पिता का नाम गौरीया था यह इनके अपने ग्रन्थों के अन्त-साक्ष्य से सिद्ध होता है। सन्त गुलाब सिंह विद्या अध्ययन के लिए काशी भी गए थे।

इनकी रचनाओं की सख्या २५ के ऊपर कही जाती है, किन्तु अभी तक केवल 'भावरसामृत', 'मोक्षपन्थ प्रकाश', 'प्रबोध चन्द्र', 'स्वप्न अध्यायी', 'रामगीता' तथा 'रामहृदय', ही मिली है। इनकी भाषा प्रौढ तथा रचना प्राञ्जल है।

सन्त आत्मासिंह थानेसर के सन्त रामसिंह जी के शिष्य थे। इनका जन्म कहाँ हुआ था तथा माता-पिता का नाम क्या था, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। निर्मल सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थ में भी इनके बारे में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

केवल इनका रचा एक ग्रन्थ 'वेदान्त प्रश्नोत्तर माला' हमारे निजी संग्रह में है। पूरे ग्रन्थ में कुल २६८ छन्द हैं, जिनमे वेदान्त के विपय मे प्रश्नोत्तर पद्धति से चर्चा की गई है।

सन्त आत्मा सिंह कविता में अपना नाम 'जिन्द मृगेश' और 'जीवमृगेन्द' भी रखते थे।

कुरुक्षेत्र के निकट एक गाँव है ढड्डी। इस गाँव में गुरु तेगवहादुर जी की पुण्य स्मृति में एक रेरुद्वारा है। क्षीर इम गुरुद्वारा के पुजारी थे निर्मला सन्त भाई उज्जवल सिंह। इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं। पहली रचना है 'श्री गुरु नानक नारायण घ्यान' ओर दूसरी का नाम है, 'आत्मा अनात्मा विवेक।' 'श्री गुरु नानक नारायण घ्यान' मौलिक रचना है और सम्वत् १९१० में लिखी गई थी। 'आत्म-अनात्म-विवेक' संस्कृत से अनुवाद की गई है और १९११ में अनूदित हुई थी।

६ दरवारी कवि

हरियाणा में कुछ दरवारी कवि भी हुए हैं। उनमे सव से पहले कैथल वासी राजा जुगल किशोर भट्ट का नाम आता है। यह दिल्ली के वादशाह मुहम्मद शाह रगीले के वडे मुसाहवो में से थे। वादशाह ने इन्हे राजा की उपाधि से विभूपित किया था तथा काफी जागीर भी दी थी। इनके अपने कथनानुसार इनकी सभा में चार कवि-जन रहा करते थे। अपने आश्रित कवियो के नाम राजा जुगलकिशोर ने इस प्रकार गिनाए हैं।

१ रुद्रमणि ३ सुखलाल ३ सन्तजीव और ४ गुमान कवि।

इनका रचा अभी तक केवल एक ग्रन्थ 'अलकार निधि' मिला है। इस ग्रन्थ की रचना १८०५ में हुई थी।

इस ग्रन्थ में ९६ अलकार उदाहरण समेत वर्णन किए गए हैं। कवि ने अपने वश के विपय मे भी सूचना दी है

ब्रह्म भट्ट ही जाती को निपट अधीन नदान।
राजा पद मो को दियो महमद शाह सुजान ।१।
कैंथल जन्म स्थान है दिल्ली है सुखवास।
जा में विविध प्रकार हैं रस को अधिक विलास।५।

वावल नगर के कवि मुकुन्ददास महाराजा कर्मसिंह पटियाला नरेश के आश्रित थे। इनका रचा एक ग्रन्थ 'रम शिरोमणि' अथवा 'रसिक शिरोमणि' तथा दूसरा 'सर्व सग्रह' मिला है। इसमें से 'रम शिरोमणि' ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने अपना परिचय दिया है—

आदि गौड द्विज वंस में मुद्गिल गोत सुजान।
कवि मुकद इहि नाम निज वावल नगर सुथान।२१।

ग्रन्थ की रचना राजा कर्म सिंह के आदेश पर १८४९ वि० में हुई थी।

कैथल नगर में ही महाकवि भाई सतोपसिंह रहते थे। उन्होने एक लाख से भी अधिक छंद रचे है। यह कैथल अधिपति राजा उदयसिंह के आश्रित थे। और यही इन्हे तीन गांव, जागीर में, राजा ने दिये थे। यह जागीर उनके स्वर्गवास तक रही। कवि

सतोपसिंह का जन्म १७८८ सम्वत् में अमृतसर के निकट एक गाँव 'सराए नूर दीन' में हुआ था। इनके पिता का नाम देवासिंह तथा माता का नाम राजो था।

सम्वत् १८२१ मे आपने 'अमर कोप' का भाषा-अनुवाद प्रस्तुत किया और १८२३ में 'नानक प्रकाश' की रचना कर ली। 'नानक प्रकाश' शीघ्र ही लोक-प्रिय हो गया था। इनके काव्य गुण तथा पाण्डित्य की चर्चा सुन पटियाला के काव्य-मर्मी राजा कर्मसिंह उन्हें सादर अपने यहाँ लिवा ले गए। किन्तु पटियाला का वातावरण इन्हें बहुत देर बाँध नही पाया। पटियाला मे रह कर इन्होंने 'आतमपुराण' का भाषानुवाद किया था।

सम्वत् १८२१ में कैंथल नरेश राजा उदयसिंह महाराजा पटियाला से मिलने आए तो जाते समय कवि सतोपसिंह जो भी साथ लिवा ले गए। कैंथल मे कवि का मन रग गया फिर वह जीवन पर्यन्त वहाँ से उठ कर कही और नही गये।

इन्होने १८२९ में 'जपुजी' पर 'गर्वगजनी' नाम से टीका १८३१-३३ मे 'वाल्मीकीय रामायण' का भाषानुवाद तथा १८०५ मे अपनी महान् कृति 'गुरु प्रताप सूर्य' की रचना की। 'गुरु प्रताप सूर्य' समाप्त होने के थोडे ही समय पीछे आप की इहलोक लीला भी समाप्त हो गई।

लाडवा भी मैणद्वाव की एक छोटी सी रियासत थी। इन रियासतो को अंग्रेजी अमलदारी ने अधिकार च्युत कर दिया था और यह मामूली जागीरदार मात्र रह गए थे। यहाँ के एक रईस थे टीका निहाल सिंह जी। इनके आश्रय में रह कर कवि बठासिंह, तथा कवि उज्ज्वल सिंह ने 'राम कथा' तथा 'कृष्ण चरित्र' आदि स्वागो की रचना की। स्वागो की यह रचना रासमडी वालो के स्वागो के अनुकरण पर हुई है। स्वाग के ढाँचे में लोक-गीतकारो की रचना रीति सफल हो सकती है, यहाँ उत्कृष्ट साहित्यिक भाषा और रचना शैली के लिए गुजायश नही। अत रचनाओ का स्तर साधारण ही कहा जा सकेगा, फिर भी कलात्मक गुण से सर्वथा शून्य नही। राम कथा पर तो स्वाग रचना का यह इस क्षेत्र में पहला ही प्रयास देखने मे आया है। कवि बगासिंह अपना काव्य उपनाम 'सफेद केहरी' रखते है। और कवि उज्ज्वल सिंह की काव्य छाप कवि 'श्री हरि' है। कवि उज्ज्वल सिंह ने अपने गुरु का नाम सन्त वीरसिंह लिखा है। कवि बगासिंह राम कथा का स्वाग रचने वाले है और कवि उज्ज्वलसिंह ने दो स्वाग रचे है एक कृष्ण कथा परक है तो दूसरा 'ज्ञान गुटका' नाम से वेदान्त पर आधारित है। इन रचनाओ का रचना सवत् १८८९ बताया जाता है। अपनी किस्म की एक मात्र रचनाएँ होने से राम कथा तथा ज्ञान गुटका का एक विशिष्ट स्थान है। इन रचनाओं का अध्ययन लोक-काव्य तथा नागरिक-काव्य के बीच का अन्तर समझने समझाने में बहुत सहायक हो सकता है।

दादरी के अभ्युदयाल जींद दरबार मे आश्रित थे। यह जाति के गौ[illegible], [illegible] थे और महाराजा रघुबीर सिंह जींद-पति के साथ शतरंज खेलने पर नियुक्त थे। इन्हें कविता करने का भी चसका था और नासिका में भी प्रेम था [illegible] यह [illegible] में [illegible] रखा करते थे। इन्होंने १९५९ सम्वत् मे [illegible] की रचना की थी। इन्होंने [illegible] ने [illegible] नाम यह [illegible] लिखे हैं, [illegible]

रूप में बाँचा भी था। यह कवि के लोकप्रिय होने की दलील है। ग्रन्थ एक बार लीथो पर सं० १९६७ में दिल्ली में छपा भी था। हमने इसकी छपी हुई प्रति ही संगरूर डिस्ट्रिक्ट लायब्रेरी में देखी थी। छपाई अच्छी नहीं हो सकी अतः आरम्भ के दो तीन पद पढ़े ही नहीं जाते।

दादरी के ही कवि मनमोहन इन्हीं राजा रणवीरसिंह के आश्रित थे। वस्तुतः मनमोहन जी सितारिया थे और महाराज को सितार सिखाने पर नियुक्त थे। समय-समय पर कभी-कभी छन्द रचना भी कर लेते थे। इनका रचा केवल एक ग्रन्थ बताया गया है। रचना का नाम 'रणवीर प्रकाश' है और इसमें महाराजा के यश के ही छन्द हैं, कुछेक स्फुट छन्द भी हैं।

७ कुछ अन्य कवि

महाकवि तुलसीदास जी के शिष्य कवि आनन्द राय लोक-विद्या पर लिखने वाले हरियाणवी हिन्दी कवियों में अग्रणी थे। उनके रचे 'कोक-मंजरी' तथा 'आसन-मंजरी' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। इन्द्रजाल तथा सामुद्रिक शास्त्र पर भी आपने 'वचन-विनोद' नाम का एक ग्रंथ रचा था। एक ग्रन्थ आपका काव्य दूषणादि के विषय में भी मिलता है।

अपने विषय की इन्हें पर्याप्त जानकारी थी। अपनी रचना 'कोक-मंजरी' में इन्होंने लिखा है

"कायथ कुल आनन्द कवि वासी कोट हिसार।
कोक कला इति रुचि करन जिन यह कियो विचार।"

और अपने ग्रन्थ "वचन-विनोद" में आपने गुरु के विषय में सूचना दी है —

"नमो कमल दल जमल पग श्री तुलसी गुरु नाम।
प्रगट जगत जानत सकल जहं तुलसी तह राम ॥२॥"

इस उद्धरण को देख कर कोई सन्देह नहीं रह जाता कि कवि आनन्दराम के गुरु रामचरित मानस के रचयिता तुलसी ही थे कोई अन्य तुलसी दास नहीं।

कोकमंजरी ग्रन्थ में रचना सम्वत् का उल्लेख करते समय लिखा है —

"ऋतु बसन्त सम्वत् सरस सोरह सौ अरु साठ
'कोक मंजरी' यह करी धर्म कर्म कर पाठ ॥

'कोक मंजरी' की रचना कवि के प्रकाशित सम्वत् उल्लेख के अनुसार १६६० में थी। हुई 'वचन विनोद' का प्रतिलिपिकाल १६७९ है और शिव सिंह सेंगर ने इन्हें १७११ में उपस्थित कहा है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि कोकमंजरी कवि आनन्द राय की युवावस्था की रचना है। कवि का जीवन वृत्त ज्ञात नहीं। कोकमंजरी की रचना के समय यदि उनकी आयु के बीस पच्चीस साल हुए हों तो उनका जन्म १६३५-४० के लगभग माना जा सकता है। और अगर वे १७१५ तक भी जीवित रहे मान लिए जाएँ तो उनकी आयु ८० वर्ष के करीब बैठती है, जो अनुचित नहीं।

घरौंडा के कवि हृदय राम मिश्र, कवि भानु दत्त कृत 'रस तरंगिणी' के भाषानुवाद के लिए विख्यात हैं। 'सुदामा चरित्र' तथा 'धर्म समाज' नाम की इनकी दो रचनाएँ और कहीं

जाती हैं। 'रस तरगिणी' के इनके द्वारा किये गए अनुवाद का नाम ग्रन्थ में ही 'रस रत्नाकर' भी लिखा है। इस ग्रन्थ का रचना काल १७३१ वि० वताया गया है। 'रस रत्नाकर' के आरम्भ में ही कवि ने अपना परिचय दिया है —

गौड दस ते आने के वसे सवै कुरुखेत,
विप्र गौड हरियानिया कहै जगत इह हेत ॥

'रस रत्नाकर' की रचना कवि के कथनानुसार कृष्णदत्त के पठनार्थ हुई थी —

"भानुदत्त कृत सस्कृत रस तरगिनी भाई,
कृष्ण दास के पढन को पोथी करी वनाई" ॥६०॥

यह कृष्ण सम्भवत इनके पुत्र थे अन्यथा कोई प्रिय शिष्य। इन कृष्णदास का एक ग्रन्थ 'भागवत दशम स्कन्ध' भापा में मिलता है, जिसकी एक प्रति का लिपी काल १८२३ वि० दिया हुआ है।

विनोद में जिला हिसार के एक मावोदास कायस्थ नागौरी का उल्लेख मिलता है। माधोदास का कविता काल १८३७ वि० अनुमानित है। इनके पाँच ग्रन्थ, १-करुणावतीसी, २-नारायण लीला, ३-दविलीला, ४-अवतारगीता तथा ५-मुहूर्त चितामणि नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा की गई हिन्दी हस्त लिखित ग्रन्थो की खोज मे मिले हैं। इनका अधिक वृत्त कही नही मिला।

गार्सिन दि तास्सी ने १८६७ मे वर्त्तमान एक कवि हरि वखश मुशी का भी उल्लेख किया है। १८६७ से इनका रचा एक 'भक्तमाल' ग्रन्थ सोहना--गुडगाव, के एक छापाखाना में छप रहा था। जिस में मेरठ के 'अखवारे आलम' के मुताविक ९०० पृष्ठ होने की सम्भावना थी।

सम्वत् १८७६ मे कुरुक्षेत्र के कवि धर्मसिह ने 'द्वादशस्कन्ध' भापा की रचना की। इनकी और रचना 'कथा राजे भरथरी की' भी मिलती है। दूसरी रचना का रचना काल नही दिया हुआ। पिछले दिनो कवि धर्मसिह रचित एक वृहद्-ग्रन्थ सिख इतिहास के विषय में आगरा की कन्हैया लाल माणिक लाल मुशी इस्टीट्यूट के सग्रह मे भी देखा गया था।

'द्वादश स्कन्ध' भापा ग्रन्थ मे कवि ने राजा गोपी चन्द के योगी होने का वृत्तान्त पौराणिक ढग मे कहा है। इसी ग्रन्थ में कवि ने कुछ सूचना अपने विषय में भी दी है —

"सत्य तनय मृगराज तनुज नाहर सिंह जानो,
कुरुक्षेत्तर में वास जानि रघुवसी मानो ॥१२०॥"

सम्वत् १९२४ में कुरुक्षेत्रवासी कवि राम सिह ने 'लघु रामायण' नाम से सक्षिप्त राम चरित्र की रचना की थी।

पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा सम्पादित "ए सर्च रिपोर्ट फार हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स

आगे चलकर साहित्य में लोक-तत्त्व के माध्यम और उसकी विशिष्टता की ओर सकेत करते हुए आचार्य द्विवेदी की यह धारणा है कि (१) ऐहिकतापरक फुटकर पद्य और (२) लोक-प्रचलित कहानियो के गीतरूप, ये दो प्रकार की रचनाएँ विश्व के समस्त लोक-साहित्य में मिलती है। जाति की सस्कृति और धर्ममत के अनुसार इनके ऊपरी आकार-प्रकार में विशेष महत्त्वपूर्ण वात यह है कि इसमें आमुष्मिकता की चिन्ता वहुत कम थी।[1]

यद्यपि लोक-प्रचलित कथाओ के गीतरूप का सग्रह वहुत कम और वह भी पर्याप्त परिवर्तित रूप में प्राप्त है तथापि उनमें भारतीय लोक-कथानको की एक यह स्थायी विशेषता दृष्टिगोचर होती है कि वे सदा किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को आश्रय वनाकर रचित होते हैं, परन्तु ऐतिहासिक घटना-परम्परा का उनमें नितान्त अभाव रहता है। इस कथन की सगत व्याख्या में यही कथनीय प्रतीत होता है कि भारतीय मस्तिष्क की प्रधान विशेपता है उसकी कल्पनाशीलता, जो कि लोक-कथाओ एवं साहित्यिक कथाओ का अविस्मृत अग है। उदाहरणत उस युग के प्रख्यात काव्यो—पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, पद्मावत आदि में वहुत सी लोक-प्रचलित गाथाएँ भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक व्यक्तियो के साथ सयुक्त कर दी गई हैं। अकेले पद्मावत के साक्ष्य पर यह विदित होता है कि उस युग में सपनावती, मुगधावती, मिरगावती, मधुमालती, प्रेमावती, उपा-अनिरूद्ध आदि की कथाएँ लिखित अथवा मौखिक किसी-न-किसी रूप में लोगो में प्रचलित थी।[2] और इन लोक-कथाओ के द्वारा लोगो का मनोरजन होता था। यह क्षेत्र पूर्णत जनसाधारण का था जहाँ धर्म का हस्तक्षेप न्यूनातिन्यून होता है और जो अपभ्रश साहित्य की पश्चिमी परम्परा से लगभग चौदहवी-पन्द्रहवी शतियो तक तथा कई शताब्दियो वात तक प्रत्यक्षत ग्रामो की वैठको में कथानक और गान रूप से चलता आ रहा था। पौराणिक धर्म ने इन लोककथानको का प्रवाह किंचित् मंद करने की चेष्टा की थी और यह उपेक्षित भी होने लगा था (किन्तु सूफी साधको ने पुन पौराणिक कथानको के स्थान पर इन लोक-प्रचलित कथानको का आश्रय लेकर अपने धर्म-प्रचार के कार्य को नवीन मोड प्रदान किया। और तव से लेकर आज तक इन लोक-कथानको में अनेक प्रकार के परिवर्धन-संशोधन अनेक कारणो से होते आ रहे हैं किन्तु इनकी सातत्यता लोक और साहित्य मे मात्रा-काल-भेदानुसार निरन्तर अखड गति से वर्तमान रहती आई है।

लोक-कथाओ के मूल मे शिल्प की दृष्टि से दो तत्त्व सवसे अधिक मौलिक और मुख्य माने जा सकते हैं। इनमें (१) वस्तु तथा (२) कथन का ढग। वस्तु के अनुसार पात्र खोजे जाते हैं और वातावरण पैदा किया जाता है। कथन-शैली हमें सवादो तथा वर्णनो में से ले जाकर कथन-फल की उपलव्धि कराती है। प्रत्येक लोक-कहानी फलमूला होती है और कथक हमें अपने व्यक्तित्व तथा वर्णन के चक्र में डाल कर फलागम तक ले जाता है। अग्रेजी ढर्रे पर लिखी गई आज की कहानियो मे इसे उद्देश्य कहते हैं।

वस्तु अथवा कथा-पट की रचना मे कथक लोक-जीवन की जानीमानी अनुभूतियो तथा घटना-शृखलाओ का आश्रय लोक-रुचि तथा विश्वास उत्पन्न करने के लिए लेता है।

---

१ वही, वही पृष्ठ।

२ स० वासुदेवशरण अग्रवाल, कडवक २३३

दूसरी ओर उसे अपनी कहानी में कुछ विचित्र रग भी भरने पडते है जिससे कि वह आकर्षण तथा कुतूहल का भ्रम अथवा रहस्य श्रोताओ के भीतर बुन सके। जीवन से ऊबे हुए प्राणियो को कल्पना के मनोरम क्षणो में जीना बहुत सरस तथा मधुर लगता है। अत भारतीय लोक-कथा की भूमि मे दो सामान्य तत्त्व सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं, एक लौकिक जीवन मे सम्बद्ध तथा दूसरा अलौकिक विश्वासो एवं धारणाओ पर आधारित। यही कारण है कि भारत विदेशियों के लिए रहस्य, जादू तथा रोमास की भूमि रहता आया है क्योकि यहाँ की लोक-कथाओ मे विचित्र-तत्त्व का दैनिक जीवन के परिधि-तत्त्व के साथ अनोखा सयोग प्राप्य है। यहाँ की परियाँ भी अपने सौदर्य, शरीर तथा काम-मानस की दृष्टि से मानवी जादूगरनियाँ दिखाई देती है। भारत तथा ईरान की लोक-वार्ताओ मे अयथार्थ का धुँधलापन सा है। अफ्रीका की जन्तु-कथाओ तथा ग्रिम-कहानियो की भाँति इनमें भी पशु-पक्षी मनुष्यो की तरह बोलते है। खास खास कहानियो में जादुई चमत्कारो का वर्णन पाया जाता है। इनमें दानव, परी तथा नागरानियो जैसे पात्र मिलते हैं। जीव तथा वस्तुए कभी लघु रूप तो कभी वृहद् रूप धारण करती है। हवा में उडना, रूप-परिवर्तन, अदृश्य होना आदि घटनायें द्रुत गति से निरन्तर घटती रहती हैं। इन तत्त्वो की पृष्ठभूमि मे पुराणो की धर्मगाथाओ, प्राचीन विश्वासो के अवशेषो तथा स्थानीय देवताओ और आस्थाओं के मूल है। कुछ विद्वानो के मत मे पारलौकिक भावनाएँ भी इन कथा-भूमियो में कार्यशील रही हैं। किन्तु जहाँ दानव तथा मनुष्य साथ-साथ रहें, जहाँ वस्तुओ के रूप बदलें मनुष्य जल पर चले, वहाँ पारलौकिक तत्त्व शून्य ही दिखाई देता है। पात्रो का अन्तर्धान, विषद्वारा प्रदत्त आरोग्य, प्राकृतिक नियमो की प्रतिकूलता, आग की ठडक, मुर्दो का सजीवन जादू के घात-प्रतिघात इन कथाओ मे पदे पदे सुलभ हो जाते हैं।[1] यहाँ तक कि एक कहानी में गाय का गोबर भी सोने का बताया गया है।

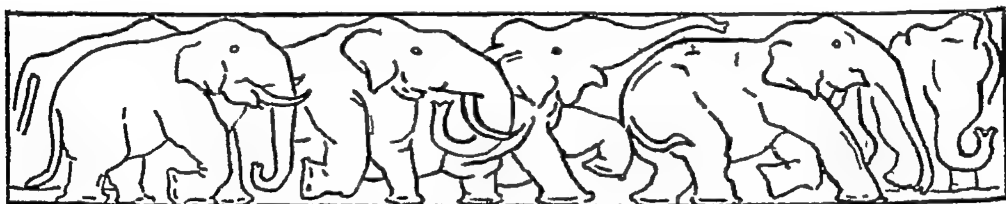
लौकिक-तत्त्व को व्यक्त करने वाले उपकरणो में दूध-दही की चर्चा, सोने तथा रत्नाभरणों, किसान-व्यापारीवर्ग, सराय-धर्मशाला, जल-सकट, अकाल, राजाओ के ऐश्वर्य प्रजा की पीडा, सौतेली माताओ के दुर्व्यहार, रमते जोगियो के तपोबल, चोर-सिपाहियो की आँख मिचौनी, तीर्थ स्नान, यात्रा, सामुद्रिक जहाज, विमान, पद्मिनी नारी आदि वस्तुओ, व्यक्तियो तथा संस्थाओ का पुन पुन दिग्दर्शन होता रहता है। इन कहानी-सूत्रो में हमें अधर्म की जीत तथा धर्म की हार भी कई बार देखनी पडती है और वह भी हृदय कडा करके। साधारण कन्याओ का विवाह राजकुलो में हो जाता है। रक को सिंहासन पर आसीन तथा मूर्खो को सम्पत्ति में लोट-पोट होते देख हम भाग्य के विधान पर मुग्ध से हो जाते हैं। इन परिचित तत्त्वो के सूत्र भारोपीय संस्कृति की सामान्य धारा के अतीत में भी खोजे जा सकते हैं।

हरियाणा की कथाओ के मुख्य वृत्त विवाह तथा प्रेम की समस्याओ से उत्पन्न होते हैं। विवाह को लोग वरदान समझते थे तथा सौंदर्य की खोज में नागलोक, अप्सरालोक तथा भूलोक का कोना-कोना छान डालते थे। सवर्ण विवाह प्रचलित थे। रूप-गुण तथा धनसम्पन्न

१ स्टैंडर्ड डिक्शनरी ऑव् फोक लोर, माइथोलोजी एण्ड लीजैन्ड, जिल्द एक, ए–I, १९४९, न्यूयार्क E पृष्ठ—५१६–१७।

इन पजाव" मे नारनौल के एक कवि रामदत्त का उल्लेख है जिसने श्री कृष्ण के भक्ति-भाव के पद रचे थे। गुलेरी जी ने ही नारनौल के एक दूसरे कवि श्रीधर का भी पता दिया है जो जाति का गौड ब्राह्मण था और वैद्य-शास्त्री वताया गया है। कवि श्रीधर ने सम्वत् १९७७ में एक छन्दो-वद्ध नाटक 'दया कुमार' की रचना की थी।

ऊपर हरियाणा निवासी पचास से ऊपर कवियो का सक्षिप्त-सा परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह अपनो किस्म का सम्भवत प्रथम प्रयास है। इस सूची मे केवल उन ही कवियो का नामोल्लेख किया गया है जिनके वारे मे अन्त साक्ष्य से या वहिर्साक्ष्य से यह सिद्ध है कि वे हरियाणा के थे। इनके अतिरिक्त शताधिक कवि ऐसे रहे हैं जिनके वारे मे पर्याप्त गुजायश है कि उनको हरियाणवी माना जा सके किन्तु स्पष्ट साक्षी न होने से इस सूची मे उन्हें शामिल नही किया जा सका।



हरियाणा लोक-कथा : शिल्प और संस्कृति

भीमसिंह मलिक

यद्यपि लोक–कहानियो की सृष्टि लोकमानस की अद्भुत देन है तथापि हम लोकमानस पर होने वाली प्रभाव–प्रतिक्रिया तथा लोक परम्परा के माध्यम से समुत्पन्न उन तत्वो तक पहुच सके है जो लोककथाओ का धूप-छाँह का निर्माण करने में सहायक रहते आये हैं। लोक-कहानी तथा लिखित कहानी में पहला अन्तर तो यही है कि एक लोकमुख की उपज है तो दूसरी लेखनी-मुख की। एक सजीव अग से उद्भूत हैं तो दूसरी जड धातु से। लोक-कथा में कथक जीवित प्राणी है तो साहित्यिक कहानी का लेखक दूर तथा पाठक से अपरिचित रहता है। लोक कहानी में से ही साहित्यिक कहानी पैदा हुई है, अत लोक-कहानी का प्रभाव साहित्यिक कहानी पर भी देखा जाता है। बृहत्कथा से लेकर जातक तथा जैन-कथाओं की लिखित सामग्री का आधार लोक-परम्परा है तथा इस रूप मे समस्त भारतीय कथा-साहित्य लोक-कथाओ से प्रभावित एव सम्पुष्ट होता रहा है।

प्राकृत तथा पश्चिमी अपभ्रश भाषाओं के साहित्य मे लोक-जीवन के स्वतन्त्र छिटपुट प्रसगो तथा लोक-प्रचलित कथानको का उल्लेखप्रचुर मात्रा मे है। इस सदर्भ मे आचार्य द्विवेदी की यह सम्मति भी विचारणीय है कि "हाल की सतसई मे जीवन की छोटी-मोटी घटनाओ के साथ एक ऐसा निकट सम्बन्ध पाया जाता है जो ईसा के पूर्ववर्ती सस्कृत-साहित्य मे बहुत कम मिलता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियो की रसमयी क्रीडाएं और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रथ में अतिशय जीवित रूप मे प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनो की प्रेमगाथाए, ग्राम-वधूटियो की शृगार–चेष्टाए, चक्की पीसती हुई या पौधो को सींचती हुई सुन्दरियो के मर्मस्पर्शी चित्रण, विभिन्न ऋतुओ का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है।"[1]

पडितो ने प्राकृत और सस्कृत की इन ऐहिकता-परक रचनाओ का कारण आभीर जाति के ससर्ग को माना है और आभीर जाति ग्रामों के स्वाभाविक वातावरण मे निवास करती थी। वे नगरो की शिष्टता से दूर रहकर गोपालन के व्यवसाय में निरत थे। नगरो की सख्या तत्कालीन स्थिति मे सर्वथा नगण्य थी और वह लोक-जीवन पर अपनी छाप अकित करने में भी पूर्णत असमर्थ थी। अत ये फुटकर कविताएं, अहीरो की प्रेमकथाएं और उनके गृहचरित्र लोक-साहित्य मे अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे और इनकी सरसता पडितो से छिपी नही रही।"[2]

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १२१।

१. वही, पृष्ठ १२२।

आगे चलकर साहित्य में लोक-तत्त्व के माध्यम और उसकी विशिष्टता की ओर सकेत करते हुए आचार्य द्विवेदी की यह धारणा है कि (१) ऐहिकतापरक फुटकर पद्य और (२) लोक-प्रचलित कहानियो के गीतरूप, ये दो प्रकार की रचनाएँ विश्व के समस्त लोक-साहित्य में मिलती हैं। जाति की सस्कृति और धर्ममत के अनुसार इनके ऊपरी आकार-प्रकार मे विशेप महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें आमुष्मिकता की चिन्ता बहुत कम थी।[1]

यद्यपि लोक-प्रचलित कथाओ के गीतरूप का सग्रह बहुत कम और वह भी पर्याप्त परिवर्तित रूप में प्राप्त है तथापि उनमें भारतीय लोक-कथानको की एक यह स्थायी विशेषता दृष्टिगोचर होती है कि वे सदा किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को आश्रय बनाकर रचित होते हैं, परन्तु ऐतिहासिक घटना-परम्परा का उनमें नितान्त अभाव रहता है। इस कथन की सगत व्याख्या में यही कथनीय प्रतीत होता है कि भारतीय मस्तिष्क की प्रधान विशेषता है उसकी कल्पनाशीलता, जो कि लोक-कथाओ एव साहित्यिक कथाओ का अविस्मृत अग है। उदाहरणत उस युग के प्रख्यात काव्यो—पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, पद्मावत आदि में बहुत सी लोक-प्रचलित गाथाएँ भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक व्यक्तियो के साथ संयुक्त कर दी गई है। अकेले पद्मावत के साक्ष्य पर यह विदित होता है कि उस युग में सपनावती, मुगधावती, मिरगावती, मधुमालती, प्रेमावती, उषा-अनिरूद्ध आदि की कथाएँ लिखित अथवा मौखिक किसी-न-किसी रूप में लोगो में प्रचलित थी।[2] और इन लोक-कथाओ के द्वारा लोगो का मनोरजन होता था। यह क्षेत्र पूर्णत जनसाधारण का था जहाँ धर्म का हस्तक्षेप न्यूनातिन्यून होता है और जो अपभ्रश साहित्य की पश्चिमी परम्परा से लगभग चौदहवी-पन्द्रहवी शतियो तक तथा कई शताब्दियो बाद तक प्रत्यक्षत ग्रामो की बैठको में कथानक और गान रूप से चलता आ रहा था। पौराणिक धर्म ने इन लोककथानको का प्रवाह किंचित् मंद करने की चेष्टा की थी और यह उपेक्षित भी होने लगा था (किन्तु सूफी साधको ने पुन पौराणिक कथानको के स्थान पर इन लोक-प्रचलित कथानको का आश्रय लेकर अपने धर्म-प्रचार के कार्य को नवीन मोड प्रदान किया। और तब से लेकर आज तक इन लोक-कथानको में अनेक प्रकार के परिवर्धन-संशोधन अनेक कारणो से होते आ रहे है किन्तु इनकी सातत्यता लोक और साहित्य में मात्रा-काल-भेदानुसार निरन्तर अखड गति से वर्तमान रहती आई है।

लोक-कथाओ के मूल में शिल्प की दृष्टि से दो तत्त्व सबसे अधिक मौलिक और मुख्य माने जा सकते हैं। इनमें (१) वस्तु तथा (२) कथन का ढग। वस्तु के अनुसार पात्र खोजे जाते हैं और वातावरण पैदा किया जाता है। कथन-शैली हमें सवादो तथा वर्णनो में से ले जाकर कथन-फल की उपलब्धि कराती है। प्रत्येक लोक-कहानी फलमूला होती है और कथक हमें अपने व्यक्तित्व तथा वर्णन के चक्र में डाल कर फलागम तक ले जाता है। अग्रेजी ढर्रे पर लिखी गई आज की कहानियो में इसे उद्देश्य कहते हैं।

वस्तु अथवा कथा-पट की रचना मे कथक लोक-जीवन की जानीमानी अनुभूतियो तथा घटना-शृखलाओ का आश्रय लोक-रुचि तथा विश्वास उत्पन्न करने के लिए लेता है।

---

१ वही, वही पृष्ठ।

२ स० वासुदेवशरण अग्रवाल, कडवक २३३

दूसरी ओर उसे अपनी कहानी में कुछ विचित्र रग भी भरने पडते हैं जिससे कि वह आकर्षण तथा कुतूहल का भ्रम अथवा रहस्य श्रोताओ के भीतर बुन सके। जीवन से ऊबे हुए प्राणियो को कल्पना के मनोरम क्षणो मे जीना बहुत सरस तथा मधुर लगता है। अत भारतीय लोक-कथा की भूमि में दो सामान्य तत्त्व सर्वत्र दृष्टिगोचर होते है, एक लौकिक जीवन से सम्बद्ध तथा दूसरा अलौकिक विश्वासो एव धारणाओ पर आधारित। यही कारण है कि भारत विदेशियो के लिए रहस्य, जादू तथा रोमास की भूमि रहता आया है क्योकि यहाँ की लोक-कथाओ में विचित्र-तत्त्व का दैनिक जीवन के परिधि-तत्त्व के साथ अनोखा सयोग प्राप्य है। यहाँ की परियाँ भी अपने सौंदर्य, शरीर तथा काम-मानस की दृष्टि से मानवी जादूगरनियाँ दिखाई देती है। भारत तथा ईरान की लोक-वार्ताओ मे अयथार्थ का धुँधलापन सा है। अफ्रीका की जन्तु-कथाओ तथा ग्रिम-कहानियो की भाँति इनमे भी पशु-पक्षी मनुष्यो की तरह बोलते है। खास-खास कहानियो में जादुई चमत्कारो का वर्णन पाया जाता है। इनमे दानव, परी तथा नागरानियो जैसे पात्र मिलते हैं। जीव तथा वस्तुए कभी लघु रूप तो कभी वृहद् रूप धारण करती है। हवा में उडना, रूप-परिवर्तन, अदृश्य होना आदि घटनायें द्रुत गति से निरन्तर घटती रहती है। इन तत्त्वो की पृष्ठभूमि मे पुराणो की धर्मगाथाओ, प्राचीन विश्वासो के अवशेषो तथा स्थानीय देवताओ और आस्थाओ के मूल है। कुछ विद्वानो के मत मे पारलौकिक भावनाएँ भी इन कथा-भूमियो में कार्यशील रही है। किन्तु जहाँ दानव तथा मनुष्य साथ-साथ रहें, जहाँ वस्तुओ के रूप बदलें मनुष्य जल पर चलें, वहाँ पारलौकिक तत्त्व शून्य ही दिखाई देता है। पात्रो का अन्तर्धान, विपद्वारा प्रदत्त आरोग्य, प्राकृतिक नियमो की प्रति-कूलता, आग की ठंडक, मुर्दों का सजीवन जादू के घात-प्रतिघात इन कथाओ मे पदे पदे सुलभ हो जाते हैं।[1] यहाँ तक कि एक कहानी में गाय का गोबर भी सोने का बताया गया है।

लौकिक-तत्त्व को व्यक्त करने वाले उपकरणो मे दूध-दही की चर्चा, सोने तथा रत्नाभरणो, किसान-व्यापारीवर्ग, सराय-धर्मशाला, जल-सकट, अकाल, राजाओ के ऐश्वर्य, प्रजा की पीडा, सौतेली माताओ के दुर्व्यहार, रमते जोगियो के तपोबल, चोर-सिपाहियों की आँख मिचौनी, तीर्थ स्नान, यात्रा, सामुद्रिक जहाज, विमान, पद्मिनी नारी आदि वस्तुओं, व्यक्तियो तथा संस्थाओ का पुन पुन दिग्दर्शन होता रहता है। इन कहानी-सूत्रों में हमें अधर्म की जीत तथा धर्म की हार भी कई बार देखनी पडती है और यह भी हृदय कड़ा करके। साधारण कन्याओ का विवाह राजकुलो में हो जाता है। रक को सिंहासन पर आसीन तथा मूर्खों को सम्पत्ति में लोट-पोट होते देख हम भाग्य के विधान पर मुग्ध से हो जाते है। इन परिचित तत्त्वो के सूत्र भारोपीय संस्कृति की सामान्य धारा के अतीत मे भी खोजे जा सकते हैं।

हरियाणा की कथाओ के मुख्य वृत्त विवाह तथा प्रेम की समस्याओ से उत्पन्न होते हैं। विवाह को लोग वरदान समझते थे तथा सौंदर्य की खोज में नागलोक, अप्सलोक तथा भूलोक का कोना-कोना छान डालते थे। सशर्त विवाह प्रचलित थे। रूप-गुण तथा धनसम्पन्न

---

१ स्टैंडर्ड डिक्शनरी ऑव् फोक लोर, माइथोलोजी एण्ड लीजैन्ड, जिल्द एक, ए–I, १९४९, न्यूयार्क E पृष्ठ—५१६–१७।

कुवेर-कन्याएँ और ऐश्वर्यशाली राजकुमार तथा श्रेष्टिपुत्र विवाह से पहले शर्ते लगाते थे।' 'वातग्य नार' में लडके ने शर्तं लगाई है तथा उरबसी अर राजकुमार में गधी की वेटी उर्वशी ने। विवाह सर्वथा व्यक्ति के अधीन नही था। बिरादरी के नियमो द्वारा अनुशासित था। अपहरण की घटनाएँ ऐसी स्थिति में स्वाभाविक हो जाती है। प्रेम की साधना के लिए लोग योगी हो जाते थे। नारी के सतीत्व की परीक्षाए भी घटनाक्रम को कथा-विस्तार की ओर ले जाती हैं। पद्मिनी नारी भी कथाओ को जन्म देती हैं। तोता-मैना परम्परा की समस्त कथाएँ स्त्रियो के अवगुणो तथा पुरुषो के अविश्वास पर आधारित है। सामान्य वैवाहिक सुविधानो के अभाव में सामाजिक जीवन में सशयालुता बढ जाती है। ऐसी कहानियो में अवचेतन मन की गहनता दर्शनीय है।

कुपात्र को दान देने से पैदा हुई घटनाएँ, धर्म-सकट की जीवन-स्थिति, आपसी अविश्वास, युक्ति-कौशल द्वारा कार्य-सिद्धि, भाग्यवाद, धार्मिकता तथा लोक रीतियो का पालन ऐसी दैनिक घटनाएँ है जिन से साधारण रूप में तथा यत्र-तत्र अपवाद रूप में भी कथाए शुरू होती है और बढती जाती हैं। घटनाओं की अधिकता इन कथाओं के रचनाविधान का अटल नियम है। परिस्थितिया तथा पात्र घटना-केन्द्रित हैं। घटनाओ में असंभाव्य का अंश भी सभाव्य की तरह आया है। कल्पना का यहाँ प्रभुत्व है। कपोल-कल्पना इनकी खूबी है। दीन दुखी जब बहुत अधिक तग होते तो कुएँ की कोटी पर सो जाते थे। मृत्यु की घटनाएँ और आत्महत्या की ये चेष्टाएँ भी तो कहानियो को गति प्रदान करती हैं। कभी घटना में से घटनाएँ निकलती हैं तो कभी घटना के ऊपर घटनाओ की श्रृंखला चली चलती हैं।

कहानियो में पात्रो की सख्या भी अधिक है। छोटी से छोटी कहानी में भी तीन से कम पात्र नही मिलते और बडी कहानियो में तो यह सख्या दस से पन्द्रह तक पहुँच जाती है। राजा, रक, धनी-व्यापारी किसान, पुरोहित, देव-दानव, नर-नारी, भटियारिन और जादुगरनी योगी, भोगी-डोम-डोमनी, जल्लाद, सैनिक, मत्री तथा गुरु-शिष्य आदि सभी पात्र कहानियो में अपनी लीलाएँ दिखाते है। बडी कहानियो में नायक-नायिकाओ के साथ खलनायक भी आये है। पशु पक्षी भी मनुष्यो के साथ कार्य में जुटे रहते हैं। हंस तथा शेर के बच्चे भी कृतज्ञता दिखाते है। वे भी मानवी विश्व के प्राणी माने गये है। इन कहानियो मे चरित्र-चित्रण नही के तुल्य हैं। हा, कही-कही प्रधान पात्रो का चरित्राकन थोडा-बहुत अवश्य हो जाता है जैसे 'काणो ब्राह्मण' में ब्राह्मण का तथा 'उरवसी अर राजकवार' में दोनो के चरित्र की हल्की सी झलक मिल जाती हैं। कारण कि इन कहानियो का लक्ष्य समष्टिगत प्रभाव का है, चरित्र की रगरेखा के उभार का नही।

सवाद लोककथाओ मे मिलते तो है पर उनका अश अति न्यून है। महादेव-पार्वती की वार्ता भी कहानियो में सुनी जाती है पर उसमे एकरसता है, विविधता नही है। एकाध स्थान पर सवाद कहानी मे बाधा डालकर नई परिस्थिति को जन्म भी दे देते हैं, यथा, वातड्य नार 'में जब पत्नी ने पति को जूता मारने से रोका तो उसने व्यापार करने की ठानी। 'चिडिया और मूसी' की कहानी में बाल-सुलभ चचलता तथा रोचकता से पूर्ण संवाद मिलते हैं। 'जाड्डा वालू मा' में आदि से अन्त तक दो शेरो का और बाद में शेरो तथा हिरन का

सवाद चलता है। 'सपने मे हनुमान' तथा 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' उक्तिमूलक हास्य-कहानियो में सवाद वडे चुटीले तथा व्यग्यपूर्ण हैं। हास्य-व्यग्य तथा वाल कथाओ के सवाद सजीव तथा सुन्दर हैं।

वातावरण का रग लोक कहानियो की अपूर्व शोभा है। लौकिक तथा अलौकिक वातावरण का ऐसा काट-कम्वल इन मे छाया रहता है कि कहानी से वाहर के विश्व की प्रकाश-रेखाए दिल और दिमाग की खिडकी मे झाक भी क्या लेगी ? जादू का रहस्यमय तथा योग-धूनी का साधनात्मक और चमत्कारपूर्ण वातावरण भी मिलेगा और राजमहलो में द्वेप-विद्रोह तथा शकुलता की अग्नि भी धधकती मिलेगी। अधिकाश कहानियो में ग्रामीण समाज का प्रसार देशकाल के भीतर दिखाई देता है। राजाओं तथा सेठो के भव्य भवनो में भी ग्रामीण रीति-नीति तथा आचार-व्यवहार का क्रम मिलता है। राजकुमार मजदूरो की भाँति कार्य करते है। राजकुमारियाँ महलो की छतो पर केश सुखाती तथा झरोखो से गली में झाँकती हैं और सेठ का लडका तेली के यहाँ छ रोटी पर नौकरी करने लगता है। चौपड-सार का खेल राजभवनो तथा भटियारिन आदि सव के यहाँ चलता था। पडित जी राज-पुरोहित हैं तथा धानक वकरी चराने वाला है और दोनो एक ही मार्ग से क्रमश. अपने अपने स्थान पर जाते है। राजा सुल्तान और निहालदे वन में उसी प्रकार सोते हैं जैसे कि खाती, सुनार और दरजी के पुत्र। ये कहानियाँ कृत्रिम वातावरण तथा अभिजात-चेतना से विल्कुल शून्य हैं। ऊँच नीच का भेदभाव भी इनके अन्तर्गत नही है।

लोक-प्रथाओ के सुस्पष्ट चित्र इन में अकित किये गये हैं। यात्रा तथा यात्रा-विश्राम का दृश्य देखिये

'राह में चालते चालते रुखा की एक वगीची दिखाई दी। आछे गोल-गोल छतरिया के अर खूब ऊँचे-ऊँचे पेड्हे खडे थे। साथै एक कूआ अर धरमशाला। कूँए पै जा कै पाणी सीचा, हाथ धोये अर चूरमें की पोटली खोल कै खाण लाग ग्या। धोरै एक कुत्ता वी पूँछ हिलाता जा जीभ काढ कै राल टपकाता जा। अर तू जाणै वालक वी रोट्टी खाते धोरै आ ए जाया करै।'

वधू के गृह-प्रवेश की झाकी भी कम आकर्षक नही। लोकमर्यादा तया गौरव का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है 'चल्लाक लडका' कहानी में "छोरा वहू नैं गोरै जाल तलै छोड्य, अपणीमा पै भाज्या भाज्या गया अर वोल्या, मा। तेरी वहू गोरै वैठ्यो से, जा कै उसनै लेया। मा नै झट गाल की लुगाइया ताही वहावा दिया, सारी कट्ठी हो कै गीत गान्ती गोरै तै वहू नैं धरा ल्याई। मा की छाती वहू नै देख कै मोल्ली हो ग्यी।'

पर्व वने तथा चौपाल मे वैठे लडके का हुलिया एक ही पंक्ति में स्पष्ट कर दिया गया है

'परस (चौपाल) में मूढा पै वैठ्यो हुक्को पीवण लाग्य रह्यो से।'

सेठानी द्वारा ब्राह्मण ने दान या संकल्प छुडाने का या वर्णन देखिए

'सिठाणी नै हाथ पै हाथ धर लियो, ब्राह्मण नैं उसको मलू मैं पानी गेर्यो अर मतर पढ दियो।'

संवाद प्राय· लोक-कहानियो में कथन-पक्ष को सुदृढ करते है। वस्तुत लोक-कथाओं की शैली सर्वसाधारण के अनुकूल तथा आडम्बरहीन होती है। कथन के उत्साह और अनुभव के साथ शैली में अन्तर अवश्य आ जाता है। अधिकाश कक्षाओ की शैली गद्यात्मक होती हैं। गद्य में भी लय की अनुध्वनि कई स्थानो पर मिल जाती है। सीधे-सीधरे ढग से कहानी कही जाती है। वनावट और अतिरजना यहाँ लेशमात्र भी नही होती। हाँ, अतिशयोक्तिपूर्ण कथन अवश्य उपलब्ध होते हैं।

कुछ कहानियो के मध्य अथवा अन्त में पद्य भी मिलते हैं। गद्य-पद्य मिश्रित शैली से कहानी में चमत्कार सा आ जाता है, जैसे दीपक मे तेल डालने से लौ की चमक वढ जाती है। 'पद्मनी' कहानी में नीति की व्यजना करने वाला दोहा देखिए

गज्जा काणा कोतरा ओछी गरदन होय।
इन च्यारा तैं तव वोलिए जब हाथ में लीत्तर होय॥

'वैय्या अर वान्दर' तथा 'रानी महकावली' की कहानियो में भी चम्पू शैली के दर्शन होते हैं।

मुझे एक कहानी गीत-शैली में भी मिली है। हरियाणा का लोकसाहित्य छानते-छानते मेरा समागम जिस कहानी से हुआ, वह इस प्रकार है किसी महाराजा के दो लडके थे। वे दोनो मृगया के लिये जाया करते। वडा विवाहित तथा छोटा कुमार था। कुमार ने एक दिन मृगया में अपने वडे भाई का वध करके वन में डाल दिया। वह अपनी भाभी को हथियाना चाहता था। राजधानी में लौटने पर भाभी ने अपने पति के विषय पूछा कि वह कहाँ है? देवर ने कहा कि उन्होने वन में धूम मचा रखी है। इससे औरत को सशय हुआ और वह वन में गई। एक लाश को देखकर वोली कि चलो इसे देखते हैं, देवर ने कहा कि ये तो कोई गीदड या कुत्ता मरा पडा हैं। भाभी ने जव देखा तो वही उसके पति का शव था। उसने अपने देवर को वहुत भला-वुरा कहा अन्त में देवर को आत्मग्लानि हो गई। गीति-कथा इस प्रकार है —

'अपने छज्जै पै खडी ए केश सुखाऊँ,
देवर आण्य कै घर वडया मेरे राम।
और दिना देवर दोनो आवते,
आज एकला क्यो आया मेरे राम।
म्हारा वीरा छत्तरधारी वड्डा खिलाडी
वण में धूम मचाई मेरे राम।

× × ×

एक वण चाल्ले दो वण चाल्ले,
तीजे में चील मडराई मेरेराम।

× × ×

कै गादड कै कुत्ता ए मर्या से,
तुम्हनै वास आवेगी मेरे राम।

पल्ला उपाड्य कै देखण लाग्यी
यो मेरी नणदी का वीरा मेरे राम।
अच्छा हो देवर चन्दण कटाई ए,
चिता वनाइये मेरे राम
भस्मी वनाइये फूल ढुवाइये
इस नै गगा में पौहचाइए मेरे राम।
तेरे हो देवर कीडे हो पडियो।
भाई का वसा वसाया उजाडा मेरे राम।
वीरा मार्‌या सितम गुजारिया,
तो वी मेरी ना होई मेरे राम।[1]

कहानी का आदि तया अन्त भी कथा-शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। कई वार तो कहानी दो पात्रो के सवाद द्वारा आरम्भ की जाती है जैसे च्यार ढाल का वेकूप डोम-डोमनी के सवाद से शुरु होती हैं। कभी वात में हुकारा और फौज में नगारा' वाक्य से ही कहानी फूट पडती है। कई वार कथक नाटकीय शैली के द्वारा कथा आरम्भ करने के लिए उत्साहित होता है। अहीर कालेज रिवाडी की पत्रिका में छपी कहानी 'राजा भोज मुसलचद इन पक्तियो से शुरु होती है।

वात की वात, वात की खुराफात,
कीडो का धक्का, मच्छर की लात,
राम वनावे तो वचे नही तो वचने को नही आस।
और एक वैल का सीग साढे सत्तरा हाथ।
अव सुनो हमारी वात।
एक राजा थो, उह को नाम भोज थो।

'महकावली' कहानी के आदि में एक पद्य-प्रस्तावना प्रकृति तथा जीवन के भावाभाव की ओर सकेत करती हुई प्रस्तुत की ओर मुड जाती है,

ससी विन सूनि रैन, ज्ञान विन हृदो सूनो।
घर सूनो विन पूत, पात विन तरुवर सूनो।
गज सूनो विन दत, हस विन सागर सूनो
घटा सूनो सावनी विन चमकै दामिनी
राजा कहे वेताल सुनो भई घर सूनो विन कामनी।

वात मे हुकारा अर फौज में नगारा राजा कै नाल छोरा थे। छ व्याहा था अर एक कुआरा'।[1]———

---

१ नादान हरियाणवी हरियाणा लोकगीत सग्रह, पृ० १२९-१३१, १९६२, दिल्ली।

१ डा० शकर लाल यादव हरियाना प्रदेश का लोक साहित्य, पृ० ३६९, शीर्षक—लोक कथा से उद्धृत।

२ फास्सी टूटण तैं पहल्यम बूझयो ए करैं अक
किसैं तै मिल्लण नै जी करतो हो क कुछ
खाण नैं मन करतो हो तो वता ।
३ मरण तैं डरता नैं उसनैं क्या तैं नीद आवै थी ।
४ सुपना की बाता पै अकीन करैं सैं, आच्छी बावली सैं ।
५ दिन्ना नैं जाती क्ये वार लाग्गैं सैं, वो दिन वी आयो ।
६. चा (चाव) मैं माणस नैं काम करती क्ये वार लाग्गैं सैं ।
७ महादे वोल्या—जाण वी दे, दुनिया सैं,
इस में कोये दुखी सै तै कोये सुखी सैं,
कोये रोवै सै कोये हसैं सै । तू बीर की जात्य,
क्यो टटा मैं पडयो करैं, कह कह को भलो करैंगो ।
८ जित खाण-पीण की चीज हूँ सैं, उत तू जाणैं, मुसटो को पेसगार होए जायो करैं।
९ चहे राज्जा हो चहे परज्जा । भगवान की माया उसकैं आग्गैं क्ये, वस चाल्लै सैं ।

लोक जीवन के स्वरूप की कितनी निष्कपट अभिव्यक्ति इन सूक्तियो मे मिलती हैं "मानव की अन्त प्रकृति के सूक्ष्म कणो को इनमें कमी नही है । लोक-रीति तथा चरित्र की झलकियाँ भी स्वत मुखर हो उठी हैं । लोकसस्कृति का अत्यन्त स्पष्ट रूप लोक-कहानी में अनायास ही छलक उठता है । लोकनीति की शिक्षा का इससे वडा साधन और हो नही सकता । जटिल जीवन की घुडियो (Coplexities) का प्रत्यक्ष दर्शन यहां होते देर नही लगती । मानो जीवन का सर्वांश और सत्त्व, लोहा तथा सोना, खरा-खोटा और उभार-उतार खुले शब्दो में निचोड दिया गया हो । अत लोक-कथाएँ लोकमानस के प्रेय-श्रेय की सच्ची तथा सही तस्वीर खीचने के दिशा-सकेत प्रदान करने में पूर्णरूपेण सक्षम हैं ।

कथानक रूढियाँ जीवन-विश्वासो तथा मानस-दृष्टि के चित्र

सामान्यतया रूढि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है । अभिप्राय, जिसे अग्रेजी में 'मोटिव' कहते हैं, उस शब्द अथवा एक-सांचे में ढले हुए उस विचार को कहते हैं जो समाज की परिस्थितियो में अथवा समान मन स्थिति और समान प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक हो जाति की विभिन्न कृतियो में वार-वार आता है ।[१] प्रत्येक देश के साहित्य में अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य सम्वन्धी रूढियाँ बन जाती हैं और यान्त्रिक ढग से इनका प्रयोग होने लगता है । इनको रूढतन्तु भी कहा जाता है । हरियाणा की लोक-कथाओ में लोक विश्वास पर आधारित कुछेक रूढ़ियाँ निम्न-लिखित हैं—

१ सख्यावाचक रूढियो में चार, सात, नौ तथा वारह की सख्याएँ आई हैं । च्यार अणमोल वात, सात समुद्र, वेटा-वेटी रानी, दिन तथा वर्ष । नौ लखा हार, नौ किरोडी लाल, वारह धूने इत्यादि ।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८५-८६, शीर्षक-कथानक रूढि ।

२ दानवो का अपने महल में प्रवेश करते ही 'सू सा माणस की गध आवै सै' कहना, दाववो द्वारा अपनी योनि तथा परयोनि परिवर्तन। आदमी को मंत्र मार कर मेंढा, मक्खी तथा पत्थर वना देना। दानव की जान सात समुद्र पार के कुएँ के भीतर पिंजडे मे तोते के भीतर होना। नर-भक्षी डायन का वर्णन। दानव का मनुष्य को देख कर एक वार हंसना तथा एक वार रोना और हास्य-रुदन का कारण वताना।

३. पशु-पक्षियो का मनुष्यो के साथ रहना तथा वातचीत करना।

४ राज प्रकोप का वर्णन, "चून्ची-वच्चो को कोल्हू मे पेलना" वा भूगर्भस्थ करा के कुत्ते छोडना।

५. रानियो का किसी वस्तु की प्राप्ति हेतु आसण-पात्ती (अनशन पाटी) लेकर पड जाना।

६. अपनी प्रजा के कष्टो को जानने के लिए राजाओ का वेश-परिवर्तन कर रात्रि में घूमना।

७ पुत्रहीन सौतो द्वारा पुत्रजन्मा रानी के पुत्र को उठाकर काठ की संदूक में वंद कर नदी में वहा देना तथा रानी की शय्या पर पर पत्थर रख देना।

८ माता के दूध की धार का वच्चे के मुँह में जाना—मातृ-वात्सल्य की पहचान।

९ भले आदमियो के लिए साँप का लाल (माणिक्य) वनना तथा लालची सेठ के लाल का साँप वनना।

१० आपत्ति को टालने के लिए तिल अथवा जौ की वाड लगाना।

११. जादू की रस्सी, सोटे तथा करणी का वरदान।

१२ साधुओ, योगियो तथा विशेषत महादेव-पार्वती द्वारा सकट-ग्रस्त मनुष्यो का उद्धार।

१३ अपराधियो द्वारा जल्लादो को रत्न तथा द्रव्य देकर प्राण-रक्षा।

१४ सदाव्रत द्वारा विछुडे हुए प्रेमियो का मिलन।

१५. अमरफल का वर्णन और चिर-यौवन की साधना।

१६. जादू की टिकली-विन्दी द्वारा अदृश्यता की प्राप्ति। सारगीवादन द्वारा अप्सराओ का आगमन।

१७ आत्महत्या की चेष्टा मे कुएँ की कोठी पर सोना।

१८ पारिवारिक जनो का कटाक्ष सुनकर कठिन कार्य की प्रतिज्ञा लेकर घर छोड देना।

१९ धन को पीपल नीम की जडो के नीचे दवा देना।

२० राजकुमारियो का महल पर खडी होकर केश सुखाना।

राजा की शर्त पूरी करने पर आधा राज और लडकी का डोला भेंट करना।

कहानियो की विशेषताएँ .

जिस प्रकार भारतीय सस्कृति की विविधता मे भी एकता का तत्व छिपा हुआ है उसी प्रकार पजाव से वगाल और उडीसा तक की लोक-कथाओं में स्थानीय-भिन्नता के परे

कहानियो के अन्त मे भी पद्य-कथन की रीति पाई जाती है। कथा मे सरसता, सजीवता तथा तारतम्य की दृष्टि से अन्तिम प्रभाव के छीटे को विस्मृत नही किया जा सकता। वालकथाओ में तो कहानी की समाप्ति पर वच्चो की दृष्टि और ध्यान को इधर-उधर करना और भी आवश्यक है। कारण कि इससे न केवल उनका उनमें कूतूहलोदय होता है वल्कि उनके और कहानी सुनाने के आग्रह को भी टालना सम्भव हो जाता है। वुढिया कथा के अत में दो चार जकडियां फेक देती हैं

'दम्मा दाणी, खतम कहाणी
दम्म पुराणा, हरिया काणा
दो विलाइयाँ नै कुआ जोडया
काग नाक्का तोड ग्या
विलाई रुक्का दे सैं——।
मूसा कि तै टाग टूट गया
चवनियाँ गुड दे सैं—— ।"

अधिकाश कहानियाँ सुखान्त हैं। एकाध कहानी दुखान्त भी मिलती है। जैसे, 'जो राही तै डिगैंगो ओही पडैंगो' में राजा ने दतक-पुत्र के वध की योजना वनाई पर मारा गया उसमें हमारी सहानुभूति राजा के वेटे के साथ रहती है अत दुख भी होता है। 'चल्लाक लडका' की कहानी का अन्त न दुखान्त है, न सुखान्त वल्कि युक्ति चमत्कार में होता है। वुद्धि-कौशल की प्रखर ज्योति हमें चकाचौंध कर देती है। 'दाने की कहानी' का अन्त आकस्मिक तथा नाटकीय है जो कुछ खटकता सा है, 'अच्छा, छोड्डू सू, अर न्यू' कह कै नाड्य तोडय दी तोत्ता की। दान्ना भर गया। सव अपणो घरा आग्या अर सुख ते रहण लाग्या।

लोक-कहानी की सीधी-सादी अनलकृत शैली का ठेठ ठाठ तो देखिए—

"ओह हिन्दू उसनै अपणै घरी ले ग्यो,
दरवाज्जा मैं प्यलग विछवा दियो, न्हाण नैं
तात्तो पाणी मगवा दियो अर रसोई दई चढवा।"

—आतिथ्य का वर्णन।

इन्द्र के अखाडे की अप्सराओ का वर्णन भी आया है। नृत्यगान करने के वाद इन्द्र की आज्ञा से वे 'उडण-खटोला' में वैठ कर स्नान करने गई। विश्राति गृह का वर्णन देखिए

"उन नैं देख्या क्ये! अक सातवाँ का न्यारा-न्यारा सात कमरा सैं। सभ मैं लट्टू लाग्य रह्या सै। वात क्ये सै वै जोर-जुलम जगमगा रह्या सैं। वै उत न्हाई ओह वी न्हायो।"

एकार्थक शव्दो के स्थान पर भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शव्दो की योजना भी लोक-शैली का एक मनोहर अग है। यथा,

"आधी रात्य कै वखत, चाद उगमण कै समै, राणी
कै छोहरो हुयो, वा नै उसको नाम वर्‌यो चन्दरहास।"
वा "तू मेरी मा कोनी।" लडका गुस्सा में था अर वा भी किरोध मैं थी।

इन कहानियो में कही-कही प्रतीक-योजना का भी आभास होता है। 'हंस अर घोवी' में हस सज्जनता का तथा घोवी दुर्जनता का प्रतीक वन कर उपस्थित हुआ है। 'काणो ब्राह्मण' में हस-हसणी में देव-पुरुषो तथा इन्द्रपुरी मे विमान द्वारा जाने में मोक्ष की प्रतीति होती है। धन-शोषण का कर्मफल-लीद का ढेर तथा दान-सकल्प पूर्ति का फल-विल्लोरी पत्थर की पौडियाँ, भी प्रतीकार्थ का विम्व-सकेत प्रदान करते हैं। निष्कर्ष रूप में यही कहना है कि लोक-कथा की कोई शैली नही होती। शैली तो व्यक्ति की होती है। उदाहरणत डा० रणसिंह शर्मा ने मातनहेल ग्राम के दो कथको द्वारा सुनाई गई कहानी 'व्यार ढाल का वेहूदा' टेप-रिकार्ड की है। कथक है प० प्रेमसुख तथा रामनिवास। किन्तु कहानी का परिवेश भी भिन्न है और शैली भी अलग है। अत्यन्त सक्षेप में कहानी कह देना हरियाणा लोक-कथा की प्रौढता का अश है।

लोक-कथा एक समष्टिगत प्रयोग है। अत इनमे सामूहिक मनोरजन की भावना पाई जाती है। सवके लिए और वहुजन हिताय मे ही लोक-कहानी का जन्म हुआ है। मनोरजन की मात्रा वालकथाओ तथा हास्य-व्यग्य कहानियो में काफी ज्यादा है। धार्मिक कथाएँ धर्म-भावना को जगाती है। शेष कहानियाँ लोकनीति की शिक्षा प्रदान करती है। लोक-व्यवहार, लोकाचार तथा लोकानुभूति को व्यक्त करना इन कथाओ का मुख्य उद्देश्य है। लोक-जीवन तथा मानस की सूक्ष्म व्यजनाएँ जिस परिमाण में लोक-कहानियो द्वारा प्रस्फुटित होती हैं उस परिमाण में अन्यत्र कहाँ ? 'एक लडका की चल्लाकी' कहानी में लोगो की अन्तर्वृत्ति तथा कथक की समीक्षा-दृष्टि की तीव्रता तो देखिए

१. मलगरीव-गुरवा का वालक नै वूण व्याहवै सै।
२ तू जाणै, वालक की आद्दत होए सै वो रोट्टी
खाता घोरै आ ए जायो करै। वो वोल्यो—
टाव्वर की एक दो वर की हो सै,
हट हट कै टूक मागणो आच्छो नही।
३ लोभ लाग्यो वाणीयो, चूट्टै लाग्यी गा।
वहावडै तो महावडै, ना चाल्यो ए जा॥
४ तू जाणै सै, गाड्डी नै देख कै लाड्डी का पा फूल जायो करै सै।
५ जिस को काम चाल्य'जा, तू जाणै, उस तैं भाई-वध जलण लाग्य ज्या सै।
६. मल सुणी-सुणाई वाता पै वो अकीन नही करतो।
७ मरतो आदमी की वात नै पुगावण की कोशिश सवै करयो करै सै।

'काणो वाह्मण' कहानी में भी कुछ सर्वमान्य तथ्य तथा विश्वास अति सुन्दर ढंग से प्रकट हुए है—

१ इतणी सुण्य कै वाह्मण को कित ध्यावस (सतोष) थो।
२ करणी का भोग तो भोगणा ए पड़ै सै।
अन्य कहानियो के कुछ तथ्य यहाँ दिये जाते है—
१ पांच आदमी कहै उस वात नै मान ले, ओह दो एक छोट्टा-मोटा राज्जा हो सै।

२ फास्सी टूटण तै पहल्यम वूझयो ए करै अक
किसै तै मिल्लण नैं जी करतो हो क कुछ
खाण नै मन करतो हो तो वता।

३ मरण तैं डरता नैं उसनै क्या तै नीद आवै थी।

४ सुपना की वाता पै अकीन करै सैं, आच्छी वावली सै।

५ दिन्ना नैं जाती क्ये वार लाग्गै सै, वो दिन वी आयो।

६. चा (चाव) मैं माणस नैं काम करती क्ये वार लाग्गै सैं।

७ महादे वोल्या—जाण वी दे, दुनिया सै,
इस में कोये दुखी सै तै कोये सुखी सै,
कोये रोवै सै कोये हसै सैं। तू वीर की जात्य,
क्यो टटा मैं पडयो करै, कह कह को भलो करैंगो।

८ जित खाण-पीण की चीज हूं सैं, उत तूं जाणैं, मुसटो को पेसगार होए जायो करै।

९ चहे राज्जा हो चहे परज्जा। भगवान की माया उसकै आग्गै क्ये, वस चाल्लै सै।

लोक जीवन के स्वरूप की कितनी निष्कपट अभिव्यक्ति इन सूक्तियो में मिलती है "मानव की अन्त प्रकृति के सूक्ष्म कणो की इनमें कमी नही है। लोक-रीति तथा चरित्र की झलकियाँ भी स्वत मुखर हो उठी हैं। लोकसस्कृति का अत्यन्त स्पष्ट रूप लोक-कहानी में अनायास ही छलक उठता है। लोकनीति की शिक्षा का इससे वडा साधन और हो नही सकता। जटिल जीवन की घुडियो (Coplexities) का प्रत्यक्ष दर्शन यहाँ होते देर नही लगती। मानो जीवन का सर्वांश और सत्त्व, लोहा तथा सोना, खरा-खोटा और उभार-उतार खुले शब्दों में निचोड दिया गया हो। अत लोक-कथाएँ लोकमानस के प्रेय-श्रेय की सच्ची तथा सही तस्वीर खीचने के दिशा-सकेत प्रदान करने में पूर्णरूपेण सक्षम हैं।

कथानक रूढियाँ जीवन-विश्वासो तथा मानस-दृष्टि के चित्र

सामान्यतया रूढि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है। अभिप्राय, जिसे अग्रेजी में 'मोटिव' कहते हैं, उस शब्द अथवा एक-साँचे में ढले हुए उस विचार को कहते हैं जो समाज की परिस्थितियो में अथवा समान मन स्थिति और समान प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियो मे वार-वार आता है।[१] प्रत्येक देश के साहित्य में अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य-सम्वन्धी रूढियाँ वन जाती हैं और यात्रिक ढग से इनका प्रयोग होने लगता है। इनको रूढतन्तु भी कहा जाता है। हरियाणा की लोक-कथाओ में लोक विश्वास पर आधारित कुछेक रूढियां निम्न-लिखित हैं—

१ सख्यावाचक रूढियों मे चार, सात, नौ तथा वारह की सख्याएँ आई हैं। च्यार अणमोल वात, सात समुद्र, वेटा-वेटी रानी, दिन तथा वर्ष। नौ लखा हार, नौ किरोडी लाल, वारह घूने इत्यादि।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८५-८६, शीर्पक-कथानक रूढि।

२ दानवो का अपने महल में प्रवेश करते ही 'सू सा माणस की गव आवै सै' कहना, दानवो द्वारा अपनी योनि तथा परयोनि परिवर्तन। आदमी को मन्त्र मार कर मेंटा, मक्खी तथा पत्थर बना देना। दानव की जान सात समुद्र पार के कुएँ के भीतर पिंजडे मे तोते के भीतर होना। नर-भक्षी डायन का वर्णन। दानव का मनुष्य को देख कर एक वार हँसना तथा एक वार रोना और हास्य-रुदन का कारण वताना।

३. पशु-पक्षियो का मनुष्यो के साथ रहना तथा वातचीत करना।

४ राज प्रकोप का वर्णन, "चूच्ची-वच्चो को कोल्हू में पेलना" वा भूगर्भस्थ करा के कुत्ते छोडना।

५. रानियो का किसी वस्तु की प्राप्ति हेतु आसण-पात्ती (अनशन पाटी) लेकर पड जाना।

६. अपनी प्रजा के कष्टो को जानने के लिए राजाओ का वेश-परिवर्तन कर रात्रि में घूमना।

७ पुत्रहीन सौतो द्वारा पुत्रजन्मा रानी के पुत्र को उठाकर काठ की संदूक मे वंद कर नदी में वहा देना तथा रानी की शय्या पर पर पत्थर रख देना।

८ माता के दूध की धार का वच्चे के मुँह में जाना—मातृ-वात्सल्य की पहचान।

९ भले आदमियो के लिए साँप का लाल (माणिक्य) वनना तथा लालची सेठ के लाल का साँप वनना।

१० आपत्ति को टालने के लिए तिल अथवा जौ की वाड लगाना।

११ जादू की रस्सी, सोटे तथा करणी का वरदान।

१२ साधुओ, योगियो तथा विशेषत महादेव-पार्वती द्वारा सकट-ग्रस्त मनुष्यो का उद्धार।

१३ अपराधियो द्वारा जल्लादो को रत्न तथा द्रव्य देकर प्राण-रक्षा।

१४ सदाव्रत द्वारा विछुडे हुए प्रेमियो का मिलन।

१५. अमरफल का वर्णन और चिर-यौवन की साधना।

१६. जादू की टिकली-विन्दी द्वारा अदृश्यता की प्राप्ति। सारगीवादन द्वारा अप्सराओ का आगमन।

१७ आत्महत्या की चेष्टा मे कुएँ की कोठी पर सोना।

१८ पारिवारिक जनो का कटाक्ष सुनकर कठिन कार्य की प्रतिज्ञा लेकर घर छोड देना।

१९ धन को पीपल नीम की जडो के नीचे दवा देना।

२० राजकुमारियो का महल पर खडी होकर केश सुखाना।

राजा की शर्त पूरी करने पर आधा राज और लडकी का डोला भेंट करना।

कहानियो की विशेषताएँ :

जिस प्रकार भारतीय संस्कृति की विविधता में भी एकता का स्वर छिपा हुआ है उसी प्रकार पजाव से वगाल और उडीसा तक की लोक-कथाओं में स्थानीय-भिन्नता से परे

कुछेक सामान्य-तत्त्वो का विकास पाया जाता है। सम्पूर्ण उत्तर-पूर्व की इन कथाओ में निम्न-लिखित विशेषताएँ देखी गई हैं .—

(क) सर्वमगल की भावना।

(ख) मानव की मूल प्रवृत्तियो का चित्रण।

उदाहरणत 'एक लडका की चल्लाकी' में धोबी के लोभ, गोपाल के वस्त्र-मोह, अश्वारोही की सरलता, और बुढिया के पुत्री-प्रेम का निरूपण।

(ग) प्रेम का अभिन्न पुट तथा अश्लीलता का अभाव।

(घ) सयोग तथा सुख में कथा की समाप्ति।

(ङ) रहस्य, रोमाच, अलौकिकता तथा युक्ति चमत्कार का समिश्रण।

(च) धार्मिक तथा दार्शनिक हिन्दू दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति। आस्तिकता, कर्मफल तथा पुनर्जन्म आदि मान्यताओ पर बल।

हरियाणा की लोक-कहानियो में जातीय विशेषताओ का विवरण तो है किन्तु जाति-भेद और साम्प्रदायिक कटुता की ध्वनि रचमात्र भी सुनाई नही पडती।

सात्त्विक जीवन की कामना से तभी कथाएँ अनुप्राणित है। मद्य-मास के सेवन का जिक्र तक नही आता। पचायत, चौपाल, योगियो तथा सन्यासियो के प्रति सम्मान का भाव, अतिथि-सत्कार और शरणागत की रक्षा परम धर्म मानी गई है। नारी के प्रति सशक दृष्टि पाई जाती है। लोगो की दरिद्रता, अन्न-जल सकट तथा चोरी-डकैती के प्रसग लोक-कहानियो में पगडडियो की तरह फैले हुए हैं। इस प्रकार जीवन के यथार्थ की भीषणता तथा उसकी स्पष्ट व्यजना करना इन कथाओ का पहला कार्य रहा है। वर्णन की स्वाभाविकता इस बात की साक्षी है कि यहाँ जीवन के रस को सद्य और सुरक्षित रखा गया है। ग्रामीण सस्कृति का चित्रण हरियाणा की लोक-कथाओ में किसी-न-किसी रूप में अवश्य उभरा है क्योकि प्रकृति की गोद ने बसा हरियाणा ग्राम्य-सुषमा का अप्रतिम नमूना है। ग्राम-गण की इस विवृति का अधिकाश श्रेय, यहाँ की मुहावरे में ढली भाषा को दिया जाना चाहिए। हरियाणा की कहा-नियाँ स्थानीय मुहावरो तथा लोकोक्तियो की मिठास में पगी हैं। मुहावरा हमारी जीवनानु-भूति तथा कार्याभ्यास का सबसे खरा चित्रण होता है। लोक-जीवन की सच्चाई को इतनी स्वाभाविकता तथा सक्षिप्त प्रखरता द्वारा व्यक्त कर देना मुहावरो के ही वश की बात है। इनके माध्यम से हम लोगो के जीवन-दर्शन का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। मुहावरा हरियाणा के जीवन तथा साहित्य की समरूपता का अभिन्न लक्षण प्रतीत होता है। कुछेक मुहावरे यहाँ दिये जाते है

१ वो ताड ग्यो थो मल वो तो जाण-बावलो बण्य-ग्यो थो। उसका मन महँ त लाइडू सा फूटैं 'क बण्य ग्यो काम। अर घोडौ आलो रह ग्यो हाथ मसलतो।

२ बुढिया की अक्कल मारण खात्तर यो साग भरयो थो।

३. आपणो छोरा मैं देख कै मा हरी हो गई। आइए, मिरा वाद।

४ इतणी सुण्य कै राज्जा के आग्य लाग्य गई, राज्जा सिर पीट्टण लाग् ग्यो। ज्यब वडा हलवाई ना वण्वा सक्यो, तै तेरी क्ये गूदडी से। हम नें छोड्य दे, हम तेरी कालो गा।

हरियाणवी एवं प्रतिवेशिनी उपभाषाएँ

शिवप्रसाद शुक्ल

हरियाना हिन्दी भाषी नव निर्मित प्रान्त है। हरियाणा में कई उपभाषाएँ बोली जाती हैं, इनमें से एक का नाम हरियाणवी है। इसको बाँगरू या जाटू नाम से भी पुकारा जाता है। दिल्ली करनाल हिसार रोहतक नारनौल जींद आदि क्षेत्रों में इसका प्रसार है। विद्वानों के अनुसार यह खड़ी बोली का ही एक रूप है।

डॉ० ग्रियर्सन के आधार पर बाँगरू पश्चिमी हिन्दी की उपभाषा है। जिस प्रकार पंजाब की बोली जानेवाली भाषा पंजाबी और राजस्थान में बोली जानेवाली राजस्थानी है उसी प्रकार हरियाना प्रान्त में बोली जानेवाली भाषा का नाम हरियाणवी है। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है कि बाँगरू के कई स्थानीय नाम हैं हरिआना के पड़ोस में यह हरियानी, देसवाली अथवा देसड़ी कहलाती है। रोहतक तथा दिल्ली के आस-पास जाटों की अधिक आबादी के कारण इसे जाटू तथा दिल्ली के चमारों की आबादी के कारण इसे चमरवा बोली भी कहते हैं। अन्य स्थानों में इसे बाँगरू नाम से ही अभिहित किया जाता है। नामों में स्थानीय भेद रहते हुए भी वास्तव में बोली में भेद नहीं है।

वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्म-भूमि दिल्ली है, वहीं ब्रजभाषा में यह उत्पन्न हुई। बाबू बालमुकुन्द गुप्त का मत है कि फारसी में ही कुछ ब्रज और बाँगरू की टेक लगा बोली को खड़ा कर दिया गया और उसका नाम पड़ गया खड़ी बोली।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने हिन्दी के उद्भव का मूल रूप बताते हुए लिखा है कि हिन्दी का उद्भव भी अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ-साथ हुआ और विकास भी साथ-साथ। हमारी केन्द्रीय सरकार की राजधानी देहली है। जिसे लोग दिल्ली कहते हैं। वह सचमुच देहली है। उसके इधर उत्तर की ओर देखो तो कुरुजनपद है मेरठ संभाग या डिवीजन उत्तर प्रदेश का। यहाँ की भाषा कौरवी या मेरठी का नाम खड़ी बोली है—'मीठा पाणी लात्ता है। यो 'मिट्ठा' और लात्ता' के अन्त में जो खड़ी पाई दिखाई देती है लाठी की तरह उसीने इसका नाम 'खड़ी बोली।' 'कौरवी भाषा' का दो धाराएँ है—एक ही भाषा की दो प्रमुख बोलियाँ हैं—१. खड़ी बोली मेरठी २ बाँगरू या हरियानवी। दिल्ली से लेकर देहरादून तक (और उधर मुरादाबाद तक) का प्रदेश कुरुजनपद है और दिल्ली से उधर अम्बाला तक तथा इधर सहारनपुर से अम्बाला तक 'बागर' जिसका पुराना नाम 'कुरुजांगल' है। कौरवी के ये दो रूप ऐसे ही हैं जैसे राजस्थानी के 'जयपुरी' और 'जोधपुरी'। खड़ी बोली मेरठी है। इस खड़ी बोली का ही एक साहित्यिक रूप 'उर्दू' है और दूसरा है 'हिन्दी'। दक्षिण में हरियानी की प्रकृति 'बागर' जान पड़ती है। देहली से उधर मथुरा क्षेत्र सटा हुआ है, यहाँ की ब्र भाषा है जिसका साहित्यिक रूप सूरदास आदि के काव्यों में आप को प्राप्त है। इसी देहली से छोटी लाइन की गाड़ी पर चलो, तो थोड़ा ही चलकर 'रेवाड़ी' का स्टेशन आ जाता जहाँ

राजस्थानी भापा का क्षेत्र शुरू होता है। उसी देहली से पश्चिम की ओर पाँव रखो तो 'कुरु जागल' है जिसे वागर भी कहते हैं। यहाँ की भाषा या वोली 'वागरू' है कौरवी का ही रूपान्तर। देहली से पूरब चलो तो पूर्वाभिमुखी भापाएँ मिल जाती हैं। और देहली है सवकी। फिर भी मेरठी या कौरवी से ही उसका निकटतम सम्पर्क है। देहली से मेरठ है ही कितनी दूर। देहली हिन्दी का केन्द्र है, घर है और सव भापाओ की यह देहली है। दिल्ली हिन्द का केन्द्र हिन्दी का केन्द्र।

यह सव लिखने का तात्पर्य यह है कि हरियाना का भाग रेवाडी भी है और गुडगाँव भी, अम्वाला हिसार भी। चडीगढ पंजाव को दे देने पर फाजल्का तहसील का हिस्सा भी। इस प्रकार हरियाना की सीमा का निर्धारण किया गया है।

हरियानवी भापा के अतिरिक्त हरियाना में और भी कई वोलियाँ वोली जाती हैं। जिनमें निम्न प्रमुख है —

मेवाती

इस वोली पर अव तक अनुसधान नही के वरावर ही हुआ है। इस वोली का नामकरण मेवात प्रदेश के आधार पर हुआ है। मेवात इस समय किसी एक राज्य के किसी क्षेत्र विशेप का नाम न होकर तीन-चार राज्यो के सीमावर्ती स्थानो के उस मिले जुले प्रदेश का नाम है जहाँ मेव जाति के लोगो का निवास है। 'मेव' एक देशज शव्द है जिसकी व्याख्या हिन्दी शव्दसागर में कोशकारो ने एक 'लुटेरा जाति' के रूप में की है। कहा जाता है कि यह पहले एक राजपूत जाति थी जिसे मुगल शासन काल में मुसलमान वना लिया गया। इस समय मेव एल मुस्लिम जाति के पर्याय रूप में ही जाने जाते हैं। गुर्जर जाति के नाम पर जिस प्रकार गुजरात प्रख्यात हुआ, उसी प्रकार मेव जाति के आधार पर इस प्रदेश का नाम मेवात प्रचलित है। इसी प्रदेश की वोली 'मेवाती' कहलाती है। डॉ० विकल ने ठीक ही लिखा है कि मेवाती वोली का क्षेत्र केवल मेवात प्रदेश तक ही सीमित न होकर उसके आस-पास के विभिन्न स्थानो तक भी फैला हुआ है। मेवात कभी राजपूताना के अन्तर्गत एक प्रदेश का नाम था। वाद में अग्रेजो ने इसे कुछ खण्डो में विभाजित किया अव भरपुर अलवर तथा हरियाना के जिला गुडगाँव की तहसील नूँह फिरोजपुर झिरका और वावल का कुछ भाग ही मेवात के नाम से जाना जाता है। किन्तु मेवाती का विस्तार इस समय राजस्थान में भरतपुर के पश्चिमी प्रदेश और सम्पूर्ण अलवर तथा हरियाणा के जिला गुडगाँवा दक्षिण पश्चिमी, पश्चिम पूर्वी प्रदेश और जिला रोहतक के दक्षिणी भाग तक है। स्पष्टत मेवाती का पर्याप्त क्षेत्र हरियाणा के अन्तर्गत आता है। इसका पूरा विवरण 'भापा सर्वेक्षण' में इस प्रकार है —

१. जिला गुडगाँवा तहसील गुडगाँवा एक चौथाई भाग २ तहसील रिवाडी का एक तिहाई भाग ३ तहसील वावल का आधा भाग ४ तहसील पटौदी एक तिहाई भाग ५ तहसील फिरोजपुर झिरका सम्पूर्ण भाग ६ तहसील नूँह दो तिहाई भाग ७ जिला रोहतक तहसील झज्झर एक तिहाई भाग।

इस प्रकार हरियाणा का एक हजार वर्गमील से भी अधिक भाग क्षेत्र मेवाती वोली

का है। और लगभग पन्द्रह लाख मेवाती भाषी लोगो में प्राय पाँच लाख हरियाना के दक्षिणी क्षेत्र के निवासी हैं।

डा० मेनारिया के राजस्थानी भाषा एव साहित्य के आधार पर हरियाणा (गुडगाँवा) की मेवाती का उदाहरण—"वाडो ! न तो हीन नहिर घर न बीजडी ई है। हीन तो लाव चरस जोता हा अर खेतण में पानी देवा हा। वाडी ! सरकार रुपिया देती बताई कुआ बनवाण लू अर रहिट लगाण लू ।"

दूसरी भाषा है अहीरवाटी

श्रीशैल गौतम के अनुसार इसे प्राय हीरवाटी या अहीरवाल (या अहीर प्रदेश) की भाषा भी कहा जाता है। यह गुडगाँव जिले के पश्चिमी प्रदेश में बोली जाती है। यह बोली नजफगढ के आसपास देहली जिला के डावर क्षेत्र में भी पाई जाती है, किन्तु इसे यहाँ 'मेवाती' नाम दे दिया जाता है। यह क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से गुडगाँव प्रदेश का ही विस्तार मात्र समझना चाहिए। उसी ओर यह क्षेत्र रोहतक जिले के दक्षिण में झज्झर तहसील अर्थात् पाल्हावास तक फैला हुआ है। इसके उत्तर की ओर पश्चिमी हिन्दी की बाँगरु बोली पाई जाती है। अहीरवाटी को मेवाती का एक रूपमात्र समझना चाहिए। पश्चिमी गुडगाँव में रेवाडी को अहीरवाटी का केन्द्र माना जा सकता है, इसके अतिरिक्त नारनौल का अधिकाश भाग इसकी सीमा परिधि में आ जाता है। यहाँ दादरी इसकी अन्तिम सीमा मानी जा सकती है। जहाँ एक ओर हरियानी (बाँगरू) का आधिपत्य आरम्भ हो जाता है। और दूसरी ओर बागडी मिलने लगती है। दादरी को मुख्यत बागडी के अन्तर्गत रखा जाता है। अहीरवाटी की पश्चिमी सीमा पर शेखावटी राजस्थानी की एक बोली है। अत यह स्पष्ट है कि अहीरवाटी बोली बागरु, बागडी और शेखावटी बोलियो के बीच की कड़ी का काम करती है।

गुड गाँवा की अहीरवाटी का नमूना—"एक सकस के दो बेटा था। उन माह तै छोटनो बाप तै बोल्यो अक बावा जी माल को बट जो मूने दीणू होय सो दे दो। जब अने वो माल को बट जिस तरह कह्यो थे उसी तरह बांट दियो।"

रामेश्वर दयाल शास्त्री ने लिखा है कि अहीरवाटी वस्तुत मेवाती और हरियाणी का सम्मिश्रण है। इसके शब्द प्राय हरियाणवी के हैं। किन्तु मेवाती ब्रजभाषा और राजस्थानी भाषाओं के समीपस्थ भू-भाग की बोली होने के कारण इस पर उपर्युक्त तीनो भाषाओं का ध्वनि प्रभाव है। इसका उच्चारण हरियाणवी की अपेक्षा किञ्चिद्मृदु है। हरियाणवीमें 'कटै' राजस्थानी मे 'कठै' मेवाती में 'कित' और अहीरवाटी में इसका 'कठे' उच्चारण किया जाता है। हरियाणवी मे जहाँ उच्चारण विवृत गुण होता है वहाँ अहीरवाटी मे शब्दो का कुछ दबा कर उच्चारण किया जाता है।

घग्गर नदी के आस पास की भाषाएं

इस क्षेत्र में अम्बाला जिले का कुछ भाग हिसार करनाल रोहतक और फिरोजपुर का कुछ अंश सम्मिलित किया जा सकता है। इसके पूर्व की ओर पश्चिम उत्तर प्रदेश तथा दक्षिण की ओर राजस्थान लगता है। इन साथ लगते क्षेत्रों का इस क्षेत्र की उपभाषाओं पर काफी प्रभाव है। इस क्षेत्र की उपभाषाओं को निम्न भागों में बांटा जा सकता है। १—कुमारी

२—हरियाणा की भाषाएँ जिनमे राठी, भटियानी, और बागडी शामिल हैं। पुआधी केन्द्रीय टकसाली पजाबी से भिन्न है और पश्चिमी उत्तर प्रदेश का प्रभाव है। पूर्व की ओर यह बागडी हिन्दी से मिलती है। जिला हिसार से घाघर नदी के साथ साथ बोली जाने वाली भाषा को पछाधी भाषा कहते हैं। यहाँ के राठ इसको बोलते है। राठी से मिलती उपभाषा भटियानी है। बागडी उपभाषा भी राठी और भटियानी का मिश्रित रूप हैं।

डा० शङ्करलाल यादव ने हरियाणा प्रदेश के क्षेत्र के बारे मे लिखा है कि अत हमारी स्थापना जो इस इलाके के परिभ्रमण पर आधारित है, वह है कि हरियाणे की पूर्वी सीमा पालम झज्झर बहादुरगढ और दिल्ली को छूती है फिर वही रेखा दुजाना को छुती हुई दादरी पहुँचती है। वहो सी सीधी भिवानी हाँसी हिसार होकर सिरसा की ओर आगे बढकर अगरोहा होती हुई टोहाना पहुँच जाती है। वहाँ से कैथल करनाल पानीपत होकर दिल्ली आ मिलती है।

बागडी बोली का क्षेत्र डा० ग्रियर्सन ने राजपूताने का बीकानेर हिसार (सिरसा तहसील का दक्षिण भाग तथा शेष हिसार जिले का वह भाग जो बीकानेर की पूर्व सीमा के साथ लगता है) लोहारू और जीद राज्य की दादरी निजामत के पश्चिमी भाग को माना है। हरियाणवी आकारान्त प्रधान है और बागडी में ओकारान्त रूप हैं। जैसे 'दलिया, मेवा, राणा, के बागडी में 'दलियो' 'मेवो' 'राणो' रूप होते हैं।

पुआधी और हरियानवी बोली में भी बहुत साम्य है। हरियानवी की सीमाएँ हिसार रोहतक जीद के भू-भाग को अन्तर्भूत करती है और पुआध का विस्तार हिसार अम्बाला परिमाला और जीद तक है। हरियाणवी और पुआधी में से एक बोली वस्तुत कहाँ पर समाप्त होती है और दूसरी कहाँ से प्रारम्भ होती है यह कहना कठिन है। किसी किसी गांव में तो दोनों ही विभाषाओ के बोलने वाले मिलते हैं—या एक ही व्यक्ति दोनो ही बोलियाँ बोलता है श्रीराम गोपाल कौडा के आधार पर दोनो में बहुत समानता है। जैसे —

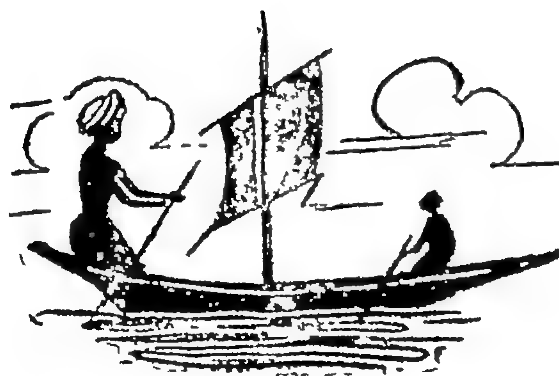
हरियाणवी	पुआधी
जाण (जाना क्रिया)	जाण
जाण (जानना क्रिया)	जाण
पराणो (चाबुक)	पराणी
अपणे (अपने)	अपणे
दाल (दाल)	दाल

डा० ग्रियर्सन ने अम्बालवी बोली को भी अलग महत्त्व दिया है। यह बोली पर्याप्त क्षेत्र मे बोली जाती हैं।

हरियाना में पलवल-होडल भी सम्मिलित हैं। कहा जाता है कि पलवल को प्रलम्ब नाम के असुर ने बसाया था। महापडित राहुल जी का मत है कि 'पल्वल सरासि' अर्थात् 'पल्वल' पोखर को कहते हैं। पलवल ऊँचे स्थान पर बसा है और इसके आस पास चारो ओर 'भवन कुड' आदि नाम के पोखर हैं भी। एक विद्वान् 'पौण्ड्रवन' से 'पलवल' बना ऐसा मानते है, उनका मत है कि सस्कृत में 'ड' और 'न' को ल बन जाता है, 'डलोरलोर' से।

मथुरा के द्वारकाधीश जी के मदिर में प्रलम्व राक्षस का चित्र वना हुआ है। पलवल क्षेत्र की वोली उत्तर प्रदेश की व्रज भूमि से विलकुल मिलती जुलती है। मथुरा समीप होने के कारण 'व्रज चौरासी कोस' के आधार पर यहाँ की भूमि व्रज भापी भूमि मे ही आती है।

इस प्रकार हरियाना में हिन्दी की कई उपभापाएँ वोली जाती है। यहाँ की राजकाज को भापा हिन्दी है। उपरोक्त उप भापाओ का कोई प्राचीन साहित्य लिखा गया था या नही इस की कोई समुचित खोज नही हो पायी। प्राचीन साहित्य के मिलने की सभावना अवश्य है। इस प्रदेश को जनता धार्मिक विचारो से ओत प्रोत है। यहाँ मठ मदिर शिवालय अधिक सख्या में पाये जाते हैं। धार्मिक नेताओ ने अवश्य ही अपनी वोली में प्रवचन दिए होगे। इन सवका सम्भवत सकलन भी किया गया होगा। लोक प्रिय साहित्य की रचना भी होती रही होगी। खोज करने पर ग्रन्थ प्राप्ति की सभावना अवश्य है। यहाँ लोक साहित्य प्रचुर माला में प्राप्त है अधिकतर वह छन्दोवद्ध और देवनागरी लिपि में मुद्रित है। लोक गीत लोककथाएँ मौखिक रूप में प्रचलित हैं। उनका कोई सग्रह वैज्ञानिक पद्धति से सग्रहीत नही किया गया। हरियाणा के भाषा विभाग के साथ साथ विद्वान् राजनीतिज्ञ समाज सुधारक एव यहाँ की जनता हरियाना की हरियाली वढाने में लगी हुई है। अन्त में हरियाने की ठेठ वोली में स्व गुप्तजी के एक पत्र की पक्तियाँ उद्धृत करते है, जिसे उन्होने पं० माधव प्रसाद मिश्र को लिखा था– दोनो ही विद्वान् हरियाणवी थे—पत्र का प्रारम्भ—पा लागा हो दादा ! तेरे पोते का व्याह सै।—तौं चाल म्हारै खेतमा देख कै वहार सै' यह है हरियानवी वोली का सरस आनन्द।



भ्याणी (भिवानी) नामकरण एवं विस्तार

राजाराम शास्त्री

रिवाडी जि० गुडगाँव से रेल द्वारा हिसार जाते हुए मार्ग में एक भव्य स्टेशन देखने को उपलब्ध होता है जिस पर मोटे अक्षरो में लिखा रहता है 'भिवानी' ।

भिवानी जिला हिसार की एक तहसील है और छोटी दिल्ली के नाम से प्रसिद्ध रही है । कारण स्पष्ट है 'गेट आफ राजपूत' कहलाने वाली भिवानी से ही पुरातन काल से राजपूताना में ऊँटो द्वारा जीवन यापन का समस्त सामान जाता रहा है अत व्यापार का प्रमुख केन्द्र होने के कारण छोटी दिल्ली के नाम से इसका प्रसिद्ध होना स्वाभाविक है ।

'भिवानी बालको ने तुडवादे' यह कहावत इतिहास से सम्बन्ध रखती है । सन् १८०९ में एडवर्ड कार्नर साहब देश भर में विजय प्राप्त करते और अग्रेजी राज्य की स्थापना करते भिवानी की ओर बढ रहे थे । ऐसी स्थिति में भिवानी वासियो का चिन्तित होना स्वाभाविक था । गोष्ठी हुई । पचायत बैठी । वृ द्धो ने अधीनता स्वीकार करने की सम्मति दी । युवको को बात पसन्द न आयी । अग्रेजो से भिडन्त हुई ।

नवाब अज्जर की नौकरी में वीर ठाकुर पेमा सिह थे । शहर पर आपत्ति का समाचार सुन घोडे पर सवार हो चल दिये । युद्ध क्षेत्र में उतरे । अग्रेज कमाण्डर ने बाला साहब के हाथी पर घोडा झोका और सपाटे से बाला साहब का सिर धड से अलग कर दिया । बाला साहब की भिवानी में समाधि उस वीर ठाकुर पेमा सिह की वीरता की आज भी साक्षी स्वरूप विद्यमान है ।

यह सब होते हुए भी भिवानी का भाग्य विपरीत था । अग्रेज विजयी हुए । वृद्धो ने दु ख पूर्ण स्वर में युवको को भर्त्सना करते हुए व्यग किया 'भिवानी बालको ने तुडवायी' । वास्तव में युवा वर्ग वृद्धो की दृष्टि मे बालक ही था । अस्तु ।

दक्षिण से लौट कर बन्दा वैरागी ने अपनी पजाब की विजय यात्रा इसी भिवानी से आरम्भ की थी । उसी की कडी में उसका दूसरा आक्रमण टोहाना जिला हिसार के किले पर हुआ था ।

भिवानी निवासियो की धार्मिकता, गो पूजा आदि की प्रतीक रूप उक्ति है 'भिवानी नन्दा की' ।

भारत के प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध का समारम्भ हुआ । लुटेरो को हाथ रँगने का अवसर हाथ लगा । वे भिवानी को लूटने चले । नगर निवासियो ने मिलकर सुरक्षात्मक उपाय किये फिर भी पर्याप्त लूट मार हुई । तत्कालीन सेठ नन्द राम जी ने अनेक राजपूतो को भिवानी की रक्षार्थ अपने कटले मे रखा । भय था कि इस अराजकता का लाभ उठा कर कोई अन्य शक्ति शहर पर आकमण न कर बैठे ।

हिसार और रोहतक से अनेक अग्रेज परिवार सुरक्षार्थ भिवानी पहुँचे । सेठ नन्द

राम ने उन्हें शरण दी और उन्हे तव तक अपने पास सुरक्षित रखा जव तक अराजकता समाप्त न हो गई।

अराजकता के शान्त होते न होते रिगट साहव लुटेरो को पकडते, उनका सफाया करते और आतक फैलाते भिवानी पहुँचे। भिवानी के लुटेरो की सूची माँगी गयी। सेठ नन्द राम ने रात्रि के समय गुप्त गोष्ठी का आयोजन कर लुटेरो को कहला दिया 'कुशल चाहते हो तो लूट का समस्त माल रातो रात कटले मे छोड जाये' और वैसा ही हुआ। सवका सामान वापिस लौटा दिया गया और रिगट साहव को कहलवा दिया गया 'भिवानी मे कोई लूटमार नही हुई। तव रिगट साहव ने वाहर से अपने साथ पकड कर लाए गए लुटेरो को मिस फेरर हस्पताल के निकट एक शीशम के पेड के तले फाँसी दे दी। इस दृश्य से भिवानी वालो पर अग्रेजो का पुन आतक छा गया।

अग्रेजो की सुरक्षा के कारण सेठ नन्दराम को मुँह माँगा पारितोपिक देने की वात कही गई। तव सेठ नन्द राम ने दो माँगे अग्रेज सरकार के सामने रख कर अपनी धार्मिक वृत्ति का परिचय दिया। प्रथम माँग थी भिवानी मे गो वध पर पावन्दी। द्वितीय थी भिवानी की सीमा में शिकार पर पावन्दी। और दोनो माँगे सरकार द्वारा स्वीकृत कर ली गई। इस घटना के कारण 'नन्दा की भिवानी' प्रसिद्ध हुई किन्तु खेद का विषय है कि उन्ही सेठ नन्द राम की मृत्यु किसी अग्रेज के हाथ की गोली से हुई।

भिवानी मे सोलह पान्ने चार वाजार एव वाजार एव वारह दरवाजे हैं। हालु और लोहड दो भागो में भिवानी को वाँटती हुई स्टेशन से सीधी वापोडा गाँव तक सडक चली गई है। यही विचले वाजार की सडक कहलाती है। सडक के दक्षिण ओर हालु और वाम ओर लोहड वसा है।

भिवानी अथवा भ्याणी (लोक भापा में) का वास्तविक नाम है भानी। भानी वर्तमान भिवानी से लगभग चार मील दूर स्थित उमरावत गांव की जाट जाति की स्त्री थी। उसी के नाम पर वीर राजपूत नीम सिह ने इस शहर की नीम रखी। विचला वाजार में जहाँ आज इलेक्ट्रिक हाउस वना है उसके पीछे जण्डी का वृक्ष है उसी स्थान पर सवत् १४३३ चैत्र कृष्णा पचमी शुक्रवार को इस नगर का मुहूर्त किया गया था।

वास्तव मे नीम सिह के दादा जादु सिह अपने पिता से रुष्ट होकर सिरसा जि० हिसार मे चले आए थे। यहां ये कंवर पाल गोदा के यहां आकर ठहरे। गोदा के तीन लड़कियां थी—काछल देवी वाछल देवी और पातल देवी। यही दोनो लड़कियां काछल और वाछल पुरेरा के राजपूतो में व्याही गई। इन्ही के यहां प्रसिद्ध वीर गुगासिंह चौहान उपनाम 'गूगा पीर' का जन्म हुआ जिसकी समाधि बीकानेर राज्यान्तर्गत 'गूगा मेडी' के स्थान पर वर्तमान है और जहां गूगा नवमी के दिन आज भी भारी मेला लगता है।

तीसरी वहिन पातल देवी का विवाह जादु सिह के साथ हुआ और इन्हें [illegible] दे दिया गया। जादु सिह के दो पुत्र हुए [illegible] सिंह और [illegible] सिंह। जिन दिनों यवनो के भारत पर आक्रमण हो रहे थे तब इन दोनो वीर पुत्रो ने [illegible] के आसपास [illegible] गांव पुन बसाए और इस प्रकार [illegible] परगना, [illegible] सन् १४८० और [illegible]

अधीन कर लिये। इन्ही में से साढ सिंह के पुत्र का नाम नीम सिंह था जिन्होने आगे चल कर भिवानी की स्थापना की।

नीम सिंह भी अपने दादा के समान अपने पिता से रुष्ट होकर उमरावत में आ कर ठहरे। उमरावत में जाटो की आवादी अधिक थी। इधर नीम सिंह जन्म जात शासक थे अत जाटो पर अपना प्रभाव जमाने मे सफल हो गए इस कारण जाट भीतर ही भीतर नीम सिंह से ईर्षा करने लगे और अवसर पडने पर उन्हे समाप्त करने का पडयन्त्र रचने लगे।

भानी नाम की ज़ाटनी नीमसिंह की वीरता, चातुरी और पुरुषोचित गुणो के कारण उन पर आसक्त थी अत एकान्त पा उसने पडयन्त्र की सूचना नीम सिंह को दे दी। नीम सिंह होशियार हो गए। समय आने पर परस्पर लडाई में जाटो को नीचा देखना पडा।

नीम सिंह की विजय तो हुई पर उसे वे निरापद न वना सके। वे चाहते थे कि किसी अन्य स्थान पर रहने लगे और भानी की कृपा से प्राप्त विजय स्थायी हो जाए।

वे इसी चिन्ता में एक दिन चले जा रहे थे कि उन्होने देखा एक भैसा कही से पानी पीकर मस्त चला आ रहा है। नीम सिंह जी ने समझ लिया कि निकट ही कही जलाशय है और वही स्थान निवास के लिये उपयुक्त रह सकता है। वे भैसे की विपरीत दिशा मे कुछ ही दूर गए थे कि उन्हे वहुत सुन्दर जलाशय दिखाई पडा। उसे देख नीम सिंह जी वाँछे खिल गई और वही रहने का निश्चय कर नगर का मुहूर्त कर दिया। इस मुहूर्त के पुरोहित थे बुवानी निवासी प० किशोरी लाल लाटा।

नीम सिंह ने मान एव प्राणो की रक्षा करने वाली भानी की कृतज्ञता प्रकट की नगर का नाम भानी रख कर। भानी से भ्याणी और भ्याणी से विगड कर आज यह नगर भिवानी के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है।

नीम सिंह ने इतने मे ही अपनी कृतज्ञता की इतिश्री नही कर दी अपितु भानी के पुत्र मीता सिंह के नाम पर गाँव 'मीता थल' वसाया और अपने नाम पर भिवानी के निकट नीमड वसाया। आज भी भिवानी में राजपूतो की जितनी चौपाल है उनमें नीम का पेड देखने को उपलब्ध होगा। वे नाम का साम्य होने के कारण नीम को पवित्र वृक्ष मानते हैं और उसकी टहनी और पत्तो तक की क्षति पहुँचाना पाप समझते है।

नीमसिंह के पुत्र का नाम था वाच्छु सिंह। वाच्छु सिह के दो पुत्र हुए लोहड सिंह और जोनयाल सिंह। वर्तमान लोहड वाजार इन्ही वीर लोहड सिंह के नाम से वसा। ये अन्त मे वीर हो गए थे।

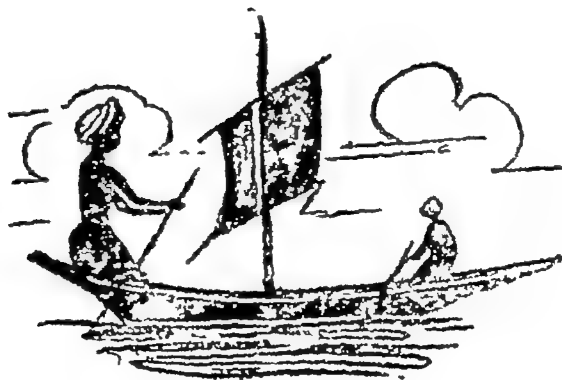
जोनपाल सिंह के चार पुत्र थे—हालु सिंह, वीरम सिंह, नर सिंह और जथत सिंह। वर्तमान हालु वाजार इन्ही हालु सिंह के नाम से वसा। शेष तीन भाइयो के नाम पर तीन पान्ने वसे। वीरम सिंह के नाम से वीरवाण पान्ना, नरसिंह के नाग से नरसाण पान्ना और जयत सिंह के नाम से जीतूवाला तालाव बना। आगे चलकर जोनपालजी के वश में आसु सिंह और मानु सिंह हुए जिनके नाम पर आसिया पान्ना और मानाण पान्ना वसे हुए हैं।

लोहड सिंह के पाच पुत्र हुए—छाजु सिंह, उदा सिंह, वलवीर सिंह झाम सिंह और मुण्डू सिंह। इनमें वड़े तीनो भाई निःसन्तान रहे। झाम सिंह के दो पुत्र थे। मुण्डू सिंह

अपने पिता के साथ यवन हो गए थे। इस प्रकार लोहड वाजार में झाम सिह के वशज राजपूत ही निवास करते हैं।

झाम सिंह के दो पुत्र हुए मोधा सिंह और मेघा। इन दोनो के नाम पर लोहड वाजार में दो पान्ने वसे हुए हैं मोघाण और मेघाण। इन दोनो में भी एक एक में चार चार पान्ने वसे हुए है। मोघाण में सोलाण, भणसी, टाह्यां, खोखराण। मेघाण मे राजान, कायान, पुथान, दासान। ये पान्ने इन की सन्तानो के नाम पर वसे है। वास्तव मे लोहड मे दो ही पान्ने हैं इनको चार चार अवान्तर शाखाएँ है। इस प्रकार आठ पान्ने लोहड में है।

जैसा कि ऊपर वताया हालु मे चार पान्ने प्रसिद्ध है—वीरवाण, नरसाण, आसिया और माणान। पान्ना नरसाण में तीन शाखाएँ हैं, लेखवाण, हिन्दवाण, भीखाण। माणान पान्ने की एक शाखा है कौताण। इस प्रकार १६ पान्नो, चार वाजार और वाहर दरवाजो से युक्त भानी के नाम पर कृतज्ञता प्रकट करने के लिये वसाई 'भ्याणी' नीम सिंह की आज भी यशोगाथा सुना रही है। सस्कृत भापा के प्रचार में अग्रणी रहने के कारण इसे छोटी काशी भी कहा जाता है।[1]



१ स्व० विश्वेश्वरलालजी हलवासिया भिवानी के निवासी थे। भिवानी का विशेष परिचय इस लेख में दिया गया है।

"देसां मां देस हरियाना"

देवेन्द्र सत्यार्थी

"देसा मा देस हरियाना,
जिते दूव दही का खाना।"

हरियाना-प्रवास के पहले रोज़ ही एक ग्राम में मुझे यह लोकोक्ति प्राप्त हुई। और मैंने हरियाने की गाय देखी, उसके स्वास्थ्यका, उसकी अधिक-से-अधिक दूध दे सकने की सामर्थ्य का वखान सुना, तो मनने इसे 'दूध-दही की धरती' मान लिया। यहाँ किम्वदन्ती है कि एक वार स्वय गोपालकृष्ण इधर आ निकले थे, और तभी से यह हरियाना—हरि (कृष्ण) की भूमि कहलाया है। कृष्ण ने यहाँ के दूध की प्रशसा की थी यहाँ के दही को सर्वोत्तम वतलाया था, पर वह व्रज को छोडकर सदा के लिए इधर न वस सके थे, इधर गोपियाँ न थी, न राधा उनके साथ इधर आने को तैयार थी। कृष्ण की मुरली की गूँज अव भी वाकी है, और गाय के कान उसे पूर्णमासी की खामोश रात में कभी-कभी अव भी सुन लिया करते है। लोक-कथा तो यह भी वतलाती है कि तव गाय मुँह ऊपर करके वेदनामय आवाज़ निकालती है, जैसे वह उस गोपाल को फिर से वुला रही हो, जैसे वह उसे अपनी वर्तमान रक्षाहीनता पर चार अश्रु गिराने को कह रही हो। और मैंने हरियाने के लोकगीत की विषाद-रेखा में गाय की करुण पुकार का कुछ अश देखा भी है।

हरियाना—गुडगाँव, हिसार, रोहतक, कर्नाल का प्रदेश—वाँगर, नहराँपुर और खादर, तीन भागो मे वाँटा जा सकता है। वाँगरे के खेत हमेशा वादलो का आसरा ताकते है, जव नहर नही निकली थी, नहराँपुर का भी प्राय यही हाल था, खादर वह भाग है, जो जमुना के साथ-साथ चला गया है, जमुना की कछार से इसका जन्म हुआ था। वाँगर का किसान गरीवी का सामना करता आया है, उसकी वेदना उसके गीत में, उसकी पृष्ठभूमि में मिलती गई है। नहर के पानी ने नहराँपुर को हरियाला जरूर वना दिया, पर यह न समझना चाहिए कि वहाँ गरीवी रही ही नही। कभी-कभी तो मालियाना भी पूरा नही निकलता और किसान का गीत वासी फूल की भाँति मुरझाता हुआ एकदम मरियल प्रतीत होता है। अभी तक किसान के गीत ने नहर के पानी को अर्घ्य नही दिया है। खादर का किसान घाटे में नही रहता, तभी उसका गीत भी उसके जीवन की भाँति ही अधिक स्वप्निल होता है। उसका गीत वहाँ मे आरम्भ होता है, जहाँ जीवन हँसता है, जहाँ वेफिक्री के फौरन वाद ही आलस्य का भी आगमन हो जाता है। और खादरा-निवासियो पर लोक-कथा ने कई वार व्यग्य कसा है, और उस किसान की वात, जिसने अपने पेटपर से मक्खी उडा देने के लिए दूर से अपनी पत्नी को पुकारा था, लोकोक्ति में समाया चाहती है। यो हरियाने में हिन्दू, मुसलमान, छोटे-वडे, धनी-गरीव, सभी वसते है, पर मुख्यतया यह जाट-भूमि ही है।

अपनी मातृभापा को, जिसे जाटू या बाँगरू का नाम मिल गया है, जाट ने काफी वल दिया है। जिस शब्द को भी वह अपनी वाणी में स्थान देता है, उसे एक अपना ही उच्चारण भी प्रदान करता है। साधारण हिन्दी शब्द भी जाट के होठो पर जाकर उच्चारण के एक खास ज़ोर और घुमाव से एक नवीन रूप-रेखा या अर्थ लेता है। समस्त हरियाने की भापा एक ही नही है। जिन्हें शिक्षा मिली है, या जो ग्रामो मे नही रहते, प्राय ऐसी भापा वोलते हैं, जो हिन्दी के पीछे चलती है, पर वे लोग जो जाट के पडोस मे धरती के नजदीक के धन्धो से रोटी कमाते हैं, जाट-भापा वोलते हैं, यह दूसरी वात है कि इनके उच्चारण में जाटका-सा वल नही आ पाता। भापा के भेदने लोकगीत को भी वाँट दिया है। जाट-भापा का रूप भी सव जगह एक-सा नही है, इसमें भी भेद है। 'जहाँ' के अर्थ में कही 'जिते' कहते है, कही 'जडै', 'तेरे' और 'थारे', 'मेरे' और 'म्हारे', एक ही अर्थ मे, थोडे-थोडे फासले पर एक साथ चलते हैं। राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है, पजावी रग भी आता है। शतदल में जैसे मकरन्द होता है, सीपी मे जैसे स्वाति-बूँद मोती को जन्म देती है, लोक-भापा के साधारण शब्दो में गायक की स्वर-लहरी एक नई ही आत्मा डालती चलती है। वशी-रव की-सी कोमलता जाट-गीत के भाग्य में नही वदी। उधार लिये शब्दो में भी जाटा-गीत एक अपनापन ले आया है, और जब कवि गीत को जन्म देता है, तो वह शब्द-चयन और वाक्यो के घुमाव मे एक स्वतन्त्र पुरुष की भाँति एक निजी रूप-रेखा को सामने रखता है। यो हरियाने की हर-एक जाति ने लोक-गीत की सृष्टि मे भाग लिया है। और जब भी कोई गहरा और विस्तृत अध्ययन हरियाने के लोकगीत को प्रकाश मे लायेगा, तो हम इसे दो अध्यायो में वँटा पायेंगे—(१) जाट-गीत, (२) अन्य जातियो का गीत।[1]

जाट लोकगीत खेत के पास-पास पला है। गीत के विकास में खेत की कोख धन्य हुई है। वाजरे के सिट्टे, मकई के भुट्टे या गेहूँ की वाले देखकर फिर जाट का गीत सुनिये। जाट की कविता को आप एक दुलहिन के रूप में पायेंगे और दुलहिन भी वह, जिसका सिंगार खेत मे उगी हुई वस्तुओ से हुआ है। शायद आप उसकी किसी लट में गेहूँ की कोई वाल देख पायें, या शायद वह वाजरे का सिट्टा या मकई का भुट्टा लिये मचलती हुई आ रही हो, खेत की मेंड के ऊपर-ऊपर अपने कान पर मूँग की फली लगाये। और जब मधु-रजनी का मिलन-गान पख लगाकर उडता है, दुलहिन की आँखो मे आप-ही-आप लज्जा आ समाती है। परिश्रमी किसान के लिए जीवन एक सुख-स्वप्न ही तो वन जाता है, तव यह गरीब नही रहता, मधुमिश्रित सोम नशा लाता है, जैसे स्वर्ग एकदम उसके घर में ही आ गया हो।

'जाट जात गगा,' हरियाना की एक लोकोक्ति है। गगा में जितनी ग्रहणशीलता है, इधर-उधर से आई धाराओं को अपने मे समाकर गगा बन सकने की जो सामर्थ्य है, वही

१ रोहतक में दो देवियो ने, जो नाद-भावज है, इस ओर यत्न किया है। इनके नाम हैं सीतादेवी प्रभाकर और लीला भूषण। इनकी पुस्तक प्रकाशन की राह देख रही है। —ले०

प्यासे पथिक को फिर हम किसी अगले कुएँ पर पनिहारी युवती से पानी पीते देखते हैं—

थोडा-सा जल मुझे पिला दो ।
वाकी डाल दो मेरे लोटे में ।
अरी ओ, तुम तो भले घर की दीखती हो,
वडे टोटे में तुमने जन्म लिया हो जैसे ।
चलो, मेरे साथ हो लो,
मैं तुम्हारे लहँगे को गोटे से मढवा दूँगा ।[४]

न-जाने वह मुग्धा पनिहारी उत्तर क्यो नही देती ? जल तो उसने पिला ही दिया होगा, पर क्या पथिक तृप्त हृदय से अपनी मजिल पर चला होगा ? चलता-चलता भी वह एक और गीत गाता गया —

चाँद-सा तेरा रूप खिल रहा है !
फुरसत में दिल लगाकर
भगवान ने तेरी रचना की होगी ।
युवती भागकर दूर निकल गई,
वह ऐसे गई, जैसे शराब में आग लग गई ।
कलीदार लहँगा पहने वह पतली कमर को
लचका कर चली गई ।[५]

पनघट पर घडो की भाँति ही न-जाने कितने हृदय टूटे होगे । पनिहारी को लोकगीत में एक चिरस्थायी स्थान मिला है ।

नारी को लोकगीत में इतना अधिक स्थान क्यो ? खेत की मेड पर वैठा किसान युवक अपनी प्रेयसी को झरने के पास का फूल दिखाता है । झरने हरियाने मे नही होते । कल्पना के ससार में तो झरनो की कमी नही —

मैं खेत की मेंड पर वैठा हूँ ।
इस प्रखर दोपहरी में तू कहाँ जा रही है ?
प्रिय, मेरा हृदय धडक रहा है ।
तू जा मत, मेरा जी भटकता है ।
तटस्थ भाव से खडी होकर चार घडी देखती जा,

---

४ थोडा-सा नीर पिला दै, वाकी घाल मेरे लोटे में,
अरे तूँ भले घराँकी दीखै, तन्ने जन्म लिया टोटे में,
तू मेरी साथ होलेगै, दामन मढवा दिऊँ घोटै मैं ।

५ रूप तेरा चन्दा-सा लिख रिआ, वे ने घडी वैठके ठाली ।
कर तावल वार भाजरी, जिसी दारु माँ आग लाग री
कलियाँदार घाघरी, पतली कमर लचकत चाली ।

झरने के फूल की सुगन्ध फैल रही है :[६]

ईख की निराई करती कन्या के गान में स्वाभाविकता की हवा वहती है —

वहुत सताया है, ईख, तूने मुझे वहुत सताया है ।

पीछे घर में मैं वालको को रोते छोड कर आई हूँ ।

डलिया में अनाज पडा है, पीसना भी अधूरा ही रहा ।

दूध देती गाय को भी विना दूहे ही छोड आई ।

निगोडी ईख, तूने मुझे वहुत सताया है रे ।

कतनी मे पूनियाँ भी विना काते ही छोड आई ।

माता-पिता को घर में छोडकर निराई करने आई हूँ ?[७]

श्रमिक जातियो की स्त्रियाँ और कन्याएँ प्राय किसान के यहाँ निराई का काम करने आती हैं, पर इससे उन्हें हमेशा भर पेट मजदूरी नही मिल पाती । किन्तु क्या कन्या का यह गान गरीवी की पुकार है ? क्या यह ईख के प्रति दुलार-भरा उलहना नही है, जो उसे घर की वन्द हवासे वाहर वुलाती है ? इस मानवी प्रेम से शायद उसका हृदय सरस हो उठेगा, इसीसे शायद ईख अधिक रसमय होकर उगेगी ।

वाजरे की खेती में जुटा हुआ किसान वाजरे के दिल की वात वूझ लेता है । वाजरा क्या यो ही उगता है ? यो ही पकता है ? वाजरा खूव जानता है कि उसका जन्म किसान-

---

६. मैं वैठ्या खेत कै डोले पै
कित जासै सिखर दुपहरे नै ?
मेरी जान कालजा खटकै
मत जाइए जी, जी भटकै
लिए देख चार घडी डटकै
खसवू आरई फूल झारे में ।

७ वहुत सताई ईखडे रै तैंने वहुत सताई रै ।
वालक छाडे रोमते रै, तैंने वहुत सताई रे ।
डालडी मैं छाड्या पीसना,
और छाडी सलागड गाय,
नगोडे ईखडे, तैंने वहुत सताई रे ।
कातनी में छाड्या कातना,
और छाडे से वाप और माय,
नगोडे ईखडे तैंने वहुत सताई रे ।
वहुत सताई राडे रै, तैंने वहुत सताई रे ।
वालक छाडे रोमते रै, तैंने वहुत सताई रे

जाट लोकगीत में भी है। जाट की भी अपनी ही एक नीति है, कोई उसे यो ही ठग नही सकता। 'जाट-विद्या' उसकी नीतिकुशलता का दूसरा नाम है। 'अनपढ्या जाट पढ्या बरा-वर, पढ्या जाट खुदा बरावर' में उसकी तटस्थता लोकोक्ति की अमर वस्तु वन गई है। 'जाट मरया जव जाणिए जव वरसौड्डी (वरसी) हो जाय'। जाट वीर होता है और उसकी मृत्यु यो ही नही हो सकती। खानावदोशो की एक लोकोक्ति मे यही गुण खानावदोशो की झोली में डाला गया है, 'खानावदोश के शरीर के दस भाग करने से क्या उसे खत्म कर दिया गया है ? नही, आपने एक से दस खानावदोश वना दिये है।' जाट के ये सभी गुण उसके गीत में भी आ गये हैं।

जाट-गीत को परे रखकर हरियाने की कल्पना करना ऐसा ही है, जैसे मधुमक्खियो के-विना मधुकोश पा सकने का व्यर्थ प्रयत्न। विवाह-गान का अंचल पडोसी प्रान्तो के विवाह गान से छू गया है। वालक-जन्म के गान का तथा कुछ झूले के गीतो का भी यही हाल हुआ है। इससे क्या ? जाट को अपने हृदय-मन्थन के लिए विस्तृत समय मिला है। उसका गीत फसल के साथ-साथ पकता है। चौडे कन्धोवाला, सूर्य के प्रकाश में तपे हुए मुखवाला यह धरती का वेटा अपनी रूप-रेखा मे समस्त जाट-जाति को पेश करता है। जव वह हँसता है आप भी अपने हृदय में हँसी की लहर उठती पाते है, जव वह गाता है, समस्त जाट-जाति के दिल की धडकन सुनी जा सकती है। जाट की जीवन-कथा उसके गान से कही अधिक लम्वी है।

जाट का कौमी गायक सागी जव सारगी पर गान करता है, जाट-हृदय उधर आक-र्षित हुए विना नही रहता। यह जरूरी नही कि सागी स्वय जाट-जाति मे से हो। और जव वह गाता है, उसका कथानक नाटकीय रूप में होकर वहता है। प्रेम और यौवन का इतिहास जाग्रत होकर वोलता है। जूही और रजनीगधा वहाँ नही तो क्या हुआ, दिल तो है, और दिल की दुनिया में प्रेम और यौवन सदा फूल वनकर खिलते हैं। सागी का गीत प्रेम और यौवन से ऊपर नही उठता, जैसे गाने-योग्य केवल-मात्र यही एक भूमि हो। वह अपना एक-एक शब्द श्रोतामण्डली पर प्रभावमय वातावरण मे फैलाता है, और जनता एक शरीर और सैकडो सिरो के साथ कोहरे में से झांकती ऊषा का आवाहन करती है। सागी का गीत समस्त लोक-जीवन में गूँज उठता है :—

तेरे (सौन्दर्य) से घायल होकर
मैं वन के मोर की तरह रोता हूँ।
पाजेव तेरे पैरो में ऐसे वजती है,
जैसे सन के वीज झकार करते हैं।
अरी ओ थोडा-सा जल पिला दो मुझे,
दूर का (पथिक) हूँ मैं, प्यास से व्याकुल।[1]

---

१ तेरा मारिया ऐसे रोऊँ जिसा झरता मोर वनीका,
तरे पाइयां मां पायल वाजे जिसा वाजे वीज सणीका,
थोड़ा-सा नीर पला दै, प्यासा मरता दूर घणीका।

संसार की बहुत सारी कविता किसी प्यास का गान है। पथिक की आवाज़ क्या यो ही हारकर रह जाती है ? यह घायल करनेवाला सौंदर्य आखिर क्या अर्थ रखता है ? सन के बीजो की पायल पहने मुग्धा पनिहारी पथिक को क्या समझती होगी ? शायद वह स्वय किसी प्यासे पथिक की प्रतीक्षा में थी। और सागी का यह गान आदम और हव्वा का गान हो उठता है। उसकी उँगलियो में फुरती आ जाती है, और कठ मे बल और वेग ही नही आते, मृदुलता भी आती है। सौंदर्य में इतनी हिलोर क्यो रहती है ? और यह स्वच्छन्द पुष्प कुएँ के समीप कब से खिलता आया है ? सौंदर्य हमेशा से ही एक नई दिशा क्यो बताता आया है ? पुरुष सदा से नारी को इसी रूप में देखता आया है। नारी कहती है—"मैं तो यहां उगी हुई हरी दूब हूँ।"[२]

लम्बा कथागीत सागी का प्रिय सखा है। वह 'साग' (स्वाग) कहलाता है। किसी समय यह गीत जो वित नाट्य-रूप लिए रहा होगा। जीवन-रस की कमीने इसकी पहली शान बर-करार नही रहने दी। गीति-नाट्य मे यदि जीवन के चिर-सत्य की प्रतिष्ठा न की जाय, तो वह अधिक नही जी पाता। जब लोकजीवन में धरती-सी अटूट सादगी थी और गेहूँ की रोटी की-सी पुष्टि थी, सागी दुनिया-भर को अपने गीत में समेट लेने की शक्ति रखता था। लोक-जीवन की पूर्ण रूप-रेखा ही बस सागी की दुनिया होती थी, यह बात नही, परी-देश का अचल तथा देवताओ की कहानी का ताना-बाना भी सारगी के तारो को छू जाते थे। एक दिन लास्य और ताण्डव दोनो ने ही इसे अपना-अपना स्पर्श प्रदान किया था। एक छोटा गीत, 'कडा', भी लोकप्रिय हुआ है। रागनी, एक दूसरा छोटा गीत जिसका प्रत्येक भाग 'कली' कहलाता है, जाटगान का एक उज्ज्वल अग है। इन्द्रधनुष के सभी रग इसके हिस्से आये है। नारी के गीत ने विभिन्न छन्द-प्रवाह धारण किये हैं। खेत और घर-गृहस्थी की बहु-मुखी कार्यप्रणाली के पीछे जो एक ताल रहता है, उसीके उतार-चढाव के कई रूप उसके गीत की पृष्ठभूमि में समा गये हैं।

सागीने अनेक बार 'सांग' के अलावा दूसरे गान को अपनाया है। प्यासे पथिक का गीत सारगी से बहुत मेल खाता है —

मैं जाट पिता का लाडला पुत्र हूँ।
मुझे प्यास लगी है।
लगी आग पानी पिये बिना नही बुझती।
रास्ते में पक्का कुआं बना है,
किस पापी ने यह जुल्म किया कि इस पर डोल नही रखा ?[३]

---

२ मैं हरी-हरी दूब खडी सेलो।

३ जाटका मैं लाडला तिरसा लगी सरीर,
अगन लगी बुझती नहीं, बिना पिये जल-नीर,
बिन पिये जल नीर,—रस्ते में कुयाँ चुनाया,
किस पापी ने यो जुल्म कमाया ? उपै डोल ने पाया !

प्यासे पथिक को फिर हम किसी अगले कुएँ पर पनिहारी युवती से पानी पीते देखते हैं—

थोडा-सा जल मुझे पिला दो ।
बाकी डाल दो मेरे लोटे में ।
अरी ओ, तुम तो भले घर की दीखती हो,
बडे टोटे में तुमने जन्म लिया हो जैसे ।
चलो, मेरे साथ हो लो,
मैं तुम्हारे लहँगे को गोटे से मढवा दूँगा ।[४]

न-जाने वह मुग्धा पनिहारी उत्तर क्यो नही देती ? जल तो उसने पिला ही दिया होगा, पर क्या पथिक तृप्त हृदय से अपनी मजिल पर चला होगा ? चलता-चलता भी वह एक और गीत गाता गया —

चाँद-सा तेरा रूप खिल रहा है ।
फुरसत में दिल लगाकर
भगवान ने तेरी रचना की होगी ।
युवती भागकर दूर निकल गई,
वह ऐसे गई, जैसे शराब मे आग लग गई ।
कलीदार लहँगा पहने वह पतली कमर को
लचका कर चली गई ।[५]

पनघट पर घडो की भाँति ही न-जाने कितने हृदय टूटे होगे । पनिहारी को लोकगीत में एक चिरस्थायी स्थान मिला है ।

नारी को लोकगीत में इतना अधिक स्थान क्यो ? खेत की मेंड पर बैठा किसान युवक अपनी प्रेयसी को झरने के पास का फूल दिखाता है । झरने हरियाने में नही होते । कल्पना के ससार में तो झरनो की कमी नही —

मैं खेत की मेंड पर बैठा हूँ ।
इस प्रखर दोपहरी में तू कहाँ जा रही है ?
प्रिय, मेरा हृदय धडक रहा है ।
तू जा मत, मेरा जी भटकता है ।
तटस्थ भाव से खडी होकर चार घडी देखती जा,

---

४ थोडा-सा नीर पिला दै, बाकी घाल मेरे लोटे में,
अरे तूँ भले घराँकी दीखै, तन्ने जन्म लिया टोटे में,
तू मेरी साथ होलेगी, दामन मढवा दिऊँ घोटै मैं ।

५ रूप तेरा चन्दा-सा खिल रिआ, वे ने घडी बैठके ठाली ।
कर तावल वार भाजरी, जिसी दारु माँ आग लाग री
कलियाँदार घाघरी, पतली कमर लचकत चाली !

झरने के फूल की सुगन्ध फैल रही है :[६]

ईख की निराई करती कन्या के गान मे स्वाभाविकता की हवा वहती है '—

वहुत सताया है, ईख, तूने मुझे वहुत सताया है ।
पीछे घर में मैं वालको को रोते छोड कर आई हूँ ।
डलिया मे अनाज पडा है, पीसना भी अधूरा ही रहा ।
दूध देती गाय को भी विना दूहे ही छोड आई ।
निगोडी ईख, तूने मुझे वहुत सताया है रे !
कतनी मे पूनियाँ भी विना काते ही छोड आई ।
माता-पिता को घर में छोडकर निराई करने आई हूँ ?[७]

श्रमिक जातियो की स्त्रियाँ और कन्याएँ प्राय किसान के यहाँ निराई का काम करने आती हैं, पर इससे उन्हें हमेशा भर पेट मजदूरी नही मिल पाती। किन्तु क्या कन्या का यह गान गरीवी की पुकार है ? क्या यह ईख के प्रति दुलार-भरा उलहना नही है, जो उसे घर की वन्द हवासे वाहर वुलाती है ? इस मानवी प्रेम से शायद उसका हृदय सरस हो उठेगा, इसीसे शायद ईख अधिक रसमय होकर उगेगी ।

वाजरे की खेती में जुटा हुआ किसान वाजरे के दिल की वात वूझ लेता है। वाजरा क्या यो ही उगता है ? यो ही पकता है ? वाजरा खूव जानता है कि उसका जन्म किसान-

---

६. मैं वैठ्या खेत कै डोले पै
कित जासै सिखर दुपहरे नै ?
मेरी जान कालजा खटकै
मत जाइए जी, जी भटकै
लिए देख चार घडी डटकै
खसवू आरई फूल झारे मैं ।

७ वहुत सताई ईंखडे रै तैंने वहुत सताई रै !
वालक छाडे रोमते रै, तैंने वहुत सताई रे !
डालडी मैं छाड्या पीसना,
और छाडी सलागड गाय,
नगोडे ईंखडे, तैंने वहुत सताई रे !
कातनी मैं छाड्या कातना,
और छाडे से वाप और माय,
नगोडे ईंखडे तैंने वहुत सताई रे ।
वहुत सताई रारे रै, तैंने वहुत सताई रे !
वालक छाडे रोमने रै, तैंने वहुत सताई रे

कुलवधू को पुष्ट करने के लिए हुआ है। वह बडा अलवेला है। वह कहता है, 'मैं दो मूसलो से अकेला ही लड सकता हूँ'[८]। किसान कुलवधू को वाजरे का यह कथन हमेशा याद रहता है। जुआर वेचारी क्यो कुछ नही वोली ? शायद वह लजा गई। पर इससे क्या ? किसान-कुलवधू जुआर को भी सदा से अपने सस्मरण में जगह देती आई है। वाजरा और जुआर दोनो पति-पत्नी है। एक जाट लोक-कथा में यह वात आई है, वाजरा एक शाहजादा था और जुआर के अमोघ सौंन्दर्यपर रीझकर उसने उसे वाद में अपनी पटरानी वना लिया था और मरने के बाद वे खेत मे साथ-साथ उगने लगे। आषाढ के अन्त में वाजरा और जुआर बोये जाते है। दोनो पर श्यामल मेघ एक साथ वरसते है। और खेत में किसान के लिए भोजन लाते समय नारी के हृदय में यह जान लेने की आकाक्षा उत्पन्न होती है कि वाजरा कहाँ वोया गया है और जुआर के लिए कौन-सी जगह चुनी गई है। शायद वाजरे के-से श्यामल किसान के लिए नारी का रूप जुआर की तरह निखर उठना चाहता है, एकदम गौरवर्ण होकर, फूलकर —

कोई काली वदली वरसने लगी है।

"अजी ओ किसान, मैं मेंड-मेंड पर घूमी-फिरी,
तुम्हारा खेत मुझे मिलने मे ही नही आता।
चार बैलो के लिए तो मैं 'भूसा' लाई हूँ,
दो आदमियो के खाने लायक 'छाक' लाई हूँ।"
कोई काली वदली वरसने लगी है।
"गोरी धन, जरा किसी ऊँची मेंडपर चढकर निहार लो।
मेरे गोरे वैलके गलेमें वडी घण्टी भी तो वज रही है।"
कोई काली वदली वरसने लगी है।
"अजी ओ किसान, किस तरफ तुमने वाजरा वोया है ?
और कहाँ वोई गई है जुआर ?"
कोई काली बदली वरसने लगी है।
"गोरी धन, ऊपर के खेत में वाजरा बोया है,
निचले खेत में जुआर बोई है।'
कोई काली वदली वरसने लगी है।[९]

---

८ वाजरा कहे मैं वडा अलवेला,
दो मूसल मैं लडूँ अकेला।
जो तेरी नाजो खीचडा खाय,
फूल-फाल कोठी हो जाय।

९ कोई वरसन लागी काली वादली !
"डोलैं तै डोलै, हालीडा, मैं फिरी
मन्ने किले न पाया थारा खेत।"
वरसन लागी काली वादली !

यह क्या ? जुआर खेत में भी निचली भूमि में उगती है, बाजरा ऊपर के खेत में जा विराजा है। अभी वे स्त्री-पुरुष की बात नही भूले। एक किसान ने मुझे बाजरे और जुआर की मानव-जन्म की कथा सुनाते हुए बताया था कि जुआर स्वय अपनी पुरानी संस्कृति को बनाये रखना चाहती है।

जब 'हरियाली तीज' का गान सावन की फुहार में भीगना चाहता है, कुलवधू अपने नैहर जाने के लिए लालायित हो उठती है। कितनी पुरानी होगी यह हरियाली तीज ? सीता से भी इसे मनाया होगा, दमयन्ती ने भी। कितने सावन देखे होगे नारी के इस त्योहार ने ! वृक्षो पर हिंडोले पड जाते हैं, दिन-दिन भर झूलते बीतता है। मल्हार के स्वर हृदय में बस जाते है। कुलभघू की चुनरी और इन्द्रधनुष में होड लगती है। पर हरियाली तीज के गान में करुण-रस को भी तो स्थान मिलता है। हरएक कुलवधू नैहर नही जा पाती थी। 'सरिहल रानी' का गान शायद किसी लम्बे दु खान्त काव्य का एक भग्नावशेषमात्र है। जरूर इसका कथानक बहुत लम्बा रहा होगा —

'रंग-भरा सावन आ गया है, हरियाली तीज आ रही है।
सासजी, मुझे नैहर भेज दो।'
'न कोई ब्राह्मण तुझे लिवाने आया है,
न खुद तेरा माँ-जाया भाई।
कुलवधू, यो बिना बुलाये जाने से
तेरा आदर घट जायगा।
तू यहाँ ही सावन मान इस बार।'
मैं ऊँची अटा पर चढकर देख रही हूँ।
कोई आ रहा है, उसे मैं देवर भाव में देखूँ या जेठ के रूप में ?
अजी ओ बढई के बेटे, चन्दन का पालना घड ला।

"कोई प्यार बुलदाका, हालीडा, नीरना
दोए जणिएँ की छाँक !"
वरसन लागी काली बादली !
"कोई ऊँचै तै चढ कै, गोरी धन, देखे लियो,
म्हारे गोरे बुलद कै टाल !"
वरसन लागी काली बादली।
"कितरज बोया, हालीडा, बाजरा ?
कोई कितरज बोई जवार ?"
वरसन लागी काली बादली !
"थलियां तै बोया, गोरी धन, बाजरा,
कोई ऊँरा बोई जवार।"
वरसन लागी काली बादली ?

नौ आदमी हैं, उनके पास आठ कुल्हाडे हैं।
वेग से वे वन की ओर बढ रहे हैं।
तालाव की ऊँची पाल पर चन्दन का पेड खडा है।
बढई आता देखकर चन्दन का पेड छाती फाडकर रो पडा।
'मेरी एक-एक डाल काट लो,' वह बोला,
'पर मुझे जड से न काटना।'
पहला कुल्हाडा मारने पर चन्दन से दूध की धारा वह निकली।
दूसरा कुल्हाडा मारने पर रक्त-धारा वह पडी।
गोरी कलाइयो पर हरी चूडियाँ पहन रखी हैं।
अजी ओ जुहार की रानी, तुम्हारा हृदयेश तो मारा गया है।[10]

---

१०. सामण आयो रगलो कोई आई रे हरीयाली तीज।
सास म्हारी प्यारी, गजव की मारी,
मोकैं तौ खडा दै पीहरको म्हारी लाड सासुला, प्यारी!
नई आया थारा नाई वामण, न माँ-जाया वीर,
राजा की रानी, जहार की रानी,
तो कै आडै ई घडा देऊँ पालणो,
म्हाणी लाड वहुरिया प्यारी।
विगर वुलाई घन जायगी, घट जायगो आदर-भाव,
राजा की रानी, जहार की रानी,
तू आडै ई सामण मान, मेरी लाड वहुरिया प्यारी?
ऊँचै तै चढकै देख रई तोकै दिवर कहूँ कै जेठ,
सुघड खाती कै, वगड खाती कै,
चन्नणको घड लिया पालनो, जामें झूले सरिहल रानी।
अजी आठ खुराडा नौ जना, कोई दग-दग जायँ वनको
राजा की रानी जहार की रानी,
ऊँचो पाल तलायो की, जिते खडरिया चन्नण को पेड।
खाती आता देख के कोई रोया छाती पाड
विरछको पौदा, चन्नणको पौदा
डाल-डाल म्हारी काट लै, रै मन काटै जड से पेड।
पहलो खुराडो मारियो, कोई निकसी दूव की धार
राजा की रानी, जहार की रानी
एकासे दूजो दियो, जासे निकसी खूना धार।
हरी-हरी चुरियाँ गोरी-गोरी वहियाँ, कुन पै कियो सिंगार?
राजा की रानी, जहार की रानी,
थारो राजघन मर गयो, रै धरती माँ गयो समाय।

यह सरिहल रानी कौन थी ? जुहार का सम्वन्ध इतिहास की किस कडी से है ? शायद वे ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर किसी परी-कथा के पात्रो की परछाई भर हो। हरियाने में चन्दन नही उगता, यह सिर्फ कल्पना के पखो पर उडकर ही यहाँ आ पहुँचा है।

वृक्ष ने सोचा होगा, वढई ने मेरा प्रस्ताव मान लिया है, वह मेरी जड न काटेगा, इसी से आनन्दित होकर उसका हृदय दूध वनकर प्रकट हुआ। पर वृक्ष को भ्रान्ति हुई थी। ठीक दूसरा ही वार उसकी जडपर किया गया। वृक्ष की मृत्यु नजदीक आ गई थी। उसका हृदय लहूलुहान होकर वाहर आ गया। मरता-मरता वृक्ष शायद एक अभिशाप देता गया, उसीके फल-स्वरूप सरिहल की हरी चूडियाँ टूट गई, वृक्ष की भाँति ही उसका पति भी विन आई मौत मर गया। और जव गश्ती गायक गाता है, "अरे परदेशी ! एक दिन यहाँ से चल देना होगा।"[११] तो वह शायद चन्दन वृक्ष तथा जुहार का करुण अन्त भी स्मरण करा दिया करता है। मौत का करुण गान एक दिन समस्त जीवन पर छाकर रहेगा शायद। गायक के स्वर विलाप में डूव जाते हैं

जीवन की गलियो में कुछ दिन और विता ले !
मालिक ने वाग लगाया है, कलियाँ खूव खिली हैं।
हाथ में कई एक डलिया लिए मौत-मालिन वनी डोलती है।
वह खिली-अधखिली में भेद नही करती,
सव कलियाँ तोडने पर तुली है।[१२]

पहले एक छवीली घोडी को निहारिए, फिर जाट नारी को, आप दोनो में कुछ सादृश्य पाएगे, इसकी पुष्टि भी कर दी है, और जाट नारी का क्रोध शेरनी की याद दिलाता है। वह तेज गहरे रग पसद करती हैं। यही हाल उसकी भाषा का है। वह इठला कर चलना जानती हैं। लोकगीत ने उससे वहुत कुछ पाया है। सन के वीजो से वनाई गई पाजेव और उससे आती हुई झकार को तो लोकगीत के हृदय में आसन मिल ही चुका है। नारी-हृदय मे कितनी प्रेरणा भरी है ! नारी के पुजारी एक कवि की वात हर किसान जानता है। पके शहद का सा रंग था कवि की प्रियतमा का। सदा वह उसी का गान करता और सदा यही कहता, "यदि अगले जन्म में अपनी जून चुनने को मिलेगी, तो मैं पके शहद के रग की एक मुग्धा वनना चाहूँगा।"

---

११ परदेसी आडे से चलता रे परदेसी।

१२ कोए तो दिन हांड लै गलिएँ !
मालिक मेरे ने वाग लुआया
खूव खिली कलिएँ ! कोई तो दिन .
मौत-मलिन फिरै वाग मैं
हात लई टलिए ! कोई तो दिन
कचे पाकां की गैर नै जानी,
तोड़ रई कलिएँ।

हरियाने के एक गीत की धारा चौडे पाटवाली है। नारीने इसे प्रेरित किया है, इसमें स्वय भाग लिया है। जाट कविता की कछार में 'रागनी' एक अलग ही व्यक्तित्व रखता है। जब भी गायक भावना-प्रधान भूमि में पाँव रखता है और 'रागनी' छेडता है, नारी उसे सुन रही होती है। 'रागनी' के पीछे हमेशा एक विशेष करुण स्वर से आच्छादित एक गहरी भावुकता रहती है। रागनी के स्वरों में मानव-प्रेम का छोर सरल, मर्मी भगवत-प्रेम की ओर झुकने लगता है। ओस की शीतलता और उषा की लाली रागनी की पृष्ठभूमि को छू-छू जाती है।

'रागनी' की स्वर-लहरी नाचती हुई चलती है,:एक ज्योति लिए हुए। दिल का बुझता हुआ दीया इसके स्पर्श से झटजल उठता है। पहले-पहल किस कंठ ने इसका सरगम रच दिया था ? यह प्रश्न मेरे हृदय में तभी उठ खडा हुआ था, जब मैं पहली बार इसके ससर्ग में आया। कइयो ने कहा, यह हरियाने की पुरानी विभूति है, इसका उद्‌गम कौन जान सकता है। कुछ बोले, इसकी जमीन जरूर पुरानी है, पर इसके वर्तमान रूप का काफी श्रेय दीपचन्द को मिलना चाहिए। बहुतो ने कहा, पहले-पहल दीपचन्द के कठ में ही इसका जन्म हुआ था। जैसे मधु चाटते समय हमें मधुमक्खी और फूल की याद आ जाती हैं, रागनी सुनते समय दीपचन्दको स्मरण कर लेना चाहिए।

दीपचन्द का घर रोहतक जिले के अन्तर्गत सेरीखण्ड गाँव में था। उसने कवि का हृदय पाया था, वह गायक भी अच्छा था, और अपनी पारिवारिक ब्राह्मणवृत्ति की ओर न झुक कर उसने जनता का गायक बनना ही पसन्द किया। जब जगे यूरोप शुरू हुआ, दीपचन्द हरियाने का प्रमुख गायक था। उसका गीत सदा ठीक जगह पर जाकर बैठता था। और जब वह एक खास शान से सर उठा कर गान आरम्भ करता था, ऐसा लगता था, जैसे किसी शिल्पी ने पीतल के एक बडे टुकडे को सुन्दरतापूर्वक छैनी से छील छील कर उसके सर और मुख की रचना की हो। सरकार ने उसे भरती के कार्य में ले लिया, और जाट युवको को युद्ध में जाने के लिए उसका गान कभी बेअसर न रहा। गायक दीपचन्द को अपनी सेवाओ के एवजाने में सरकार से बहुत-सा धन मिला था। हरियाने की जनता का तो कहना है कि एक रगरूट के पीछे तीन रुपये मिले थे और कुल जमा लगभग एक लाख रुपये उसे मिले थे। सरकार ने उसे काफी भूमि दी थी और रायसाहब की उपाधि भी। जब दीपचन्द की मृत्यु हुई, वृद्धावस्था कभी की आ चुकी थी।

दीपचन्द के प्रथमतम भरती गान को अभी हरियाना भूला नही —
अजी ओ आओ, फौज में भरती हो जाओ !
तुम्हारे द्वार पर रगरूट खडे हैं, देखो तो।
यहाँ कुछ ऐसा ही मैला वेश रहता है,
पहनने को फटे-पुराने वस्त्र ही तो मिलते हैं ना।
पर वहाँ (नवीन वस्त्रो के साथ ही) फुलबूट मिलते हैं ?[१३]

१३ भरती हो लैरे थारे बाहर खडे रगरूट !

गीत को आगे भी बढाया गया था। 'फुलवूट' के साथ 'विस्कुट का तुकान्त मिला कर एक और प्रलोभन यह पेश किया गया था कि यहाँ गाम्य-जीवन मे चने चवाने को मिलते है और वहाँ फौजी जीवन में सिपाही विस्कुट का आनन्द लेता है। अग्रेजी शब्द 'रिक्रूट' का देशी रूप रंगरूट हरियाने की भापा का अपना शब्द बन गया। गीत मे किसी विशेष युवक को सम्वोधन नही किया गया था, पर जिसने भी इसे सुना, वही समझा कि उसे ही बुलाया जा रहा है, और झट उसने अपने को रंगरूट-मण्डली में शामिल पाया।

एक दूसरे भरती-गान में जाट कुलवधू ने अपने युवक पति को सम्वोधन किया था—

फौज में भरती हो जाओ, प्रियतम !
मुझे तुम्हारे क्षत्रीपन का तोल मिलना चाहिए।
जाओ जर्मनो से लडो।
अपने पूर्वजो का नाम उज्वल करो।
जाओ तोपो के सम्मुख जाकर अड जाओ।
अपनी छाती खुली कर लेना !
फौज मे भरती हो जाओ, प्रियतम ![१४]

वहुत भरती हुई। युद्ध शुरू हो ही चुका था। कई वर्प तक जाट सिपाहियो की पलटने जुटी रही। कितने ही जाट युवक वीरतापूर्वक लडे, वहुत से मृत्यु के शिकार भी हुए। छ नम्वर की पलटन के वहुत से जाट सिपाही फिर युद्ध-भूमि से वापस न लौटे, सैंकडो जाट स्त्रियाँ विधवा वन गई। दीपचन्द ने अपने एक गान में इस ओर सकेत किया था —

जर्नन ने गोला मारा,
आकाश में जाकर यह गोला फटा।
लगर में रोटी खाते सिपाही रोटी छोड कर भागे।

यां ऐसा रखते मध्यम वाना
मिलता पटिया पुराना
वां मिलते हैं फुलवूट।
भरती हो लैरे थारे वाहर खडे रगरूट !

१४ पिया, भरती मैं हो लै ने,
पट जा छत्तरीपन का तोल !
जरमन मैं जा कर लडिए,
अपने माँ-वाप का ना करिए।
ओ तोपो के आगे डटिए,
अपनी छाती मैं दे गोल।
पिया भरती मैं हो लै ने,
पट जा छत्तरीपन का तोल !

अरे इन स्त्रियो में से किन-किन के पति जीते वचेंगे ।[१५]

जिनके पति छ नम्बर की पलटन के सिपाही हैं —और फिर विधवा स्त्रियो ने स्वयं जिस गान की रचना की, वह एक अभिशाप ही तो था —

अरे जर्मन, तेरा राज चला जाय,
आज या कल सुवह ।

अरे तूने वेगाने लाल मार डाले
वे हमारे पति जो जहाजो में भर-भर कर फौज में ले जाये गये थे ।
हाय मैं शृगार करूँ तो कैसे ?
मेरा हृदय धडक रहा है ।[१६]

दीपचन्द की कितनी ही रचनाएँ लोकगीत में समा गई हैं । गश्ती गायक उन्हें वडे चाव से गाता है । रोहतक के समीप एक गाँव में मैंने एक सिपाही और उसकी पत्नी का गान सुना था । पत्नी ने भरती होने के लिए जा रहे पति को सम्वोधन किया था —

मैं वाँगर की हूर हूँ, एकदम परी सरीखी ।
साँगर की फलियाँ खाकर मैं पली हूँ ।
प्रियतम, आखिर मुझे क्या समझते हो तुम ?
मुझे छोड कर न जाओ, इस कपटी दिल को मोड लो ।
तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम वेग में आ रहा है ।[१७]

१५, जरमन नैं गोला मारिया,
जा फूट्या, था अम्वर मैं ।
गारद से सिपाही भाजै
रोटी छोड गये लगर मै
अरे उन तिरिउन का जीवै,
जिनके वालम छे नम्वर में

१६ जरमन तेरा जाइयो राज,
आज ना तडा तडकै ।
तन्ने मारे विराने लाल
जहाज भर-भरके ।
मैं किस पर करूँ सिंगार,
कालजा धडके ।

१७. मैं हूर पुरी वांगर की, मन्ने फली खा लई सागर की ।
मेरीके वूझे भरतार ?
म्हने छोड न जइए, अपना कपटी दिल समझइए
ओ भर.' वुरा वनियाँ से पियार ।

पति न माना, वह भरती जा हुआ। पत्नी ने मर्द का भेप धारण किया। उसी पलटन मे वह भी भरती जा हुई। अव पति उसे चुपके से घर चले जाने के लिए समझाता था—

भूल क्यो कर रही हो ?
तेरा रूप सरसो के फूल के समान खिल रहा है।
दरद की वात क्यो वोलती है तू ?
यदि तुझ वीर मरद का भेद खुल गया,
हवालात मे बन्द करेंगे तुम्हें, कितना पीटेंगे वे।[१८]

कथानक के अनुसार पत्नी ने जब यह वादा ले लिया कि पति भी वाद में नाम कटाकर घर लौट आयेगा, वह वापस चली गई थी। गश्ती गायक के कंठ में कितनी मृदुलता भरी रहती है, और मैंने देखा कि इस गायक मैं सगीत के प्रति एक विशेप रुचि थी, जो कितने ही गायको में कामचलाऊ प्रवृत्ति तक आकर ही ठहर जाती हैं, तभी इस गायक की आँखें, जो साधारणतया रूखी-सी थी, ग्राम की इस महफिल की पूर्णाहुति के समय चमकने लगी थी।

फौज से पेन्शन पाने के वाद जाट सिपाही प्राय अपने ग्राम मे लौट आता है। उसकी रुचि किसी कदर वदल चुकी होती है। कई नये शब्द भी वह अपने साथ लाता है। शायद अपनी प्राचीन सस्कृति के प्रति उसकी आस्था भी हिल चुकी होती है। वह शायद स्वयं लोकगीत को अपने कठ में स्थान नही देता, पर जव ग्राम की आत्मा लोकगीत से स्पन्दित होती है, इसके स्वर स्वय पेन्शनयाफ्ता सिपाही को फिर से अपनी ओर आकर्पित कर लेते है।

हरियाने का लोकगीत एक ज़िन्दा विभूति है। इसकी ज़मीन ज़रखेज़ है। उसे अपना पुराना वैभव याद है, नई कमाई करनेकी सोच भी है। जाटकी कल्पनामें, उसकी भावनाओमें, उसकी भावनाओमें, उसके अट्टहासमें, उसकी तटस्यतामें, उसके सुख-दुःखकी सामग्री में अव भी सृजन-शक्ति है। आजका जाट लोकगीत एक स्पष्ट रेखाचित्र वन जाना चाहता है। पर नूतनताका प्रलोभन जव गायकको अपनी जडें अपनी धरती में खूब गहरी ले जानेसे विमुख कर देता है, लोकगीतका भविष्य खतरे में पड जाता है और फिर एक वात और भी तो है, आजका गायक जिस भापाका प्रयोग करता है, वह ठेठ लोक-भापासे ,परे हो चली है।

इधर बूढे वैल का गीत लोक-प्रिय होने जा रहा है। वूढा वैल रोकर कह रहा है '—
अरे पापी, मुझे वेच मत।
मैं तेरे हलमें जुतता आया हूँ, कोल्हूमे भी।

---

१८ मोरे क्यो गेरे से भूल,
रूप खिल दिया सरसो का फूल
क्यो वोलेसे वाता दरद की।
मेरे चुभरी एणी रे करद की,
मालुम पट जा वीर मरद की,
पा पीटे हवालातमें।

कितना अनाज कमाकर
मैंने तेरे घरमे डाल दिया है।
अब तूने अपना हृदय पाषाणका बना लिया है।
मैंने तेरा किसी कदर बजर खेत भी उपजाऊ बना डाला,
छकडेमे जुतनेसे भी मैंने कभी मुँह न मोडा
और अब तू मेरी मिट्टी—मेरी यह वृद्ध—बेचने जा रहा है?
अजी ओ किसान, मुझे क्यो बेच रहे हो?[१९]

यह गीत अभी विकासके पथपर है। इसी भावका इससे बहुत-कुछ मिलता-जुलता गीत पंजाबी में भी बना है। शायद आगे चलकर बैलका गीत एक आदर्श लोकगीत बन जाय। इसी सिलसिलेमें एक गायका गीत भी बन गया है —

धौली गाय कह रही है, मेरी कोई नही सुनता।
कहाँ गया वह मेरा गोपाल—मेरा भगवान?
मैं दु ख पा रही हूँ।
ससार मेरा दूध पीता है, घीसे खिचड़ी खाता है।
मेरे पुत्र अनाज कमाते हैं, महँगे भावकी रुई भी,
मेरे दूध का बना दही खाकर संसार सुखी हो रहा है,
तो भी मेरे गलेपर छुरी चलती है।[२०]

---

१९ अरे निऊँ रोवै बूढ बैल,
म्हाने मत बेचै रै पापी।
तेरे कुल कोल्हूमे चाल्या
नाज कमाकै तेरे घरा घाल्या
इब तन्ने कर ली है वज्जरकी छाती।
अरे निऊँ रोवै
तेरा वज्जड खेत मन्ने तोडया,
गाडीते न मुंह मोडया,
इब मेरी बेचै से माटी।
मेरी रे क्यो बेचै से माटी?
अरे निऊँ रोवै

२० निऊँ कह रही धौली गाय, मेरी कोई सुनता नई।
मेरे कित गये सिरी भगवान, मैं दुख पाय रई।
मेरा दूध पीवे ससार, घी से खाय खिचडी,
मेरे तूह कमावैं नाज मैंघे मा की रुई।
मेरी दहीए सुखी ससार, जम भी मेरे गल पै छुरी!

शायद इस गीत की रचना में किसी गोशाला के गवैये का हाथ हो। अभी यह कुठाली में ही गल रहा है, भाषा भी बहुत कुछ हिन्दी के पीछे चली है।

एक नवीन गान में किसान स्त्री ने अपने पति को कपास बोने से रोका है। जब आवियाना भी नही निकलता, इसी गीत में सत्य की रेखा दौड जाती है—

प्रियतम, मेरी बात मान लो,
कपास मत बोओ।
अवियाना सर चढ जायेगा, डडे अलग खाओगे।
प्रियतम, कपास मत बोओ।[२१]

गरीबी का गान तो है ही बिलकुल नवीन रग लिए हुए —

बुरी है यह गरीबी, धन बिना कैसा नखरा ?
धनी गरीब के घर आकर जो चाहे कह जाये।
गरीब उसकी ऊँची-नीची बात सह जाता है।
धन बिना सर पर बँधा सेहरा भी व्यर्थ चला जाता है।
गरीब उमर भर दुःख पाता है।
भूखा नगा रहकर हल जोतता है।
अरे ओ भोगा, यह बिना घी की चूरी
जो कपडे मे बाँध कर तूने पीछे लटका रखी है,
व्यर्थ तेरी कमरका भार ही तो है ना।[२२]

वर्तमान जाट गीत किसी दीपचन्द की प्रतीक्षा मे है।

---

२१ मेरा कैहा मान पिया, बाडी मत बोइए,
सर पडेगी उघाई तेरे डडा बाजै जाई,
पिया, बाडीमत बोइए।

२२. अरे मैं बुरी कगाली धन बिन कीसी रै मरोड ?
भोगा, बुरी रै कगाली, धन बिन किसी रै मरोड।
धनवन्त घरा आण के कह जा
निरधन ऊँची नीची सब सह जा
सर पर बधा बधाया रह जा
माथे पर का मोड।
अरे यै बुरी कगाली, धन बिन कीसी र मरोड।
निरधन सारी उमर दुःख पावे।
भूखा नगा रहके हल वाहवे
भोगा, बिना घी का चूरमा
तेरी रहला कमर तैं रै तोड।
अरे यै बुरी कगाली, धन बिन कीसी रै मरोड।

[विशालभारत से साभार]

वेदान्त दर्शन

सुधीन्द्र चन्द्र चक्रवर्ती

'वेद' तथा 'अन्त' इन दो शब्दो के योग से वेदान्त शब्द गठित हुआ है। जो वेद के अन्त मे है उसी का वेदान्त पद से बोध होता है। हिन्दुओ के अनुसार वेद किसी पुरुष द्वारा रचित ग्रन्थ नही है, वे शाश्वत ज्ञान के भडार हैं। 'वेद' शब्द का अर्थ है 'ज्ञान'। ज्ञान किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नही है। यह स्वत सिद्ध, स्वय प्रकाश, नित्य, सनातन है। शुद्ध-चित्त ऋषियो के माध्यमो से यह आत्म प्रकाशित होता है। इस अक्षय-ज्ञान-रत्नराजि का दूसरा नाम श्रुति है। चिरकाल से यह गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा श्रुत हुई चली आ रही है। श्रुति में जो तत्त्वोपदेश है व्यासदेव ने उसे सकलित करके चार भागो मे विभक्त किया—ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चार विभाग चतुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक वेद भी विभिन्न अशो मे विभक्त है। वेदो के अश-विभाग के सम्बन्ध मे नाना मत प्रसिद्ध है। किसी के मतानुसार प्रत्येक वेद 'सहिता', 'ब्राह्मण', एव 'आरण्यक' नामक तीन प्रधान अशो में विभक्त है। सहिता में मन्त्रो का सकलन, ब्राह्मणो मे याग-यज्ञ के विविध उल्लेख एव आरण्यक मे वानप्रस्थ के कर्तव्यो का वर्णन है। निरुक्तकार यास्क वेद के दो भाग स्वीकार करते है। उनके मत से आरण्यक अश 'ब्राह्मणो' के ही अन्तर्गत आता है। प्राचीन स्मृतिकार आपस्तम्ब का भी यही मत है। कई के मतानुसार उपनिषद् समूह आरण्यको का अश मात्र है। इससे भिन्न मोटे तौर पर वेद का और एक प्रधान विभाग भी स्वीकार किया जाता है। इसके अनुसार वेद का वक्तव्य विषय 'कर्म प्रधान' और 'ज्ञान प्रधान' भेद से दो श्रेणियो मे विभक्त है। कर्मप्रधान अश स्तव, स्तुति, याग, यज्ञ इत्यादि की आलोचना से पूर्ण है। सहिता और ब्राह्मण ये कर्म-प्रधान अश के अन्तर्गत है। दूसरी ओर ज्ञान-प्रधान अश प्रधानत आत्मा, ब्रह्म, सृष्टि इत्यादि दार्शनिक विषयो की आलोचना का आग्रही है। ये दार्शनिक तत्त्व ही उपनिषद् के नाम से परिचित हैं। उपनिषद् वेद के ज्ञानकाण्ड नाम से भी अभिहित हैं। कोई कोई वेद के तीन काण्डों या विभागो की भी चर्चा करते है। उनके मत से सहिता और ब्राह्मण को कर्मकाण्ड, आरण्यक को उपासना काण्ड और उपनिषद् को ज्ञानकाण्ड नाम से अभिहित करना युक्तियुक्त है, जो वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड भेद से दो भाग मात्र स्वीकार करते है उनके मत से सहिता और ब्राह्मण कर्मकाण्ड के अन्तर्गत हैं और आरण्यक और उपनिषद् ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत हैं। कहने की आवश्यकता नही हिन्दुओ के लिए सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये चारो ही वेद के अन्तर्गत हैं। किन्तु योरोपीय वेद से केवल सहिता को ही समझते हैं। इसी कारण उनके अनुसार वेद और उपनिषद् पृथक् ग्रन्थ हैं। हिन्दुओ के मतानुसार उपनिषद् वेद के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ या रचना नही है, ये वेद के अविच्छेद्य अश हैं। सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इन चारो को लेकर ही वेद है। इन चारो में स्तर के हिसाब से उपनिषद् वेद का अन्त या चरमभाग है। इसी कारण हिन्दू मानते हैं कि उपनिषद् ही वेदान्त

है। प्राचीन आर्यसमाज में उपनिषद् चतुर्थ आश्रम या भिक्षुजीवन के लिए निर्दिष्ट पठनीय शास्त्र के रूप मे परिगणित होता था। आर्यो का जीवन चार आश्रमो मे सुविन्यस्त था। वे वाल्यावस्था में वेद का मन्त्र भाग या सहिता मुखस्थ करते थे और ब्रह्मचर्याश्रम मे अध्ययन समाप्त होने पर यौवनावस्था मे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके वेद के ब्राह्मण भाग मे उपदिष्ट यज्ञादि का अनुष्ठान करते थे। वे प्रौढ जीवन मे घर-ससार का त्याग करके वनवासी या वानप्रस्थावलम्वी होते थे। उस समय उनका नाम आरण्यक होता था। आरण्यको के पाठ्य रूप में वेद का जो अश निर्दिष्ट था उसी अश का नाम आरण्यक शास्त्र हुआ। वानप्रस्थ के परवर्ती आश्रम का नाम सन्यास था। आर्य जब इस आश्रम में प्रवेश करते थे तब उन्हें भिक्षु नाम से अभिहित किया जाता था। भिक्षु या सन्यासी का आश्रम ही चरम आश्रम था। उपनिषद् इस चरम आश्रम का पठनीय शास्त्र था इसीलिए इसको वेद का चरम भाग या वेदान्त कहा जाता है। उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग में अवस्थित है केवल इसी कारण इसको वेदान्त कहा जाता है, ऐसा नही है। वेदो के नानाविध उपदेशो के वीच विखरे ब्रह्मविद्या के उपदेश ही श्रेष्ठतम उपदेश है। ब्रह्मविद्या ही वेदो का सार तत्त्व है। क्योकि उपनिषदो मे वेद की सार वात अर्थात् ब्रह्मविद्या निवद्ध हुई है इसीलिए इसको वेद का अन्त या शिरोभाग कहना सार्थक है। उपनिषद् में समग्र वेद का चरमज्ञान सुरक्षित है, फलस्वरूप उपनिषदो के अध्ययन द्वारा सम्पूर्ण वेद के तात्पर्य को प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषद् केवल वेद का शेष भाग ही नही है, वह वेद का सारभाग भी है। वेद का अन्त कहने से वेद का अन्तिम भाग एव वेद का तात्पर्य इन दोनो अर्थो का वोध होता है।

वेद के साथ वेदान्त का क्या सम्पर्क है? इस प्रश्न के उत्तर मे मुक्तिकोपनिषद् मे श्री रामचन्द्र ने मारुति से कहा है, 'हे वत्स, तेल जिस प्रकार तिल का सार भाग है, उसी प्रकार वेदान्त वेद का सार भाग है, तेल जिस प्रकार प्रच्छन्न भाव से समस्त तिलमे परिव्याप्त रहता है वेदान्त या उपनिषद् भी उसी प्रकार समस्त वेद को परिव्याप्त किए हुए है। सदानन्द ने अपने वेदान्त सार नामक ग्रन्थ में लिखा है कि उपनिषद् ही मुख्य वेदान्त है। उपनिषदो के तत्त्व को समझने मे सहायक होने के कारण भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र एव उनके भाष्य, टीका एव निवन्धादि भी गौणरूप से वेदान्त है। वेदान्तिक आचार्यो के मत से वेद के कर्मकाण्ड मे वर्णित याग-यज्ञ, विधि-निषेध प्रभृति का विवरण निम्न स्तर के अधिकारियो के लिए है। याग-यज्ञ का अनुष्ठान एव विधिनिषेध के पालन द्वारा स्वर्गलाभ हो सकता है किन्तु मोक्ष लाभ नही हो सकता। मोक्ष लाभ का उपाय है ब्रह्मविद्या। उपनिषद् उसी विद्या के आकर है। उपनिषदो की सख्या के सबध में मतभेद है। किन्तु ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, एव श्वेताश्वतर उपनिषदो की प्रामाणिकता के सबध में समस्त वेदान्तिक आचार्य एक मत है। नि सन्दिग्धभाव से श्रुति के अन्तर्गत होने के फलस्वरूप ये दस उपनिषद् वेदान्त के श्रुति प्रस्थान नाम से अभिहित किए जाते हैं। उच्चस्तर के अधिकारी के लिए उपनिषदो का अनुशीलन ही ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए यथेष्ट है। किन्तु दुःख का विषय यह है कि उपनिषद् का तत्त्व सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य नही है। उपनिषद् शब्द का अर्थ 'विनीत भाव से (गुरु के) समीप बैठना है। यह गुरुमुखी विद्या है। योग्य [illegible] गुरु

जिसको दान करते हैं केवल उसी को यह रहस्यविद्या जानने का सौभाग्य घटित होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है, 'प्रशान्तचित्त पुत्र या शिष्य को छोडकर अन्य को यह विद्या दान न करे।' उपनिपद् समूह वर्तमानयुग के दार्शनिको के ग्रन्थो के समान सुसम्वद्धरूप से तत्त्व विश्लेषण का ग्रन्थ नही है। उपनिपदो में जीव, जगत्, और ब्रह्म-तत्त्व की वातें प्रणाली-बद्धरूप से सज्जित करके नही रखी गई हैं। जो अन्तरग शिष्य होकर गुरु के प्रसाद से तत्त्व-श्रवण करते हैं, केवल वे ही उपनिषद् के तात्पर्य को समझ सकते है, दूसरो के लिए उपनिषदो के वाक्य विश्रृङ्खल और स्वविरोधी लगेगे—वे इन समस्त वाक्यो में निहित प्रकृत सामञ्जस्य को खोजकर नही निकाल सकते।

समाज के अधिकाश लोग ही वेद और उपनिपद् के तात्पर्य को अवधारण करने में अक्षम हैं, यह विचार करके परवर्ती आचार्यो ने सहज और विश्रुतभाव से श्रुति के अभिप्राय को प्रकट करने के उद्देश्य से स्मृतिशास्त्र प्रणयन किया। स्मृतिमात्र ही श्रुति की अनुसरण कारिणी है। श्रुति के अन्तर्गत उपनिषद् के मूल तत्त्व को समाज की वुद्धि के लिए उपयोगी-भावसे व्याख्या करने में गीताकार ने असामान्य दक्षता का परिचय दिया है। भगवद्गीता मे वेदान्त का अनुसरण करते हुए तत्त्व-समीक्षा करते हुए सिद्धान्त ग्रहण हुआ है—इसी से भगवद्गीता को वेदान्त का स्मृति प्रस्थान कहा जाता है। जो उपनिपद् के उपदेश एव भगवद्गीता के सिद्धान्त श्रवण से सन्तुष्ट न होकर वेदान्त वाक्य समूह की यौक्तिकता तथा सामंजस्य देखने की इच्छा करते हैं उनके लिए महात्मा वादरायण ने उपनिपद्-उद्यान की महामूल्यवान कुसुमराजि का चयन करके एक अमूल्य माला की रचना की, इस मालिका का नाम है ब्रह्मसूत्र। ब्रह्मसूत्र या वेदान्त सूत्र श्रुति और स्मृति का अनुगामी होने पर भी विचार प्रधान है। युक्तिवादी दार्शनिको के विचार, आलोचना एव द्वद्वयुद्ध से इसकी कलेवर-वृद्धि हुई है। इसी कारण यह वेदान्त के तर्कप्रस्थान या न्यायप्रस्थान नाम से ख्यात है। उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र ये तीनो ही वेदान्त नाम से परिचित हैं। इनको वेदान्त की "प्रस्थानत्रयी" सज्ञा दी जाती है। उपनिपद् वेदान्त का श्रुतिप्रस्थान, भगवद्गीता इस शास्त्र का स्मृति प्रस्थान और ब्रह्मसूत्र इसका न्यायप्रस्थान या तर्कप्रस्थान है। वेदान्त के प्रत्येक साम्प्रदायिक आचार्य ने प्रस्थानत्रय की व्याख्या के माध्यमसे अपना मत स्थापित करने की चेष्टा की है।

आधुनिक पण्डित वेदान्तदर्शन कहने से प्रधानरूप से ब्रह्मसूत्र को ही लेते हैं। केवल ऋषियो की आध्यात्मिक अनुभूति और स्मृति के सिद्धान्तो की चर्चा में उनके मन नही लगते। युक्ति-विचार की कसौटी पर कसे बिना वे किसी भी सिद्धान्त को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत नही हैं। इसी से उनकी दृष्टि वेदान्त के तर्कप्रस्थान की ओर है। उनके मत से वादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र ही प्रकृत वेदान्त दर्शन है क्योकि इसके सिद्धान्तसमूह युक्तितर्कद्वारा समर्थित हैं। किन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि वेदान्तिक आचार्यो के एक ही ब्रह्मसूत्र के अनुसरणकारी होते हुए भी उन सवके मत एक प्रकार के नही हैं। सबने ब्रह्मसूत्रो की दुहाई दी है किन्तु कोई अद्वैतवादी, कोई द्वैतवादी, कोई विशिष्टाद्वैतवादी, कोई द्वैताद्वैतवादी और कोई अचिन्त्य भेदाभेदवादी है। गहनशास्त्रारण्यानी के बीच में ब्रह्मसूत्र कल्पवृक्ष के समान स्थित है। जो

कोई जो अभिलाषा लेकर उसके पास गए है उनकी वह अभिलाषा पूर्ण हुई है। आचार्यो ने एक के पश्चात् दूसरा ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखकर अपने-अपने सम्प्रदाय खडे कर लिए है। आजकल ब्रह्मसूत्र के जितने भाष्य प्राप्त है उनमें आचार्य शकर का 'शारीरक भाष्य' ही सबसे प्राचीन है। उनका भाष्य विद्वानो में इतना प्रसिद्ध है कि वेदान्त कहने से अनेक शाकरभाष्य को ही समझते हैं। आचार्य शकर ने अपने भाष्य में अद्वैत मत की स्थापना की है। उनका अद्वैतवाद गौडपाद प्रणीत माण्डूक्यकारिका से प्रभावित है। 'आगम' 'वैतथ्य', 'अद्वैत' एव 'अलातशान्ति' नामक अध्यायचतुष्टयसमन्वित कारिका का पाठ करने पर लगता है कि गौडपाद ने नागार्जुन की कारिका से माध्यमिक बौद्ध मत और 'लङ्कावतार' से विज्ञानवादी बौद्धो के मत का आहरण किया है। उनके मत से शून्यवाद और विज्ञानवाद को मिलाने से जो होगा वही उपनिषद् की शिक्षा है। गौडपाद के प्रशिष्य आचार्य शकर और भी कुछ अग्रसर हुए है। उन्होने गौडपाद के मत को बौद्ध प्रभाव से मुक्त स्पष्ट रूप से उपनिषद् का मत कहकर चलाने की चेष्टा की है।

ब्रह्मसूत्र चार अध्यायो में विभक्त है। इसके प्रत्येक अध्याय मे चार पाद है। प्रत्येक पाद में कुछ अधिकरणो या विचारणीय विषयो की मीमासा की गई है। प्रत्येक अधिकरण मे कुछ सूत्र है। सूत्रो की सख्या एक समान नही है। आचार्य शङ्कर के अनुसार सूत्रो की सख्या ५५५ है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय का नाम है समन्वय अध्याय। इस अध्याय में उपनिषद् में उल्लिखित ब्रह्मबोधक स्पष्ट, अस्पष्ट और सन्दिग्ध सभी वाक्यो की आलोचना करके यही प्रदर्शित किया गया है कि ये समस्त वाक्य ब्रह्म को निर्देश करने के उद्देश्य से प्रयुक्त हुए हैं। एकमात्र ब्रह्म ही इन समस्त वाक्यो का समन्वय हो सकता है। प्रथम अध्याय के प्रथम चार सूत्र विशेषरूप से उल्लेख योग्य हैं। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यत, शास्त्रयोनित्वात्, और तत् तु समन्वयात्—इन चार सूत्रो को वेदान्त का चतु सूत्री कहा जाता है। प्रथम सूत्र में ब्रह्मजिज्ञासा के अधिकार का विचार किया गया है। द्वितीयसूत्र में ब्रह्म-लक्षण का वर्णन किया गया है। तीसरे सूत्र में कहा गया है कि शास्त्र ही ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का उपाय है। चौथे सूत्र मे उपनिषद् वाक्य समूह का ब्रह्म-तात्पर्य प्रदर्शन किया गया है। प्रथम अध्याय के अन्यान्य सूत्रो में भी साधारण रूप से इसी मत का समर्थन किया गया है कि साख्यदर्शन और मीमासादर्शन के मत उपनिषद् को अभिप्रेत नही हैं, ब्रह्मज्ञान ही उपनिषद् को अभिप्रेत है। ब्रह्मसूत्र का द्वितीय अध्याय 'अविरोध' अध्याय के नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्याय में ब्रह्म की जगत्कारणता के सम्बन्ध में श्रुति, स्मृति और युक्ति के विरोध का परिहार और सांख्यादि मतो की अलौकिकता का दिग्दर्शन किया गया है। पच महाभूत, जीव और लिङ्गशरीर के सबध मे कुछ श्रुति वाक्यो का विचार भी इस अध्याय में किया गया है। तीसरे अध्याय का नाम साधनाध्याय है। इस अध्याय का आलोच्य विषय है जीव की परलोकगमन प्रणाली, जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध, विविध उपासना प्रणाली एव ज्ञानो का बहिरग और अतरग रूप। चतुर्थ अध्याय फलाध्याय के नाम से परिचित है। इस अध्याय मे साधन-प्रणाली, देहत्याग प्रणाली, देवयानपथ, मुक्ति का स्वरूप, मुक्त पुरुष की गति तथा ब्रह्मज्ञान के फल के विषय में आलोचना की गई है।

अन्यान्य दर्शनो के सूत्रपाठ की तुलना में वेदान्तसूत्र पाठ की एक विशेष सुविधा है। न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग प्रभृति सूत्रग्रन्थो की मूल पुस्तक आजकल उपलब्ध नही है। किन्तु वेदान्तसूत्रो का मूलग्रन्थ उपनिषदावली आज भी उपलब्ध है। इसलिए सूत्रो की व्याख्या मे सशय उपस्थित होने पर मूल उपनिषदो की सहायता से सशय का निरसन करना सभव है। आचार्य शकर ने ब्रह्मसूत्रो का अक्षरार्थ स्वीकार नही किया है। उन्होने उपनिषदो के तात्पर्य के अनुसार सूत्रो की व्याख्या करने की यथेष्ट चेष्टा की है। उनके मत से प्रकृति तत्त्व श्रुतिगम्य तथा उपलब्धि का विषय है। शुद्ध युक्तितर्क प्रसूत स्वाधीन मत कितना ही श्रुति मधुर क्यो न हो प्रकृत तत्त्व नही है। आचार्य शकर की अतुलनीय तर्कशक्ति ने कभी श्रुति पर आघात नही किया, वरन् श्रुति की रक्षा करने के लिए श्रुति के प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न शत्रुपक्ष के ऊपर गम्भीर प्रहार किए हैं। ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के भाष्य मे साख्य, वैशेषिक बौद्ध मतो के खण्डन मे इस प्रहार का स्पष्ट परिचय मिलता है। श्रुति के प्रच्छन्न शत्रुओ को लेकर ही उनको बहुत कठिनाई हुई थी। साख्य और मीमासा मतो के खण्डन के लिए उन्होने विशेष प्रयत्न किया। दोनो ही मतो को वेद की प्रमाणता मान्य है किन्तु दोनो ही अद्वैतमत के विरोधी है। साख्य एव मीसामा दोनो ही घर के शत्रु है। साख्य का कथन है कि उनका मत ही उपनिषद् का मत है। उनका कथन है कि चेतन ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नही है, अचेतन प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है। चरम तत्त्व एक अद्वितीय ब्रह्म नही है, चरम तत्त्व दो हैं—पुरुष और प्रकृति। पीछे लोग साख्य सिद्धान्त को ही उपनिषद् का तात्पर्य समझकर स्वीकार-कर ले इस भय से आचार्य शकर ने 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (१ १ ५) सूत्र की व्याख्या आरंभ करने के साथ-साथ साख्यमत के ऊपर तीव्र कटाक्ष करना प्रारभ किया है और जहाँ भी सुयोग मिला है वही समझाना आरभ किया है कि साख्यमत भ्रान्त है। आचार्य शकर के मत मे अचेतन प्रकृति जगत् का मूल कारण नही है, ब्रह्म ही जगत् का 'अभिन्न निमित्तोपादानकारण' है। साख्य मतानुसार पुरुष या आत्मा मात्र एक नही है, बहुत हैं, किन्तु वेदान्त—मतानुसार आत्मा एक है, ब्रह्म ही आत्मा है ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नही है। साख्य मत से अज्ञान बन्धन का कारण है। वेदान्त के मत से भी अध्यास दुःख का कारण है। साख्य के मत मे अज्ञान का हेतु पुरुष और प्रकृति का अविवेक है, और मुक्ति का हेतु इन दोनो का पार्थक्य ज्ञान है। किन्तु वेदान्त के मत मे अध्यास तभी होता है जब वस्तु का स्वरूप अज्ञान के द्वारा आवृत होने पर उसके ऊपर एक अनिर्वाच्य मिथ्या बिन्दु की सृष्टि होती है। इस मत के अनुसार मुक्ति एकत्व के ज्ञान से होती हैं। साख्य परिणामवादी हैं। किन्तु वेदान्तिक विवर्त्तवादी है। वेदान्त के साधनपाद के साथ योग का अनेक विषयो में मेल है, किन्तु जिन-जिन विषयो मे साख्य के साथ योग की अभिन्नता है उन विषयो के विरुद्ध वेदान्त का कठोर प्रतिवाद घोषित हुआ है। पूर्वमीमासा के साथ वेदान्त का अनेक विषयों मे पारिवारिक ऐक्य है। दोनो ही मीमासा दर्शन हैं। एक कर्म मीमासा है और दूसरा ज्ञान मीमासा। वेदान्त दर्शन का दूसरा नाम है उत्तरमीमासा दर्शन। उत्तम दर्शन ही सब प्रकार से वेदतन्त्र है। दोनों ही स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। किन्तु वेद के तात्पर्य के सम्बन्ध मे दोनो में मतभेद विद्यमान है। मीमासक कहते हैं कि कर्मकाण्ड ही मूल वेद है। याग-यज्ञ, विधि-निषेध

की वात वेद की सार वात है। ज्ञानकाण्ड की वातो को कर्मकाण्ड की उक्तियो का अनुगत वनाकर व्याख्या करनी चाहिए। क्रियार्थक वाक्यो को छोडकर वेद मे अन्य जो सव वचन है वे वेदोक्त विधि-निषेध की स्तुति या निन्दा को छोडकर और कुछ नही है। वेदान्ती इस मत को स्वीकार नही करते। उनके कथनानुसार याग-यज्ञादि कर्म और उससे सम्वन्धित विधि-निषेध निम्न स्तर के अधिकारियो के लिए है। ब्रह्मजिज्ञासा की योग्यता प्राप्त होने पर इनके लिए और कोई आवश्यकता नही रह जाती। न्याय और वैशेषिक मत स्पष्ट ही शकर के अद्वैत मत के विरोधी है, न्याय का आरभवाद और वैशेपिक का परमाणुकारणवाद अद्वैतवादियो को स्वीकार्य नही है। अद्वैतवादियो ने वैशेपिको द्वारा स्वीकृत 'समवाय' और 'जाति' नामक पदार्थों के स्वीकार करने के विपय में अयौक्तिकता का दिग्दर्शन कराया है।

वेदान्तशास्त्र की आलोचना में उसके अधिकारी, विपय-सम्वन्ध एव प्रयोजन-प्रसग का उत्थापन अपरिहार्य है। ये चार प्रसग वेदान्त के अनुवन्ध-चतुष्टय के नाम से परिचित है। ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य शकर ने कहा है कि नित्या-नित्यवस्तु विवेक, इहामूत्रफलभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पद् एव मुमुक्षत्व, इन चार के न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकार नही होता। जो इन चार की प्राप्ति कर चुका है उसके लिए ब्रह्मजिज्ञासा के लिए और कोई वाधा नही है। नित्यानित्यवस्तुविवेक का अर्थ है नित्य और अनित्य वस्तु का पार्थक्यज्ञान। इहामूत्रफलभोगविराग से तात्पर्य है लौकिक एव पार-लौकिक भोग्य विपयो के प्रति वैराग्य। शमदमादि से शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान की ओर सकेत है। शम के अवलम्वन करने का अर्थ है लौकिक व्यापारो के सम्वन्ध में चिन्ता न करना। दम के अवलम्वन करने का अर्थ है चक्षुप्रभृति इन्द्रियो को वाहर के विपयो के प्रति धावित न होने देना। उपरति का अर्थ है आत्मज्ञान प्राप्ति का सकल्प ग्रहण करके अन्यान्य कर्मो का त्याग। तितिक्षा शब्द का अर्थ है, शीत-ग्रीष्म, सुख-दु ख इत्यादि द्वन्द्वो को सहन करने की क्षमता. श्रद्धा शब्द का अर्थ है गुरु और वेदान्त वाक्य मे विश्वास। समाधान शब्द का अर्थ है आलस्यादि का त्याग करके एकमात्र आत्मा के सम्वन्ध में ही चिन्ता करना। मुमुक्षत्व कहने का अभिप्राय है मुक्तिलाभ के लिए यथार्थ आग्रह।

वेदान्तशास्त्र की विपयवस्तु क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे वेदान्ती आचार्य कहते है कि ब्रह्म ही वेदान्त का विपय है। आचार्य शकर के मत से ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निर्विकार, निष्क्रिय, नित्यशुद्धवुद्धमुक्तस्वभाव है। ब्रह्म कोई व्यक्ति नही है, वह चैतन्यमात्र है। ब्रह्म प्रज्ञाघन, अखण्डैकरस तत्त्वमात्र, 'एकमेवाद्वितीयम्' है। ब्रह्म के वाहर उसका सजातीय या विजातीय कुछ भी नही है। उसकी सत्ता मे कोई अग-अशी-विभाग या स्वगत भेद भी नही है। वह सभी प्रकार के भेदो से परे है। श्रुति में उसके स्वरूप और तटस्थरूप दो भेद लक्षणो की चर्चा हुई है। ब्रह्म सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। 'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म'— यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। आचार्य शंकर के मतानुसार सत्य, ज्ञान और अनन्तता ब्रह्म के गुण या उपाधि नही है, क्योंकि ब्रह्म निर्गुण एव सर्वोपाधिविवर्जित है। सत्य, ज्ञान और अनन्त एक ही ब्रह्म के नाम है। जो सत्य है वही ज्ञान और अनन्त है। ब्रह्म को सत्य कहने का तात्पर्य है कि मिथ्या उसका स्पर्श नही कर पाता, उसे ज्ञान कहने का अर्थ है कि उसमे

अज्ञान नही रह सकता एव उसे अनन्त कहने का अभिप्राय है कि सभी सीमाएँ एव सभी क्षुद्रता उसमे विलीन हो जाती है। ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किसी गुण द्वारा नही किया जा सकता। जहाँ पर गुण है वही पर सीमा है। ब्रह्म किसी सीमा में आवद्ध नही है। इसीलिए उपनिषद् में ब्रह्म के वर्णन में 'नव' की अधिकता है। लेकिन ब्रह्म का स्वरूप-वर्णन असम्भव होने पर भी अवान्तर चिह्नो की सहायता से उसकी पहचान करवाने की चेष्टा उपनिषद् मे भी हुई है। ब्रह्म के परिचायक इन सभी उपनिषद् वाक्यो को तटस्थ-लक्षण-बोधक श्रुति कहा ज ता है।

"जिसके द्वारा इस जगत् की सृष्टि हुई है, जिसके द्वारा यह जगत्, प्रतिपालित होता है एव जिसके परिणामस्वरूप यह जगत् विनष्ट होगा, वही ब्रह्म है।" इस वाक्य मे ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का उल्लेख है। ब्रह्म जिस स्वरूप में है, वही उसका स्वरूप-लक्षण है, और अन्य लोगो के सम्पर्क में उसे जैसा देखा जाता है वही उसका तटस्थ-लक्षण है। जब कोई अभिनय-निपुण दरिद्रव्यक्ति फाकारत पुत्र कन्या को भूल कर गाँव के जमीदार के शौकिया नाट्य-दल में महाराजा हरिश्चन्द्र की भूमिका निभाते हुए राज्यदान करता है तव अपरिचित दर्शक के लिए वह राजा के रूप में दिखाई पड ता है। यही राजसीवेश उसका तटस्थ लक्षण है। उसके वुभुक्ष स्त्री-पुत्र जिस रूपमें उसे देखते है, वही इस दरिद्र व्यक्तिका स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को ही लक्ष्य करके श्रुति में कहा गया है कि ब्रह्म निर्विशेप, निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार, 'एकमेवाद्वितीयम्' है। यह प्रश्न उठ सकता है कि एक ब्रह्म ही यदि सत्य वस्तु है तो हमलोग उसे न प्राप्त कर एक विचित्र जगत् की प्राप्ति क्यो करते है? इस विविध जगत् का ब्रह्म के साथ क्या सम्वन्ध है। हमारे साथ ब्रह्म का सम्वन्ध ही क्या है? इन सभी प्रश्नो के उत्तर में अद्वैतवादी आचार्य कहते हैं कि अज्ञान या अविद्या का प्रभाव ही इस नाना वस्तु पूर्ण जगत् दर्शन का कारण है। वस्तुत निर्विशेप ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। विभिन्न वस्तुओ से परिपूर्ण जगत् एक मिथ्या छविमात्र है। हमलोग स्वरूपत ब्रह्म हैं।

सध्याकालीन अधकार में कभी भी मनुष्य रस्सी को साँप समझ कर डर जाता है। यह सर्पज्ञान जिस प्रकार मनुष्यका भ्रमज्ञान है, उसी प्रकार ब्रह्म में असख्य जीव और विचित्र दर्शन भी एक भ्रमज्ञान है। जिस प्रकार प्रकाशमें रस्सी को देखने पर सर्प-भय नही रहता उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के पश्चात् जगत्-भ्रम नही रहता। जिस प्रकार रस्सी रस्सी होते हुए भी अज्ञानवश सर्प जैसी दीखती हैं उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वरूपत अविकृत रह कर माया के कारण वहुरूप में प्रतीत होता है। जव वस्तु अविकृत रहते हुए अन्य रूप में प्रतीत होती है तव प्रतीत रूप को 'कार्य' एव वस्तु को 'कारण' कहा जाता है। आचार्य शकर ने इस रूप 'कार्य' को विवर्त्त नाम से अभिहित किया है। उनके मतानुसार हमारा प्रत्यक्ष जगत् ब्रह्म का 'विवर्त' होने पर भी रज्जुसर्प की भाति सर्वथा मिथ्या नही है। उन्होने पारमार्थिक, व्यावहारिक एव प्रातिभासिक भेद से त्रिविघ सत्ता स्वीकार की है। ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्ता है। अतीत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनो कालो में से एक में भी उसकी सत्ता का व्यभिचार नही हुआ। जगत् की सत्ता पारमार्थिक नही है, क्योकि ब्रह्मज्ञान से जगतज्ञान 'वँघ' जाता है। जव तक ब्रह्मज्ञान नही होता तव तक वहुत्त्व की दृष्टि के अनुसार एक विचित्र जगत् का विभिन्न प्रकार

से व्यवहार होता रहता है। आचार्य शकर ने इस विचित्र जगत् की सत्ता को व्यावहारिक सत्ता की आख्या दी है। ब्रह्मसत्ता की तुलना मे जगत्सत्ता मिथ्या है। व्यावहारिक जगत् के भीतर भी एक अन्य प्रकार की सत्ता का परिचय मिलता है। वह सत्ता व्यावहारिक सत्ता की तुलना में मिथ्या है। रज्जुसर्प और शुक्ति-रजत इसी तृतीय श्रेणी की सत्ता में आते है। आचार्य शकर के अनुसार इस प्रकार की सत्ता को 'प्रातिभासिक' सत्ता कहते है। प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा व्यावहारिक सत्ता दीर्घकाल स्थायी होती है, लेकिन दोनो मे कोई भी चिरस्थायी नही है। पर-मार्थ सत्ता ही एकमात्र चिरस्थायी है। व्यावहारिक सत्ता पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा निम्न-स्तर की होने पर भी आकाश-पुष्प की भाति अलीक नही है। जगत् की पारमार्थिक सत्ता नही है। इसीलिए इसे 'सत्य' नही कहा जा सकता। जगत् आकाश-पुष्प अथवा शश-शृग की भांति तुच्छ नाममात्र नही है। इसीलिए इसे 'असत्य' भी नही कहा जा सकता। यह अज्ञान या माया की सृष्टि है। माया ब्रह्म की शक्ति है, यह सत्य नही है, मिथ्या भी नही है, अनिर्वच-नीय है। माया या अज्ञान केवल ज्ञानाभाव नहीं है, यह भाव-रूप अर्थात् अस्तित्वशील पदार्थ की भांति प्रतीयमान है। ब्रह्म के आधार पर जगत् की प्रतीति उत्पन्न करने एव आत्मा का वन्धन वोध कराने में सक्षम होने के कारण इसे विघटन-घटन-पटु कहा जाता है। यह आवरण-विक्षेपमय है। इसकी आवरणशक्ति के प्रभाव से ब्रह्म का स्वरूप आवृत होता है एव विक्षेपशक्ति के प्रभाव से एक ब्रह्म वहु-पदार्थो में दिखाई पडता है। पारमार्थिक दृष्टि से माया या अज्ञान का कोई स्थान नही है। जो लोग पारमार्थिक दृष्टि सम्पन्न है, उनके लिए सृष्टि मिथ्या है, जीव, जगत्, वन्धन एव मोक्ष भी मिथ्या है। ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि मे गुरु भी नही है, शिष्य भी नही है, साधन भी नही है और साध्य भी नही है, केवल ब्रह्म है।

जिस शास्त्र मे ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है, उस शास्त्र के साथ ब्रह्म का सम्वन्ध क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे वेदान्तिक आचार्यो का कहना है कि ब्रह्म जिस जगत् का कारण है वह केवल उपनिषद् या वेदान्त-शास्त्र द्वारा ही जाना जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा शास्त्र निर-पेक्ष स्वाधीन युक्ति-विचार द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण नही किया जा सकता। ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए मुख्य रूप से वेदान्त या उपनिषद् का आश्रय लेना पडेगा। स्वाधीन युक्ति-तर्क द्वारा कभी भी कोई स्थिर सिद्धान्त प्राप्त नही किया जा सकता। इसीलिए शास्त्रनिर्दिष्ट प्रणाली द्वारा वुद्धि या तर्क को परिचालित करना आवश्यक है। केवल वुद्धि की सहायता से वेदान्त का प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व के सम्वन्ध मे कोई स्थिर नियम निकालने की कोई सभावना नही है। अथच, जो समस्त तर्कयुक्ति उपनिषद् के सिद्धान्तो के अनुकूल है केवल वे ही तर्क-युक्ति ग्रहण करने योग्य है। उपनिषद् ही ब्रह्मतत्त्व को जानने का एकमात्र उपाय है।

वेदान्तानुशीलन का चरम फल मोक्ष-प्राप्ति है। वेदान्तशास्त्र का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न के उत्तर मे अद्वैतवादी कहते है कि मोक्ष ही ब्रह्म-जिज्ञासु का प्रयोजन है, इसीलिए मोक्ष की अवस्था में अनर्थनिवृत्ति और आनन्द प्राप्ति होती है, अनर्थ या दुःख का कारण अविद्या है। वेदान्त के अनुसार आत्मा स्वरूपत आनन्द स्वरूप ब्रह्म है। लेकिन अविद्या के कारण जब उसका वह ज्ञान तिरोहित होता है तब वह देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का [illegible]

पुत्रादि के देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का) धर्म या गुण-दोष अपने पर आरोपित करके स्वयं को सुखी या दु खी समझता है। आत्मा के अनात्म धर्म के अध्यास के फलस्वरूप आत्मा जीव-रूपमें सुख-दु खमय ससारमे आवद्ध रहती है। यह अध्यास (मिथ्याज्ञान) ही जीव के सभी प्रकार का कर्तृत्व, भोक्तृत्व और भेद बुद्धि का कारण है। जवतक आत्मा के एकत्त्व की प्राप्ति नही होती तवतक ससार रूपी अनर्थ की निवृत्ति नही होती। आत्मा के एकत्त्व का वोध होने पर ही अविद्या आदि सभी भेदक ज्ञान विनष्ट हो जाता है। दैनन्दिन जीवन में देखा जाता है कि सुख-दु ख का भोग एव भेद-वुद्धि आदि सभी प्रकार का दौरात्म्य केवल जागरण एव स्वप्ना-वस्था में ही होता है। सुषुप्तावस्था में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, भेद-व्यवहार आदि कुछ भी आधार नही रहता। लेकिन जागरण के साथ ही साथ पुन ससार के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है। सुषुप्तावस्था मे अल्प समय के लिए देहानुकरणादि-उपाधिविहीन आत्मा का स्वरूप ही प्रकाशित होता है। आत्मा स्वरूपत. चेतन एव आनन्दस्वरूप है यह सुषुप्ति की अभिज्ञता से ही जाना समझा जाता है। सुषुप्तिकाल मे आत्मा में चेतना नही रहती, यह मत वेदान्त द्वारा स्वी-कार्य नही है। वेदान्त के अनुसार आत्मा सुषुप्तिकाल में विषयरहित अवस्था में अवस्थान करती है, लेकिन उसके स्वरूपगत चैतन्य और आनन्द में कोई हानि नही पहुचती। इसीलिए सुषुप्ति के पश्चात् निद्रा-भग के वाद लगता है कि इतनी देर तक सुखपूर्वक सो रहा था। सुषुप्तिकाल में जो आत्मानुभूति होती है उसके स्थायी नही होने का कारण यह है कि उस समय तक जो अविद्याप्रसूत सस्कार समूह निष्क्रिय रूपसे केवल मात्र अवस्थान करता है, उसका एक दम विनाश नही होता। इस पू जीभूत सस्कार-राशि को नष्ट करने के लिए ज्ञानाग्नि की आवश्यकता होती है। जीव और ब्रह्म का ऐकान्तिक अभेद ज्ञान, दोनो का तादात्म्य ज्ञान ही यह ज्ञानाग्नि है। जीव और ब्रह्म का अभेद ज्ञान आचार्य के लिए उपदेशसक्य है। सर्वप्रथम ब्रह्मज्ञ आचार्य से वेदान्तवाक्य का श्रवण करना पडता है। इसके वाद अपने युक्ति-तर्क द्वारा आचार्य के उपदेश की युक्ति समझ लेनी पडती है। अन्त में आचार्य से प्राप्त तत्त्वो का निरन्तर ध्यान करना पडता है। वेदान्त विचार के इन तीन अगों के नाम इस प्रकार है—श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

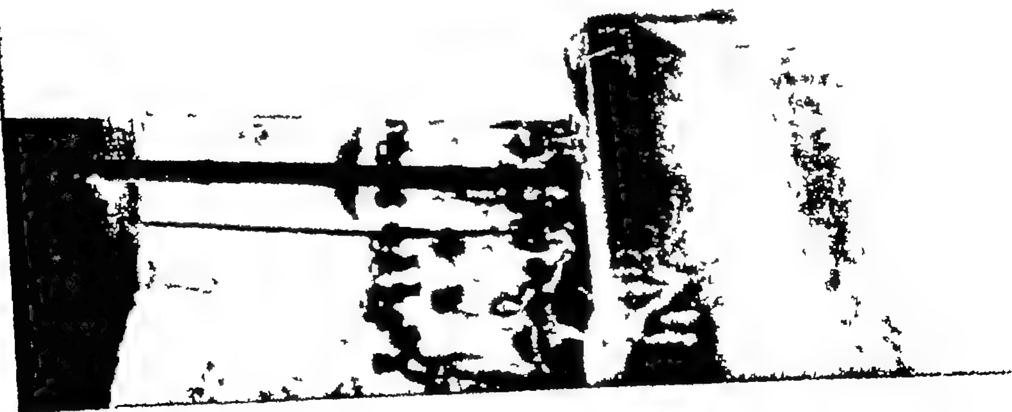
जीव और ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से दो भिन्न वस्तुएँ नही हैं। दो भिन्न वस्तुओ में कभी भी तादात्म्य सम्वन्ध स्थायी नही हो सकता। लेकिन यदि एक ही वस्तु को दो पृथक् वस्तु कह कर भ्रम किया जाय तो उन दोनो वस्तुओके अभेद या तादात्म्य के निर्देश द्वारा भ्रम निवारण सम्भव होता है। उपनिषद् में 'तत् त्व असि' महावाक्य इसी उद्देश्य से व्यवहृत हुआ है। जीव एव ब्रह्म यदि दो पृथक् तत्त्व होते तो आचार्य के सहस्र-उपदेश के वावजूद भी उनमें तादात्म्य स्थापित करना सम्भव नही होता। वस्तुत ब्रह्म ही सत्य है, जीव की कोई पृथक् सत्ता नही है, जीव कहने से ब्रह्म के अतिरिक्त कोई पदार्थ नही है। अज्ञान या अविद्या के प्रभाव से ब्रह्म को ही ससारी जीव समझा जाता है। आचार्य के उपदेश से यह भ्रम कट जाता है और शिष्य समझता है कि वह ससारी नही हैं, वे किसी के पिता अथवा पति नही हैं, जो प्रकृत सत्य वस्तु है, जो ब्रह्म है वह वही है। इस आत्मोपलब्धि का नाम आनन्दस्वरूपब्रह्म की उपलब्धि है। इसी का नाम मोक्ष या मुक्ति है। जीव और ब्रह्म का एकत्व सभी कालो में

सत्य रहा है। अविद्या के कारण इस सत्य को भूल जाने पर अपारमार्थिक भेद दर्पणजनित बन्धन की सृष्टि होती है। अन्य रूप से इसी सत्य की साक्षात् प्रतीति होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष एक चिरन्तन सत्य है। यह कोई उत्पन्न पदार्थ नही है। जिसको बद्धावस्था कहते हैं उस अवस्था में भी जीव स्वरूपत मुक्त होता है, किन्तु स्वरूप-विस्मृति के फलस्वरूप अपने को बद्ध समझता है। सचमुच का सिंह यदि कभी आत्मविस्मृति के कारण शृगालदल मे मिलकर शृगालोचित व्यवहार करता है, फिर भी वह सिंह ही है, शृगाल नही है। जिस मुहूर्त में उसकी विस्मृति विनष्ट होगी उसी मुहूर्त वह समझेगा कि वह शृगाल नही, सिंह है। सिंह की सिंहत्व प्राप्ति जिस प्रकार कुछ नयापन की प्राप्ति नही है उसी प्रक र जीव की ब्रह्मत्व प्राप्ति भी एक अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नही है। यह 'प्राप्त-प्राप्ति' अर्थात् 'मिली हुई वस्तु का पाना' है। जो है उसी को पाना है। कुछ लोग कह सकते हैं कि जो है वह तो है ही, उसे फिर पाना क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि जो है उसके सबध में यदि ज्ञान न रहे तो वह नही रहने के समान ही है। विपुल पैतृक सम्पत्ति का मालिक रहने पर भी पुत्र जाने बिना भिक्षा वृत्ति अपनाये तो उसकी सम्पत्ति का रहना न रहने के समान है। कोई यदि उसी सपत्ति का पता बता दे तो पुत्र उसे प्राप्त कर आनन्दित हो सकता है। इस क्षेत्र में जिसे जो मिलेगा वह उसी की वस्तु है, अज्ञात अवस्था मे भी वह उसी की थी। इस प्रकार की प्राप्ति का नाम 'प्राप्तप्राप्ति' है। कहा गया है कि एक राजकुम री प्रत्यक्ष रात में शयन काल में अपने गले का हार तकिये के नीचे रखती थी एव दूसरे दिन वहाँ से उठा कर पहन लेती थी। एक दिन प्रात काल जब तकिये के नीचे उसका हार नही मिला तो उसके दुःख की सीमा नही रही। परन्तु अन्त मे एक आदमी ने दिखला दिया कि हार उसके गले में ही है, गत रात वह बिना हार निकाले ही सो गई थी। खैर, राजकुमारी हार पाकर प्रसन्न हुई। राजकुमारी का यह हार पाना 'प्राप्त प्राप्ति' का एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

अद्वैतमतानुसार आत्मा एक एव चैतन्यस्वरूप है। न्याय मतानुसार आत्मा बहु एव स्वरूपत चैतन्यविहीन है। अद्वैतमतानुसार मोक्ष का अर्थ केवल दु ख-निवृत्ति नही है, इसका वास्तविक अर्थ है आनन्दस्वरूप ब्रह्म का प्रकाश। न्याय के अनुसार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक धर्म है। मोक्षावस्था में आत्मा का कोई चैतन्य या सुख-दु ख बोध नही रहता। आत्मा उस समय पाषाण के समान हो जाती है। अद्वैतवादी आत्मा की मोक्षत्व प्राप्ति मे विश्वास नही करते। उनके कथनानुसार मोक्षावस्था चित्स्वरूप है। साख्य के अनुसार भी मुक्त आत्मा चैतन्यस्वरूप है। लेकिन साख्यकार कहते है कि आत्मा सख्या में बहु है एव कोई भी आत्मा आनन्दस्वरूप नही है। उनके मतानुसार मोक्षावस्था मे कोई आनन्द नही मिलता। अद्वैतवादियो के अनुसार मोक्षावस्था में जीव सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर ब्रह्म ही हो जाता है ब्रह्म के साथ जिसको इस रूप-एकत्व की उपलब्धि होती है उसके लिए क्या ससार का और कोई कार्य करना सभव होता है? जो सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप हो जाता है उसका शरीर क्या रहता है? इसी शरीर में बँधे रहने पर भी क्या मोक्षानन्द की प्राप्ति सम्भव है? इस प्रकार के प्रश्नो के उत्तर में आचार्य शकर और उनके मतावलम्बी वेदान्तिक आचार्यगण कहते हैं कि जीवितावस्था में भी मोक्ष

का आनन्द प्राप्त हो सकता है। जो लोग इस प्रकार का आस्वादन पाते है उन्हें जीवन्मुक्त कहते है। जीवन्-मुक्ति की स्थिति में प्रारव्ध कर्म के फलस्वरूप शरीर चलता रहता है लेकिन क्रियमाण और सचित कर्मराशि ब्रह्मज्ञान मे भस्मीभूत हो जाती है। प्रारव्ध कर्म का फल अन्त में क्षय प्राप्त होने पर स्थूल, सूक्ष्म एव कारण-देह भी विनष्ट हो जाती है। फलस्वरूप जीवन्मुक्त का फिर पुनर्जन्म नही होता। इसी अवस्था का नाम विदेहमुक्ति है। जीवन्मुक्त पुरुष के लिए काम्य या प्राप्तक कुछ भी नही रहता तथापि वह जब तक बचा रहता है तब तक उसका कुछ न कुछ कर्म रहता है। लेकिन वह कर्म करके भी बँधता नही, क्योकि कर्मफल में उसकी आसक्ति नही होती। सकाम कर्म ही वन्धन का कारण है। निष्काम कर्म में कोई भी बँधता नही। भगवद्गीता मे जिस निष्काम कर्म की वात कही गयी है जीवन्मुक्त का कर्म ठीक उसी प्रकार का है। जीवन्मुक्त ही जन समाज के कल्याण के पथ प्रदर्शक हैं। वे ही मनुष्य के आदर्श है। वे लोग पूर्ण ज्ञान के अधिकारी होने पर भी समाज-सेवा से विरत नही होते। वे लोग अपनी आवश्यकतानुसार अथवा स्वार्थ सिद्धि की आशा से किसी कार्य में नही लगते। उनका कर्म जीव के कल्याण के लिए, समाज-व्यवस्था को अक्षुण्ण वनाए रखने के लिए, जनसाधारण का भ्रम दूर करने के लिए, भगवद्गीता की भाषा में लोकसग्रह के लिए होता है। भुना हुआ वीज जिस प्रकार अकुरित होने में असमर्थ होता है उसी प्रकार उसके कर्म पुनर्जन्म या पुनर्बन्धन का कारण नही हो सकते हैं।







हिन्दी-भवन के उद्घाटन (३१-१-३९) के समय हलवासिया ट्रस्ट की ओर से बोलते हुए श्री भागीरथ कानोडिया, उनके दाहिनीं ओर आचार्य क्षितिमोहन सेन, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा श्रीमती इन्दिरा नेहरू गांधी बैठे हैं।

शान्तिनिकेतन का हिन्दी-भवन

दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज

आधुनिक भारत के लिए यह बडे ही सौभाग्य और प्रसन्नता की वात है कि हिन्दी को लोक-प्रिय वनाने और उसके साहित्य की श्रीवृद्धि करने के लिए देश के विभिन्न भागो में सस्थाएँ स्थापित हो रही है। नागरी लिपि का—जिसमे हिन्दी लिखी जाती है—उस मूल सस्कृत से सीधा सम्वन्ध है, जिसमें प्राचीन भारत के गूढतम धार्मिक विचार लिपि-वद्ध किये गये और सुरक्षित है। इस प्रकार हिन्दी का—विशेपकर इसके मध्यकालीन रूपो का असाधारण सास्कृतिक महत्त्व है।

आज हिन्दी को अग्रसर करने का जो कार्य हो रहा है, उसमें हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्य के पुनर्जन्म के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे है। हम अपनी आँखो के आगे आज फिर कवीर, दादू, तुलसीदास, रैदास और नानक की भक्ति-रस की गगा को वहता देख रहे है। मैं सन् १९०४ के आरभ मे भारत आया था, तव से हिन्दी के लेखको मे जो पूर्ण परिवर्तन हुआ है, उसे मैंने आँखे खोलकर देखा। आज मैं उनमे वह आत्म-विश्वास और उत्साह देख रहा हूँ, जो उन दिनो उनमे नही था। अपने कार्य की महत्ता वे समझ रहे है और यह महसूस कर रहे है कि नवचेतन के इस युग में पैदा होने का अर्थ क्या है ?

इस मामले में वगाल अग्रणी रहा है, क्योकि मातृभापा के पुनर्जन्म का इतिहास इसी प्रान्त से शुरू हुआ है। राजा राममोहन राय से लेकर रवीन्द्रनाथ तक यहां एक के वाद एक महान् और विश्वविख्यात लेखक पैदा हुए है, जिन्होने राष्ट्र-भापा की श्रीवृद्धि की है।

हिन्दी की मौजूदा उन्नति का वहुत-कुछ श्रेय वगाल मे आरम्भ हुई इस नवचेतना को है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनेक रचनाओ के हिन्दी अनुवादो ने भारत के नई पीढी के लेखको के सामने वहुत-से नये विपयो को मनन के लिए उपस्थित किया है और उन्हें सीधी-सादी भापा लिखने की प्रेरणा दी है, ताकि उनकी रचनाओ को वे लोग भी अधिकाधिक सख्या में पढ और समझ सके, जो अव तक पुरानी, भारी-भरकम और सस्कृत-मिश्रित भापा की लेखन-शैली के कारण साहित्य से वचित से रहे है। अव तो मेरी समझ में हिन्दी एक ऐसी आधुनिक भापा वन गई है, जिसमे नये शब्दो की खपत आसानी से हो सकती है और नये विचारो को वडी ही सरल भापा मे व्यक्त किया जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दी के आधुनिक लेखको को जो सघर्ष करना पडा है, वह समूचे हिन्दी-ससार के लिए अमूल्य और महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी के लिए भारत की राष्ट्र-भापा होना वडा आसान हो गया है, क्योंकि अव उसमे सस्कृत और फारसी के शब्द समान रूप से खप सकते है। अव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रारम्भिक वगला रचनाओ के अनुवाद का आधुनिक हिन्दी के विकास पर स्पष्ट तथा अनुकूल असर पडा है और वे उसे इन नवीन और विचारो की ओर आगे

बढने में सहायक हुई है। भाषा की उन्नति की लहरे किस प्रकार उठती और गिरती हैं, यह समझना जरा मुश्किल है। बाइबिल में लिखा है—"हवा किधर बहती है और किधर जाकर रुक जाती है, तू उसकी आवाज सुनता है, पर यह नही बता सकता कि वह कब आती है और कहाँ चली जाती है। यही हाल फरिश्तो का है।" मेरी समझ में यही सत्य साहित्यिको पर भी लागू होता है। महान लेखक कृत्रिम रूप से कदापि नही बनाया जा सकता वह तो वास्तविक तत्त्व से जन्मता है। यही बात भाषा के सम्बन्ध मे भी है—उसे भी बनाया नही जा सकता और न ही उसके स्वाभाविक मार्ग से अलहदा किया जा सकता है। अपना रास्ता वह स्वय बनाती है। हम जो कुछ कर सकते हैं, वह यही कि उसके मार्ग के अवरोधो को दूर कर दे।

जिस प्रकार नदी अपना रास्ता स्वय बनाती है, जब-तब कही घिर या रुक जाती है और कही अपनी धारा को नदी से निकले हुए बँधे पानी में खो देती है, वही हाल साहित्य का भी है। जहाँ ऐसा होता है, अवरोध और अपव्यय को दूर किया जा सकता है; किन्तु धारा को एकदम बदलना सम्भव नही। इस कार्य के लिए सचमुच हमें बगाल मे बकिम और रवि बाबू तथा सूबा-हिन्द में भारतेन्दु और प्रेमचन्द जैसे उद्भट तथा प्रतिभाशाली साहित्यकार मिले हैं। उन्होने भाषा को उचित मार्ग पर आगे बढाने मे सहायता दी है और एक के बाद दूसरे अवरोध को हटाकर उसके प्रवाह को अधिकाधिक सुगम बना दिया है। एक दूसरे रूप में इस धारा को ठीक दिशा में बहने का बल गांधी जी से भी मिला है—यद्यपि वे महाकवि न होकर एक महात्मा है। वे भी हमारे समय के उन व्यक्तियो में से है, जो 'वास्तविक तत्त्व से जन्मे हैं' और अपनी प्रतिभा के बल से यह समझ लेते है कि धारा किधर बह रही है और हवा का रुख क्या है? वे जानते हैं कि अपने महान कार्यो की पूर्ति के लिए इस धारा और हवा के रुख से किस प्रकार फायदा उठाया जा सकता है?

यह हिन्दी-साहित्य से पर्यवेक्षण और उसके विकास की स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने के लिए मनोवैज्ञानिक समय है, ताकि जो लोग इस सत्कार्य मे सलग्न हैं, वे अपने प्रयत्नो का एकीकरण कर भविष्य की रूप-रेखा का मानचित्र तैयार कर सके। हिन्दी की उन्नति के लिए होनेवाला कोई भी प्रयत्न पृथक नही छूटना चाहिए, बल्कि उसका अन्यत्र होनेवाले प्रयत्नो से निकट सम्पर्क स्थापित किया जाना चाहिए।

हमें हिन्दी के मुकाबले में अन्य भाषाओ की उपेक्षा करने के खतरे से भी बचना चाहिए। किसी भी रूप में हमें हिन्दी को जबर्दस्ती किसी पर नही थोपना है, क्योंकि इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया अवश्य होगी। हिन्दी भाषा और साहित्य व्यापक रूप से पढे और समझे जायँ, यह हमारी प्रसन्नता का कारण हो, पर हिन्दी को उसी प्रकार अन्य प्रान्तीय भाषाओ की उन्नति में सहायक होनेवाली शक्ति बन जाना चाहिए, जिस प्रकार की शक्ति उसे बगाल के महान् लेखको से प्राप्त हुई है—जिन्होने पुरानी परिपाटी से ऊपर उठकर बगला भाषा को वास्तव में महान् बनाया है।

हिन्दी के अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए स्थापित हुई मौजूदा सस्थाओ में हमारा





हिन्दी-भवन का उद्घाटन करते हुए प० जवाहर लाल नेहरू ३१-१-३९ ई०। पीछे गुरुदेव बैठे हुए हैं। नीचे बाईं ओर श्रीमती इंदिरा नेहरू गांधी बैठी हुई हैं।

शान्तिनिकेतन का हिन्दी-भवन सबसे छोटी सस्था है। लगभग दो वर्ष पहले मुझे इसकी आधार-शिला रखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और पिछले वर्ष पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने इसका उद्घाटन किया था। इन दोनो अवसरोपर हमें अपने गुरुदेव ,महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। तब से इसकी उन्नति ने हमारे सभी अल्प साधनो को बडी तेजी से क्षीण कर दिया है। हम इसकी बढती हुई आवश्यकताओ को पूरा करने में असमर्थ हो गए हैं, और इसीलिए उन्हे अपर्याप्त ढग से पूरी करना पड रहा है। हिन्दी के मध्यकालीन महाकवियो—जैसे कबीर, दादू, नानक आदि के बारे मे प्रो० क्षितिमोहन सेन जो शोध-कार्य वर्षों से कर रहे है, उसका केद्र अब हिन्दी भवन ही बन गया है। उनके परिश्रम के इस फल को अब ससार के हाथो से कोई छीन नही सकेगा, बल्कि वह इस दिशा मे होनेवाले अध्ययन-क्रम का आधार बन जायगा।

हमारा यह दृढ विश्वास है कि इस प्रकार के नाजुक काम मे लोगो की सख्या का कोई खास महत्त्व नही है। इसके विपरीत जिनके हृदय मे हिन्दी के लिए सच्चा अनुराग हो, ऐसे कुछ चुने हुए विद्वानो और लेखको का त्याग और लगन भाषा और सस्कृति की भावी उन्नति के लिए अधिक आवश्यक और मूल्यवान् है। साथ ही यह उन नवीन लेखको के लिए जो अभी साहित्यिक क्षेत्र में आ रहे है—सबसे बडी प्रेरणा होगी।

अपनी इस बात को मैं जरा और स्पष्ट रूप में दोहरा दूँ, क्योकि मेरा विश्वास है कि इसका बहुत बडा महत्त्व है। बगाल में ठीक ढग से हिन्दी के अध्ययन को लोकप्रिय बनने के के लिए किसी भी कार्य से इतनी सफलता नही मिल सकती थी, जितनी प्रो० क्षितिमोहन सेन के कार्य द्वारा मिली है, क्योकि उनके द्वारा किये गये मध्यकालीन हिन्दी-लेखको की रचनाओ के अनुवाद ने बगला-भाषा-भाषी-जनता की नजरो में हिन्दी-भाषाको बहुत ऊँचा उठा दिया है। सौभाग्य से क्षिति बाबू का यह कार्य अभी जारी है, और हिन्दी-भवन मे काम करनेवाले नये लेखको को उनके व्यापक और बहुमूल्य अनुभव से लाभ उठाने का अवसर मिलेगा। इसके अतिरिक्त जब जरूरत पडेगी, हिन्दी-भवन के सस्थापक-सभापति रविबाबू की उदार और कृपापूर्ण सहायता भी मिलेगी, क्योकि यह उन्ही के क्रियात्मक मस्तिष्क की एक नई उपज है।

इस समय में हिन्दी-भवन में कार्य करनेवाले केवल दो व्यक्ति है, जो वहाँ सपरिवार रह रहे है। एक हैं—प० हजारीप्रसाद द्विवेदी और दूसरे श्री भगवतीप्रसाद चदोला, जो हिन्दी के इस नवचेतन-कार्य के हृदय और आत्मा है। यह दोनो विश्वभारती मे हिन्दी के नियमित अध्यापक है और पढाने के अतिरिक्त अपना सारा समय हिन्दी-भवन के विशेष कार्य में लगाते हैं। इनका अपने पडोस के चीना-भवन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, जहाँ चीन और तिब्बत के बौद्ध भिक्षु तथा सस्कृत के विद्वान चीन और भारत के बीच एक नया सास्कृतिक सामंजस्य स्थापित करने के कार्य में सलग्न है, क्योकि चीन और तिब्बत दोनो ने अपनी बहुत-सी प्राचीन सस्कृति इस काल में भारतवर्ष से ही सीखी थी, जब कि यहाँ सस्कृत का जीवित साहित्य मौजूद था और यही पूर्व के सब धर्मों का दार्शनिक आदि-स्रोत था। बौद्ध-मत

तो भारत से ही काश्मीर तथा अफगानिस्तान के उत्तर-पश्चिम से पहले केन्द्रीय एशिया में और फिर चीन में पहुँचा था।

हिन्दी भवन के उक्त दोनो कार्यकर्त्ताओ—द्विवेदी जी और चन्दोलाजी को मध्यकालीन हिन्दी-ग्रन्थो के पुस्तकालय का अभाव वुरी तरह खटकता है। आश्रम के केन्द्रीय पुस्तकालय में इस समय हिन्दी-ग्रन्थो का जो सग्रह है वह इनके शोध-कार्य और नई चीजे लिखने तथा अनुवाद करने के लिए सर्वथा अपर्याप्त है। इस लेख को लिखने से पहले जव मैं हिन्दी-भवन में उनके साथ गया, तो तव उन्होने मुझे भवन की सूनी दीवारे और अपनी मेजो पर लगा हुआ केन्द्रीय पुस्तकालय से माँगी हुई पुस्तको का ढेर दिखलाया।[1] साधनो का इस प्रकार का अभाव भला उन्हे अच्छा शोध-कार्य करने को कैसे प्रोत्साहित कर सकता है? फिर भी उन्होने मुझे रवि वावू के एक नवीन नाटक 'नटीर पूजा' का सुन्दर अनुवाद वतलाया, जिसके मुखपृष्ठ पर श्री नन्दलाल वसु का एक मनमोहक चित्र था। यद्यपि रवि वावू अव ८० वर्ष के हो गये हैं, पर इस नाटक में उनके यौवन की ताजगी है। वगला का यह ग्रन्थ-रत्न उनके प्रेम और लगन का एक ऐसा उपहार है, जो सभवत हिन्दी के नाट्य-क्षेत्र में एक नए युग को जन्म देगा।

हिन्दी-भवन को पूर्णरूपेण उपयोगी और प्रभावपूर्ण वनाने के लिए हमारी कुछ आवश्यकताएँ इस प्रकार है —

(१) हिन्दी-भवन के अध्यापको के तत्त्वाववान में काम करने के लिए कुछ नए प्रतिभाशाली लेखको को रखने के लिए २५) मासिक की ६ छात्रवृत्तियाँ।

(२) हिन्दी ग्रन्थो के परिचय का एक पुस्तकालय।

(३) केवल शोध-कार्य के लिए अपना पूरा समय देनेवाला एक विद्वान् कार्यकर्त्ता।

(४) एक मामूली-सी धर्मशाला या अतिथि-गृह जो १५००) या २०००) में वन सके।

(५) हाल, पुस्तकालय और धर्मशाला के लिए फर्नीचर (मेज, कुर्सी इत्यादि)। हिन्दी-भवन की स्थापना के समय से ही मैं इसके कार्य मे पूरी दिलचस्पी लेता रहा हूँ, और इसके सस्थापक सभापति रवि वावू अपने मनोवाञ्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए समय-समय पर मुझे आदेश-परामर्श देते रहते हैं। किसी के मन में नाममात्र को भी यह भ्रम नही होना चाहिए कि यह सस्था साम्प्रदायिक ढगपर चलेगी, या किसी दूसरी भाषा या साहित्य की प्रतियोगिता में पडेगी। वल्कि हम तो यह आशा करते है कि वह सभी भारतीय भाषाओ और उनके साहित्य की उन्नति में सहायक होगी। अपने सहायको को हम यह विश्वास दिला सकते है कि मुख्य सस्था का अग होने के कारण हिन्दी-भवन को हम सदा सहायता देते रहेंगे।

सर्वश्री भागीरथमल कनोडिया[2] और सीताराम सेकसरिया ने हमे प्रारम्भ से ही जो

---

१ अव दीवाले सूनी नही हैं। पुस्तकालय भी पर्याप्त अच्छा है।

२ श्री भागीरथ जी कानोडिया का हिन्दी भवन के कार्यो मे सक्रिय सहयोग हमे वरावर मिल रहा है।



हिन्दी भवन के उद्घाटन के अवसर पर (३१-१-३९) भाषण देते हुए प० जवाहर लाल नेहरू, पासमे एण्ड्रयज बैठे हुए हैं।



काशी-गगाघाट स्नान ।

प्रेरणात्मक सहायता प्रदान की है, उसके लिए उन्हे पूरी तरह साधुवाद देना मेरे लिए असम्भव है। उनके विना हम हिन्दी-भवन की मौजूदा उन्नति करने में भी समर्थ नही हो सकते थे, किन्तु अब समय आ गया है कि इस सत्कार्य में और लोग भी हाथ वटाये और इसे आगे वढाये। अनुरागपूर्ण हृदय से दिये जानेवाले छोटे-छोटे उपहारो का भी हम उसी प्रकार स्वागत करेंगे, जिस प्रकार वडी आर्थिक सहायताओका, जिनकी हमें सख्त जरूरत है।

पडित वनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी-भवन को उसके जन्मकाल से ही जो सहायता दी है, उसके लिए भी मैं उनका वहुत कृतज्ञ हूँ। हिन्दी-भवन के विचार और उसकी कार्य-प्रणाली का श्रेय प्रधानत उन्ही को मिलना चाहिए। अपने पुराने मित्र रा० व० रामदेव चोखानी का भी—जिन्होने सर्वप्रथम फीजी से शर्तवन्द कुलीगीरी को हटाने के लिए होनेवाली लडाई में मेरी और विली पीयर्सन की सहायता की थी—वहुत कृतज्ञ हूँ। हमारे इस सेवाकार्य में भी उनकी हार्दिक सहानुभूति वरावर हमारे साथ रही है।

अन्त में मैं गुरुदेव के प्रति भी अपनी कृतज्ञता और प्रेम प्रकट करना चाहता हूँ, जो इस कार्य के आरम्भ से अव तक प्रेरणा और स्फूर्ति के आधार रहे हैं। समय-समय पर उन्होंने अपने आदेश और सत्परामर्श से हमे लाभान्वित किया है और हमें उज्वल एव आशाप्रद भविष्य का विश्वास दिलाया है। उनके आशीर्वाद के विना हम इस कार्य का इतनी असाधारणतया प्रतिकूल परिस्थितियो मे शुभारम्भ कदापि नही कर सकते थे।

इस समय शान्तिनिकेतन मे हिन्दी और आधुनिक भारत की अन्य भाषाओ में सास्कृतिक सान्निध्य पैदा करने के लिए हमारे सामने एक असाधारण अवसर उपस्थित है। जो लोग इस कार्य मे हमारे समान अनुराग रखते हो, उनसे मेरा निवेदन है कि वे आगे आये और इसे व्यावहारिक रूप से सफल वनाने के लिए हमारी पूरी-पूरी सहायता करे।[1]

शान्तिनिकेतन, वोलपुर

विशाल भारत, जनवरी १९४० से साभार]

●

---

१ शान्तिनिकेतन के हिन्दी-भवन के मुख्य भवन तथा साथ में अध्यापको के लिए तीन घर हलवासिया ट्रस्ट के आर्थिक अनुदान से निर्मित हुए हैं, वीच के हालमें श्री विनोदविहारी मुकर्जी तथा श्री कृपाल सिंह शेखावत के आकर्षक भित्ति चित्र हैं। गत वर्ष ट्रस्ट की सहायता से पुस्तकालय भवन का निर्माण हुआ है। हिन्दी-भवन केपुस्तकालय मे इस समय पद्रह हजार से अधिक ग्रथ है। विश्वभारती में यह सबसे बडा विभागीय पुस्तकालय है और हिन्दी विभाग के सदस्यो के अतिरिक्त सभी विभागो के सदस्य पुस्तकालय का उपयोग करते है। विश्वभारती पत्रिका का पुनर्प्रकाशन भी ट्रस्टके ही अनुदान से आरम्भ हुआ है। हलवासिया शोध ग्रथमाला के प्रकाशन का भार ट्रस्ट ने [illegible] हुआ है दीनवधु एण्ड्रूज के द्वारा परिकल्पित योजना के अनुकूल [illegible]। —संपा०